सम्पादक
डॉ. गिरीश कुमार



समाज कार्य के क्षेत्र

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

समाज कार्य के क्षेत्र

ग्रन्थमाला संख्या—297

समाज कार्य के क्षेत्र

सम्पादक
डॉ० गिरीश कुमार
प्रोफेसर व संकायाध्यक्ष
समाज कार्य संकाय
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक :
डॉ० सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

ISBN : 978-93-82175-13-1

प्रथम संस्करण : 1996
द्वितीय संस्करण : 2009
तृतीय संस्करण : 2013

प्रतियाँ : 500

मूल्य : रु० 210=00

मुद्रक :
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा, लखनऊ।

प्रकाशकीय

समाज सेवा के बिना किसी भी आधुनिक समाज के समुचित विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। यों तो भारतीय चिंतन परम्परा की आत्मा मानव कल्याण व समाज सेवा में बसती है, पर आजादी के तत्काल बाद व्यापक विचार मंथन के बाद लागू किये गये संविधान में इसे अत्यंत व्यवस्थित रूप दिया गया। स्वतंत्रता के तत्काल बाद समाज कार्य पर केन्द्रित एक राष्ट्रीय सम्मेलन में इसकी परिभाषा करते हुए कहा था कि यह एक ऐसी कल्याणकारी क्रिया है, जो मानवोचित दर्शन, वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्राविधिक निपुणताओं पर आधारित है और जिसका उद्देश्य व्यक्तियों, समूहों या समुदायों की सहायता करना है, जिससे वे सुखी और सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। यह परिभाषा भारतीय संविधान की मूल आत्मा को सम्पूर्णता में शब्द देती है।

सुप्रसिद्ध समाज विज्ञानी डॉ० गिरीश कुमार के सम्पादन में प्रकाशित पुस्तक 'समाज कार्य के क्षेत्र' भारतीय समाज के कमजोर वर्गों की व्यवस्थित ढंग से पड़ताल का न केवल सार्थक प्रयास है, अपितु उन्हें विकास के पथ पर तेजी से आगे ले जाने का मार्ग भी प्रशस्त करती है। ऐसे वर्गों की स्थिति, उनके कारण, जरूरी उपायों एवं सुझावों आदि के सन्दर्भ में इन्हें पुस्तक में अलग–अलग 13 अध्यायों में विभाजित किया गया है, जिन्हें आत्मसात् करते हुए सम्बन्धित वर्गों की सम्पूर्ण स्थिति और आवश्यकताओं को समझते देर नही लगती। आदिवासी व पिछड़ी जातियाँ, महिला, वृद्ध कल्याण और ग्रामीण व नगरीय विकास आदि से सम्बन्धित विभिन्न वर्गों पर यह आलेख सम्बन्धित विशेषज्ञों ने विशेष रूप से लिखे हैं जिसके कारण इस पुस्तक की उपादेयता और बढ़ गयी है। इस तरह के विशिष्ट अध्ययन समाज विज्ञान सम्बन्धी छात्रों आदि के लिए उपयोगी तो है ही, उनके कल्याण से सम्बन्धित योजनाओं को अन्तिम रूप देते समय भी इनका सदुपयोग निर्विवाद है।

भारतीय जन–गण के चतुर्दिक विकास की मूलभूत आकांक्षा यथाशीघ्र व्यहारिक रूप ले सके, उसके मार्ग में कठिनाइयाँ न आयें, यह पुस्तक इस दिशा में एक सराहनीय एवं उल्लेखनीय प्रयास है। इसके प्रणयन में पुस्तक के सम्पादक और चर्चित समाजशास्त्री डॉ० गिरीश कुमार का योगदान प्रशंसनीय है। यह कृति लगभग डेढ़ दशक पूर्व लिखी गयी थी, तब से अब तक इसकी प्रासंगिकता बनी हुई है। यह तथ्य इसकी सार्थकता का स्वयं प्रमाण है। हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग योजना के अन्तर्गत अब इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुये उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान हर्ष का अनुभव करता है और आशा करता है कि सभी जागरूक पाठकों के बीच इसकी उपयोगिता अक्षुण्ण रहेगी

डॉ० सुधाकर अदीब
निदेशक

निवेदन

सैकड़ों वर्ष पहले मनुष्य ने जब से समूह में रहना सीखा, कालान्तर में समूह-हित उसकी प्राथमिकता बनते गये। विकसित समूह ही बाद में विकासशील समाज बने और इनके परिमार्जन का क्रम आज भी जारी है। यह एक अत्यन्त जटिल और बहुस्तरीय प्रक्रिया है। लम्बी अवधि के बीच इस क्रम में विभिन्न कारणों से समाज के अनेक वर्ग और क्षेत्र पिछड़ भी गये। जैसे-जैसे समाज में जागरुकता आती गयी, ऐसे कमज़ोर वर्गों के कल्याण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। भारतीय संविधान में विशेष रूप से समाज के कमजोर वर्गों के प्रोत्साहन की व्यवस्था की गयी है। आज इन पर आधारित भारतीय विकास धीरे-धीरे ही सही, कमजोर वर्गों की सम्पूर्ण पहचान को सकारात्मक और जागरूक पहचान दे रहा है। यह वर्ग सत्ता तक में अपनी भूमिका निभा रहे हैं और स्पष्ट है कि ऐसे में हमारी समूची प्रगति सभी वर्गों के साथ न्याय करते हुए नित नई ऊँचाइयाँ छू रही है।

सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री और इस क्षेत्र के जाने-माने विद्वान डॉ गिरीश कुमार के सम्पादन में प्रकाशित पुस्तक 'समाज कार्य के क्षेत्र' संविधान की इस मूल आत्मा को व्यावहारिक रूप देने का सफल प्रयास है। समाज कार्य के तीन प्रमुख क्षेत्रों – वैयक्तिक सेवा कार्य, सामूहिक सेवा कार्य और सामुदायिक संगठन–के सन्दर्भ में यह पुस्तक न केवल उपयोगी जानकारी उपलब्ध कराती है, अपितु समाज कल्याण प्रशासन, समाज कार्य शोध और सामाजिक आंदोलनों जैसे सहायक क्षेत्रों की भी समुचित रूपरेखा और आवश्यकताओं आदि को शब्द देती है। इस तरह, समाज के चतुर्दिक कल्याण का व्यावहारिक मार्ग प्रशस्त होता है और संविधान की मूल आत्मा के साथ न्याय करते हुए हमारा गणतंत्र विश्व में अपनी अलग विशिष्ट पहचान विकसित कर रहा है।

इससे सम्बन्धित सभी समाज कार्य विधियों और सहायक विधियों को आज जिन क्षेत्रों में विशेष रूप से मान्यता मिल चुकी है और जो अत्यंत चर्चित हैं, उनमें प्रमुख हैं– अनुसूचित व जनजातीय कल्याण, अपराधी सुधार प्रशासन, ग्राम कल्याण व विकास,

चिकित्सकीय समाज कार्य, नगरीय कल्याण, परिवार समाज कार्य, बाल कल्याण, मनः चिकित्सीय समाज कार्य, महिला कल्याण, युवा कल्याण, विद्यालयस्तरीय समाज कार्य, वृद्ध कल्याण और श्रम कल्याण आदि। इन क्षेत्रों में समाज कार्य के व्यवस्थित स्वरूप की आवश्यकता इस तथ्य में भी निहित है कि पिछड़ेपन का सर्वाधिक प्रभाव समाज के बहुसंख्यक कमजोर वर्गों पर पड़ा है और उन्हें इसकी सर्वाधिक और तात्कालिक आवश्यकता है।

'समाज कार्य के क्षेत्र' पुस्तक में इन क्षेत्रों से सम्बधित सारगर्भित अध्याय हैं, जिन्हें क्षेत्र विशेष के मान्य विद्वानों और विशेषज्ञों ने लिखा है। आशा है, व्यावहारिक तकनीक और जानकारियों के कारण इस उपयोगी पुस्तक का यह तृतीय संस्करण भी जागरूक पाठकों विशेषकर समाज विज्ञानियों व शोध छात्रों के बीच अपनी परम्परागत उपयोगिता और सार्थकता बनाये रखेगा। समग्रता में भारतीय समाज की जटिलताओं को दूर करते हुए एकता और विकास के नयें क्षितिज खोलने में सहायक भी होगा, जिसकी आवश्यकता आज सर्वाधिक है।

(उदय प्रताप सिंह)
कार्यकारी अध्यक्ष

प्रथम संस्करण का सम्पादकीय

वृत्तिक समाज कार्य की छः स्थापित और प्रचलित विधियाँ हैं। इनमें (1) वैयक्तिक सेवा कार्य, (2) सामूहिक सेवा कार्य व (3) सामुदायिक संगठन प्रमुख विधियाँ हैं और (1) समाज कल्याण प्रशासन, (2) समाज कार्य शोध और (3) सामाजिक संक्रिया या आन्दोलन सहायक विधियों के रूप में स्वीकृत हैं। वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत सहायता का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति विशेष होता है और यथाआवश्यकता कभी-कभी पारिवारिक वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत परिवार को भी सहायता का केन्द्रबिन्दु माना जाता है। सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत सेवा का केन्द्र कोई विशेष समूह होता है और यथा आवश्यकता इसके अन्तर्गत भी वैयक्तीकरण की प्रविधि का उपयोग करते हुए आंशिक रूप से वैयक्तिक सेवा कार्य विधि का उपयोग किया जाता है। सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत सहायता या सेवा का केन्द्र अथवा इसकी इकाई कोई विशेष समुदाय होता है। इन तीनों प्रकार की सहायता सेवा इकाईयों के लिए समाज कार्य की विशेष विधियों के उपयोग को अधिक उपयोगी, सुचारु, सुसंगठित और तथ्यपरक बनाने के लिए समाज कल्याण प्रशासन और समाज कार्य शोध की सहायक विधियों से सहायता ली जाती है। जब किसी सामाजिक अथवा बड़े पैमाने पर नीतिगत परिवर्तनों की ओर राज्य अथवा समाज को आकर्षित और प्रेरित करने की आवश्यकता होती है तो सामाजिक संक्रिया अथवा आन्दोलन की सहायक विधि का सहारा लिया जाता है। वृत्तिक समाज कार्य के शिक्षण-प्रशिक्षण और व्यवहार में प्रयुक्त उपर्युक्त समस्त विधियों और सहायक विधियों का सम्बन्ध समाज के जिन क्षेत्रों में मान्यता प्राप्त कर चुका है उनमें हमारे देश में (1) अनुसूचित व जनजातीय कल्याण (2) अपराधी सुधार प्रशासन, (3) ग्राम कल्याण व विकास, (4) चिकित्सकीय समाज कार्य (5) नगरीय कल्याण (6) परिवार समाज कार्य, (7) बाल कल्याण, (8) मनःचिकित्सकीय समाज कार्य, (9) महिला कल्याण, (10) युवा कल्याण, (11) विद्यालयीय समाज कार्य, (12) वृद्ध कल्याण और (13) श्रम कल्याण के क्षेत्र उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत पुस्तक में समाज कार्य के इन्हीं क्षेत्रों से सम्बन्धित अध्याय हैं और इनके लेखक समाज कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण और व्यवहार के क्षेत्र में स्थापित, सुविख्यात और मान्यता प्राप्त व्यक्ति हैं।

'अनुसूचित व जनजातीय कल्याण' नामक अध्याय के लेखक डा० लालमणि सिंह, समाज कार्य विभाग, काशी विद्यापीठ के वरिष्ठ अध्यापक हैं। इन्होंने इस अध्याय में अनुसूचित और जनजातियों से सम्बन्धित भारतीय संविधान के विभिन्न प्रावधानों के उल्लेख से प्रारम्भ करके विभिन्न प्रकार की सरकारी और गैर सरकारी योजनाओं में विभिन्न अनुसूचित और जनजातियों की भागीदारी की स्थिति का विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया है। विभिन्न सरकारों द्वारा इन वर्गों के व्यक्तियों के लिए संचालित किए गये कार्यक्रमों और उनपर व्यय की गयी धनराशि के विवरण के अतिरिक्त इन्होंने ऐसे क्रियाकलापों की उपलब्धियों और कमियों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। 'अपराधी सुधार प्रशासन' अध्याय के लेखक डा० दिवाकर हैं जिन्होंने काशी विद्यापीठ में लम्बे समय तक समाज कार्य विषय का अध्यापन कार्य किया है और विगत कई वर्षों से भारत सरकार के राष्ट्रीय समाज रक्षण संस्थान, नई दिल्ली में उप-निदेशक के पद पर कार्यरत हैं। इन्होंने इस अध्याय में 'अपराधी सुधार प्रशासन' से सम्बन्धित विभिन्न अवधारणाओं, इसके ऐतिहासिक विकास और अपराधी सुधार से सम्बन्धित देश में प्रचलित विभिन्न वैधानिक उपायों और कार्यक्रमों की समुचित समीक्षा प्रस्तुत की है। इसके अन्तर्गत अपराधियों की श्रेणियाँ, कारागारों की स्थिति, दण्ड विधान, परिवीक्षा, पैरोल, मुक्त कारागार और बाल न्यायालय जैसे नये प्रयोगों के गुण-दोषों और इनसे सम्बन्धित सुझावों का भी उल्लेख किया है। 'ग्राम कल्याण और विकास' नामक अध्याय के लेखक डा० धर्मपाल चौधरी हैं जो भारत सरकार के एक सर्वोच्च-संस्थान 'राष्ट्रीय-जन सहयोग एवं बाल विकास संस्थान', नई दिल्ली, के पूर्व निदेशक रहे हैं और इसके पहले वे भारत सरकार के कृषि मन्त्रालय में उच्च पद के दायित्व-निर्वाह के अनुभव से युक्त होने के साथ ही सम्प्रति अनेक ऐसे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मानक संगठनों से जुड़े हुए हैं जो समाज कार्य से सम्बन्धित हैं। इस अध्याय में इन्होंने भारत में आज़ादी के पूर्व और आज़ादी के बाद की ग्रामीण समस्याओं और ग्रामीणों के कल्याण और विकास के विभिन्न सरकारी और स्वैच्छिक प्रयासों का तो विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया ही है साथ ही इस कार्य में सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भागीदारी के उल्लेख के साथ ही सम्पूर्ण विधायी, आर्थिक व मानवी प्रावधानों व गतिविधियों की लाभप्रद समीक्षा भी प्रस्तुत की है। 'चिकित्सकीय समाज कार्य' अध्याय के लेखक समाज कार्य विभाग, काशी विद्यापीठ के वरिष्ठ रीडर डा० अहमद सगीर इनाम शास्त्री हैं। इन्होंने इस अध्याय में चिकित्सा के क्षेत्र में समाज कार्य की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यता का विकासोन्मुख स्वरूप तो प्रस्तुत किया ही है साथ ही समय-समय पर

व आज की इस क्षेत्र की व्यवहारगत चुनौतियों की सोदाहरण समीक्षा भी की है । इसके अतिरिक्त चिकित्सा के क्षेत्र में समाज कार्य वृत्ति को अधिक उपादेय बनाने के लिए अपने सुझाव भी प्रस्तुत किये हैं । 'नगरीय कल्याण' अध्याय के लेखक डा० संजय भट्ट हैं जो सम्प्रति समाज कार्य विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में वरिष्ठ रीडर हैं । इन्होंने इस अध्याय में भारतीय नगरों की विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए नगर के वासियों की समस्याओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है । इन समस्याओं को यथासम्भव दूर करने के लिए आज़ादी के कुछ पूर्व से लेकर अब तक किये गये सरकारी और गैर सरकारी प्रयासों और उनकी उपलब्धियों के विवरण के साथ ही इन्होंने बहुमूल्य सुझाव भी दिये हैं । 'परिवार समाज कार्य' अध्याय के लेखक डॉ० प्रमोद कुमार बाजपेयी सम्प्रति उदयपुर स्कूल ऑफ सोशल वर्क, उदयपुर में वरिष्ठ अध्यापक हैं । यह कृति समाज कार्य के एक नये क्षेत्र 'परिवार' को मानकीकृत करने की दिशा में इनका यह स्तुत्य प्रयास है ।

'बाल कल्याण' अध्याय के लेखक डा० प्रयागदीन मिश्र हैं जो कि सम्प्रति समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय में रीडर के पद पर कार्यरत हैं और इनकी अनेक मानक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं । इन्होंने इस अध्याय में भारत में बच्चों की स्थिति, बाल कल्याण की अवधारणा, उद्देश्य, बच्चों की आवश्यकताओं, बाल कल्याण से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय और स्थानीय मानक सरकारी और गैर सरकारी संस्थानों और उनकी गतिविधियों, अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय बाल नीति, विभिन्न बाल अधिनियमों, नियमों, क्रियाकलापों आदि का विस्तृत समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया है और अनेक प्रकार की बाधिताओं से ग्रस्त बच्चों के लिए विशेष व्यवस्थाओं का भी वर्णन किया है । 'मनःचिकित्सकीय समाज कार्य' अध्याय के लेखक समाज कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण में लम्बा अनुभव रखने वाले डा० सत्य प्रकाश गुप्त, सम्प्रति समाज कार्य विभाग, समाज विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय में वरिष्ठ अध्यापक हैं इस अध्याय में इन्होंने मनःचिकित्सकीय समाज कार्य के सैद्धान्तिक पक्षों को उजागर करने तथा इस क्षेत्र से सम्बन्धित अखिल भारतीय संगठनों के दायित्व आदि का वर्णन करने के साथ ही किसी मानसिक रोगी के साथ सामाजिक कार्यकर्ता की व्यावहारिक भूमिका की सम्पूर्ण प्रक्रिया को सोदाहरण समझाने की चेष्टा की है ।

'महिला कल्याण' अध्याय की लेखिका डा० (श्रीमती) बनमाला गोल्पेलवर हैं जो निर्मला निकेतन, बम्बई, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ और वाशिंग

टन विश्वविद्यालय, अमेरिका से समाज कार्य की उच्च उपाधियों को प्राप्त करते के बाद लम्बे समय से तिरपुड़े स्कूल ऑफ सोशल वर्क, नागपुर में अध्यापन कार्य कर रही हैं और वहीं सम्प्रति समाज कार्य विभागाध्यक्ष हैं। इन्होंने इस अध्याय में अनेक विद्वानों के मानक ग्रन्थों के आधार पर प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन भारत में महिलाओं की स्थिति का सांगोपाग विवेचन किया है और पिछली आधी शताब्दी में महिलाओं के हितरक्षण व विकास हेतु निर्मित व कार्यान्वित अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय नीतियों और कार्यक्रमों आदि की सुझावपूर्ण समीक्षा की है। 'युवा कल्याण' अध्याय के लेखक श्री हरिशंकर श्रीवास्तव, समाज कार्य विभाग, काशी विद्यापीठ में रीडर के पद पर कार्यरत हैं। इस अध्याय में इन्होंने युवाओं की शारीरिक, सांवेगिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक और अन्यान्य स्थितियों और अपेक्षाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए युवाओं के कल्याणकारी और विकासात्मक क्रियाकलापों का उल्लेख किया है। नयी राष्ट्रीय युवानीति और इसके तहत युवक-युवतियों के लिये वैचारिक, मनोरंजनात्मक, शैक्षिक और अर्थोपार्जन के प्रशिक्षणात्मक कार्यक्रमों का विवरण प्रस्तुत करने के साथ ही इनकी समीक्षा भी की है। 'विद्यालयीय समाज कार्य' अध्याय के दो संयुक्त लेखक क्रमशः डा० एस० आर० बिल्लोर और डा० राज बहादुर सिंह वर्मा हैं। डा० बिल्लौरे इस समय वरकतुल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल में राष्ट्रीय सेवा योजना के प्रशिक्षण-अनुस्थापन केन्द्र के निदेशक-समन्वयक हैं और डा० राजबहादुर सिंह वर्मा समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय में वरिष्ठ रीडर हैं। विद्यालयीय या शालेय समाज कार्य की आवश्यकता, इसके स्वरूप व संभावनाओं की सोदाहरण व्याख्या इस अध्याय में प्रस्तुत की गयी है।

'वृद्ध कल्याण' की लेखिका डॉ० (श्रीमती) ऋचा हैं जो श्री राजाराम शास्त्री ग्रामीण विकास संस्थान की निदेशक हैं। इन्होंने वृद्धों की समस्याओं, उनकी भौतिक और मानसिक आवश्यकताओं के विवरण के साथ ही इनके लिए विभिन्न देशों में संचालित सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों तथा अन्य स्वैच्छिक प्रमुख क्रियाकलापों का वर्णन इस अध्याय में प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय 'श्रम कल्याण' के लेखक सुविख्यात विद्वान डॉ० सुरेन्द्र सिंह हैं और इन्होंने इस कार्य में अपने सहयोगी अध्यापक डॉ० ए० एन० सिंह की सहायता प्राप्त की है। डॉ० सुरेन्द्र सिंह सम्प्रति समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष हैं और डा० ए० एन० सिंह वहीं प्राध्यापक हैं। 'श्रम कल्याण' नामक इस अध्याय में लेखकों ने भारत में श्रम

कल्याण के इतिहास, इसकी अवधारणा, श्रम कल्याण के उद्देश्य व महत्त्व, अभिगम, नीति, विधान, संगठन, कार्यक्रम और गतिविधियों की व्यापक समीक्षात्मक प्रस्तुति की है और श्रमिकों और उनके परिवार के लोगों के लिए कल्याण कार्यक्रमों व उपायों को अधिक सार्थक व कारगर बनाने के लिए व्यावहारिक उपाय भी सुझाये हैं।

इस प्रकार यह पुस्तक समाज कार्य के समस्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर सम्यक विवेचना से युक्त है और हमें पूरी आशा है कि समाज कार्य के उच्च शिक्षण-प्रशिक्षण से सम्बन्धित सभी शिक्षार्थी और शिक्षक इससे पर्याप्त लाभान्वित होंगे।

डॉ० गिरीश कुमार
प्रोफेसर व संकायाध्यक्ष
समाज कार्य संकाय
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

विषय-सूची

●

अध्याय—1

अनुसूचित व जनजातीय कल्याण

अनुसूचित जाति कल्याण :

संविधान के अनुच्छेद 341 तथा 342 के उपबन्धों के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये 15 आदेशों द्वारा अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन-जातियों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। 1981 की जनगणना के अनुसार देश की कुल आबादी में अनुसूचित जाति तथा जनजातियों की जनसंख्या लगभग 23.51 प्रतिशत थी। अनुसूचित जाति की जनसंख्या 10,47,54,023 थी। भारत के संविधान में इन श्रेणियों के लिये सुरक्षा उपायों की व्यवस्था की गयी है और पंचवर्षीय योजनाओं में इन जातियों के उत्थान को राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य लक्ष्य माना गया है।

संविधान में अनुसूचित जाति के लोगों को शैक्षिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने और अपनी सामाजिक असमर्थताओं को दूर करने के उद्देश्य से उनको सुरक्षा तथा संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है।

इनमें मुख्य संरक्षण इस प्रकार हैं :—

(1) अस्पृश्यता का उन्मूलन तथा उसके किसी भी रूप में प्रचलन का निषेध (अनुच्छेद 17)।

(2) इन जातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों की रक्षा और इनका सभी प्रकार के शोषण तथा सामाजिक अन्याय से बचाव (अनुच्छेद 46)।

(3) हिन्दुओं की सार्वजनिक, धार्मिक संस्थाओं के द्वार समस्त हिन्दुओं के लिये खोलना (अनुच्छेद 25 ख)।

(4) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन स्थलों में प्रवेश अथवा पूर्ण या आंशिक रूप से राज्य निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिये निर्मित कुँओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी प्रकार की अयोग्यता, प्रतिबन्ध अथवा शर्तों को हटाना (अनुच्छेद 15(2) ।

(5) राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश या किसी भी तरह के प्रतिबन्ध का निषेध (अनुच्छेद 39 (2) ।

(6) राज्यों को, अनुसूचित जाति के लिये उन सरकारी सेवाओं में जहाँ उनका प्रतिनिधित्व अपर्याप्त है, आरक्षण का अधिकार देना तथा राज्य के लिये यह अपेक्षित करना कि वह सरकारी सेवाओं में नियुक्तियों के मामले में दावों को ध्यान में रखे (अनुच्छेद 16 तथा 335) ।

(7) अनुसूचित जातियों को 25 जनवरी 1990 तक लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं में विशेष प्रतिनिधित्व देना (अनुच्छेद 330, 332 तथा 334) ।

(8) अनुसूचित जातियों के कल्याण तथा हितों की रक्षा के लिये राज्यों में सलाहकार परिषदों तथा पृथक् विभागों की स्थापना करना और केन्द्र में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करना (अनुच्छेद 164 तथा 338 और पंचम अनुसूची) ।

अस्पृश्यता निवारण विधान :

अस्पृश्यता कानून को अधिक व्यापक बनाने तथा इसके दण्ड सम्बन्धी उपबन्धों को और कठोर बनाने के लिये अस्पृश्यता (अपराध) संशोधन तथा प्रकीर्ण उपबन्ध अधिनियम 1976 द्वारा (19 नवम्बर 1976 को लागू) अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955 में व्यापक रूप से संशोधन किया गया था। इस संशोधन के साथ मूल अधिनियम का नाम बदल कर नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 रख दिया गया है। इस अधिनियम में किसी व्यक्ति को, अस्पृश्यता के उन्मूलन हेतु प्राप्त अधिकारों द्वारा, स्पृश्यता के आधार पर भेद करने से रोकने के लिये दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की धारा 8 के उपबन्धों के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति अधिनियम के अन्तर्गत् किसी ऐसे अपराध को करने का दोषी पाया जाय तो दोष साबित होने की तारीख से छः वर्ष की अवधि तक संसद् तथा राज्य विधान मण्डलों का चुनाव लड़ने के लिये अयोग्य हो जाता है।

नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 समय-समय पर कतिपय सशोधनों के साथ राज्य सरकारों द्वारा भी लागू किया जाता रहा है।

नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम :

नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 की धारा 15–क के अन्तर्गत् किये गये उपबन्धों के अनुसरण में राज्य सरकारों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों को केन्द्र की सहायता दी जाती है। 20 राज्यों ने नागरिक अधिकारों के संरक्षण से सम्बन्धित मामलों में पीड़ित अनुसूचित जाति के लोगों को कानूनी सहायता देने की व्यवस्था की है। नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम के उपबन्धों का उल्लंघन करने के लिये मुकदमे दायर करने और उन पर निगरानी रखने के लिये 19 राज्यों ने विशेष कक्ष / दस्ते स्थापित किये हैं। दिसम्बर 1982 तक 18 राज्यों ने अस्पृश्यता की समस्याओं तथा इससे सम्बद्ध मामलों की समय-समय पर समीक्षा करने तथा नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिये विभिन्न उपाय सुझाने हेतु विभिन्न स्तरों पर समितियाँ स्थापित की थीं। आन्ध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, और तमिलनाडु के हरिजनों पर अत्याचार तथा अस्पृश्यता से ग्रस्त जिलों में इस तरह के मामलों के शीघ्र निबटारे के लिये 27 विशेष अदालतें, विशेष चल अदालतें स्थापित की गयी हैं। नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम के क्रियान्वयन हेतु सफाई कर्मचारियों को मल उठाने के काम से मुक्त करने का कार्य भी आरम्भ किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत् अब तक 16 राज्यों के 98 नगरों को "समग्र नगर दृष्टिकोण" के आधार पर इस शर्त पर सहायता दी गई है कि वे मुक्त किये गये सफाई कर्मचारियों को वैकल्पिक रोजगार प्रदान करेंगे।

विधान मण्डलों में प्रतिनिधित्व :

संविधान के अनुच्छेद 330 तथा 332 के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के अनुपात में इनके लिये लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं में स्थान आरक्षित किये जाते हैं। आरम्भ में यह रियायत संविधान के लागू होने से 10 वर्ष तक की अवधि के लिये थी किन्तु संविधान में संशोधन करके इसे 25 जनवरी 1990 तक के लिये बढ़ा दिया गया और इसे पुनः 10 वर्ष के लिये बढ़ा दिया गया है। संसदीय अधिनियमों में विधान मण्डल वाले केन्द्र शासित प्रदेशों में इसी तरह के आरक्षण करने की व्यवस्था है। राज्य सभा तथा राज्य विधान परिषदों में कोई स्थान आरक्षित नहीं किये जाते।

पंचायती राज्य लागू होने पर अनुसूचित जातियों के लिये ग्राम पंचायतों तथा अन्य स्थानीय निकायों में स्थान आरक्षित करने की व्यवस्था है ताकि इनमें उनको समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके।

सारिणी

क्रमशः लोक सभा और विधान सभाओं में स्थानों का आरक्षण

राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश	स्थानों की संख्या	अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित	स्थानों की कुल संख्या	अनुसूचित जातियों के लिये आरक्षित स्थान
1. आन्ध्र प्रदेश	42	6	294	29
2. अरुणाचल प्रदेश	2	—	30	—
3. आसाम	14	1	126	8
4. बिहार	54	8	224	48
5. गोवा	2	—	28	1
6. गुजरात	26	2	182	13
7. हरियाण	10	2	90	17
8. हिमाचल प्रदेश	4	1	58	16
9. जम्मू-कश्मीर	6	—	76	6
10. कर्नाटक	28	4	224	33
11. केरल	20	2	140	13
12. मध्य प्रदेश	40	6	320	44
13. महाराष्ट्र	48	3	288	18
14. मणिपुर	2	—	60	1
15. मेघालय	2	—	60	—
16. मिजोरम	1	—	40	—
17. नागालैण्ड	1	—	60	—
18. उड़ीसा	21	1	147	22
19. जाब	13	3	117	29
20. राजस्थान	25	4	200	33
21. सिक्किम	1	—	32	2
22. तमिलनाडु	39	7	234	42
23. त्रिपुरा	2	—	60	7
24. उत्तर प्रदेश	85	18	425	92
25. पश्चिम बंगाल	42	8	294	29
26. अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह	1	—	—	—

1	2	3	4	5
27. चण्डीगढ़	1	—	—	—
28. दादरा और नगर हवेली	1	—	—	—
29. दमन और दीव	1	—	—	—
30. लक्षद्वीप	1	—	—	—
31. दिल्ली	7	1	56	9
32. पाण्डिचेरी	1	—	30	5

टिप्पणी : 1. दो स्वायत्त जिलों—उत्तरी कछार हिल्स तथा मिकिर हिल्स के लिये चार स्थान आरक्षित किये गये हैं।

सेवाओं में आरक्षण :

संविधान के अनुच्छेद 335 में यह व्यवस्था है कि केन्द्र अथवा राज्यों के कार्यों के सम्बन्ध में पदों तथा सेवाओं के लिये नियुक्ति करते समय प्रशासनिक कुशलता को बनाये रखते हुए अनुसूचित जातियों के दावों पर विचार किया जायेगा।

जिन पदों पर अखिल भारतीय आधार पर खुली प्रतियोगिता के द्वारा भर्ती की जाती है उनमें अनुसूचित जातियों के लिये 15 प्रतिशत पद आरक्षित किये जाते हैं। अखिल भारतीय स्तर के किसी अन्य तरीके से की जाने वाली भर्ती के मामले में $16\frac{2}{3}$ प्रतिशत रिक्त स्थान आरक्षित किये जाते हैं। सीधी भर्ती के मामले में सम्बन्धित राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में अनुसूचित जातियों की जनसंख्या के आधार पर स्थान आरक्षित किये जाते हैं।

समूह ख, ग तथा घ में विभागीय उम्मीदवारों के लिये सीमित प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर की जाने वाली पदोन्नतियों तथा समूह ख, ग तथा घ और समूह क में सबसे निचले स्तर के ग्रेडों अथवा उन समूहों में जिनमें सीधी भर्ती 66–2/3 प्रतिशत से अधिक न हो तो अनुसूचित जातियों के लिये 15 प्रतिशत की दर से रिक्त स्थान आरक्षित किये जाते हैं। समूह क, ख, ग, घ के पदों, उन ग्रेडों अथवा सेवाओं में जिनमें सीधी भर्ती यदि कोई हो तो 66–2/3 प्रतिशत से अधिक न हो वरिष्ठता तथा उपयुक्तता के आधार पर पदोन्नति के मामलों में अनुसूचित जातियों के लिये आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।

इन जातियों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से कुछ रियायतें दी जाती हैं जो इस प्रकार हैं :—

(1) आयु सीमा में छूट, (2) उपयुक्तता के मानदण्डों में छूट, (3) पदों के लिये चयन, बशर्ते वे अनुपयुक्त न पाये जायें, (4) जहाँ कहीं आवश्यक हो अनुसूचित जातियों के उम्मीदवारों के लिये अनुभव सम्बन्धी योग्यताओं में छूट, (5) अनुसन्धान के लिये अपेक्षित समूह 'क' के सबसे निचली श्रेणी के वैज्ञानिक तथा तकनीकी पदों का भी आरक्षण-योजना में सम्मिलित किया जाना।

समूह ग तथा घ हेतु तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के पदों में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित रिक्त स्थानों को रोजगार कार्यालयों को सूचित करने अथवा उनके बारे में प्रसारण की अवस्था है। इसकी सूचना अनुसूचित जातियों की स्वयंसेवी संस्थाओं तथा राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के अनुसूचित जाति कल्याण निदेशकों को भेजी जाती है। राज्य सरकारों ने भी अनुसूचित जातियों के लिए संविधान की सातवीं अनुसूची की मद संख्या 41 के तहत इन श्रेणियों के लिए राज्य सेवाओं में स्थान देने और इनका प्रतिनिधित्व बढ़ाने हेतु नियम बनाये हैं। परन्तु राज्य सरकार की सेवाओं के अन्तर्गत दिया जाने वाला आरक्षण एकाधिकारिक रूप से राज्य सरकारों के ही क्षेत्राधिकार में है।

आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्र संविधान के अनुच्छेद 244 तथा पंचम अनुसूची के अंतर्गत् अधिसूचित किये गये हैं। सम्बन्धित राज्यों के राज्यपाल अपने राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासन के बारे में प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजते हैं।

कल्याण तथा सलाहकार अभिकरण :

भारत सरकार का कल्याण मंत्रालय अनुसूचित जाति के विकास कार्यक्रमों की समग्र नीति बनाने, उनकी आयोजना तथा समन्वय करने के लिए प्रमुख मंत्रालय है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक केन्द्रीय मंत्रालय तथा विभाग अपने-अपने क्षेत्र के कार्य के सम्बन्ध में निर्णय लेते हैं। गृह मंत्रालय, केन्द्रीय मंत्रालयों तथा राज्य सरकारों के साथ सम्पर्क बनाये रखता है। जुलाई 1978 में अनुसूचित जातियों के लिए एक आयोग गठित किया गया। आयोग में एक अध्यक्ष तथा अधिकतम चार अन्य सदस्य होते हैं। इन सदस्यों में एक विशेष अधिकारी होता है जिसे संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत नियुक्त किया जाता है जिसे अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयुक्त के नाम से जाना जाता है।

आयोग का कार्य संवैधानिक संरक्षण, सरकारी सेवाओं में आरक्षण सम्बन्धी सभी मामलों की जाँच-पड़ताल करना तथा अस्पृश्यता तथा इससे उत्पन्न घृणित भेद-भाव को समाप्त करने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए नागरिक संरक्षण अधिनियम 1955 के क्रियान्वयन के बारे में अध्ययन करना है।

भारत सरकार ने अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए संवैधानिक संरक्षणों के क्रियान्वयन की जाँच करने हेतु संसदीय समितियाँ गठित की हैं। राज्य सरकारों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रशासनों ने इन जातियों के लिए कल्याण का कार्य देखने के लिए अलग विभाग बनाये हैं।

कई स्वैच्छिक संगठन भी इनके कल्याण के लिए कार्य करते हैं, जैसे– हरिजन सेवक संघ, दिल्ली, भारतीय रेडक्रास सोसायटी, नई दिल्ली, हिन्द स्वीपर सेवक समाज, नई दिल्ली, रामकृष्ण मिशन, नरेन्द्रपुर, पश्चिम बंगाल, भारतीय समाज उन्नति मण्डल, भीलवंडी, महाराष्ट्र, ठक्कर बापा आश्रम नुआखण्डी, उड़ीसा, भारत सेवक समाज, पुणे तथा सामाजिक कार्य एवं शोध केन्द्र, तिलोनिया, राजस्थान।

सरकार इन जातियों के बीच कार्य कर रहे गैर सरकारी, स्वैच्छिक संगठनों को सहायता देती है।

इन जातियों के कल्याण पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा विशेष ध्यान दिया जाता है। इनके कल्याण के लिए प्रत्येक पंचवर्षीय योजनाओं में विशेष कार्यक्रम आरम्भ किये गये हैं।

योजनावधिवार व्यय

योजना	अवधि	व्यय (करोड़ रुपये में)
पहली योजना	1951–56	30.04
दूसरी योजना	1956–61	79.41
तीसरी योजनाएँ	1961–66	100.40
वार्षिक योजना	1966–69	68.50
चौथी योजना	1969–74	172.70
पाँचवीं योजना	1974–79	296.19
छठीं योजना	1979–85	1337.21
सातवीं योजना	1985–90	1967.22

आठवीं योजना में इससे अधिक धन का प्राविधान है। इसके अलावा राज्य सरकारों द्वारा और गैरयोजनागत बजट में से भी इन वर्गों के कल्याण पर काफी धन व्यय होता रहा हैं।

केन्द्र/राज्य सरकारों द्वारा सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों—बैंक सेवाओं, भारतीय जीवन बीमा, साधारण बीमा निगम के अधीन आने वाले विभिन्न पदों तथा सेवाओं में अनुसूचित जातियों में सुधार लाने की दृष्टि से देश के विभिन्न भागों में परीक्षा पूर्व शिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें योग्य उम्मीदवारों को विभिन्न प्रतियोगिताओं, परीक्षाओं के लिए तैयार किया जाता है।

इन जातियों के लिए छात्रवृत्ति देने की योजना 1954-55 में आरम्भ की गई हं। उस वर्ष अनुसूचित जातियों के 114 छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी गई। तदन्तर जीवन निर्वाह के बढ़ते हुए व्यय तथा अन्य कारणों को ध्यान में रखते हुए अब सभी पाठ्यक्रमों के लिए छात्रवृत्ति की दरें बढ़ा दी गई हैं। छात्रवृत्ति पाने की पात्रता के लिए माता-पिता, अभिभावकों की आयु सीमा भी बढ़ा दी गई हं। दोनों मामलों में यह वृद्धि 1 जुलाई, 1981 से की गई है। राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेशों की सरकारें नये छात्रावासों का निर्माण करती हैं जहाँ पर इन वर्गों के लड़कों तथा लड़कियों के लिए सुविधा पर्याप्त नहीं है।

पुस्तक बैंक योजना के द्वारा पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध करायी जाती हैं।

अनुसूचित जातियों के विकास में तेजी लाने के लिए तीन सूत्री नीति तैयार की गई है—

(क) केन्द्रीय मंत्रालयों तथा राज्यों की विशेष संघटक योजना।

(ख) राज्यों की अनुसूचित जातियों की विशेष संघटक योजनाओं के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता।

(ग) राज्यों में अनुसूचित जाति विकास निगम। छठीं योजना में विशेष संघटक योजना के लिए 4481.91 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया।

राज्यों द्वारा अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संघटक योजनाओं को सरकार विशेष केन्द्रीय सहायता देती है। इसका उद्देश्य है गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रहे जितने भी अनुसूचित जातियों के व्यक्ति हैं उनमें अधिक से अधिक लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके। विशेष केन्द्रीय सहायता ने राज्य सरकारों को विशेष संघटक योजनाओं में अधिक व्यय करने को प्रेरित किया है।

सहायता विवरण

(करोड़ रुपयों में)

केन्द्रीय सहायता वर्ष	राज्य योजमा परिव्यय	वि०स०प०	प्रतिशत	विशेष केन्द्रीय सहायता
1979–80	5967.03	240.54	4.03	5
1980–81	7140.31	547.84	7.67	100
1981–82	8229.31	623.76	7.69	110
1982–83	9445.49	675.76	7.15	120
1983–84	11,120.80	754.86	6.79	130
1984–85	12,504.38	924.15	7.39	140
1985–86	12,949.76	1007.82	7.78	165

आर्थिक निगम से सम्बन्धित ऐसी परियोजनाओं में जिनमें बैंक की जरूरत होती है अनुसूचित जाति के परिवारों को वित्तीय संस्थानों से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। अनुसूचित जाति विकास निगभ इन परिवारों को अल्प राशि वाली सहायता देकर वित्तीय संस्थानों से मिलनेवाली सहायता में वृद्धि करते हैं।

अनुदान विवरण

(लाख रुपयों में)

अनुसूचित जाति विकास निगम के लिए अनुदान वर्ष	राज्य सरकारों का योगदान	केन्द्र द्वारा दी गई राशि
1978–79	710.55	50.00
1979–80	703.16	1224.00
1980–81	1403.00	1300.97
1981–82	1367.56	1332.87
1982–83	1364.40	1350.00
1983–84	1759.93	1400.00
1984–85	1452.21	1500.00
1985–86	—	1500.00

तदन्तर आने वाले वर्षों में इनकी राशि में वृद्धि होती गयी। इसमें 1984-85 में आन्ध्र प्रदेश के लिये 228.13 लाख रुपयों की पूंजी तथा आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश के लिये क्रमशः 50 लाख, 40.99 लाख, 4 लाख, 5 लाख और 13.04 लाख रुपयों की सहायता शामिल है।

अब ये निगम कुल 12000 रुपये अनावर्ती लागत की योजनाओं को अल्प राशि ऋण रूपी सहायता दे सकते हैं। पहले यह सीमा 6000 रुपये तक थी। राज्य सरकारें अब प्रोत्साहन गतिविधियों के लिये और निगमों के कर्मचारियों को ऋण वसूली पर्यवेक्षण, मूल्यांकन, गतिविधियों तथा तकनीकी विभागों के लिये बराबरी के आधार पर सहायता पाने की हकदार हैं। इस सहायता अनुदान पर कुल संचयी केन्द्रीय सहायता के एक निश्चित प्रतिशत की अधिकतम सीमा का प्रतिबन्ध है।

अनुसूचित जातियों के लिये राज्य सरकारों ने निःशुल्क आवास योजना चलायी है जिसमें अनुसूचित जातियों के लोगों के लिये अनुदान सहायता राशि देकर इनके लिये ये घरों का निर्माण कराती हैं तथा इनके लिये पंचायतों से ग्राम समाज की भूमि भी वितरित करने के लिये आदेश दिये जाते हैं ताकि उस भूमि पर घर निर्माण कराकर इनको दिया जा सके। इसीलिये 1987 को बेघरों के लिये "अन्तर्राष्ट्रीय आवास" वर्ष घोषित किया गया।

अनुसूचित जातियों को समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई० आर० डी० पी०) के द्वारा भी आर्थिक सहायता दी जाती है। इसके द्वारा इनको जीवन निर्वाह के लिये गाय, भैंस, रिक्शा, रिक्शा ट्रॉली, सूअर, मुर्गी पालन इत्यादि कार्यों के लिये ऋण पर 50 प्रतिशत सरकार अनुदान देती है ताकि ये अपना जीवन स्तर ऊँचा उठा सकें और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकें।

पेयजल की पूर्ति के लिये राज्य सरकारों ने इनके लिये कुओं तथा हैण्ड पम्प की व्यवस्था की है। गाँवों में तथा शहरों में भी जहाँ इनकी आबादी है वहाँ पर ये प्राथमिकता के आधार पर लगाये जाते हैं ताकि इनको पेय जल की सुविधा उपलब्ध हो सके।

राज्य के प्रत्येक थानों में इनके लिये अलगसे पंजिका होती है तथा जो इन पर अत्याचार करता है उसके खिलाफ इस पर शिकायत दर्ज करके प्रशासकीय कार्यवाही शुरू की जाती है।

कचहरी में मुकद्दमें के निःशुल्क निस्तारण के लिये अलग से कानूनी परामर्शदाता होते हैं जो इनके मुकद्दमों को देखते हैं।

इन पर अत्याचारों को रोकने के लिये भारत सरकार तथा राज्य सरकारों ने कठोर कदम उठाये हैं ।

सरकार की सभी योजनायें जैसे बाल विकास परियोजना, विशेष पोषाहार परियोजना सभी गाँवों में इनकी आबादी वाले क्षेत्रों में विशेष रूप से लागू की जा रही हैं ताकि इनके बच्चे उनसे लाभान्वित हो सकें तथा समाज में अन्य वर्गों के समान अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकें । 20 सूत्री कार्यक्रम में भी इनके लिये विशेष कार्यक्रम रखा गया था ताकि इनका आर्थिक, सामाजिक व शैक्षिक, सर्वांगीण विकास हो सके । इनमें जागृति पैदा करने के लिये तथा इनके विकास के लिये अनेक स्वैच्छिक संगठन भी इनके बीच कार्यरत् हैं ताकि इनका जीवन स्तर ऊँचा हो सके । प्रत्येक पंचवर्षीय योजनाओं में इनकी भलाई के लिये विशेष सुविधा (राशि) प्रदान की जाती है ताकि ये आर्थिक सम्पन्नता को प्राप्त कर सकें । सर पर विष्ठा ढोने की क्रिया को समाप्त करने की दिशा में सरकार प्रयत्नशील है ताकि इस गन्दे कार्य से लोगों को छुटकारा मिल सके । इसके लिये भूतपूर्व श्रम-कल्याण मंत्री श्री रामविलास पासवान ने घोषणा भी की थी कि 1991 तक देश के सभी भागों में ऐसी प्रथा को समाप्त कर दिया जायेगा व इसके लिये अधिक सुलभ शौचालयों की व्यवस्था की जायेगी ताकि हमेंशा के लिये यह प्रथा समाप्त हो जाय । झाड़ू देने वाले तथा मेहतरों के निवास स्थानों के लिये राज्य सहायता दी जा रही है ताकि इनको आवास बनाकर मिल सके ।

अस्पृश्यता निवारण के सम्बन्ध में जनता को शिक्षित करने के लिये ऐच्छिक संगठनों को सहायता दी गयी है । यह अधिक उत्तम होगा कि भविष्य में ये संगठन अपनी कार्य सीमा से आगे बढ़कर प्रकाशन तथा प्रचार सम्बन्धी कार्य करें और ऐसी संस्थाओं जैसे स्कूल, अस्पताल, औद्योगिक केन्द्र और आवास, सहकारी समितियों आदि की स्थापना करें अथवा उनकी स्थापना में सहायता करें और अनुसूचित जातियों को जनसंख्या के अन्य वर्गों से समंजित करने में मदद करें ।

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता निवारण के लिये देश तथा समाज को जागृत किया तथा छुआछूत को 'कलंक' कहा। आज उन्हीं की देन है जो धीरे-धीरे समाज से छुआछूत की भावना मिटती जा रही हैं । गांधीजी ने ही इनके लिये 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया जो आज प्रचलित है । भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के जो बजट निर्धारित किये जाते हैं उनमें इनके लिये विशेष रूप से निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्तियाँ, पुस्तकों की व्यवस्था, कागज, पेंसिल, प्रतिस्पर्धा में आने के लिये विशेष प्रशिक्षण इत्यादि की व्यवस्था की जाती है ।

इनकी आर्थिक उन्नति के लिये भूमि तथा लघु सहायता द्वारा उनको किसानों के रूप में व्यवस्थापित करने, ग्राम तथा लघु उद्योगों में प्रशिक्षण देने तथा परम्परागत कलाओं में उन्नतिशील यन्त्र प्रयोग करने पर अधिक जोर दिया गया है। इसके लिये 50 प्रतिशत अनुदान भी दिया जा रहा है।

व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिये बम्बई तथा पश्चिम बंगाल तथा देश के अन्य बड़े शहरों में भ्रमणकारी निदेशक दल हैं और राज्यों में तकनीकी तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र हैं। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों ने हरिजनों को विभिन्न उद्योगों तथा कलाओं में प्रशिक्षित करने के लिये प्रशिक्षण—उत्पादन केन्द्र प्रारम्भ किया है ताकि इनका सर्वांगीण विकास हो सके।

जनजातीय कल्याण

जन-जाति, वन्य जाति, आदिवासी, वनवासी, आदिम-जाति, असाक्षर, अनाक्षर जनजाति—इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है।

जन-जाति की परिभाषा

(1) सर्वश्री गिलिन और गिलिन के मतानुसार, "स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुकरण करता हो, जन-जाति कहते हैं।"[१]

(2) डा० रिवर्स ने सामान्य निवास स्थान को महत्त्व न देते हुए जन-जाति को ऐसे सरल प्रकार का सामाजिक समूह बताया है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हों तथा युद्ध आदि सामान्य उद्देश्यों के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करते हों।[२] डा० रिवर्स ने सामान्य निवास स्थान को इसलिये महत्व नहीं दिया है क्योंकि जन-जातियाँ प्रायः घुमन्तू या खानाबदोश होती हैं। परन्तु इस बात की श्री पैरी ने आलोचना करते हुए लिखा है कि कोई भी जन-जाति कितना ही घुमक्कड़ जीवन क्यों न व्यतीत करती हो, फिर भी उसका किसी-न-किसी भू-भाग से सम्बन्ध होता ही है। फिरती रहने वाली जातियाँ संसार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक नहीं फिरा करतीं; इसमें सन्देह नहीं कि वे फिरती हैं, परन्तु एक निश्चित भू-भाग में ही फिरती

---

1. गिलिन ऐण्ड गिलिन, कल्चरल सोशियोलॉजी, दि मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, 1950, पृ० २८२।
2. डी० एन० मजूमदार, रेसेज ऐण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया, 1959, पृ० 356।

हैं। डा० मज़ूमदार का कथन है कि जनजाति का अपना एक सामान्य क्षेत्र नहीं होता। घुमन्तू प्रकृति के होते हुए भी उनका एक विशिष्ट निवास-स्थान होता ही है।

(3) डा० मज़ूमदार ने अपनी परिभाषा में एक जनजाति की सभी विशेषताओं को स्पष्ट किया हैं। आपके मतानुसार "एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन होता है, जिनका एक सामान्य नाम होता है, जिनके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय, उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और एक निश्चित एवं उपयोगी परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि एक जनजाति वह क्षेत्रीय मानव समूह है जो भू-भाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्यता के सूत्र में बँधा होता है।

जन-जाति की विशेषताएँ

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि (1) एक जनजाति अनेक परिवारों के समूह का एक संकलन होता है; (2) प्रत्येक जनजाति की अपनी एक सामान्य भाषा होती है जिसमें विचारों का आदान-प्रदान और पारस्परिक एकता व सामाजिक संगठन का विकास सरलता से हो सके; (3) इनका एक सामान्य नाम होता है; (4) ये एक निश्चित भू-भाग पर रहती हैं; (5) एक जनजाति प्रायः 'अन्तर्विवाही' होते हैं, ये अपनी जनजाति से बाहर विवाह नहीं करते। परन्तु आधुनिक युग में यातायात के साधनों की उन्नति के साथ एक जनजाति का पड़ोसी जनजातियों से सम्पर्क बढ़ गया है जिसके फलस्वरूप अनेक जनजातियाँ अपने जनजातीय समूह से बाहर भी शादी कर लेतीं हैं; (6) एक जनजाति के सदस्यों में पारस्परिक आदान-प्रदान के कुछ सामान्य नियम और निषेध होते हैं जिनको प्रत्येक सदस्य को मानना पड़ता है जिनके आधार पर इनके व्यवहार नियमित होते हैं; (7) एक जनजाति की एक सामान्य संस्कृति होती है और बाहर के समूहों के विरुद्ध इसके सदस्यों में एकता की भावना भी होती है; (8) प्रत्येक जनजाति का एक राजनैतिक संगठन होता है, इसलिए इसकी शासन-व्यवस्था भी अपनी होती है। इस शासन-व्यवस्था में प्रत्येक जनजाति का अपना जातीय मुखिया होता

3. डा० डी० एन० मजूमदार, रेसेज ऐण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया, 1959, पृ० 367।

है। यह पद अनुवांशिक तौर पर चलता है। इस मुखिया को अपने कार्य में सहायता देने के लिए बड़े-बूढ़ों की एक परिषद् भी होती है जिसकी सलाह से मुखिया काम करता है।[४]

भारत को जरायम पेशा जन-जातियाँ

भारत में कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जो जरायम पेशा गिनी जाती हैं। भारत में कई जनजातियाँ ऐसी रही हैं जिनका पेशा चोरी, डकैती, लूटमार करना रहा है। ऐसी अपराधी जनजातियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

(क) वे जनजातियाँ जो शुरू-शुरू में अपराधी थीं, परन्तु जो अब कहीं बस गयी हैं और ईमानदारी से आजीविका का उपार्जन करती हैं। इनमें से कुछ हिस्सा या कुछ व्यक्ति अभी तक किसी-न-किसी अपराध द्वारा ही आजीविका का निर्वाह करते हैं।

(ख) ऐसी जनजातियाँ जिनका निवास एक निश्चित स्थान पर है, जो जाहिर तौर पर कोई धन्धा भी करती हैं परन्तु जिनका काम अपने निवास-स्थान से कहीं दूर जाकर चोरी, डाका डालना है।

(ग) ऐसी जनजातियाँ जो खानाबदोश हैं, कहीं टिक कर नहीं बैठतीं और जब कभी जहाँ कहीं मौका मिलता है वहीं चोरी-डकैती—सेंध लगाकर अपना काम चलाती हैं।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न नामों की अपराधी जनजातियाँ हैं। उदाहरणार्थ—

1. **उत्तर प्रदेश की अपराधी जनजातियाँ**—बहेलिया, मीना, हरनिस, पासी, दुसाध, मल्लाह, नट, डोम, बनजारा, हबूडा, कंजर, भातू, बावरिया, बेड़िया, सोसियाँ, करवाल, औधियाँ।
2. **पंजाब की अपराधी जनजातियाँ**—बहेलिया, मीना, हरनिस, गुरभंग, दुभना, चुबरा, रावल, बावरिया, धीवँर, तथा बंगाली।
3. **मध्य प्रदेश की अपराधी जनजातियाँ**—बधिक, बेदर, बंदिया, भामता, गोपाल जादुआ, बंजर, खंगर, कोल्हासी, कोली, कोकू, कोरवाँ, भाल, माँग, गरौरी, मीना, नहल, नट, वासी, सनौरिया, सांसिया, सरूकला।

---

4. रवीन्द्र नाथ मुखर्जी, भारतीय सामाजिक संस्थायें, 1966, पृ० 607।

4. **मद्रास की अपराधी जनजातियाँ**—आदि, द्रविण, डोम, क्रल्लन, चेंचू, कोरूआर, एरूकुलर, बौरी, बौया, बातूंजा, भादू, तुरक, चपर, बन्द, ट्रन्डसी, खोगर, कत्थरबन्धु, कौख।

5. **महाराष्ट्र की अपराधी जनजातियाँ**—कैकाड़ी, छेटीचोर, हरिण शिकारी, मगरंदिस, लमहड़ी, कंजरभाट, छप्परबन्द, बौस्तर, कलबू वेरद, हुर, घरल, वद्दर, लाभानी, रामोशी, मान, भमता, फाँसी, पर्धी, कंजर, बघरी, नट।

6. **राजपूताना की अपराधो जनजातियाँ**—बनारिया, साँसी, मीना, कंजर बागड़ी, भील, बदक, बहेलिया, अहेरिया, बेरिया, भाटू, नट।

भारतवर्ष में आदिम जातियाँ पर्याप्त संख्या में पायी जाती है, और ये पूरे देश में कहीं कम कहीं अधिक संख्या में निवास करती हैं। इस समय पूरे भारतवर्ष में इनकी संख्या लगभग पूरी आबादी का 7 प्रतिशत या 6 करोड़ के करीब है। प्रायः यह देखा गया है कि आदिम जातियाँ आधुनिक सभ्यता से दूर रहना पसन्द करती हैं अतएव पहाड़ी स्थानों में या जंगलों में इन आदिम जातियों का बाहुल्य पाया जाता है। आपस में ये लोग अपनी भाषा बोलते हैं और इनके अपने रीति-रिवाज हैं। इनकी अपनी सभ्यता और संस्कृति है। इनमें से कुछ जातियाँ हिन्दू धर्म को भी मानती हैं तथा कुछ जातियों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है तथा इनमें कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनके साथ छुआछूत का बर्ताव भी किया जाता है जैसा कि अन्य अछूत जातियों के साथ किया जाता है।

प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं को इन जनजातियों के अधुनातन जीवन से समंजन हेतु प्रयत्नशील होना चाहिये और समाज कार्य सम्बन्धी विभिन्न विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के विभागों के अध्यापक एवं छात्रों को इनके बीच कार्य करना चाहिए। इसलिये समाज कार्य सम्बन्धी विभिन्न विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में जनजाति से सम्बन्धित पाठ्यक्रम या विशेषीकरण होना चाहिये ताकि समाज कार्य के छात्रों को इनकी संस्थाओं यथा—विवाह, परिवार, धर्म, जादू, युवागृह, संस्कृति, गोत्र, गोत्रवाद, नातेदारी इत्यादि के विषय में पूरी जानकारी हो ताकि इन्हें इनके बीच कार्य करते समय किसी प्रकार की परेशानी न आये।

ऐसे कार्यकर्ताओं की उपलब्धि से निश्चय ही न्यायपूर्ण जीवन की सम्भावनायें बढ़ेंगी और ये जनजातियाँ अपनी मौलिकता की अक्षुणता के साथ-साथ अभिनव जीवन और समाज से अधिकाधिक अभिभूत हो सकेंगी, इनमें आर्थिक

शोषण कमतर होगा, साक्षरता एवं शिक्षा बढ़ेगी, आर्थिक स्वावलम्बन बढ़ेगा, स्वास्थ्यकर प्रवृत्तियाँ विकसित होंगी और इनका रहन-सहन समुन्नत होगा। ऐसी स्थिति के लिये समाज-कार्य की विभिन्न विधियाँ यथा—वैयक्तिक सेवा कार्य विधि, सामूहिक सेवा कार्य विधि, सामुदायिक सेवा कार्य विधि, समाज कल्याण प्रशासन, शोध आदि का समन्वित विधि के रूप में विकास करके उपयोग किया जाना चाहिए। इसी प्रकार से जनजातियों की वर्तमान आर्थिक, शैक्षिक एवं सामाजिक स्थितियों में साधनों की सीमाओं के अन्तर्गत सहायता सम्भव है। समाज कार्य के जनजाति कल्याण सम्बन्धी विशेषीकरण के अध्यापकों एवं छात्रों को इस दिशा में विशेष रूप से दिलचस्पी लेनी चाहिये और ऐसी विधि और उसके व्यवहार के स्वरूप का विकास करना चाहिए।

आज की प्रगतिशील सभ्यता ने आदिवासियों को दिशाहीन बना दिया है। इनके यहाँ नवीन योजनाओं का कार्य होने पर ये अपने परम्परागत अलंकरण को छोड़ने लगते हैं। आदिवासी अलंकरण के रूप में जंगली पत्तों, फूल-पत्तियों-हड्डियों, पत्थरों आदि का प्रयोग करते रहे हैं। इनमें अपनी कला का सुन्दर विकास था। बाह्य सम्पर्क ने उनमें अपनी कला के प्रति अरुचि पैदा की है। इस आदिम रहन-सहन की मौलिक पद्धति का ह्रास हो रहा है।

बेरियर एलविन का मत है—"आदिवासियों की कला की सुरक्षा होनी चाहिए।"

यों तो सम्पूर्ण भारत में साक्षरता बहुत कम है किन्तु जनजातियाँ वास्तव में बहुत ही कम शिक्षित हैं। उनकी यह अशिक्षा की स्थिति उनकी सब प्रकार की प्रगति में बहुत अधिक बाधक है। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों ने इस दिशा में बहुत ध्यान दिया है किन्तु सरकार की शिक्षा योजना इनमें पर्याप्त सफल नहीं हो पा रही है। इसका मुख्य कारण प्रारम्भिक शिक्षा के कार्य में ऐसे लोगों को लगाना है जो कि इनकी संस्कृति एवं भाषा को ठीक से नहीं समझ सकते और इनके प्रति कोई उदार सद्भाव नहीं रखते। इसलिये इस कार्य में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं का उपयोग होना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे क्षेत्रों में शिक्षक ऐसे होने चाहिए जिन्हें आदिवासी संस्कृति एवं इनके समग्र जीवन के विषय में पूर्ण रूप से ज्ञान हो। इसलिये समाज कार्य के पाठ्यक्रम में मानवशास्त्र सम्बन्धी पाठ्यवस्तु या विशेषीकरण अनिवार्य रूप से होना चाहिये ताकि आदिवासियों के प्रति छात्रों में प्रेम हो, शिक्षा, व्यवसाय के प्रति निष्ठा हो और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण हो; तभी प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता अपनी भूमिका का निर्वाह ठीक प्रकार से कर सकता है।

इनके सभी प्रकार की समस्याओं यथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि समस्याओं से छुटकारा दिलाने में प्रशिक्षित, सामाजिक कार्यकर्ता इनके बीच कार्य करने पर अपनी भूमिका के द्वारा छुटकारा दिलाने में सहायक हो सकते हैं। वह सरकार को भी सुझाव दे सकते हैं कि इन क्षेत्रों के शिक्षकों का बहुत बड़ा दायित्व है, इसलिये इन्हें पहले विशेष प्रकार से प्रशिक्षित करना चाहिये और फिर अध्यापन कार्य सौंपना चाहिये। शिक्षकों को पहले आदिवासियों में प्रचार द्वारा शिक्षा के लिये वातावरण तैयार करना चाहिये। विद्यालयों का वातावरण, शिक्षा की पद्धति और उनकी पाठ्यपुस्तकें, उनकी संस्कृति के अनुसार होनी चाहिये। आदिवासियों में शिक्षा सामान्य पुस्तकीय पद्धति से ही नहीं दी जानी चाहिये। उनमें आधुनिक शिक्षा उन्हें समुदाय के जीवन से विमुख करती है। उनको इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिये कि वे अपने क्षेत्र में रहकर, अपने जीविकोपार्जन की समस्या का समाधान कर सकें और अपने परिवार की सहायता कर सकें। इनके पाठ्यक्रम में गृह उद्योग-धन्धों का अनिवार्य रूप से समावेश होना चाहिए।

आदिवासी क्षेत्र में गाँव बहुत दूर-दूर होते हैं। प्रत्येक गाँव में विद्यालय सम्भव नहीं है। इसलिये विद्यार्थियों को पढ़ने के लिये बहुत दूर से चल कर आना पड़ता है। इसमें शक्ति और समय का बहुत दुरुपयोग होता है। इस समस्या के समाधान के लिये आदिवासियों के क्षेत्रों के विद्यालयों में छात्रावास अनिवार्य रूप से होना चाहिये। इस ओर राज्य सरकारें ध्यान दे रही हैं, जैसे उत्तर प्रदेश की सरकार दुद्धी क्षेत्र में आश्रम विद्यालय खोलकर तथा अन्य जिलों में जहाँ आदिवासी क्षेत्र हैं, सरकार ने विद्यालय खोलकर सराहनीय कार्य किया है; लेकिन ऐसे और विद्यालय खुलने चाहिये तथा इनमें प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता का भी होना अनिवार्य होना चाहिये। इसके लिये प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता अपनी भूमिका द्वारा समुचित शिक्षा का वातावरण तैयार करेंगे। इससे देश की एकता और अखण्डता भी बनी रहेगी और आज विभिन्न राज्यों में आदिवासी क्षेत्रों से अलग या स्वायत्त होने की जो आवाज आ रही है, वह कम हो जायेगी क्योंकि उन लोगों के लिये जिन्हें दिन भर में दो बार रोटी भी नहीं मिल पाती, शिक्षा की बात डींग हाँकना ही है। एक भूखा आदमी भोजन के अलावा और सभी चीजों को पचाने से इन्कार कर देता है, इसलिये इनकी शिक्षा में गृह-उद्योग का समावेश करके इसे इनकी संस्कृति के अनुरूप ही दिया जाना चाहिये। इससे इनके समग्र जीवन के विकास के लिये खर्च की जा रही रकम तथा जो उनके विकास के लिये योजनायें बनायी गयी हैं या बनायी जा रही हैं वे भी पल्लवित-पुष्पित होंगी।

इस सम्बन्ध में पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी कहा है "हमें जनजातियों को अपनी प्रतिलिपि बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। उनकी आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और विचारों को यथोचित मान्यता देनी होगी। उन्हें इस योग्य रखना होगा कि वे अच्छे मकान, फूलती-फलती खेती, सुन्दर स्वास्थ्य, स्वच्छता और उत्तम शिक्षा से वंचित न रहें किन्तु इसके साथ ही उनके जीवन के प्रति उल्लास तथा स्वभाव और संस्कृति के उत्तम गुणों को, सुरक्षित रखकर उन्हें राष्ट्र के जीवन में हाथ बँटाने योग्य बनाना है।" इसलिये जनजातीय क्षेत्रों में काम करने वाले शासकों तथा शासकीय तथा राज्य कर्मचारियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को जनजातीय जीवन और संस्कृति से परिचित कराने और इन समूहों में किये जाने वाले कार्य को समझाने के लिये विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये ताकि योजनाओं को ठीक ढंग से कार्यान्वित किया जा सके तथा राज्य कर्मचारी व्यापक सहानुभूति के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन आदिवासियों के सम्बन्ध में स्वस्थ सांस्कृतिक दृष्टिकोंण के साथ कर सकें। सरकारी योजनायें ऐसी स्थितियों में पूर्णरूप से समस्या के समाधान में सहायक हो सकती हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारें इनके समग्र विकास के लिये कानून तथा पंचवर्षीय योजनायें बनाती रही हैं लेकिन अभी भी इनका पूर्ण विकास नहीं हो सका है। हमारे विचार से इनके बीच प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये लगाये जायँ तो ये अपनी अहम् भूमिका के द्वारा इनकी समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकते हें।

जनजातियों की व्यवस्थाओं में सुधार के लिये अनेक कल्याण कार्य केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा हो रहे हैं जिनके फलस्वरूप इनकी अवस्था आज उन्नति के पथ पर आगे बढ़ती जा रही है। भारत के संविधान में भी जनजातियों के कल्याण तथा उनके हितों की रक्षा का विशेष ध्यान रखा गया है। उनके हितों को सुरक्षित रखने तथा उनको उन्नत बनाने के लिये आवश्यक संरक्षण प्रदान किये गये हैं :—

(1) लोक सभा तथा राज्यों की विधान सभाओं में आदिवासियों के प्रतिनिधियों के लिये जनसंख्या के आधार पर दस वर्ष के लिये निश्चित स्थान सुरक्षित है। पूर्व दस वर्ष की समाप्ति पर केन्द्रीय सरकार ने इसे पुनः 10 वर्ष के लिये और बढ़ा दिया है।

(2) संविधान के अनुच्छेद 16 (4) तथा 355 के अनुसार सार्वजनिक सेवाओं और सरकारी नौकरियों में जनजातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखने का अधिकार राज्यों को दिया गया है। इनके अनुसार भारत सरकार अखिल भारतीय सेवाओं में 5 प्रतिशत स्थान जनजातियों को दे रही है। सरकार ने अखिल भारतीय प्रतियोगिता के आधार पर तथा अन्य आधार पर नियुक्ति वाली नौकरियों में $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत स्थानों को जनजातीय लोगों के लिये सुरक्षित कर दिया है, बशर्ते द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणियों में भर्ती 50 प्रतिशत से अधिक न होती हो। इसी प्रकार वरिष्ठता के आधार पर उपयुक्त व्यक्तियों की प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ श्रेणियों में पदोन्नति के लिये भी 27 नवम्बर 1972 से जनजातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी है। इसी प्रकार चुनाव, आयु सीमा, योग्यता आदि के सम्बन्ध में भी जनजातीय लोगों को खास रियायतें दी गयी हैं। अखिल भारतीय नौकरियों में होने वाली प्रतियोगिताओं में अधिक से अधिक जनजातीय लोग सफल हो सकें, इस उद्देश्य से विशेष संस्थाओं द्वारा इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था सरकार के द्वारा की जाती है।

संविधान के दसवें भाग तथा पाँचवीं, छठीं अनुसूचियों में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्थायें की गयी हैं।

जनजातियों में शिक्षा की उन्नति और आर्थिक हितों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देना राज्य का कर्त्तव्य माना गया है। राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वे जनजातियों का एक विशेष अधिकारी नियुक्त करें जो जनजातियों की अवस्था को उन्नत करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सुझाव दे।

अनुसूचित जनजातीय क्षेत्र वाले राज्यों में जनजातीय सलाहकार परिषदों की स्थापना की व्यवस्था है। अब तक आसाम, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, बिहार, गुजराज, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, राजस्थान, मणिपुर, त्रिपुरा इत्यादि राज्यों में ऐसी परिषदें स्थापित की जा चुकी हैं। ये परिषदें अनुसूचित जातियों के कल्याण विषयक मामलों पर राज्यपालों को सलाह देती हैं। हिमांचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, लक्षद्वीप, अण्डमान निकोबार, नागालैण्ड आदि में भी जनजातीय सलाहकार समितियाँ स्थापित कर दी गयी हैं।

संविधान में दी गयी सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था की जाँच पड़ताल करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति ने एक विशेष अधिकारी, अनुसूचित जनजाति आयुक्त, की नियुक्ति की है। आयुक्त की सहायता के लिये इस समय 19 से ज्यादा सहायक आयुक्त भी हैं। जनजातीय कल्याण अधिकारी की भी नियुक्ति की गई है।

करीब सभी राज्यों में मन्त्री के अधीन कल्याण विभाग स्थापित किये जा चुके हैं।

आसाम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र तथा राजस्थान में जनजातीय अनुसन्धान संस्थान स्थापित कर दिये गये हैं जिनमें जनजातीय कला, संस्कृति तथा रीति-रिवाजों का गहन अध्ययन किया जाता है।

जनजातियों को शिक्षा की अधिक से अधिक सुविधा देने की व्यवस्था सरकारों की ओर से की जा रही है। अधिक बल व्यावसायिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण पर दिया जाता है। छात्रों को निःशुल्क शिक्षा, छात्रावास की सुविधा, पुस्तकों, लेखन सामग्री आदि सुविधायें दी जा रही हैं। भारत सरकार ने जनजातियों के अच्छे विद्यार्थियों को विदेशों में अध्ययन के लिये भी छात्रवृत्तियाँ देने की योजना आरम्भ की है। आसाम, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार इत्यादि राज्य सरकारें भी इस प्रकार की छात्रवृत्तियाँ देती हैं।

प्रायः सभी राज्य सरकारें इनके लिये पशु, खाद, कृषि औजार, उन्नत बीज, पशु पालन, मुर्गी पालन आदि कुटीर उद्योगों के प्रोत्साहन के लिये ऋण की सुविधा प्रदान करती हैं। प्रायः सभी राज्यों में अनुसूचित जनजातियों को भूमि का अधिकार देने के भी कानून बना दिये गये हैं। सभी राज्यों में इनकी सुरक्षा के लिये जिला तथा तहसील व थानों में अलग से पंजिका तथा अगल से अधिकारी की भी नियुक्ति की गयी है जो इनके मामलों को ही देखते हैं। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम तथा जवाहर रोजगार योजना के अन्तर्गत इन्हें विशेष ऋण की सुविधा राज्य सरकारें दे रही हैं। बीस सूत्रीय कार्यक्रम में आदिवासियों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। सस्ते व्याज दर पर ऋण देने की भी व्यवस्था की जा रही है ताकि ये महाजनों के चंगुल से छुटकारा पा सकें। जहाँ-जहाँ आदिम जातियाँ रहती हैं वहाँ-वहाँ सिंचाई, बिजली की सुविधा अधिकाधिक दी जा रही है ताकि वे अपनी भूमि पर खेती कर सकें। उनके क्षेत्रों में उद्योगों का विकास किया जा रहा है ताकि वे अधिक मात्रा में रोजगार पा सकें। जनजातीय कल्याण कार्यक्रम के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वैज्ञानिक और मानवीय नीति को अपनाना अपेक्षित समझा जाता है।

जनजातियों के क्षेत्रों में चिकित्सा केन्द्रों की भी व्यवस्था प्रायः सभी राज्य सरकारों ने कर दी है या कर रही हैं ताकि ये अपनी परम्परागत् चिकित्सा पद्धति का त्याग करें क्योंकि ये पहले झाड़-फूँक करके ही अपनी बीमारी का इलाज करते थे जिसे ये अब धीरे-धीरे छोड़ रहे हैं। अब आधुनिक सभ्यता के

सम्पर्क में आने, शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा इनके क्षेत्रों में उद्योग-धन्धे स्थापित होने से इनके जीवन में सुधार हो रहा है।

जनजातियों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, आवासीय, चिकित्सीय आदि समस्याओं के प्राचीन और नवीन स्वरूपों तथा उनके अन्तराल-जन्य अभिशापों से मुक्ति के लिये समाज कार्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान अत्यन्त उपयोगी हो सकता है।

जनजातीय कल्याण के लिये प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में विशेष कार्यक्रम चलाये गये। इन कार्यक्रमों के लिये पहली योजना के दौरान 30.04 करोड़ रुपये खर्च हुए। दूसरी योजना में 79.41 करोड़, तीसरी योजना में 100.40 करोड़ तथा चौथी योजना में 172.70 करोड़ रुपये व्यय हुए। पाँचवीं योजना में 255 करोड़ रुपये खर्च किये गये। इसी प्रकार छठीं, सातवीं योजना में भी इन राशियों में बढ़ोत्तरी की गयी तथा आठवीं योजना में लगभग 500 करोड़ रुपये खर्च करने का प्राविधान किया जा रहा है ताकि इनका समग्र विकास हो सके। इनके आवास की सुविधा के लिये निःशुल्क आवास सरकार की ओर से बनाये जा रहे हैं।

प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं को जनजातियों की संस्कृति के विषय में पूरी जानकारी होनी चाहिये ताकि ये अपनी भूमिका तथा समाज कार्य की विधियों एवं प्रविधियों का प्रयोग इन क्षेत्रों में नियुक्त होने पर सफलतापूर्वक करें ताकि इनकी समस्या का समाधान वैज्ञानिक तरीके से होने से इनकी संस्कृति पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े तथा इनका समग्र विकास भी हो जाय।

संविधान के अनुच्छेद 341 तथा 342 के उपबन्धों के अन्तर्गत् राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये 15 आदेशों द्वारा अनुसूचित जनजातियों का अलग उल्लेख किया गया है। 1981 की जनगणना के अनुसार देश की कुल आबादी में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या लगभग 23.51 प्रतिशत थी। इसके अतिरिक्त कुछ राज्य सरकारों ने अन्य पिछड़े वर्गों के नाम से खानाबदोश तथा अर्द्ध खानाबदोश सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है।

भारत के संविधान में इन जातियों के लिए सुरक्षा उपायों की व्यवस्था की गयी है और पंचवर्षीय योजनाओं में इन जातियों के उत्थान को राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य लक्ष्य माना गया है।

अनुसूचित जनजातियों को शैक्षिक तथा आर्थिक दृष्टि से उन्नत करने और उनकी सामाजिक असमर्थता को दूर करने के उद्देश्य से उन्हें सुरक्षा तथा संरक्षण प्रदान करने की अनेक व्यवस्थायें की गयी हैं, यथा—

(1) अस्पृश्यता का उन्मूलन तथा इसके किसी भी रूप में प्रचलन का निषेध (अनुच्छेद 17) ।

(2) इन जनजातियों की शैक्षिक और आर्थिक हितों की रक्षा और इनका सभी प्रकार के शोषण तथा सामाजिक अन्याय से बचाव (अनुच्छेद 46) ।

(3) किसी भी अनुसूचित जनजाति के हित में, सभी नागरिकों के स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने, बसने और सम्पत्ति अर्जित करने के सामान्य अधिकारों में कानून द्वारा कटौती करने की व्यवस्था (अनुच्छेद 19 (5)) ।

(4) राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाले किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश पर किसी तरह के प्रतिबन्ध का निषेध (अनुच्छेद 29 (2) ।

(5) सरकारी सेवाओं में नियुक्ति करने के मामले में अनुसूचित जनजातियों के दावों को ध्यान में रखना (अनुच्छेद 16 तथा 335) ।

(6) अनुसूचित जनजातियों को 25 जनवरी 1990 तक लोक सभा, राज्य विधान सभाओं में विशेष प्रतिनिधित्व देना (अनुच्छेद 330, 332 तथा 334) ।

(7) जनजातियों के कल्याण तथा हितों की रक्षा के लिये राज्यों में जनजातीय सलाहकार परिषदों तथा पृथक् विभागों की स्थापना करना और केन्द्र में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करना (अनुच्छेद 164 तथा 338 पंचम अनुसूची) ।

(8) जनजातियों के प्रशासन और नियन्त्रण के लिये विशेष उपबन्ध (अनुच्छेद 244 और पंचम् तथा अष्टम् अनुसूची) ।

संविधान के अनुच्छेद 330 तथा 332 के अन्तर्गत् जनजातियों की जनसंख्या-अनुपात में इनके लिये लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं में स्थान आरक्षित किये जाते हैं। आरम्भ में यह रियायत संविधान के लागू होने से १०. वर्ष की अवधि के लिये थी किन्तु संविधान में संशोधन करके इसे 25 जनवरो 1990 तक के लिये बढ़ा दिया गया है। संसदीय अधिनियमों में विधान मण्डल वाले केन्द्र शासित प्रदेशों में इसी तरह के आरक्षण करने की व्यवस्था है। सारिणी में लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं में इन जनजातियों के प्रतिनिधित्व का व्यौरा दिया गया है। पंचायती राज लागू होने पर जनजातियों के लिये ग्राम पंचायतों तथा अन्य स्थानीय निकायों में स्थान आरक्षित करने की व्यवस्था है ताकि इनको समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके।

सारिणी

क्रमशः लोक सभा और विधान सभाओं में स्थानों का आरक्षरण राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश—

क्रमांक	लोक सभा	स्थानों की संख्या	जनजातियों के लिये आरक्षित स्थान
1.	आन्ध्र प्रदेश	42	2
2.	आसाम	14	2
3.	बिहार	54	5
4.	गुजरात	26	4
5.	हरियाणा	10	—
6.	हिमाचल प्रदेश	4	—
7.	जम्मू और कश्मीर	6	—
8.	कर्नाटक	28	4
9.	केरल	20	—
10.	मध्य प्रदेश	40	9
11.	महाराष्ट्र	48	4
12.	मणिपुर	2	1
13.	मेघालय	2	—
14.	नागालैण्ड	1	—
15.	उड़ीसा	21	5
16.	पंजाब	13	—
17.	राजस्थान	25	3
18.	सिक्किम	1	—
19.	तमिलनाडु	39	—
20.	त्रिपुरा	2	1
21.	उत्तर प्रदेश	85	—
22.	पश्चिम बंगाल	42	2
23.	अरुणाचल प्रदेश	2	—
24.	गोवा	2	—
25.	मिजोरम	1	—
26.	अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह	1	—

27. चण्डीगढ़	1	—
28. दादर और नागर हवेली	1	—
29. दमन और दीव	1	—
30. दिल्ली	7	—
31. लक्षद्वीप	1	—
32. पाण्डिचेरी	1	—

विधान सभा

विधान सभा	स्थानों की संख्या	जनजातियों के लिये आरक्षित स्थान
1.	294	15
2.	126	16
3.	324	28
4.	182	26
5.	90	—
6.	58	3
7.	76	—
8.	224	2
9.	140	1
10.	320	75
11.	288	22
12.	60	19
13.	60	55
14.	60	59
15.	147	34
16.	117	—
17.	200	24
18.	30	12
19.	234	3
20.	60	17
21.	425	1

22.	294	17
23.	30	—
24.	30	—
25.	40	38
26.	—	—
27.	—	—
28.	—	—
29.	56	—
30.	—	—
31.	30	—

मिकिर हिल्स के लिये चार स्थान आरक्षित किये गये हैं ।

संविधान के अनुच्छेद 335 में यह व्यवस्था है कि केन्द्र अथवा राज्यों के सम्बन्धों, पदों तथा सेवाओं के लिये नियुक्ति करते समय प्रशासनिक कुशलता को बनाये रखते हुए जनजातियों के दावों पर विचार किया जायेगा तथा जनजातियों के लिये 7.5 प्रतिशत रिक्त स्थान आरक्षित किये गये हैं । समूहगत् तथा जिनमें आमतौर पर स्थानीय अथवा क्षेत्रीय उम्मीदवार आते हैं, सीधी भर्ती के मामलों में सम्बन्धित राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में जनजातियों की जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित किये जाते हैं ।

वरिष्ठता तथा उपयुक्तता के आधार पर पदोन्नति के मामले में भी जन - जातियों के लिये आरक्षण की व्यवस्था की गयी है ।

समूह के 5700 रुपये प्रतिमाह या इससे कम वेतन पाने वामले पदों पर चयन द्वारा पदोन्नति करने के मामले में जनजातियों के उन अधिकारियों को जो वरिष्ठता के आधार पर विचार किये जाने योग्य हैं और जो पदोन्नति के लिये रिक्त स्थानों की निर्धारित संख्या के अन्दर आते हैं, पदोन्नति के लिये उपयुक्त पाये जाने पर चयन सूची में सम्मिलित कर लिया जाता है ।

इन जनजातियों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से कुछ रियायत दी जाती है—(1) आयु सीमा में छूट, (2) उपयुक्तता के मानदण्डों में छूट,(3) पदों के लिये चयन व शर्तों के अनुपयुक्त न पाये जाने पर प्राथमिकता,(4) जहाँ कहीं आवश्यक हो, जनजातियों के उम्मीदवारों के लिये अनुभव सम्बन्धी योग्यता में छूट, (5) अनुसन्धान के लिये अपेक्षित समूह की सबसे निचली श्रेणी के वैज्ञानिक

तथा तकनीकी पदों का भी आरक्षण योजना में सम्मिलित किया जाना । समूहगत श्रेणी (तृतीय तथा चतुर्थ) के पदों में जनजातियों के लिये आरक्षित रिक्त स्थानों की रोजगार कार्यालयों को सूचना देने अथवा उनके बारे में अखबारों में विज्ञापन देने के साथ-साथ जनजातियों की अधिक संख्या वाले क्षेत्रों में स्थित आकाशवाणी केन्द्रों से इन रिक्त स्थानों के बारे में प्रसारण किया जाता है। इनकी सूचना जनजातियों की स्वयंसेवी संस्थाओं तथा राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के जनजाति कल्याण निर्देशिका में दी जाती है। संघ लोक सेवा आयोग के माध्यम से परीक्षा द्वारा भिन्न तरीके से भरे जाने वाले रिक्त स्थानों को पहली बार केवल जनजातियों के लिये विज्ञापित किया जाता है और पहली बार असफल हो जाने पर फिर से विज्ञापन दिया जाता है और अन्य समुदायों के उम्मीदवारों पर तब विचार किया जाता है जब जनजातियों के उम्मीदवार उपलब्ध न हो रहे हों। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिये किये जाने वाले आरक्षण की अधिकतम सीमा कुल रिक्त स्थानों की संख्या का 50 प्रतिशत है। सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रतिष्ठानों द्वारा भी आरक्षण योजना अपनायी जाती है।

आरक्षण लागू करने के लिये अखिल भारतीय आधार पर खुली प्रतियोगिता द्वारा की जाने वाली सीधी भर्ती और खुली प्रतियोगिता से भिन्न तरीके से की जाने वाली भर्ती तथा पदोन्नति के मामले में 40 प्वाइन्ट का आदर्श रोस्टर निर्धारित किया गया है। स्थानीय और क्षेत्रीय आधार पर की जाने वाली भर्ती के लिये 100 प्वाइन्ट का रोस्टर निर्धारित किया गया है। यदि किसी सेवा या संवर्ग में रिक्त पदों की संख्या बहुत ही कम है तो आरक्षण के लिये छिट पुट पदों को सीधी भर्ती के साथ सम्मिलित किया जाता है। विशेष प्रतिनिधित्व आदेशों का क्रियान्वयन सुनिश्चित करने के लिये सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों में सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किये गये हैं।

राज्य सरकारों ने भी संविधान की सातवीं अनुसूची की मद संख्या 41 के तहत इन श्रेणियों के लिये राज्य सेवाओं में आरक्षण देने और उनका प्रतिनिधित्व बढ़ाने हेतु नियम बनाये हैं। परन्तु राज्य सरकारों की सेवाओं के अन्तर्गत् दिया जाने वाला आरक्षण आधिकारिक रूप से राज्य सरकारों के क्षेत्राधिकार में है।

केन्द्र सरकार की सेवाओं में 1 जनवरी 1983 की स्थिति के अनुसार जनजातियों के प्रतिनिधित्व का ब्यौरा निम्न सारिणी में दिया गया है—

केन्द्रीय सरकार-सेवाओं में जन-जातियों को प्रतिनिधित्व	समूह के कर्मचारियों की (श्रेणी) संख्या	जनजातियों के कर्मचारियों की संख्या	कुल संख्या के जनजातियों का प्रतिशत
(क) श्रेणी प्रथम	53165	761	1.43
(ख) श्रेणी द्वितीय	62600	922	1.47
(ग) श्रेणी तृतीय	2128746	88,149	4.14
(घ) श्रेणी चतुर्थ	1303005	71,812	5.51
कुल	3547516	1,61,644	4.56

अखिल भारतीय सेवायें (1 जनवरी 1983 की स्थिति के अनुसार)	भारतीय प्रशासनिक सेवा	4236	181	4.27
	भारतीय पुलिस सेवा	2198	77	3.50

जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन—आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्र संविधान के अनुच्छेद 244 तथा पंचम अनुसूची के अन्तर्गत् अधिसूचित किये गये हैं। सम्बन्धित राज्यों के राज्यपाल अपने राज्यों में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजते हैं।

असम, मेघालय तथा मिजोरम के जनजातियों का प्रशासन संविधान की छठीं अनुसूची के उपबन्धों के अन्तर्गत् किया जाता है। अनुसूची के अन्तर्गत् उन्हें स्वायत्तशासी जिलों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार के आठ जिले हैं—असम में उत्तरी कछार तथा मिकिर पहाड़ी जिले, मेघालय में संयुक्त खांसी तथा जयन्तिया, जवारी और गारो पर्वतीय जिले तथा मिजोरम में चकमा लाखेर और पूर्वी जिले। प्रत्येक स्वायत्तशासी जिले में एक जिला परिषद् है जिसमें अधिक से अधिक 30 सदस्य होते हैं। इनमें अधिक से अधिक 4 सदस्य मनोनीत किये जाते हैं और शेष वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं। परिषदों को कुछ प्रशासनिक, विधायी तथा न्यायिक अधिकार दिये गये हैं।

कल्याण तथा सलाहकार अभिकरण—भारण सरकार का कल्याण मंत्रालय जनजातियों के विकास कार्यक्रमों की समग्र नीति बनाने, उनकी आयोजना तथा समन्वय करने के लिये प्रमुख मन्त्रालय है। प्रत्येक केन्द्रीय मन्त्रालय तथा विभाग अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रमुख हैं। गृह मंत्रालय, केन्द्रीय मंत्रालयों तथा राज्य सरकारों के साथ सम्पर्क बनाये रखता है।

जुलाई 1978 में जनजातियों के लिए एक आयोग का गठन किया गया। आयोग में एक अध्यक्ष तथा अधिकतम चार सदस्य होते हैं। सदस्यों का एक विशेष अधिकारी भी होता है जिसे संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत् नियुक्त किया जाता है तथा जिसे अनुसूचित जनजाति आयुक्त के नाम से जाना जाता है।

संसदीय समिति—जनजातियों के कल्याण के लिये संवैधानिक संरक्षणों के क्रियान्वयन की जाँच करने हेतु तीन संसदीय समितियाँ गठित की गयी हैं। पहली समिति 1968 में, दूसरी समिति 1971 में और तीसरी समिति 1973 में गठित की गयी। ये अस्थायी संसदीय समितियाँ हैं और इनका कार्य-काल एक वर्ष का होता है।

राज्य में कल्याण विभाग—राज्य सरकारों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों के प्रशासनों ने जनजातियों के कल्याण का कार्य देखने के लिये अलग विभाग बनाये हैं। बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा में संविधान के अनुच्छेद 164 में निर्धारित व्यवस्था के अनुसार जनजातीय कल्याण कार्य देखने के लिये पृथक् मन्त्री नियुक्त किये गये हैं। कुछ अन्य राज्यों ने केन्द्र की संसदीय समिति के अनुरूप राज्य विधान मण्डलों के सदस्यों की समितियाँ गठित की हैं।

तमिलनाडु तथा पश्चिम बंगाल ने राज्य में जनजातियों के कल्याण तथा उत्थान से सम्बन्धित मामलों के बारे में सलाह देने के लिये संविधान की पंचम् अनुसूची में किये गये उपबन्धों के अनुसार जनजातीय सलाहकार परिषदें स्थापित की हैं।

स्वैच्छिक संगठन—कई स्वैच्छिक संगठन जनजातियों के कल्याण के लिये कार्य करते हैं। हरिजन सेवक संघ, दिल्ली, भारतीय रेडक्रास सोसायटी, नई, दिल्ली, रामकृष्ण मिशन, नरेन्द्रपुर, पश्चिम बंगाल, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, नई दिल्ली, आन्ध्र आदिम जाति सेवक संघ, नेल्लूर, रामकृष्ण मिशन, चेरापूँजी, राँची, पुरी, शिलचर, शिलांग, पुरूलिया, भारतीय समाज उन्नति मण्डल, मीलबड़ी, महाराष्ट्र, ठक्कर बापा आश्रम, नुयाखण्डी, उड़ीसा, भारत

सेवक समाज, पुणे तथा सामाजिक कार्य शोध केन्द्र तिकोनिया, राजस्थान। सरकारें जनजातियों के बीच कार्य कर रहे गैर सरकारी स्वैच्छिक संगठनों को सहायता अनुदान देती हैं।

कल्याण योजनायें

अनुसूचित जातियों, जनजातियों के कल्याण पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा विशेष ध्यान दिया जाता है। इनके कल्याण के लिये प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में विशेष कार्यक्रम आरम्भ किये गये हैं। इन विशेष कार्यक्रमों पर किये गये निवेशों में प्रत्येक योजना में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है।

पंचवर्षीय योजनाओं में व्यय

योजना	अवधि	व्यय (करोड़ रुपये में)
पहली योजना	1951–56	20.04
दूसरी योजना	1956–61	79.41
तीसरी योजना	1961–66	100.40
वार्षिक योजनायें	1966–69	68.50
चौथी योजना	1969–74	172.70
पाँचवीं योजना	1974–79	296.19
छठीं योजना	1980–85	1337.21
सातवीं योजना	1085–90	1967.22

इनके अलावा राज्य सरकारें अपने गैर योजनागत् बजट में भी इनके कल्याण पर काफी धन व्यय करती रही हैं। केन्द्र व राज्य सरकारों तथा सरकारी सेवा के उपक्रमों, बैंक सेवाओं, भारतीय जीवन बीमा, साधारण बीमा निगम के अधीन आने वाले विभिन्न पदों तथा सेवाओं में जनजातियों के प्रतिनिधित्व में सुधार लाने की दृष्टि से देश के विभिन्न भागों में परीक्षा पूर्व शिक्षण केन्द्र स्थापित किये गए हैं जिनमें उम्मीदवारों को परीक्षाओं के लिए तैयार किया जाता है। इस समय पूरे देश में ऐसे केन्द्रों की संख्या ९६ से अधिक है।

1948-49 में छात्रवृत्ति योजना जनजातियों के लिए भी आरम्भ की गयी और उस वर्ष अनुसूचित जनजातियों के 89 छात्रों को छात्रवृत्ति दी गयी। जनजातियों की छात्रवृत्ति पाने वाले छात्रों की संख्या 1984-85 में बढ़कर 8.66 लाख हो गयी तथा 1988-89 में यह संख्या 13 लाख से भी अधिक थी।

जीवन-निर्वाह के बढ़ते हुए व्यय तथा अन्य कारणों को ध्यान में रखते हुए अब सभी पाठ्यक्रमों के लिये छात्रवृत्ति की दरें बढ़ा दी गयी हैं। 1980-81 से 750 रुपये प्रतिमाह तक कुल वेतन पाने वाले नौकरी शुदा छात्रों को अब यह छात्रवृत्ति मिल सकती है और इन्हें अनिवार्यतः वापस न की जाने वाली देय राशियों, शुल्क आदि की भी क्षतिपूर्ति की जाती है।

लड़कियों के लिये छात्रावासों का विस्तार करने के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है। अनुसन्धान और परीक्षण के लिए भी वित्तीय सहायता दी जाती है।

पुस्तक बैंक योजना—जनजातियों के उन छात्रों को जो देशमें चिकित्सा, इन्जिनियरिंग के डिग्री पाठ्यक्रमों में अध्ययन कर रहे हैं, इस योजना के अन्तर्गत् पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध करायी जाती हैं क्योंकि ये राजकीय सहायता के बगैर महँगी पढ़ाई जारी नहीं रख सकते। तीन विद्यार्थियों पर पुस्तकों का एक सेट दिया जाता है तथा एक सेट की पुस्तकों का जीवन काल तीन साल तक निर्धारित है।

मैट्रिक पूर्व छात्रवृत्तियाँ—यह योजना 1977-78 में आरम्भ की गयी। इसंका उद्देश्य छठीं से दसवीं कक्षा तक के ऐसे बच्चों का शैक्षिक विकास करना है जो शुष्क शौचालयों की सफाई करने, चर्म शोधन तथा खाल निकालने जैसे तथाकथित अस्वच्छ कार्यों में लगे हुए हैं। इस योजना के अन्तर्गत् छठीं से आठवीं कक्षा तक के प्रत्येक छात्र को 250 रुपये छात्रवृत्ति दी जाती है। छात्र-वृत्तियाँ उच्च शिक्षा, पी-एच० डी० इत्यादि के लिए भी दी जाती हैं। अनु-सूचित जनजाति विकास के लिये राष्ट्रीय नीति का निर्माण किया गया ताकि इनके विकास की गति तेज हो सके। प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत् विभिन्न विभाग कार्यक्रमों के लिये धनराशि का निर्धारण ऐसे करते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत् निर्धारित परिवारों को लाभ तथा जनजाति परिवारों की आमदनी में पर्याप्त रूप से वृद्धि हो।

विशेष केन्द्रीय सहायता—राज्यों द्वारा जनजातियों के लिये विशेष संघटक योजनाओं को सरकार विशेष केन्द्रीय सहायता देती है। राज्यों द्वारा यह अतिरिक्त केन्द्रीय सहायता उनकी विशेष योजनाओं के परिव्यय के साथ जोड़ी जाती है और इसका उपयोग केवल आय वृद्धि करने वाली आर्थिक विकास योजनाओं में किया जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे जितने भी जनजातियों के व्यक्ति हैं उनमें से अधिक से अधिक लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके।

आर्थिक विकास से सम्बन्धित ऐमी योजनाओं में जिनमें बैंक की जरूरत होती है जनजाति परिवारों को वित्तीय संस्थानों से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है।

जनजातियों के विकास कार्यक्रम दो नीतियों को ध्यान में रखकर चलाये जा रहे हैं। जीवन स्तर को उठाने के लिये विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा देना व कानूनी व प्रशासनिक सहायता द्वारा इनके हितों का संरक्षण करना।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में जनजातीय विकास के लिये नई योजना बनाई गई। यह उन इलाकों के लिये थी जिनमें 50 प्रतिशत से अधिक जनजाति के लोग रहते थे। बिहार, हिमाचल प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, मणिपुर, राजस्थान और अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह की जनजातियों के काफी बड़े भाग को इस उपयोजना से लाभ पहुँचाया गया। दूसरे राज्यों में जहाँ जनजातियाँ फैली हुई हैं उनमें एक बड़े तबके को मदद पहुँचाने हेतु पचास प्रतिशत के नियम को शिथिल किया गया। शिथिल किये गए नियमों के तहत यह उपयोजना आन्ध्र प्रदेश, असम, कर्नाटक, केरल,-महाराष्ट्र, त्रिपुरा, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा गोवा,दामन और दीव में कार्यान्वित की गयी। सिक्किम में जनजाति उपयोजना क्षेत्र अगस्त 1980 में तय किये गए। अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, लक्षद्वीप और दादरा तथा नागर हवेली जैसे जनजाति बहुल राज्य इस उपयोजना में शामिल नहीं किये गए क्योंकि इन प्रदेशों की योजनायें वास्तव में जनजाति विकास के लिये ही थीं।

छठीं योजना में जनजाति उपयोजना के अन्तर्गत् एक संशोधित क्षेत्र विकास **कार्यक्रम (एम० ए० डी० ए०) बनाया गया** जो 10,000 जनसंख्या वाले क्षेत्रों में जिनमें पचास प्रतिशत से अधिक जनजातियाँ हैं, लागू होता है।

सातवीं योजना में एक सामूहिक कार्यक्रम के तहत इसे 5,000 जनसंख्या वाले इलाके में जहाँ पचास प्रतिशत से अधिक जनजातियाँ थीं, लागू किया गया। इसके अलावा यह योजना उन इलाकों में भी कार्यान्वित हुई है जहाँ अनेक अनुसूचित जनजातियों के लोग रहते हैं और जिनके लिये विशेष कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। इस जनजाति उपयोजना में अब 184 समेकित जनजाति विकास परियोजनायें, 256 जनजाति बहुल क्षेत्र, 8 समूह और आदिम जनजातियों के लिये 73 परियोजनायें आती हैं जो कि 5.01 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में चल रही हैं और 19 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशोंमें जनजातियों के 372 लाख लोगों को लाभ पहुँचा रही हैं। जनजातियों के लिये बनीं उपयोजनाओं के मुख्य उद्देश्य ये हैं :—

(1) जनजाति क्षेत्रों और अन्य क्षेत्रों के बीच विकास असन्तुलन को कम करना तथा ;

(2) जनजातियों का जीवन स्तर उठाना ।

इन जनजातीय उपयोजनाओं को चलाने के लिये धन राज्य योजनाओं से, केन्द्र सरकार के कल्याण मन्त्रालय की विशेष सहायता के रूप में केन्द्रीय मंत्रालयों के कार्यक्रमों से और वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त होता है। 1988-89 में इन योजनाओं पर 1500 करोड़ रुपये परिव्यय के लिये रखा गया था। पांचवीं योजना मे 1100 करोड़ रुपये के निवेश की तुलना में छठीं योजना में अनुमानित निवेश 5535.50 करोड़ रुपये था और सातवीं योजना में 10,500 करोड़ रुपये अनुमानित निवेश में इन योजनाओं के लिये विशेष केन्द्रीय सहायता 756 करोड़ रुपये थी। छठीं योजना में यह राशि 485.50 करोड़ रुपये थी।

सातवीं योजना में जनजाति उपयोजना के लिये निम्न विशिष्ट उद्‌देश्य रखे गये :—

(1) परिवारों के लिये लाभदायक कार्यक्रम चलाना जिससे खेती, बागवानी, पशुधन और उद्योग-धन्धों की उत्पादन क्षमता बढ़ायी जा सके;

(2) भूमि-हड़प, सूदखोरी, बंधुआ मज़दूरी, वन और शराब के काम में जनजातियों के शोषण को समाप्त करना;

(3) शिक्षा और प्रशिक्षण कार्यक्रमों द्वारा मानवीय संसाधनों का विकास;

(4) महत्त्वपूर्ण आदिवासी क्षेत्रों तथा बनवासियों, भूमि कृषक, विस्थापित और प्रवासी जनजाति तथा जनजाति-स्त्रियों का विकास;

(5) जनजातीय क्षेत्रों के पर्यावरण में सुधार ।

बीस सूत्रीय कार्यक्रम अनुसूचित जनजातियों के विकास पर विशेष ध्यान देता है। छठीं योजना (1980-85) के दौरान जनजातियों के 39.97 लाख परिवारों को गरीबी रेखा से ऊपर लाने के लिये आर्थिक सहायता दी गयी जबकि लक्ष्य 27.60 लाख परिवारों का था।

सातवीं योजना (1985-90) में गरीबी रेखा से नीचे के 40 लाख जनजाति परिवारों को आर्थिक सहायता देने का लक्ष्य रखा गया। 1985-87 के बीच 24,76,000 परिवारों को आर्थिक सहायता देने का लक्ष्य था जबकि 31,00,000 परिवारों को सहायता पहुँचायी गयी। जनजाति अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण संस्थान आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, गुजरात, केरल, मध्य प्रदेश,

उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु तथा पश्चिम बंगाल में काम कर रहे हैं। ये जनजाति उपयोजनाओं को बनाने, परियोजनाओं का प्रतिवेदन तैयार करने, इनकी निगरानी, मूल्यांकन, अनुसन्धान और कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं।

जनजाति द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिये एक कारगर योजना बनायी गयी है जिसमें इनकी वस्तुओं को खरीदने तथा बेचने की व्यवस्था है।

एक सलाहकार परिषद की भी स्थापना की गयी है जो 29 अगस्त 1986 को स्थापित हुई, जो इनकी स्त्रियों और बच्चों के विकास की देखरेख की व्यवस्था एवं दिशा-निर्देश दे रही है। जनजातीय के क्षेत्रों में 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों तथा गर्भवती महिलाओं के लिये पोषाहार कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

पूरक पोषाहार कार्यक्रम, स्वास्थ्य सेवाओं और पीने का साफ पानी उपलब्ध कराने की सुविधायें उत्तरोत्तर बढ़ायी जा रही हैं ताकि इनके जीवन स्तर पर अधिकतम प्रभाव पड़े और जनजातियों के बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा अन्य लोगों को सुविधायें मिल सकें तथा वे स्वस्थ जीवन बिता सकें।

यह पोषाहार कार्यक्रम जनजातीय क्षेत्रों में स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा भी चलाया जा रहा है। पोषाहार कार्यक्रम स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा बालवाड़ियों और दिन में बच्चों की देखभाल करने वाले केन्द्रों के माध्यमों से चलाया जाता है। ये बालवाड़ियाँ इन स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा चलायी जा रही हैं—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, भारतीय बाल कल्याण परिषद, हरिजन सेवक संघ, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ और कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय न्यास। अनुमानतः 7000 बालवाड़ियों के माध्यम से पोषाहार कार्यक्रम स्वैच्छिक संस्थायें चला रही हैं जिनसे 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चे तथा गर्भवती महिलायें लाभ उठा रही हैं।

अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिये देश में अब तक जो भी प्रयास किये गये हैं उनसे उनकी आर्थिक दशा में कोई खास सुधार नहीं हुआ है क्योंकि समस्या काफी व्यापक है। संसाधनों के अभाव में आज भी शहरी क्षेत्रों में अधिकांश लोग गन्दी बस्तियों में रहते हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वालों के पास भूमि नहीं है। अपने परम्परागत व्यवसायों से भी उन्हें उचित लाभ नहीं मिल पाता क्योंकि वे उत्पादन की पुरानी पद्धति पर चल रहे हैं।

स्वामियों, व्यापारियों और साहूकारों द्वारा उनका विभिन्न प्रकार से शोषण भी किया जा रहा है।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में पिछड़ा वर्ग क्षेत्र के अन्तर्गत धनराशि उपलब्ध कराके जो प्रयत्न किये गये उससे अनुसूचित जनजातियों की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में 1978-79 तक पिछड़ा वर्ग क्षेत्र के अन्तर्गत कुल 783 करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके थे लेकिन इस राशि का 26 प्रतिशत ही आर्थिक विकास योजनाओं पर खर्च किया गया। सामान्य कार्यक्रमों से भी अनुसूचित जनजातियों को बहुत कम फायदा पहुँचा है।

छठीं पंचवर्षीय योजना में इस बात का सही उल्लेख किया गया है कि सामान्य क्षेत्रों के विकास के अन्तर्गत समग्र विकास प्रयासों के अनुपूरक के रूप में विशेष कार्यक्रमों ने मात्र उन सुविधाओं का स्थान ग्रहण किया जो सामान्य विकास योजनाओं के अन्तर्गत उपलब्ध हैं। इसके फलस्वरूप उनके विकास पर अपेक्षाकृत कम पूँजी खर्च की गयी। विभिन्न योजना अवधियों के दौरान योजना परिव्ययों में पिछड़ा वर्ग क्षेत्र का हिस्सा मात्र 1 प्रतिशत के आस-पास था। इतने कम परिव्यय पर भी वह पूर्णतः अनुसूचित जनजातियों के लिये ही नहीं था बल्कि उनमें अन्य पिछड़े वर्गों का परिव्यय भी शामिल था। 1978–79 के दौरान यह राशि 7442.49 लाख रुपये की गयी जो 1979–80 में घटकर 6817.56 लाख रुपये रह गयी। यद्यपि 1979–80 के मुकाबले 1980–81 में परिव्यय को राशि थोड़ी-सी बढ़ा दी गयी थी लेकिन यह बात समझ में नहीं आती कि हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब और अण्डमान निकोबार द्वीपसमूह के लिये परिव्यय की राशि कम क्यों कर दी गयी। बढ़ रही कीमतों को देखते हुए अधिक धनराशि का आवंटन किया जाना चाहिए था। आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा गोवा, दमन और दीव में 1978–79 के दौरान पिछड़ा वर्ग क्षेत्र के अन्तर्गत धनराशि का उपयोग सन्तोषजनक रूप से किया गया था। 1979–80 के दौरान असम, मणिपुर, राजस्थान, सिक्किम, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह में अन्य राज्यों / संघ राज्य क्षेत्रों के मुकाबले बेहतर कार्य हुआ। अनुसूचित जनजाति के लोगों को पिछड़ा वर्ग क्षेत्र के अलावा राज्य सरकारों / संघ राज्य क्षेत्रों के प्रशासनों और केन्द्रीय मन्त्रालयों द्वारा तैयार की गयी जनजातीय उपयोजनाओं और विशेष संघटक योजनाओं से भी फायदा पहुँचा है। समेकित ग्राम विकास योजना 1978–79 में चलायी गयी थी, इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी कम करना और गाँवों में गरीब लोगों को परिसम्पत्तियाँ और निवेश उपलब्ध कराना था ताकि उन्हें गरीबी की रेखा से ऊपर लाया जा सके। गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाली सभी जनजातियों की सहायता की जाय। 2

अक्टूबर 1980 से यह कार्यक्रम देश के सभी 5011 विकास प्रखण्डों में लागू किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य 600 परिवारों को कार्यक्रम को परिधि में लाना था। छठीं योजना के अन्त तक देश में 150 लाख परिवारों को इस कार्यक्रम की परिधि में लाया गया। इस कार्यक्रम के लिये 750 करोड़ रुपये राज्यों द्वारा, 750 करोड़ रुपये ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा तथा 3000 करोड़ बैंकिंग क्षेत्र द्वारा आवंटित किये गये। इससे 1980–81 के दौरान जनजातियों के कम से कम 20 प्रतिशत लोग लाभान्वित हुए। 1981–82 में इसे बढ़ाकर 30 प्रतिशत कर दिया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सभी सक्षम और बैंक ग्राह्य आर्थिक कार्यों के लिये सहायता उपलब्ध की जाती है जैसे—कृषि, पशुपालन, छोटी सिंचाई, बुनाई, रेशम उद्योग, बागवानी, मत्स्यपालन, लघु उद्योग तथा कुटीर उद्योग। पारिवारिक सर्वेक्षण के आधार पर लाभार्थियों की शिनाख्त की जाती है। इस कार्यक्रम से 7 प्रतिशत जनजातियों को फायदा पहुँचा। 1980–81 के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में यह अधिक तेज गति न पकड़ सका लेकिन वर्तमान समय में इसकी गति तेज हो गयी है। इससे अधिक मात्रा में जनजातियों को फायदा पहुँच रहा है।

न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम भी जनजातियों के क्षेत्रों में लागू किया गया। इसके अन्तर्गत सरकार अभिकरणों के मार्फत ऐसे लोगों को निःशुल्क तथा सहायता प्राप्त सेवायें प्रदान करती है जो गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं ताकि उनकी उत्पादक कार्य कुशलता में सुधार किया जा सके। पाँचवीं योजना में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत 2607 करोड़ रुपये आवंटित किये गये। छठीं पंचवर्षीय योजना में यह राशि बढ़कर 5807 करोड़ रुपये कर दी गयी। प्रत्येक पंचवर्षीय योजनाओं में राशि की वृद्धि कर दी गयी ताकि उनकी प्राथमिक शिक्षा, ग्रामीण स्वास्थ्य, जलापूर्ति, सड़कों, गाँवों के विद्युतीकरण, आवासों के निर्माण के लिये तथा विशेष पोषाहार पर खर्च किया जा सके। इससे गत वर्षों के दौरान पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात, केरल, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु और कर्नाटक ने इस कार्यक्रम को लागू करने में अच्छी प्रगति की है जबकि मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और उत्तर-पूर्वी राज्य पिछड़े रहे हैं।

अनुसूचित जनजातियों के उद्यमियों के लिये लघु उद्योग सेवा संस्थाओं द्वारा विशेष उद्यम विकास कार्यक्रम' चलाये जा रहे हैं। विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के लिए 15 प्रतिशत स्थान आरक्षित किये जाते हैं। एस० आई० डी० ओ० द्वारा तकनीकी, प्रबन्धकीय, आर्थिक तथा अन्य विषयो में परामर्श सेवायें प्रदान की जाती हैं। इस प्रकार की सेवायें निःशुल्क

दी जाती हैं। अनुसूचित जनजातियों के उद्यमियों के लिए 50 प्रतिशत की रियायत दी जाती हैं।

राज्य सरकारों तथा संघ राज्य क्षेत्रों से अनुरोध किया गया था कि जिला उद्योग केन्द्र (डी० आई० सी०) के जरिये ऋण बाँटने में अनुसूचित जनजातियों को वे तरजीह दें व इनको औद्योगिक विकास की मुख्यधारा में लाने की ओर विशेष ध्यान दें। ये ग्रामीण कारीगरों के लिये प्रोत्साहनात्मक योजनायें और प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाकर मार्गदर्शी सिद्धान्त जारी करें ताकि उनकी तकनीक और उपकरणों में सुधार किया जा सकें और उन्हें अपने व्यवसायों में स्थापित किया जा सके।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम अनुसूचित जनजातियों को किराया, खरीद की आसान शर्तों पर मशीनें और उपकरण देता है। 1980–81 के दौरान जनजाति के लगभग 60 उद्यमियों को सहायता प्रदान की गई थी। छोटी इकाइयाँ स्थापित करने लिए जो प्रोत्साहन सुविधायें दी जाती हैं उनसे अच्छे परिणाम निकल रहे हैं। अभी आगे भी जनजाति के अधिक से अधिक लोगों को इनमें तेजी से शामिल करने की आवश्यकता है ताकि उनकी आर्थिक दशा सुधर सके। सड़क परिवहन में भी क्षेत्र परमिट देने में जनजाति के लोगों को आरक्षण की व्यवस्था है। आरक्षण का कोटा उतना ही रखा गया जितना कि नौकरियों में सीधी भर्ती के लिये हैं।

हरियाणा, महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों से प्राप्त सूचना से पता चलता है कि इन राज्यों की सड़क परिवहन का पूर्णरूप से राष्ट्रीयकरण हो चुका है इसलिये गैर सरकारी पार्टियों को बस चलाने के लाइसेन्स नहीं दिये जाते हैं। असम में 1980–81 में 40 जनजाति के लोगों को परमिट दिये गये, अब इनकी संख्या और अधिक हो गयी हैं। पाण्डिचेरी में 1980–81 में एक व्यक्ति को परमिट दिया गया। कर्नाटक में दो व्यक्तियों को परमिट दिया गया। भारतीय रेलों में भी खान-पान बिक्री और फलों की बिक्री में भी जनजातियों को आरक्षण की व्यवस्था है।

खेतिहर कामगारों के लिये न्यूनतम मजदूरी अनुसूचित जनजातियों के लिये लागू की गयी है क्योंकि ये अधिकांश मजदूर हैं। उनका शोषण रोकने के लिये कृषि मजदूरी की दर न्यूनतम निर्धारित की गयी हैं।

अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास को भी बढ़ाया गया है ताकि उनका शैक्षणिक सामाजिक स्तर भी ऊँचा हो सके। इसके लिये सरकारी प्रयास किये गये ताकि लड़के और लड़कियाँ शिक्षित

हो सकें। जनजाति में 1961 में 8.63 प्रतिशत लोग शिक्षित थे इनमें स्त्रियाँ 3.16 प्रतिशत। 1971 में 11.30 प्रतिशत तथा स्त्रियाँ 4.85 प्रतिशत तथा 1981 में 16.35 प्रतिशत तथा इनमें स्त्रियाँ 8.04 प्रतिशत शिक्षित थीं फिर भी इनके शिक्षा का स्तर बहुत ही कम है तथा स्त्रियों में शिक्षितों की संख्या और कम है। औरतों के शिक्षित होने की दर बिहार में सबसे कम है जो 1.2 प्रतिशत है तथा इसके साथ ही आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में भी यह काफी कम है। सरकार द्वारा इनमें शिक्षा के प्रसार के लिये तमाम सुविधायें दी जा रही हैं ताकि ये शिक्षित हो सकें। इनके लिये छात्रवृत्तियाँ, फीसमाफी तथा भोजन वस्त्र, छात्रावास, किताब, इनकी सीट के लिये आरक्षण की सुविधा, कोचिंग की सुविधा इत्यादि, जो 1986 में नई शिक्षा पद्धति लागू की गयी उसके अन्तर्गत इनके क्षेत्रों में प्राइमरी स्कूल तथा इनको अपनी भाषाओं के प्रयोग की सुविधा दी गयी है। और अधिक आश्रम पद्धति स्कूल खोले गये ताकि ये पढ़ सकें।

पेयजल की पूर्ति—ग्रामीण क्षेत्रों में जलपूर्ति की व्यवस्था करना राज्य सरकारों की मुख्य जिम्मेदारी है। पूर्व प्रधान मंत्री श्री चन्द्रशेखर ने भी तीन वर्षों के भीतर पूरे भारत वर्ष के ग्रामीण अंचलों में कोई गांव बिना जल का नहीं रहेगा, ऐसी घोषणा 25 दिसम्बर 1990 को रास्थान में की थी। कोई भी गांव प्यासा नहीं रहे, इसलिये पहले से भी जनजातीय क्षेत्रों में यह सुविधा दी जा रही है।

असम में 1980-81 के दौरान 1.60 लाख अनुसूचित जनजाति के जनसंख्या वाले 314 गांवों को पेयजल की सुविधा पहुँचाई गयी और 1990 तक ऐसे गांवों की संख्या दुगुनी हो गयी।

बिहार में भी अनुसूचित जनजातियों के गांवों में पेयजल का विशेष कार्यक्रम चल रहा है। इसके अन्तर्गत अनुदान द्वारा कुँओं की खुदाई, हैण्डपम्प की सुविधा पहुँचाई जा रही है।

कर्नाटक में 1981 तक जनजाति के 7.67 लाख लोगों को पेयजल की सुविधा प्रदान की गयी है। इसमें बोरिंग कुएँ खोदकर हैण्डपम्प की सुविधा प्रदान की गयी।

केरल में नल के द्वारा जलपूर्ति योजनायें लागू की जा रही हैं। जनजातियों की कालोनियों में निष्पादित की जाने वाली 175 और 30 योजनाओं में से केवल 43 और 2 योजनाओं को लाभ पहुँचाने के लिये प्रयास किया गया

लेकिन अब सरकार बोरिंग कुएँ खोदकर हैण्डपम्प के द्वारा पेयजल की सुविधा मुँहैया करा रही है।

उत्तर प्रदेश में भी, जहाँ जनजाति की गाँवों में जनसंख्या अधिक है, प्रयास हो रहा है कि कम से कम एक "ए स्टैण्डफोर्ट" की व्यवस्था की जाय ताकि पेयजल की सुविधा हो सके। गाँवों अथवा जनजातियों को आवास की सुविधा के लिये भी सरकार की तरफ से जमीन तथा बनाकर मकान देने की सुविधा दी जा रही है।

असम में जनजाति के परिवारों को आधा से एक बीघा तक आवास के लिए जमीन दी जा रही है। इस समय 6000 रुपये से लेकर 8000 रुपये तक (1987 में) मकान बनाने के लिए सरकार निर्माण व्यय दे रही है। गाँव में ऐसे परिवारों का चयन करके जिनके पास मकान नहीं है आवास की सुविधा दी जा रही है। ये सुविधायें लगभग पूरे देश में लागू हो चुकी हैं। करीब हर प्रदेश में ऐसी सुविधा अनुसूचित जनजातियों को दी जा रही हैं। इनके गाँवों को विद्युतीकरण में भी प्राथमिकता दी जा रही है ताकि ये लघु कुटीर उद्योग-धन्धे करके अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकें। जनजातीय विकास के अन्तर्गत प्रयास जन-जातीय क्षेत्रों और अन्य क्षेत्रों के बीच विकास स्तर के अन्तर को कम करना है तथा जनजातीय समुदायों के जीवन स्तर में सुधार करना है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के शोषणों को समाप्त करने को प्राथ-मिकता दी जा रही है व इसके साथ ही जो बिखरी हुयी जनजातियाँ हैं उनकी 1975 में आबादी 97 लाख थी जो कुल जनजातीय आबादी का एक चौथाई भाग है। इनको एक छोटा समूह नहीं समझना चाहिये। इनके भी सामाजिक आर्थिक विकास के लिए अवसर प्रदान करने की आवश्यकता है ताकि ये अन्य जनजातियों की भाँति विकास कर सकें। स्वास्थ्य की सुविधा के लिये जन-जातीय क्षेत्रों में तीस हजार की आबादी के पीछे एक उपकेन्द्र खोला गया है तो क्यों न बिखरी हुई जनजातियों में भी स्वास्थ्य उपकेन्द्र खोले जायँ। इनके बीच भी विशेष पोषाहार की सुविधा प्रदान की जाय। जनजातीय क्षेत्रों में जो समेकित बाल विकास परियोजनायें चल रही हैं उनकी संख्या और बढ़ाकर बिखरी हुई जनजातियों में भी इसे लागू किया जाय।

राज्यों द्वारा जनजातियों के लिए विशेष संघटक योजनायें चलायी जा रही हैं। समाज कल्याण विभाग के द्वारा विभिन्न कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं और वे अपनी रिपोर्ट तैयार कर निदेशक, समाज कल्याण विभाग को भेजते हैं। पश्चिम बंगाल के जिलों में जनजातीय कल्याण अधिकारियों के परिनियंत्रण कक्ष के साथ सांख्यिकीय पदों को जोड़ने के मामले पर विचार

किया जा रहा है। अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम की स्थापना आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, महाराष्ट्र, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, केरल, गुजराज, मध्य प्रदेश, पंजाब, उड़ीसा, राजस्थान, त्रिपुरा, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल में कर दी गयी हैं। भारत सरकार द्वारा 1978–79 से इन निगमों में शेयर पूंजी की 49 प्रतिशत तक सहायता प्रदान की जा रही हैं। ये निगम कृषि, विपणन, लघु उद्योग, पशुपालन, दस्तकारी, ग्रामोद्योग को सहायता प्रदान करते हैं। ये जनजाति परिवारों को गरीबी की रेखा से ऊपर लाने के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

अनुसूचित जनजातियों के विरुद्ध किये जा रहे अपराध देश के लिए एक गम्भीर चिन्ता का विषय बन गया है। इन अपराधों को आमतौर पर अत्याचार के नाम से जाना जाता है। इन अपराधों में हत्या, बलात्कार, प्रहार, हिंसा—जिसके कारण गम्भीर चोट लग जाय, आगजनी के मामले तथा भारतीय दण्ड संहिता के अधीन अन्य दण्डनीय अपराध शामिल हैं। 1979–80 के बीच अत्याचार के मामलों में कमी होने के संकेत मिले हैं। गृह मंत्रालय के राष्ट्रीय एकता प्रभाग को जनजातियों पर लागू होने वाले अत्याचार के मामलों के बारे में आँकड़े एकत्र करने का काम सौंपा गया है। लेकिन मार्च 1980 से यह कार्य गृह मंत्रालय के अनुसूचित जाति व पिछड़ा वर्ग विकास प्रभाग के तहत पी०सी० आर० सेल द्वारा किया जा रहा है। गृह मंत्रालय समय-समय पर सभी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को हिदायतें व मार्गदर्शी निर्देश जारी करता है तथा उन्हें निवारक और एहतियाती उपाय बरतने का सुझाव देता है ताकि इन जनजातियों के ऊपर हो रहे अत्याचार बन्द हों तथा जो इनके बीच से अपराधी पैदा होते हैं वे भी न पैदा हों क्योंकि देश की एकता तथा अखण्डता के लिए यह जरूरी है। भारत सरकार अपराधों से बहुत चिंचित हैं तथा इस प्रकार के अपराधों को समाप्त करने के लिए उत्सुक है।

गृह मन्त्री ने अपने दिनांक 6–9–80 के अ०शा० पत्र में सभी राज्यों और संघ राज्यों से अनुरोध किया है कि—

(1) अति संवेदनशील जिलों में जहाँ अत्याचार हो रहे हैं वहाँ अनुसूचित जनजाति के अधिकारी तैनात किये जायँ।

थानों में भी अनुसूचित जनजाति के थाना अधिकारी तैनात किये जायँ। आशा की जाती है कि अनुसूचित जनजाति के लोगों के विरुद्ध अत्याचार के मामलों पर रोक लगाने के लिये सभी राज्य, संघ राज्य क्षेत्र गृह मंत्रालय की

सिफारिश लागू करने के लिये कदम उठायेंगे। अत्याचार के शिकार होने वाले लोगों के लिए जिन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता तथा अन्य राहत उपलब्ध की जानी आवश्यक है ताकि वे फिर से अपना नया जीवन शुरू कर सकें। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी राज्य सरकारें कदम उठा रही हैं ताकि जनजातियों का मनोबल न टूट सके। जनजातियों पर अत्याचारों को रोकने के लिए भारत सरकार तथा राज्यों ने कठोर कदम उठाये हैं।

अध्याय—2

अपराधी सुधार प्रशासन

अपराधी सुधार प्रशासन के अन्तर्गत् वे समस्त कार्यक्रम सम्मिलित हैं जिनके द्वारा राज्य स्वयं अथवा स्वैच्छिक प्रयासों के सहयोग से अपराध निरोध एवं अपराधी न्याय की सम्पूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत् उन व्यक्तियों के पुनर्लाभ, पुर्नशिक्षा एवं पुनर्वास के प्रयास करता है जो विधान का उल्लंघन करने पर दण्ड पाते हैं। अन्य देशों की भाँति भारत में भी अपराधी सुधार प्रशासन सेवाओं का उद्गम एवं विकास की विचारधारा में उस बदलाव की झलक है जिसके फलस्वरूप अपराध के स्थान पर अपराधी को महत्त्व दिया जाने लगा। साथ ही अपराधी के व्यक्तित्व के अनुरूप वैयक्तिक उपचार एवं पुनर्वास कार्यक्रमों के द्वारा उसके पुनः समाजीकरण पर ध्यान दिया जाने लगा।

आधुनिक समय में समाज विज्ञान् के उत्तरोत्तर विकास के कारण अपराध नियंत्रण के प्रारम्भिक दृष्टिकोंण, जो मूलतः दण्ड के हतोत्साहक, प्रतिशोधात्मक तथा असमर्थतात्मक उद्‌देश्यों से निर्देशित थे, में क्रमिक बदलाव आया तथा उन सुधारात्मक कार्यक्रमों को महत्त्व दिया जाने लगा जिनके द्वारा अपराधी समाज में पुनः एक न्यायप्रिय, आत्मनिर्भर तथा प्रतिष्ठित नागरिक के रूप में अपना जीवनयापन कर सके। इस क्षेत्र में कार्यानुभव ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि अपराध से समाज की रक्षा के अन्तिम उद्‌देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति के विश्वासों तथा अभिवृत्तियों में वांछित परिवर्तन लाकर मान्य विचलित व्यवहार को सुनिरूपित किया जाय। अपराधिता को रोकने वाले शमनात्मक उपाय इस कारण प्रतिउत्पादक होते हैं क्योंकि ये उन परिस्थितियों को परिवर्तित अथवा रोकने में असफल होते हैं जो व्यक्ति को दुर्व्यवहार से भरपूर जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करते हैं। अपराधी सुधार की मान्यता है कि अपराध की समस्या ऐसी समस्या है जिसके कारण समाज के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण में निहित हैं और चूँकि यह पर्यावरण परिवर्तनशील है, अतः समाधान के उपायों को निरूपित करते समय, इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए और उन व्यवहारों को रोकने एवं परिवर्तित करने का प्रयास करना चाहिए जो व्यक्ति को अपराध की ओर अग्रसर करते हैं।

आधुनिक अपराधी सुधार प्रशासन की अवधारणा में सुधार के अर्थ हैं अपराधी व्यक्ति को कानून पालन करने वाले नागरिक की भाँति जीवनयापन योग्य बनाना।[1] इसलिए स्टड[2] ने सुधार के प्रत्यय को पारिभाषित करते हुए कहा कि सुधार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा आधुनिक समाज कानून तोड़ने वाले व्यक्तियों की आपराधिक मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने तथा उनकी जीवन शैली को सामाजिक नियमों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। सुधार का उद्देश्य अपराधी को उसके दण्ड की अवधि में एक नयी दिशा प्रदान करना है जिससे अपराधी के व्यक्तित्व में यह परिवर्तन आये कि कारागार अथवा सुधार संस्था से मुक्ति के बाद उसमें एक अच्छे एवं उपयोगी जीवनयापन की इच्छा जागृत हो।

इस प्रकार अपराधी सुधार प्रशासन से सम्बन्धित कार्यक्रम दो मुख्य उद्देश्यों पर आधारित हैं : (1) व्यक्ति के विचलित व्यवहार एवं दृष्टिकोण में ऐसी सहायता प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन करना जो उसके व्यक्तिगत् एवं सामाजिक समायोजन में सहायक हो तथा (2) उसके पर्यावरण तथा परिस्थितियों में परिवर्तन तथा संशोधन द्वारा अनेक प्रकार के निरोधात्मक एवं सुधारात्मक साधनों की उपलब्धि कराके परिवर्तन करना जो उसमें अपराधिता को जन्म देती हैं।

अपने देश में वैदिक व्यवस्था के अन्तर्गत आत्मशुद्धि, प्रायश्चित तथा पुनः समाजीकरण पर अधिक बल दिया जाता था। पाप से भिन्न अपराध की अवधारणा का विकास तब हुआ जब अपराध तथा दण्ड का निर्धारण एवं क्रियान्वयन राज्य की राजनैतिक सत्ता में चला गया। इसका परिणाम यह भी हुआ कि जहाँ पहले आत्म शुद्धि और प्रायश्चित को प्रश्रय दिया जाता था, वहाँ दण्ड का स्वरूप हतोत्साहात्मक तथा भयात्मक होने लगा। अतः जो महत्त्व पहले व्यक्ति को दिया जाता था वह शनैः-शनैः समाप्त होने लगा। मुगलों के राज्य-काल के अन्त तक अपराधी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्णरूपेण हनन हो चुका था और उसे शारीरिक प्रताड़ना के भय के अधीन होकर राज्य को सभी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था।[3]

---

1. जे० जे० पनाकल, 'करेक्शनल एडल्ट', इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल वर्क, (नई दिल्ली, 1968, पृ० 181)
2. इलियट स्टड, एजूकेशन फॉर सोशल वर्कर्स इन दि करेक्शनल फील्ड, न्यूयार्क, 1964, पृ० (6-7)
3. दिवाकर : दि सोशलाइजेशन ऑफ प्रिजनर्स, क्राइटेरियन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1989, पृ० 40-71।

विदेशी सम्भवतः इस देश में राज्य करने नहीं आये थे किन्तु यहाँ आने पर धीरे-धीरे उनकी नीयत बदलने लगी। इसलिये जो भी व्यवस्था उन्होंने यहाँ पर स्थापित की वह प्रारम्भ में तो पूर्ण रूप से स्वार्थपरक थी बाद में उसमें उन्हें यहाँ-वहाँ परिवर्तन तथा परिमार्जन करना पड़ा जिससे वह जन-आक्रोश पर काबू कर सकें। देश में जो अपराधी-न्याय व्यवस्था है वह उन्हीं की देन है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य में 143 सिविल, 75 अपराधी तथा 68 मिश्रित कारागार थे। उस समय की परिस्थिति का वर्णन करते हुए मजूमदार और दत्त कहते हैं[1] कि प्रारम्भिक भारतीय कारागार व्यवस्था अपने अंग्रेजी मूल रूप के समाज की अस्वास्थ्यकर और हतोत्साहित करने वाली थी। बन्दियों को कठोर दण्ड दिये जाते थे, उन्हें सड़क बनाने के लिये 'गैंग लेबर' के रूप में अक्सर उपयोग में लाया जाता था, स्वास्थ्य नियमों का पालन नहीं किया जाता था और मृत्य दर प्रति हजार सौ थी। कारागार सुधार के सबसे पहले प्रयास लॉर्ड मैकाले के प्रयासों से 1834 के रेगुलेशन ऐक्ट में किया गया। उनके सुझाव पर 2 जनवरी 1836 को एक समिति भारत में कारागारों की वास्तविक स्थिति तथा उनके सुधार के लिये एक योजना बनाने के लिये गठित की गयी। किन्तु 1855 में एक अधिनियम पारित होने पर ही स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ जब हर प्रेसीडेंसी में कारागार महानिरीक्षक नियुक्त करने की बात कही गई तथा 1856 के अधिनियम की धारा–7 के अन्तर्गत कारागार सदर फौजदारी अदालत के अधीन नहीं रहे। 1894 के 'प्रिज़न्स ऐक्ट' और 'रिफामेट्री स्कूल' ऐक्ट 1897 ने वयस्क एवं किशोर अपराधियों से सम्बन्धित गम्भीर चिन्तन का मार्ग प्रशस्त किया।

वयस्क अपराधी सुधार

अपराधियों को कारागारों में रखने की विधि सबसे पुरानी और विश्वव्यापी है। अनुमानतः 1987 में भारत के कारागारों में डेढ़ लाख व्यक्ति बन्दी थे। किशोरों, युवाओं, महिलाओं, बाधितों आदि बन्दियों के साथ विभेदक व्यवहार की विधियों का उद्‌भव, अन्य देशों की भाँति, भारत में कारागार सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाया है। यहाँ तक कि परिवीक्षा, प्राचीर विहीन कारागार तथा अन्य असंस्थागत् विधियों का प्रचार-प्रसार इसी

---

1. आर० सी० मजूमदार तथा कालीशंकर दत्त—ब्रिटिश पैरामाउटसी ऐन्ड इण्डियन रेतेसाँ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1970, पृ० 383-394।

आन्दोलन की ही देन है। अतः अपराधी-सुधार प्रशासन की वर्तमान परिस्थिति को समझने के लिये काराकार-प्रशासन के विकास को समझना अवश्यम्भावी है।

1919-20 की भारतीय कारागार समिति को कारागार सुधार की दिशा का वह मोड़ जाना जाता है जहाँ से सुधार की दिशा का बोध होता है।[1] उस समय के भारतीय कारागार प्रशासन का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा कि जहाँ तक प्रशासनिक, स्वास्थ्य, भोजन, श्रम आदि से सम्बन्धित भौतिक पक्ष का सम्बन्ध है, भारतीय कारागारों में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। सम्भवतः 1838 के प्रतिवेदन का प्रभाव आज तक पूर्ण रूप से चुका नहीं है। ऐसा हो या न हो किन्तु यह निश्चित है कि भारतीय कारागार प्रशासन के कारागार सम्बन्धी कार्य का सुधारात्मक पक्ष कुछ पिछड़ा हुआ रहा है। वह बन्दी को एक व्यक्ति के रूप में देखने में असमर्थ रहा है। उसे कारागार प्रशासन की एक इकाई ही समझा गया है। उसने इस ओर कदाचित् ध्यान ही नहीं दिया कि मानवीय प्रभावों का व्यक्तिगत बन्दी के मस्तिष्क पर भी कुछ प्रभाव पड़ सकता है और वे केवल उसकी भौतिक देखरेख, भोजन, स्वास्थ्य और श्रम की ओर ध्यान देते रहे। बौद्धिक और नैतिक विकास की सम्भावनाओं पर नहीं के बराबर ध्यान दिया गया है। फलस्वरूप भारतीय कारागार में उपचार, यह स्वीकार करना होगा, हतोत्साही हैं, वे सुधारात्मक नहीं हैं। भारत के प्रत्येक प्रदेश के एक के बाद एक गवाह ने एक स्वर से यही कहा कि भारतीय कारागारों का अपने संवासियों पर अच्छा या स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि वह उन्हें अपमानित नहीं करता है तो वह उन्हें और कठोर बनाता है तथा अधिकांश कैदी कारागार से निकलने पर और खराब हो जाते हैं। यद्यपि हम सब एक मत नहीं हैं फिर भी यह सत्य है कि ऐसा व्यक्ति व्यवस्था के कुप्रभाव के कारण भी होता है। अतः पृथक अंगों के स्थान पर सम्पूर्ण विचारधारा में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है और हम यह कहना चाहेंगे कि इस तथ्य को कि मनुष्यों को कारागारों से बाहर रखना एक प्रमुख कर्तव्य है, यदि यह सम्भव है, सभी अधिकारियों द्वारा और विशेषकर न्यायालयों द्वारा इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार करना होगा।[2]

1 अप्रैल 1937 से प्रादेशिक स्वायत्तता के साथ कारागार प्रशासन एक प्रादेशिक विषय बन गया और प्रदेशों को सम्बन्धित कानून बनाने का अधिकार

1. एस० पी० श्रीवास्तव—भारत में अपराध, दण्ड एवं सुधार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1977, पृ० 251।
2. इण्डियन जेल कमिटी, 1919-20, पृ० 30-32।

प्राप्त हो गया। केन्द्रीय सरकार को एक इकाई से दूसरी इकाई में बन्दियों के स्थानान्तरण सम्बन्धी विषय, समवर्ती सूची में होने के कारण, प्रदेशों के साथ-साथ इस विषय पर कानून बनाने का अधिकार रहा। भारतीय नेताओं ने इन सब परिवर्तनों का विरोध किया किन्तु प्रादेशिक स्वायत्तता स्थापित हुई और इसका देश में कारागार सम्बन्धी नीति एवं प्रशासन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसका एक गम्भीर परिणाम यह हुआ कि कारागार प्रशासन पूरे देश में एकसा नहीं हो पाया। जिन प्रदेशों ने इस विषय को जहाँ तक प्राथमिकता दी उतना ही विकास सम्भव हो पाया। अन्य प्रदेशों में विकास बहुत धीमा रहा और समरूपता नहीं रही।

स्वतन्त्रता के उपरान्त सत्ता उन नेताओं के हाथ में आई जिन्होंने वर्षों तक ब्रिटिश शासन काल में कारागारों की यातना सही थी। इसलिए वे बन्दियों के दुःख-दर्द से भलीभाँति परिचित थे। इस अनुभव तथा राष्ट्रीय पुर्नसंरचना की भावना से प्रेरित होकर 1951 में तकनीकी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह अनुरोध किया कि वह एक कारागार-विशेषज्ञ अपराध शास्त्री की सेवाओं को उपलब्ध कराये जिससे भारत सरकार कारागार कर्मचारियों के प्रशिक्षण के कार्यक्रम आयोजित करने तथा कारागारों में बन्दी सुधार की व्यवस्था में परिवर्तन किये जाने वाले सुझावों को सावधानी तथा सफलतापूर्वक मूर्तरूप प्रदान कर सके। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विश्वविख्यात अपराधशास्त्री डॉ० डब्ल्यू० सी० रेक्लेस को भारत भेजा। डॉ० रेक्लेस ने देश भर के कारागारों के निरीक्षणोपरान्त अपना प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किया जिसमें कई महत्त्वपूर्ण सुझाव थे। इनमें से विशेष कर दो की ओर सरकार का ध्यान तुरन्त आकृष्ट हुआ। ये सुझाव केन्द्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय अपराधी सेवा ब्यूरो की स्थापना तथा जेल नियमावली में परिवर्तन सम्बन्धी थे। इसके फलस्वरूप 1957 में अखिल भारतीय नियमावली समिति तथा 1961 में केन्द्रीय अपराधी सुधार सेवा ब्यूरो का गठन हुआ, यह ब्यूरो अब राष्ट्रीय समाज रक्षा संस्थान के नाम से जाना जाता है।

अखिल भारतीय कारागार नियमावली समिति द्वारा रचित आदर्श कारागार नियमावली के कुछ प्रमुख प्रस्ताव निम्नलिखित हैं :

(1) कारागार एवं सुधार सेवाओं को गृह मंत्रालय के नियंत्रण में रखा जाय।

(2) कारागार विभाग की संगठनात्मक संरचना में राजकीय स्तर पर कारागार महानिरीक्षक, उपकारागार महानिरीक्षक, निदेशक परिवीक्षा, बाल अपराध एवं उत्तर रक्षा सेवा, अधीक्षक उद्योग, मुख्य शिक्षा अधिकारी आदि

उच्च स्तरीय अधिकारियों की नियुक्ति हो और प्रत्येक राज्य के कारागार नियमावली में उनके कर्त्तव्यों और अधिकारों का स्पष्ट वर्णन किया जाय।

(3) प्रत्येक राज्य में अपराधियों के निम्न प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की जाए—(क) बाल अपराधियों के लिये (ख) किशोर अपराधियों के लिये (ग) गैर-आदतन अपराध करने वाले वयस्क अपराधियों के लिए (घ) आदती, व्यावसायिक तथा संगठित अपराध करने वालों के लिये (ङ) जिनका नियंत्रण कठिन है उन बन्दियों के लिये विशेष संस्थाएँ (च) महिला बन्दियों के लिये (छ) वृद्ध तथा दुर्बल बन्दियों के लिये (झ) प्रत्येक कारागार में क्षय रोग से पीड़ित बन्दियों के लिए विशेष व्ययस्था (झ) उन बन्दियों के लिये विशिष्ट व्यवस्था अथवा कारागार जिनका मुकदमा अभी चल रहा है (ञ) उप कारागार (सब जेल) तथा (त) प्राचीर विहीन बन्दीगृहों की स्थापना।

(4) प्रत्येक केन्द्रीय कारागार में स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक अपराधियों को रखने की विशिष्ट व्यवस्था हो। इस प्रकार के कारागारों में केवल लम्बी सजा पाये हुए वयस्क अपराधी ही रखे जायँ और बन्दियों की संख्या 750 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(5) प्रत्येक जिला स्तरीय कारागारा में कम सजा पाये हुये बन्दियों को उनकी अपराधी प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर पृथक रूप से रखा जाना चाहिये तथा बन्दियों की संख्या 400 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(6) प्रत्येक कारागार की भवन व्यवस्था में मुख्य द्वार, अगवानी भवन, चिकित्सालयों, रसोई घरों, दण्ड काठरियों, रहने के कक्षों, शौचालयों, स्नान घरों, बड़े भोजन कक्षों, मिलन कक्षों, विद्यालय भवनों तथा औद्योगिक केन्द्रों के भवनों की पर्याप्त सुविधा होनी चाहिये। प्रत्येक कारागार के समीप ही कारागार के समस्त कर्मचारियों के लिये निवास गृहों, मनोरंजन तथा चिकित्सालय केन्द्रों, पार्कों तथा स्कूलों की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(7) प्रत्येक कारागार में निम्नलिखित प्रकार के कर्मचारी नियुक्त होने चाहिए अधीक्षक (ग्रेड I एवं ग्रेड II), उप अधीक्षक (ग्रेड I एवं ग्रेड II), सहायक अधीक्षक, महिला सहायक अधीक्षक, महिला प्रहरी, चिकित्सा अधिकारी, कम्पाउण्डर, नर्स, मनः चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक, सुधारात्मक सामाजिक कार्यकर्ता, शिक्षा अधिकारी, शारीरिक शिक्षा अधिकारी,

औद्योगिक प्रशिक्षक, कृषि-अधिकारी, डेरी निरीक्षक तथा कारागार के कार्यालय में कार्य करने वाले लिपिक तथा अन्य कर्मचारी ।

(8) कारागार कर्मचारियों की नियुक्ति एवं उनका चयन उनकी शारीरिक पुष्टता, कठोर कार्य करने की क्षमता, साहस, नेतृत्व, विश्वसनीयता, सन्तुलित व्यक्तित्व, प्रशासनिक निपुणता, चारित्रिक निष्ठा, मानवतावादी दृष्टिकोण तथा अपराधियों के सुधार में विश्वास रखने की योग्यता को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए ।

(9) कारागार के समस्त कर्मचारियों को उनकी नियुक्ति के तुरन्त बाद विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्रों में कारागार व्यवस्था की वस्तु स्थिति से अवगत कराना आवश्यक है । इसके साथ ही साथ उनकी नियुक्ति के कुछ वर्ष उपरान्त उन्हें विशिष्ट कारागार प्रशिक्षण केन्द्रों में प्रशिक्षण पर भेजने की भी व्यवस्था होनी चाहिए ।

(10) कारागार कर्मचारियों की सेवा दशायें ऐसी होनी चाहिये जिससे कुशल एवं कर्त्तव्य परायण व्यक्ति इस सेवा में आयें । उनका वेतन उनकी योग्यता तथा कार्य की प्रकृति को देखते हुए निर्धारित किया जाना चाहिए । उनकी प्रवरता, स्थायीकरण तथा पदोन्नति के सभी विषयों पर स्पष्ट नियम बने होने चाहिए और नियमों का पालन बिना किसी पक्षपात तथा भेदभाव के निष्ठापूर्वक किया जाना चाहिए ।

(11) प्रत्येक कारागार में कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिये एक ऐसी कल्याण समिति का गठन होना चाहिये जिसका कार्य कर्मचारियों के लिये कल्याण कार्यक्रमों तथा सेवाओं का आयोजन करना हो । प्रत्येक कारागार में कर्मचारियों के लिये एक केन्द्रीय तथा सहकारी उपभोक्ता भण्डार का होना आवश्यक है जिनसे वे उचित दर पर वस्तुएँ खरीद सकें ।

(12) प्रत्येक कारागार में बन्दियों का वर्गीकरण उनकी आयु, लिंग, शिक्षा तथा अपराधी प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए तथा उनको एक दूसरे से पृथक् रखने की व्यवस्था करनी चाहिए ।

(13) प्रत्येक कारागार में बन्दियों की दिनचर्या सावधानी से निर्धारित होनी चाहिए जिससे उनके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को क्षति न पहुँचे ।

(14) प्रत्येक कारागार में बन्दियों के रहने, पानी पीने, नहाने, शौचालय, वस्त्रों आदि की व्यवस्था उनकी आवश्यकता को देखकर की जानी चाहिए ।

(15) प्रत्येक कारागार में बन्दियों की शिक्षा, मनोरंजन, स्वास्थ्य तथा उनको औद्योगिक प्रशिक्षण देने की सुविधायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिये।

(16) बन्दियों को उनकी अनुशासनहीनता के लिये अमानवीय प्रकार के दण्ड नहीं दिये जाने चाहिये।

(17) मुक्त बन्दियों के लिये उत्तर-रक्षा कार्यक्रम आयोजित किये जाने चाहिए।

1972 में भारत सरकार ने पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में विचारार्थ योजनाएँ बनाने के लिये देश में कारागारों पर क्रियाशील समूह (वर्किंग ग्रुप आन प्रिज़न्स इन दि कन्ट्री) का गठन किया। तत्कालीन कारागारों की परिस्थिति का वर्णन करते हुए इस समूह ने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से कहा कि पूरे देश में कारागार प्रशासन की व्यवस्था सामान्य रूप से असन्तोषजनक है। कारागारों की इमारतें बहुत पुरानी हो गयी हैं और उनमें आवश्यक भौतिक सुविधाओं का अभाव है। कारागारों का वातावरण भीड़-भाड़ भरा है। विभिन्न प्रकार के बन्दियों को एक ही साथ रखा जा रहा है तथा उनका कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण करने की सुविधा नहीं है। सुधार कर्मचारियों की नियुक्ति भी सम्भव नहीं हो पाई है। कारागारों में की जाने वाली कृषि तथा उनमें चलाये जाने वाले कल-कारखाने उतने ही प्राचीन हैं जितने वे पचास वर्ष से भी अधिक पहले थे। कारागार कर्मचारियों को व्यवस्थित व्यावसायिक प्रशिक्षण की सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं। कारागारों तथा अन्य सुधार सेवाओं में कोई पारस्परिक सम्पर्क नहीं है। वस्तुतः कारागार प्रशासन के पास न तो पर्याप्त साधन हैं, न कुशल कर्मचारी और न आवश्यकतानुकूल धन। अतः सुधार का उद्देश्य एक दिखावटी प्रपंच बनकर रह गया है। इन कठिनाइयों के कारण अपराधी सुधार एवं व्यवस्थापन को केवल सैद्धान्तिक स्वीकारोक्ति प्राप्त हुई है और कारागारों का उद्देश्य, पहले की भाँति, आज भी बन्दियों की देखरेख करना मात्र है।

संक्षेप में इस क्रियाशील समूह की संस्तुतियाँ जो उन्होंने कारागार प्रशासन के सुधार के लिये दीं, निम्न हैं :

(1) बन्दियों की अभिरक्षा के दर्शन पर आधारित कारागार की व्यवस्था को सुधारात्मक दर्शन में परिवर्तित करने की आवश्यकता।

(2) कारागारों की एक राष्ट्रीय नीति निर्मित कर कारागार विकास के प्रमुख स्वरूपों को पंचवर्षीय योजनाओं में सम्मिलित करने की आवश्यकता।

(3) भारतीय संविधान में संशोधन कर कारागार प्रशासन के विषय को समवर्ती सूची में सम्मिलित करने की आवश्यकता।

(4) केन्द्रीय एवं राज्य स्तर पर उपयुक्त कारागार अधिनियमों को पारित करने की आवश्यकता।

(5) देश में एक राष्ट्रीय अपराधी सुधार प्रशासन संस्थान की स्थापना की आवश्यकता।

(6) राज्य के कारागार विभागों के पुनर्गठन की आवश्यकता।

(7) कारागारों में भीड़ भरा वातावरण कम करने के लिये अल्प अवधि की सजा पाये बन्दियों का पुनरावलोकन करने की आवश्यकता।

(8) सजा पाए बन्दियों को गैर सजा पाये बन्दियों से अलग रखने की आवश्यकता।

(9) गैरसजा पाये बन्दियों के लिये पृथक कारागारों की स्थापना करने की आवश्यकता।

(10) बंदियों को वैज्ञानिक वर्गीकरण के आधार पर पृथक-पृथक रखने की आवश्यकता।

(11) कारागारों में प्रचलित चिकित्सा सेवाओं तथा औद्योगिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के आधुनिकीकरण की आवश्यकता।

(12) कारावास के विकल्पों को ढूंढ़ने तथा व्यापक रूप से उनका प्रयोग करने की आवश्यकता।

(13) परिवीक्षा सेवाओं के विस्तार की आवश्यकता।

(14) कारागार-कर्मचारियों की व्यावसायिक कुशलता को बढ़ाने वाले कार्यक्रमों का आयोजन करने की आवश्यकता।

(15) कारागार कर्मचारियों का वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण।

यद्यपि कारागार प्रशासन एवं उनकी व्यवस्था का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों तथा संघ क्षेत्र प्रशासनों के हाथों में है, देश के कारागारों की चिंतनीय दशा को ध्यान में रखकर भारत सरकार के गृह मन्त्रालय ने 1977-79 में कारागारों के आधुनिकीकरण तथा बन्दियों के रहने की सुविधाओं में सुधार लाने की दृष्टि से एक योजना चलाई। इस प्रकार के कार्य ने सातवें वित्त आयोग के प्रतिवेदन (1978) में और मूर्तमान रूप लिया जिसमें विस्तृत मूल्यांकन के आधार पर कारागार प्रशासन के मानकों को और उच्च करने का प्रश्न

उठाया गया। आयोग ने यह स्वीकार किया कि कारागारों को एक लम्बे अरसे तक उपेक्षित किया गया है और वस्तुत: वातावरण तथा बन्दियों के साथ व्यवहार में कोई सुधार नहीं हुआ है। आयोग ने कारागारों तथा अपराधी सुधार सेवाओं के आधुनिकीकरण की आवश्यकता को तो माना किन्तु उसने यह स्वीकार किया कि इसके लिये मानक स्थापित करना उसकी क्षमता के परे है। इस आयोग ने पाँच वर्ष के लिये 48.31 करोड़ रुपये की अनुदान राशि स्वीकृति की जो आन्ध्र प्रदेश, बिहार, जम्मू और कश्मीर, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, उड़ीसा, राजस्थान, सिक्किम, तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश राज्यों को अपने कारागार प्रशासनों को सुधारने के लिये दी गयी।

अप्रैल 9, 1979 को भारत सरकार ने राज्यों के मुख्य सचिवों का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें व्यवस्था की कमियों का जायज़ा लेकर देश के कारागारों को सुधारने के लिये सूचक निर्धारित करने की बात की गयी। इस सम्मेलन ने निम्न सुझाव दिए :—

(1) वर्ष-अन्त तक सभी राज्य अपने कारागार नियमावलियों को आदर्श कारागार नियमावलि के आधार पर सुधारें।

(2) राज्य और जिला स्तर पर बिना सज़ा पाये बन्दियों के लिए पुनर्विचार समितियों का गठन।

(3) गरीब बन्दियों को कानूनी सलाह-सहायता उपलब्ध कराना तथा कारागारों में पूर्णकालिक विधि अधिकारियों की नियुक्ति।

(4) जमानत की व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन कर उसे उदार बनाना और जो वर्तमान प्रावधान हैं उनको कार्यरूप में लाना।

(5) दण्ड विधान संहिता (कोड ऑफ क्रिमिनल प्रोसीजर) 1973 में पूछ-ताछ के लिये समय की पाबन्दी का कड़ाई से लागू किया जाना।

(6) इस बात का ध्यान रखा जाना कि बाल-अधिनियम के अन्तर्गत विशिष्ट सेवाओं के उपलब्ध न होने के कारण कोई अपराधी बालक कारागार में न भेजा जाए।

(7) 'बोर्स्टल स्कूल्स ऐक्ट फॉर यूथफुल आफेन्डर्स' के अन्तर्गत कम से कम एक बोस्टेल स्कूल की स्थापना।

(8) महिला अभियुक्तों की रक्षा, उपचार एवं पुनर्वास के लिये पृथक् सुविधाओं की व्यवस्था।

(9) मानसिक बाधितों की विशिष्ट संस्थानों में उपचार की व्यवस्था।

(10) राजनैतिक आन्दोलनकारियों को रखने के लिये न्यूनतम सुरक्षा के विशिष्ट शिविरों में आवास की व्यवस्था।

(11) बन्दियों के रहने की परिस्थिति में, विशेष रूप से स्वास्थ्य सुविधाएँ, पानी और बिजली से सम्बन्धित सुधार का एक समयवद्ध कार्यक्रम बनाकर स्वीकृति के लिये गृह मंत्रालय में भेजना।

(12) कारागारों में शिक्षा, प्रशिक्षण तथा कार्य सम्बन्धी कार्यक्रमों का व्यवस्थित रूप से विकास।

(13) कारागार विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित निरीक्षण, निर्देशन एवं देखरेख की व्यवस्था को और सुदृढ़ करना जिससे सातवें वित्त आयोग द्वारा कारागार प्रशासन के सुधार के लिये किये गये वित्तीय प्रावधान का सुचारु रूप से उपयोग सम्भव हो सके।

(14) राज्य एवं क्षेत्रीय स्तर पर कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये व्यवस्थित कार्यक्रम संचालित करना।

(15) क्रमशः बन्दी अधिकारियों की व्यवस्था को समाप्त करना।

(16) कारागारों के आधुनिकीकरण तथा कारागारों में सुधार सेवाओं के विकास के लिये अतिरिक्त प्रसाधनों को मुहैया करना।

(17) राज्य स्तर पर दर्शक बोर्ड का गठन जो नियमित रूप से समय-समय पर कारागारों में जाकर उनकी परिस्थिति पर राज्य सरकार को अपना प्रतिवेदन प्रेषित करें।

(18) राष्ट्रीय दर्शक बोर्ड के झुकाव पर विचार कर उसके औचित्य अनौचित्य पर भारत सरकार को अपनी राय भेजें।

उपर्युक्त विषयों पर अभी कार्यवाही चल ही रही थी कि जुलाई 1980 में भारत सरकार ने अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति आनन्द नारायण मुल्ला की अध्यक्षता में अखिल भारतीय कारागार सुधार समिति का गठन किया गया। 1983 में इस समिति ने अपना प्रतिवेदन भारत सरकार को प्रेषित किया। इस समिति ने कारागार प्रशासन के उन क्षेत्रों की पहचान की जिनमें सुधार की नितान्त आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि कारागारों की स्थिति निरन्तर गिरती ही जा रही है और यह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है। इस निरन्तर गिरावट का सबसे प्रमुख कारण उनकी दृष्टि में इस बात की ओर राष्ट्रीय मतैक्य एवं समनिष्ठा का अभाव है कि कारागार प्रशासन के क्या लक्ष्य और उद्देश्य होने चाहिए और किन विधियों द्वारा उनकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार का राष्ट्रीय मतैक्य कारागारों से सम्बन्धित एक नीति अपनाने पर ही सम्भव है। 1984 में आठवें वित्त आयोग ने निम्नलिखित क्षेत्रों में सुविधाओं के लिये सहायता प्रदान की : उपकारागारों की स्थापना; विद्यमान उपकारागारों में

मूल सुविधाओं का प्रावधान; किशोरों तथा मानसिक बाधितों के लिये पृथक संस्थानों तथा कर्मचारियों की आवासीय सुविधाओं की स्थापना।

स्पष्ट है कि इधर जो भी प्रयास किये गये हैं वे कारागार प्रशासन के बाहरी स्वरूप में ही परिवर्तन लाने में सफल हुए हैं। सुधारात्मक कार्यक्रमों और प्रयासों को आज भी अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया गया है। सुधारात्मक कार्यक्रमों को सम्पुष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि कारागार प्रशासन राष्ट्रीय विकास योजना का अभिन्न अंग हो। यदि कारागारों का उद्देश्य सुधारात्मक होना है तो यह तभी सम्भव है जब इससे सम्बद्ध कार्यक्रम समुचित सामाजिक विकास में संयोजित कल्याणकारी कार्यक्रमों का ही एक भाग हो; क्योंकि ये कार्यक्रम जहाँ एक ओर समाज की सुरक्षा के लिये प्रतिबद्ध हैं, वहीं वे जीवन की गुणात्मक उन्नति से भी जुड़े हुए हैं।

बन्दियों के कल्याण से सम्बन्धित एक योजना द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान प्रारम्भ की गयी थी। इसके अन्तर्गत कारागारों में कल्याण अधिकारी की नियुक्ति तथा महिला बन्दियों के बच्चों के लिये शिशु-सदनों की स्थापना के लिये राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता प्रदान करने का प्रावधान था। यह अपेक्षा थी कि कल्याण अधिकारी कारागारों में उपचारात्मक एवं सुधारात्मक कार्यक्रमों के संचालन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह योजना राज्यों को स्थानान्तरित कर दी गयी। सम्पूर्ण देश के विभिन्न प्रदेशों में कल्याण अधिकारी कार्य कर रहे हैं, फिर भी कुछ राज्य ऐसे हैं जिनमें एक भी कल्याण अधिकारी नियुक्त नहीं हुआ है। यह भी देखा गया कि बन्दियों के वैयक्तिक सुधारात्मक दृष्टिकोण के विकास की दिशा में इन कल्याण अधिकारियों का योगदान नहीं के बराबर रहा। ऐसा इसलिए कि बहुत से स्थानों पर जो लोग नियुक्त हुए उनके पास वांछित योग्यता नहीं थी। बहुधा उनके ऊपर 'केस लोड' इतना अधिक है कि वैयक्तिक सहायता प्रदान करना सम्भव नहीं हो पाता और फिर कल्याण अधिकारी की परिस्थिति और कार्यों का कोई संतुलन नहीं है, विशेषतः उन प्रदेशों में जहाँ कल्याण अधिकारी समाज कल्याण विभाग के अन्तर्गत नियुक्त किये गये हैं।

कारागार व्यवस्था के घोषित सुधारात्मक उद्देश्य और वास्तविक स्थिति में इतनी बड़ी खाई है कि राष्ट्र के सर्वोच्च न्यायालय ने भी कारागार व्यवस्था की तीव्र आलोचना की। सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि सजायाफ्ता अपराधी को एक ऐसा व्यक्ति नहीं माना जा सकता जिसको सभी

मूलभूत मानवाधिकारों से वंचित रखा जाय। उसने यह भी स्पष्ट किया है कि वैधानिक दण्डाज्ञा नीति का चरमोत्कर्ष है अपराधी को पुनः समुदाय का एक विधि को मानने वाला नागरिक बनाना। किन्तु, दुर्भाग्यवश अपराधी न्याय व्यवस्था के सुधारात्मक एवं पुनर्वासात्मक उद्देश्यों का न तो स्पष्टीकरण किया गया है न ही अपराधी न्याय व्यवस्था की विभिन्न उप-व्यवस्थाओं में इन उद्देश्यों की पूर्ति में उनकी भूमिका को स्पष्ट किया गया है।

इस दिशा में 1980-83 की अखिल भारतीय कारागार सुधार समिति ने कारागारों पर राष्ट्रीय नीति के प्रारूप का मसौदा तैयार किया जिसमें समाज की सुरक्षा के साथ-साथ सामाजिक परिवेश के अनुरूप बन्दियों के सुधार एवं पुनर्वास के प्रयासों का विवरण दिया गया है। इस प्रारूप में अन्य सुझावों के साथ-साथ यह भी सुझाव दिया गया है कि कारागार से सम्बन्धित कानूनों को पुर्नगठित किया जाय, बन्दियों का वर्गीकरण वैज्ञानिक ढंग से किया जाए, साथ ही संस्थाओं को भी विभिन्न वर्गों के बन्दियों के उपचार के लिये न केवल वर्गीकृत किया जाय वरन् वांछित सुविधाओं का भी प्रावधान किया जाए। किशोर, महिला अपराधी, मनोविकार से पीड़ित बन्दियों के लिए अलग संस्थाओं के प्रावधान का सुझाव है। सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव यह है कि कारागार सेवाओं का विकास एक वृत्तिक व्यवसाय के रूप में किया जाय तथा इस विकास के प्रशिक्षण एवं शोध को वांछित महत्त्व दिया जाय। इस प्रारूप में यह भी सुझाव है कि पुनर्वास में समुदाय की स्वैच्छिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों की सक्रिय सहायता प्राप्त की जानी चाहिए।

कारागारों में सुधारात्मक एवं कल्याणात्मक कार्यक्रमों को सुदृढ़ करने के लिये न्यूनतम मानक कार्यक्रम निम्नलिखित हैं।

(1) अधिकतर कारागार न केवल पुराने क्षतिग्रस्त इमारतों में हैं बल्कि उनकी संरचना भी सुधारात्मक प्रयासों के लिये उचित नहीं हैं क्योंकि यह कारागार मुख्यतः संरक्षण की दृष्टि से ही निर्मित किये गये थे। इनमें उचित वर्गीकरण, शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण, स्वस्थ मनोरंजन तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के कार्यक्रमों को संचालित करने के लिये उनके भौतिक स्वरूप में व्यापक परिवर्तन करने पड़ेंगे जिसमें लगभग चार सौ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान किया गया था। यदि यह कार्य योजनाबद्ध रूप से प्रारम्भ किया जाय तो ऐसा नहीं है कि यह सम्भव न हो।

(2) सुधारात्मक कार्यक्रमों के नियोजन एवं संचालन के लिये बंदियों की समस्याओं तथा उसके निदान ढूढ़ने का प्रयास करना एक आवश्यक चरण है

जिसके लिये कल्याण अधिकारी, मनोवैज्ञानिक आदि की सेवाओं की आवश्यकता होगी। इनको सेवाओं से न केवल व्यक्तिगत बंदी का अध्ययन सम्भव होगा वरन् बंदीगृह के अन्दर विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों को संरचनात्मक बनाने में भी सहायता मिलेगी। साथ ही ये उनके पारिवारिक सम्बन्धों को दृढ़ करने में भी सहायक होंगे। अतः इन कार्यकर्ताओं की सेवाएँ उपलब्ध कराने की योजना को प्राथमिकता प्रदान कर इन्हें क्रियान्वित किया जाना चाहिये।

(3) यद्यपि शिक्षा को संस्थागत उपचार का अभिन्न अंग स्वीकार किया गया है, किन्तु संस्था की दिनचर्या में पूर्ण रूप से वह समाहित नहीं हो पाया है जिससे व्यक्तित्व-पुनर्गठन, स्वस्थ सामाजिक नैतिक तथा मानसिक जीवन का विकास सम्भव हो। इस दिशा में भी कार्यवाही करने की आवश्यकता है।

(4) कारागारों में श्रम कार्यक्रम इस प्रकार के होने चाहिये जिससे उनकी किसी धन्धे में कार्यकुशलता का विकास हो जिसे वे कारागार से छूटने पर अपना सकें। यह उनके आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के लिये अतिआवश्यक है। खासतौर पर युवा बंदियों के लिये ऐसे कार्यक्रम बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए कारागारों में व्यावसायिक प्रशिश्रण का न केवल पुनर्गठन होना चाहिये वरन् आधुनिक विधाओं को ध्यान में रख कर ही उसे विकसित करने की आवश्यकता है।

(5) मुक्त वंदियों के पुनर्वास कार्यक्रमों को सुदृढ़ करने के लिघे उत्तर-रश्रा सम्बन्धी कार्यकमों का विकास होना चाहिये। वर्तमान में यह कार्यक्रम एवं सेवाएँ नहीं के बरावर हैं और विंना इनके समुचिन विकास का सुधारात्मक चक्र अधूरा रह जाता है। यह वह क्षेत्र है जहां सामुदायिक संगठन एवं स्वैच्छिक संस्याएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। आवश्यकता है ऐसे प्रयासों को जीवंत रखने की।

(6) कारागारों को सुधारात्मक केन्द्रों में परिवर्तित तभी किया जा सकता है जब कारागार कर्मचारियों का गुणात्मक विकास हो और सुधारदर्शन में उनका विश्वास हो। यह तभी सम्भव है जब समुचित प्रशिक्षण-कार्यक्रम नियोजित हो। यह प्रशिक्षण प्रादेशिक, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तरों पर नियोजित होना चाहिये। इस दिशा में अब तक जो प्रयास हुए हैं वे बहुत बिखरे हुए हैं और उनको एक कड़ी में पिरोने का कोई सुदृढ़ प्रयास नहीं किया गया है।

उपर्युक्त मुद्दो के अतिरिक्त कुछ और ऐसे मुद्दे हैं जिनकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें से एक है महिला बंदियों की समस्या।

यद्यपि देश में महिला बंदियों की संख्या कारागार जनसंख्या का केवल तीन प्रतिशत है किन्तु यह एक ऐसा वर्ग है जिसे विशेष रक्षा, उपचार एवं पुनर्वास कार्यक्रमों एवं देखरेख की आवश्यकता है। यद्यपि १९१९-२० की कारागार समिति ने इनके लिये पृथक संस्थाओं की स्थापना की संस्तुति की किंतु आज भी सम्पूर्ण देश में महिला बन्दियों के लिये केवल छः बन्दीगृह हैं। ज्यादा-तर स्थानों पर हवालाती महिलाएं सामान्य कारागारों में पृथक स्थान पर रहती हैं। १९८०-८३ की कारागार सुधार समिति ने इस परिस्थिति की कड़ी आलोचना की है और उनके रहन-सहन, मुफ्त न्यायिक सहायता तथा उनके पुनर्वास के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने पर बल दिया है।

इसी प्रकार एक अन्य विषय जिस पर तात्कालिक कार्यवाही की आवश्यकता है, वह है, ऐसे बन्दी जो मादक द्रव्यों के दुर्व्यसनसे ग्रसित हैं। १९८५ के 'नारकोटिक ड्रग्स ऐण्ड साइकोट्रांपिक सबस्टैन्सेज़ ऐक्ट' के अन्तर्गत जिसके पास थोड़ी मात्रा में भी मादक द्रव्य स्वयं के उपयोग के लिये पाई जाती है उसे अपराधी करार दिया जाता है या फिर उसे स्वेच्छिक स्तर पर अपना इलाज़ कराना होता है। अगर वह इलाज भी कराता हो और मादक द्रव्य सेवन भी करता हो तो उसमें पुनः पतन की सम्भावना अत्यधिक होती हैं और इस तरह पकड़े जाने पर वह अपने को कारागार में पाता है। इसके अतिरिक्त उनकी पर्याप्त संख्या है जो मादक द्रव्यों की तस्करी में पकड़े जाते हैं। यदि दिल्ली के तिहाड़ जेल को ध्यान में रखकर अनुमान लगाया जाए तो देश के कारागारों में हजारों की तादाद में ऐसे बन्दी होंगे जो मादक द्रव्यों के दुर्व्यसन से ग्रसित हैं किन्तु, उनके उपचार के लिये कारागारों में नहीं के बराबर सुविधाएं उपलब्ध हैं और चूंकि इस दुर्व्यसन से ग्रसित व्यक्ति बिना मादक द्रव्य के नहीं रह सकता, इससे यह शंका होने लगती है कि कारागारों में भी तस्करी हो रही है। ऐसे बंदियो के इलाज की सुविधाओं को तुरन्त मुहैया करने की महती आवश्यकता हैं।

किशोर अपराधी सुधार

किशोर न्याय व्यवस्था राज्य के उन संशोधित प्रयासों का प्रतिनिधित्व करता हैं जिनके द्वारा सामाजिक असमायोजन की परिस्थितियों में फंसे बालकों के स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के मूलाधिकार को पुर्नस्थापित किया जाता है। वैसे तो किशोर न्याय की अवधारणा, अपने व्यापक परिप्रेक्ष्य में उन सभी कल्याणकारी प्रावधानों को समाहित करता है जो उन बालकों के लिए होते हैं जिनको संरक्षण की आवश्यकता होती है, इसकी औपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत उन किशोरों के साथ व्यवहार प्रक्रिया निर्धारित की जाती है जो या

तो किसी प्रकार कानून के गिरफ्त में आ जाते हैं या जिनकी उसमें आने की सम्भावना होती है। सम्पूर्ण व्यवस्था इस तर्क पर आधारित है कि किशोर विचलन वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था के असंगठन की प्रक्रिया का ही एक भाग है जो इस बात को स्पष्टतः परिलक्षित करता है कि समाज उस सम्पूर्ण दायित्व को पूरा करने में असफल रहा है जो एक बालक के लिये उसे करना चाहिए। यह विचार इस बात को मानता है कि बाल अपचार, अक्सर उन सभी अनुभवों का फल होता है जो वयस्कों के दुर्व्यवहार के कारण होता है। चूंकि बालक शरीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से अपरिपक्व होता है, अतः वह अपने असामाजिक व्यवहार के लिये पूर्णतः व्यवस्था पर आश्रित है। बाल अपचार की समस्या को सुलझाने का प्रयास किशोरों के विकास के अविच्छिन्न अनुक्रम के विभिन्न चरणों की विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। साथ ही बालकों के शोषण और अपराधजनक संस्कृति में किशोरों को समाहित करने के समस्त व्यवहार और प्रयासों को रोकने की चेष्टा की जाती है।

अभी तक किशोर अपराधी सुधार की व्यवस्था बाल अधिनियमों पर आधारित थी। संधीय राज्यों के लिये बाल अधिनियम १९६० के अतिरिक्त नागालैण्ड को छोड़कर सभी राज्यों ने अपने-अपने बाल अधिनियमों को पारित किया था। इन सभी अधिनियमों में, राज्य उपेक्षित एवं अपचारी बालकों की देख-रेख, संरक्षण, कल्याण, प्रशिक्षण. शिक्षा एवं पुवर्नास उन्हें एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा उपलब्ध कराते थे। वस्तुतः बाल अधिनियमों का उपमार्ग दण्ड प्रक्रिया संहिता का विस्तार है जिसमें यह प्रावधान किया गया है कि कोई अपराध जो मृत्यु दण्ड अथवा आजीवन कारावास के दण्ड योग्य न हो, यदि किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाता है जो १६ वर्ष से कम आयु का हो, यदि किसी न्यायालय के सम्मुख लाया जाता है या आता है, मुख्य दण्डाधिकारी के न्यायालय अथवा उस न्यायालय में उसकी सुनवाई हो जो बाल अधिनियम या अन्य किसी अधिनियम जो किशोर अपराधियों के उपचार, प्रशिक्षण एवं पुनर्वास के लिये है, के अन्तर्गत अधिकृत है। इन अधिनियमों में बाल न्यायालय, बाल कल्याण बोर्ड, सम्प्रेक्षण गृह, अनुमोदित विद्यालय, बाल गृह, उत्तररक्षा गृह आदि संस्थाओं की स्थापना का प्रावधान है। साथ ही बाल न्यायालय एवं बोर्ड को उनके सम्मुख आए हुए बालकों के मामलों के निबटारे के लिये विभिन्न विकल्पों का प्रावधान भी रहा है, जैसे माता-पिता के पुनः स्थापन योग्य व्यक्ति। संस्था को सुपुर्दगी, परिवीक्षा पर्यवेक्षण, जुर्माना तथा संस्थागत संरक्षण, पकड़े जाने, उपचार एवं पुनर्वास के विभिन्न चरणो में स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं, संगठनों का सहयोग अपेक्षित रहा है।

किन्तु, विभिन्न प्रदेशों के बाल अधिनियमों की समीक्षा से यह बात ज्ञात हुई कि वैधानिक विभिन्नताओं एवं कमियों के अतिरिक्त अधिनियमों का कियान्वयन भी सक्षम रूप से नहीं किया गया। यहाँ तक कि भौगोलिक दृष्टि से 1985 में सम्पूर्ण देश में लगभग 50 ऐसे जिले थे जो बाल अधिनियम के अन्तर्गत नहीं थे। यह भी देखा गया कि बाल अधिनियमों के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं में भी विभिन्न प्रदेश में गुणात्मक अन्तर था। सभी जिलों में बाल न्यायालय / बोर्ड उपलब्ध नहीं थे जिसके फलस्वरूप कई स्थानों पर बालकों के मुकदमे की वयस्क न्यायालयों में ही सुनवाई होती थी। यहाँ तक कि उपेक्षित बालक, जो कोई अपराध नहीं करते उनका भी निपटारा इन्हीं न्यायालयों द्वारा किया जाता था।

बाल अधिनियमों की सेवाओं के पुनरावलोकन से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण देश के लिये एक अधिनियम के अभाव में विभिन्न प्रदेशों में बालकों की निर्धारित आयु भिन्न थी। बाल न्यायालयों एवं बोर्डों की कमी के अतिरिक्त अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित संस्थाओं में मूल आवश्यकताओं की पूर्ति, रहनसहन, उपचारात्मक सेवाएँ तथा अन्य कार्यक्रम तथा कार्यकर्ताओं के लिये न्यूनतम मानक स्थापित नहीं किये गए जबकि वयस्क सेवार्थियों के लिये न्यूनतम मानक स्थापित किए जा चुके हैं। बालकों को मात्र उपेक्षा ही मिली। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से यह माना गया कि बालकों को संस्थागत सेवाओं हेतु सुपुर्दगी अन्तिम विकल्प के रूप में किया जाना चाहिये किन्तु वास्तविकता यह है कि यही विकल्प मुख्य रूप से काम में लाया गया।

इन सभी विषमताओं को दूर करने के प्रयास में ही किशोर न्याय अधिनियम, 1986 पारित किया गया जो जम्मू और कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण देश में लागू है। यह उपेक्षित या अपचारी किशोरों से सम्बन्धित विषयों के न्याय-निर्णय का और उनके आवास आदेश को उपलब्ध करने के लिये एक व्यापक अधिनियम है।

इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य हैं :—

(1) सम्पूर्ण देश में किशोर न्याय का एकरूप न्यायिक ढांचा स्थापित करना जिससे किसी भी परिस्थिति में कोई भी बालक कारागार या पुलिस थाने में न रखा जाए। यह किशोर न्यायालय एवं किशोर कल्याण बोर्डों की स्थापना सुनिश्चित कर आश्वस्त किया जा रहा है।

(2) किसी भी सामाजिक असमायोजन की परिस्थिति में बालक के विकास की आवश्तकताओं को ध्यान में रखते हुए बाल अपचार के समस्त स्वरूपों के निरोध एवं उपचार के लिए एक विशिष्ट दृष्टिकोण को स्थापित करना।

(3) किशोर न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न वर्गों के बालकों के संरक्षण, देखभाल, उपचार, विकास एवं पुनर्वास के लिये आवश्यक यन्त्रों एवं ढाँचे के स्वरूप का निरूपण करना। यह सम्प्रेषण किशोर एवं विशिष्ट गृहों की स्थापना द्वारा प्रदान किये जाने का प्रयास किया जायेगा।

(4) छानबीन, गिरफ्तारी, न्यायिक प्रक्रिया, दण्ड के विकल्पों, संरक्षण, देखभाल, उपचार एवं पुनर्वास से सम्बन्धित मानकों एवं मानदण्डों को स्थापित करके किशोर न्याय व्यवस्था के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना।

(5) किशोर न्याय की औपचारिक व्यवस्था तथा उन स्वैच्छिक संस्थाओं के बीच उपयुक्त ताल-मेल एवं समन्वय स्थापित करना जो उपेक्षित अथवा सामाजिक असमायोजन-ग्रसित बालकों के कल्याण के लिये काम कर रही हैं।

(6) किशोरों से सम्बन्धित विशिष्ट अपराधों को निश्चित कर उनके लिये उपयुक्त ढंग का प्रावधान करना; और

(7) देश में किशोर व्यवस्था के क्रियान्वयन को, किशोर न्याय के क्रियान्वयन को संयुक्त राष्ट्र संघ के न्यूनतम मानक नियमों के अनुरूप बनाना।

अतः किशोर न्याय अधिनियम 1986 के द्वारा प्रदेशों में विभिन्न बाल नियमों को हटाकर उसके द्वारा प्रतिपादित पारम्परिक प्रक्रिया को आमूल-चूल परिवतित करने का प्रयास किया जा रहा हैं। यह अधिनियम भारतीय संविधान द्वारा संरक्षित सामाजिक न्याय की अवधारणा के अन्तर्गत किशोर न्याय के स्वरूप को प्रतिपादित करने का प्रयास करता है। साथ ही वह उन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखता है जिनका चाहे, अनचाहे अवसरों की समान भागीदारी में, विशेषकर किशोरों के सन्दर्भ में कुप्रभाव पड़ता है तथा उनके सर्वांगीण विकास में बाधा पहुँचाता है। यह अधिनियम, किशोर अपराधी सुधार व्यवस्था को पुनर्गठित करने के साथ-साथ किशोरों के पुनर्समायोजन में समुदाय में निहित शक्तियों को उपयोग में लाने हेतु प्रेरित करता है। सामाजिक समायोजन एवं पुनर्वास, किशोरों के वैयक्तिक संरक्षण, देखभाल, पुर्नशिक्षण तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण की यह प्रक्रिया राज्यों के ऊपर यह उत्तरदायित्व डालती है कि किशोरों के सामाजिक असमायोजन की समस्या को सुलझाने में परिवार, समुदाय एवं सामाजिक संगठनों के सभी यथासम्भव साधनों का वे पूर्णरूपेण उपयोग करें।

किशोर न्याय अधिनियम की कुछ प्रगतिशील विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(1) उपेक्षित किशोर की परिभाषा इस प्रकार बनाई गई है कि इसके अन्तर्गत केवल वे ही किशोर आयें जिनका शोषण किया जा रहा है, उनके साथ

दुर्व्यवहार हो रहा है तथा अपराधजनक जीवन हेतु उन्हे बाध्य किया जा रहा है और इन सभी परिस्थितियों से बचाने के लिये वैधानिक सहायता की आवश्यकता है। पहले के बाल अधिनियमों में इस वर्ग के बालकों की परिभाषा अस्पष्ट सी थी जिससे बहुत से गरीब बालक स्वतन्त्रता का मूल अधिकार खो बैठते थे।

(2) उपेक्षित बालक सक्षम प्राधिकारी के सम्मुख पुलिस अधिकारी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति अथवा संगठन द्वारा भी लाया जा सकता है जो इस काम के लिये अधिकृत हो। इस प्रावधान के फलस्वरूप यह अपेक्षा की जा सकती है कि उपेक्षित किशोरों के उपयुक्त संरक्षण का दायित्व लेने में स्वैच्छिक कल्याण संस्थाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि हो।

(3) कारागार अथवा पुलिस थानों में किशोरों के रखने के अतिरिक्त पुलिस के साथ उनके संसर्ग को न्यूनतम किया गया है। मामले की सुनवाई के दौरान योग्य व्यक्ति अथवा संस्था के साथ किशोर को रखने का प्रावधान भी किया गया है।

(4) विशेष रूप से यह प्रावधान किया गया है कि साधारणतः इस अधिनियम के अन्तर्गत किशोर सम्बन्धी जाँच-पड़ताल जिस दिन से सुनवाई शुरू हो उससे तीन महीने के अन्दर समाप्त कर दी जाए। यदि ऐसा सम्भव न हो सके तो सक्षम प्राधिकारी उन विशेष कारणों का लिखित रूप से बयान करें।

(5) विधान में उपेक्षित एवं अपचारी किशोरों के लिये विभिन्न प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं। जब किसी उपेक्षित बालक किशोर को कल्याण बोर्ड के सम्मुख प्रस्तुत किया जायगा, अपचारी किशोर न्यायालय के सम्मुख जायगा, बोर्ड और न्यायालय के सदस्यों को नियुक्त करते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि उनको बाल मनोविज्ञान एवं कल्याण का समुचित ज्ञान हो।

(6) किशोर कल्याण बोर्ड और किशोर न्यायालयों के बीच आवश्यकता पड़ने पर मामलों के स्थानान्तरण का भी प्रावधान किया गया है।

(7) यह भी प्रावधान किया गया है कि किशोर से सम्बन्धित न्यायिक आदेश देते समय उनके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के साथ-साथ उनके कल्याण की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा जाए।

(8) अधिनियम में उत्तर-रक्षा संगठनों की स्थापना तथा इन्हें मान्यता देने का प्रावधान किया गया है जिससे संस्था से बाहर आने के बाद किशोरों को समाज में समायोजित होने के लिये सहायता मिल सके।

(9) 'स्वपाक औषधि तथा मनः प्रभावी पदार्थ' अधिनियम 1885 के पारित होने के फलस्वरूप वह किशोर जो इस समस्या से ग्रस्त है, उसके उपचार

के लिये उपचार-केन्द्र की स्थापना तथा अधिसूचना का भी प्रावधान किया गया है।

(10) इस अधिनियम के अन्तर्गत चर्चित किशोरों के कल्याण और पुनर्वास के लिये एक निधि के सृजन का प्रावधान भी है जिसमें ऐसे स्वैच्छिक संदान, अभिदाय या अभिदान जमा किये जायेंगे जो किसी व्यक्ति या संगठन द्वारा किया जाए।

(11) गृहों की स्थापना और प्रबन्ध, साधनों को जुटाने, उपेक्षित और अपचारी किशोरों की शिक्षा, प्रशिक्षण और पुनर्वास की सुविधाओं की व्यवस्था तथा सम्बन्धित विभिन्न शासकीय और अशासकीय अभिकरणों के बीच समन्वय सम्बन्धी विषयों पर सलाह देने के लिये एक सलाहकार बोर्ड स्थापित करने का भी प्रावधान है।

स्पष्ट है कि यह अधिनियम प्रगतिपरक है और आशा की जाती है कि इससे किशोर न्याय व्यवस्था के सुचारू क्रियान्वयन में सहायता मिलेगी। चूँकि अभी इस अधिनियम के क्रियान्वयन के कुछ वर्ष हुए हैं, अतः यह कहना कठिन है कि अपने उद्देश्य में यह अधिनियम कहाँ तक सफल हो पाया है। किन्तु एक बात जो स्पष्ट रूप से सामने आई है वह यह है कि जिन राज्यों में इस विषय पर समुचित ध्यान दिया जा रहा है वहाँ प्रगति दृष्टिगत है, किन्तु अन्य प्रदेशों में अपेक्षित विकास नहीं हुआ है।

समुदायपरक अपराधी सुधार सेवाएँ

अपराधी सुधार प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं के विकास में असंस्थागत सेवाओं के विकास को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, विशेषकर उन अपराधियों के लिये जिनको सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से पृथक् रखने की आवश्यकता न हो जबकि ऐसे ही बन्दियों की संख्या ज्यादा होती है। कारावास की पारम्परिक विधि ने समय के साथ अधिकाधिक प्रयोग के कारण अपनी प्रभावकारिता खो सी दी है और इसीलिये आधुनिक काल में उनकी उपादेयता के पुनर्निरीक्षण पर उत्तरोत्तर बल दिया जा रहा है। साथ ही अपराधी न्याय प्रक्रिया में मानवीय अधिकारों की सुरक्षा पर भी पहले से अधिक बल दिया जा रहा है। यह भी देखा गया कि कारागार एक सुधारात्मक एवं पुनर्वासात्मक संस्था के रूप में नहीं के बराबर सफल हुए हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सुधारात्मक एवं पुनर्वासात्मक विधियाँ वैयक्तिक समस्याओं के निदान पर अधिक बल देती हैं जो कारागारों की वर्तमान संरचना में हो नहीं पाता। अतः समुदायपरक अपराधी सुधार सेवाओं के विकास की ओर ध्यान देने की अधिक आवश्यकता है।

इस सम्बन्ध में परिवीक्षा का बहुत महत्त्व है। अपराधियों के दण्ड स्थगन की यह परम्परा कालान्तर में सप्रतिबन्ध दण्ड स्थगन की एक आंग्ल-अमरीकी-न्यायिक युक्ति के रूप में विकसित हुई। परिवीक्षा की परिभाषा एक दण्डाज्ञा, एक व्यवस्था तथा एक प्रक्रिया के रूप में की जा सकती है। एक दण्डाज्ञा के रूप में परिवीक्षा एक ऐसी न्यायिक विधि का बोध कराती है जिसमें प्रतिवादी के वैधानिक स्तर को इस प्रकार स्थापित किया जाता है जिससे वह परिवीक्षा के संगठन के द्वारा सम्पादित पर्यवेक्षण की न्यायालय द्वारा निर्धारित दशाओं में रहकर समुदाय में स्वतन्त्र व्यक्ति की भाँति अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। एक व्यवस्था के रूप में परिवीक्षा एक ऐसा सेवा-संस्थान है जिसका कार्य न्यायालय की सहायता पहुँचाना तथा आपराधिक न्याय प्रशासन की सेवाओं का कार्यान्वयन करना है। एक प्रक्रिया के रूप में परिवीक्षा सजा से पहले की गई न्यायिक जाँच-पड़ताल तथा न्यायालय द्वारा मुक्त किए जाने के उपरान्त उस व्यक्ति के सामुदायिक पर्यवेक्षण की एक विधि है।[1]

परिवीक्षा के अर्थ को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट क्षिया जा सकता है[2] :

(1) एक दण्ड निलम्बन की वैधानिक युक्ति के रूप में;
(2) एक कानूनी रियायत की विधि के रूप में;
(3) एक दण्ड की विधि के रूप में;
(4) एक प्रशासनिक प्रक्रिया के रूप में एवं
(5) एक वैयक्तिक सेवाकार्य की विधि के रूप में।

भारत में परिवीक्षा पर अपराधियों की मुक्ति का पहला प्रावधान 1988 में क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की धारा 562, 563 तथा 564 में किया गया। 1958 में पहली बार सम्पूर्ण देश में परिवीक्षा अधिनियम 1958 पारित किया जिसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं :—

(1) पहली भुगती हुई सज़ा उसकी परिवीक्षा पर मुक्ति के लिए कोई बाधा या रुकावट नहीं उत्पन्न करती है।

---

1. अमेरिकन करेक्शनल एसोसियेशन, मैनुअल ऑफ करेक्शनल स्टैडर्ड्स, वाशिंगटन : 1966, पृ० 98–99।
2. लिविस डायना, 'बहाट् इज़ प्रोबेशन' जरनल ऑफ क्रिमीनल लॉ, क्रिमिनोलॉजी ऐण्ड पुलिस साइंस, वाल्यूम 51, जुलाई–अगस्त 1960, पृ० 189–204।

(2) अपराध की प्रकृति तथा अपराधी की आयु भी परिवीक्षा पर की जाने वाली मुक्ति में कोई बाधा नहीं उत्पन्न करती है।

(3) प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के अलावा सभी मजिस्ट्रेट परिवीक्षा पर मुक्त किये जाने वाले अपराधियों के मुकदमे तय कर सकने योग्य हैं।

(4) परिवीक्षा अधिकारी के द्वारा दी गई सज़ा के पूर्व अन्वेषण-प्रतिवेदन का होना उन अपराधियों के लिये आवश्यक है जिनकी आयु 21 वर्ष से कम है।

(5) परिवीक्षा को एक दण्ड निलम्बन की विधि के रूप में स्वीकार किया गया है और इसीलिये अपराधी के द्वारा परिवीक्षा की शर्तों को तोड़ने पर या उनका पालन न करने पर उसे अपने मूल अपराध के दण्ड को भोगने की व्यवस्था अपने आप लागू हो जाती है।

(6) न्यायालय, परिवीक्षा पर मुक्त किए गए उस अपराधी को न्यायालय में निश्चित तिथि पर उपस्थित होने के लिये बाध्य कर सकता है जो परिवीक्षा की शर्तों का पालन ठीक से नहीं कर पा रहा है।

(7) अपील कोर्ट तथा परिवीक्षा अधिकारी को यह अधिकार है कि वह उन अपराधियों के लिये उच्च न्यायालय से मुक्ति के लिये अपील कर सकते हैं जिन्हें नीचे के न्यायालय ने परिवीक्षा पर मुक्त किये जाने से मना कर दिया है और जिनकी आयु 21 वर्ष से कम है।

परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की इन उदारतावादी[1] विशेषताओं के कारण सर्वोच्च न्यायालय ने इसे भारत में आधुनिक दण्डशास्त्र के क्षेत्र में अपराधी सुधार के प्रयास की दिशा का आधार स्तम्भ माना है और यह कहा है कि इस अधिनियम का उद्देश्य आकस्मिक अपराधियों को कारावास के दुर्गुणों एवं यातनाओं से बचाना तथा मुक्त समाज में रखकर उन्हें आत्मनिर्भर तथा कानून एवं व्यवस्था को स्वीकार करने वाला नागरिक बनाना है[2]। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में पुनः यह कहा कि इस अधिनियम में अनेक ऐसे प्रावधान हैं जिनकी सार्थकता अपराधियों को रचनात्मक रूप से आधुनिक सुधार विधियों से सहायता पहुँचाना है। यह अधिनियम ऐसे आकस्मिक अपराधियों कों कारावास की बुराई तथा कलंक से बचाने की व्यवस्था करता है जो आभ्यासिक अपराधी

---

1. डा० एस० पी० श्रीवास्तव, भारत में अपराध दण्ड एवं सुधार, उत्तरप्रदेश ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७७, पृ० ३०३।
2. रतनलाल बनाम स्टेट आफ पंजाब, ए० आई० आर०, १९६३, सुप्रीम कोर्ट, पृ० 444।

नहीं है और जिन्होंने अपराध अपनी शारीरिक एवं मानसिक अपरिपक्वता अथवा किन्हीं विशिष्ट दुराग्रही परिस्थितियों में पड़कर किया है।[1]

यद्यपि इस अधिनियम को दण्डशास्त्र के क्षेत्र में सुधार की आधुनिक प्रवृत्ति का प्रणेता माना गया है फिर भी इसके क्रियान्वयन के दौरान कुछ कमियाँ सामने आई हैं; जैसे भारतीय न्यायपालिका के अनेक सदस्य इस अधिनियम को एक कानूनी रियायत की विधि मानते हैं। बहुत से यह भी मानते हैं कि परिवीक्षा न्याय प्रशासन के सामान्य क्षेत्र से अलग है, आयु निर्धारण एक कठिन काम है और अक्सर इस नियम का दुरुपयोग कर 21 वर्ष से अधिक के अपराधी भी अपने को इस आयु से कम का बताकर परिवीक्षा पर छूट जाते हैं। बिना पर्यवेक्षण परिवीक्षा दिशाहीन हो जाती है, सभी जिलों में परिवीक्षा अधिनियम लागू नहीं है, परिवीक्षा अधिकारियों जी संख्या इतनी नहीं है कि वे सभी न्यायालयों को सहायता दे पाये, परिवीक्षा अधिकारी को प्रदत्त वेतन तथा उनकी पदोन्नति के कम अवसर उन्हें अकर्मण्य तथा कुण्ठाग्रस्त कर देते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अपराधी सुधार प्रशासन पर एक राष्ट्रीय नीति निर्धारित हो जिसके आधार पर संस्थागत और असंस्थागत दोनों प्रकार की सेवाओं में समुचित समन्वय स्थापित किया जा सके जिससे अपराधी को उसकी वैयक्तिक आवश्यकताओं के आधार पर सहायता प्रदान की जा सके; तभी मानवीय अधिकारों की सुरक्षा सम्भव हो पायेगी। साथ ही यह भी कि इस वृत्ति में रत् कार्यकर्ताओं को उचित वेतनक्रम और पदोन्नति के अवसर भी प्राप्त हों। केवल स्वैच्छिकसेवा कार्यकर्त्ताओं पर निर्भर रहकर इन सेवाओं का विकास सम्भव नहीं होगा। वृत्तिक सेवा कार्यकर्त्ताओं की हर जगह आवश्यकता होगी और उन्हें अपनी वृत्ति के अनुरूप पारिश्रमिक की भी अपेक्षा होगी।

●

1. जुगुल किशोर बनाम स्टेट ऑफ विहार, ए० आई० आर०, 1972, सुप्रीम कोर्ट, पृ० 2522।

अध्याय—3

ग्राम कल्याण व विकास

भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई के दौरान गाँधी जी ने यह महसूस किया कि जब तक भारत का प्रत्येक गाँववासी यह न समझ ले कि वह अपनी सामाजिक तथा अथिक स्थिति में अपनी ही कोशिशों द्वारा सुधार ला सकता है तब तक राजनैतिक आजादी का लाभ उसके लिये बेमानी होगा। इसीलिये गाँधीजी के वर्धा के पास सेवाग्राम में चलाये गये ग्रामीण पुर्ननिर्माण कार्यक्रम में बुनियादी तथा प्रौढ़ शिक्षा, खादी तथा ग्रामीण उद्योग, ग्रामीण सफाई तथा स्वास्थ्य और अस्पृश्यता का उन्मूलन आदि विषय सम्मिलित थे। कवि रवोन्द्रनाथ ठाकुर ने बंगाल में शान्ति निकेतन में ग्रामीण जनता को भूख और डर से छुटकारा दिलाने के लिये आत्मविश्वास और सहनिर्भरता पर आधारित कार्यक्रम चलाया। इसी समय ईसाई धर्म के युवकों की संस्था (वाई० एम० सी० ए०) के स्पैन्सर हेच्च ने दक्षिण भारत के कसबे मार्तण्डम् में ग्राम विकास के कुछ परीक्षण किये। बड़ौदा रियासत के उस समय के दीवान श्री कृष्णामचारी ने भी ग्राम विकास का कार्यक्रम चलाया। भारत में अंग्रेजी राज के जिला अधिकारी एफ० एल० ब्रायन ते कृषि विकास, सफाई शिक्षा और सहकारिता पर बल देते हुए गुड़गाँव अनुभव को जन्म दिया। इसके साथ-साथ महात्मा गाँधी द्वारा बताये सर्वोदय, अहिंसा तथा श्रम की प्रधानता के उसूलों पर आधारित मद्रास फिरका विकास परियोजना चलाई गई।

आज़ादी के बाद

1948 में अमेरिकी कार्यकर्ता अलबर्ट माथर ने उत्तर प्रदेश में इटावा में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की एक परियोजना चलाई। 1951 में खाद्य पदार्थ उत्पत्ति बढ़ाने सम्बन्धी समिति की सिफारिशों के आधार पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम को विचार पद्धति बनाई गई जिसमें ग्राम प्रसार कार्यक्रम का अभिकरण बना। इस कार्यक्रम को प्रथम पंचवर्षीय योजना का भाग बनाया गया ताकि ग्रामीणों की सामाजिक तथा आर्थिक हालत में सुधार लाया जा सके।

सामुदायिक यिकास कार्य का श्रीगणेश 1952 में 50 विकास प्रखण्डों में किया गया। इस योजना में लगभग 100 गाँव के एक विकास प्रखण्ड में कृषि

तथा उससे सम्बद्ध क्षेत्रों में जैसे ग्राम उद्योग, सहकारिता, सड़कों, कुओं, पाठशालाओं, सामुदायिक केन्द्रों आदि का निर्माण, समाज शिक्षा द्वारा जागृति, सामाजिक सेवायें, महिला, बाल तथा युवक कल्याण के कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया। धीरे-धीरे यह कार्यक्रम देश के दूसरे ग्रामीण क्षेत्रों में फैलाया गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भारत के सब गाँव सामुदायिक विकास प्रखण्डों के अन्तर्गत् लाये गये।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की नींव संयुक्त राज्य अमेरिका के तकनीकी मिशन की सिफारिशों तथा एस० के० डे द्वारा नीलोखेड़ी तथा फरीदाबाद के अनुभवों के आधार पर प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने डाली। श्री एस० के० डे एक इन्जीनियर थे, जो बाद में इस कार्यक्रम के प्रबन्धक और मन्त्री बने। उन्होंने नीलोखेड़ी तथा फरीदाबाद में पश्चिमी पंजाब से आये विस्थापितों के पुनर्वास के लिये कार्य किया। यह अनुभव उनको सामुदायिक विकास कार्यक्रम को चलाने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। इसके साथ योजना आयोग के पहले उपाध्यक्ष श्री कृष्णमाचारी जी को बड़ौदा राज्य में ग्राम विकास के अनुभव ने भी योजनाबद्ध सामुदायिक विकास कार्यक्रम को चलाने में सहायता दी।

व्यवस्था :

लगभग सौ गाँव के क्षेत्र का विकास प्रखण्ड बनाया गया। प्रत्येक जिले को ऐसे 10·15 विकास प्रखण्डों में बाँटा गया। प्रत्येक विकास प्रखण्ड का काम विकास प्रखण्ड अधिकारी की देख-रेख में होता है। इस अधिकारी के दल में शुरू में प्रत्येक विषय से सम्बद्ध विस्तार अधिकारी थे और गाँव स्तर पर (दस गाँव के लिये एक) ग्रामसेवक और प्रत्येक विकास प्रखण्ड में दो ग्राम सेविकायें थीं। ऐसा इसलिये किया गया ताकि किसान एक छत के नीचे और एक ही ग्राम अधिकारी से अपनी बहुमुखी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। सम्बद्ध विभागों की ईर्ष्या के कारण विकास व्यवस्था में अस्थिरता और शिथिलता आती गई जिसके फलस्वरूप विकास के विषयों से सम्बद्ध विभागीकरण होता गया। कृषि विभाग के कृषि उत्पादन और पशुपालन का काम अपने हाथ में सम्भालते हुए ग्राम सेवक तथा कृषि से सम्बन्धित अधिकारियों को राज्य कृषि विभाग के अन्तर्गत ले लिया गया। इसी तरह केन्द्रीय समाज कल्याण मन्त्रालय की बाल विकास की समन्वित परियोजना के अन्तर्गत लाने तथा पोषाहार कार्यक्रम को बन्द करने के फलस्वरूप ग्राम सेविकाओं तथा मुख्य सेविकाओं के पदों को धीरे-धीरे समाप्त किया गया। सहकारिता के कार्यों को सहकारिता विभाग तथा लोक निर्माण कार्य लोक निर्माण विभाग द्वारा सम्भाले जाने के फलस्वरूप सहकारिता और अभियांत्रिकी के प्रसार अधिकारियों

से सम्बद्ध विभागों के अन्तर्गत् लानेसे प्रखण्ड प्रसार परियोजना और विकास प्रखण्ड दल नष्ट-भ्रष्ट हो गये और इनका मौलिक रूप बदल गया।

सामुदायिक विकास एक बहुत ही आधुनिक तथा कठिन कार्यक्रम था। इतने बड़े देश के चारों कोनों में फैले अत्यन्त पिछड़े गाँवों में बहुमुखी विकास की बात करना ही एक बहुत बड़ा कदम था। धीरे-धीरे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का जाल, जिसमें कृषि तथा उससे सम्बद्ध कार्य तथा सामाजिक विकास का विशाल कार्यक्रम सम्मिलित कर, देश के पाँच लाख से अधिक गाँवों में फैल गया। जाहिर है कि इतने बड़े कार्यक्रम में भूल भी हो सकती थी। इस कार्यक्रम के मुख्य परिणाम जो सामने आये उनसे पता चलता है कि इस परियोजना में कुछ कमियाँ हैं और इनके कारण इस प्रकार हैं :—

1. सामुदायिक कार्यक्रम का विस्तार बहुत तेजी से हुआ।
2. कार्यक्रम में देश के कुछ विशेष भागों की विशेष समस्याओं तथा आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखा गया।
3. चूँकि इस योजना के अन्तर्गत् सामाजिक तथा आर्थिक पहलू आते थे, यह ईर्ष्या का कारण बन गया। दूसरे विभागों ने इस कार्यक्रम में वित्तीय तथा मानवो साधनों का योगदान देना बन्द कर दिया।
4. देश में खाद्य पदार्थों की कमी के लिये सामुदायिक विकास की पद्धति को बदनाम करके उसमें परिवर्तन लाये गये।
5. यह भी कहा गया कि कार्यक्रम का रूप केवल ग्राम कल्याण का था, न कि विकास का।
6. पंचायतों की गुटबन्दी तथा दूसरी कमजोरियों का सामुदायिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ने के कारण इसे और ज्यादा बदनाम किया गया।
7. जन-सहयोग की मात्रा दिन-प्रतिदिन कम होती गई।
8. कार्यक्रम के फलस्वरूप एक तरफ निर्धनता बढ़ी और दूसरी ओर सम्पन्न वर्गों की सम्पन्नता बढ़ती गई। इस स्थिति ने सामाजिक तथा आर्थिक असन्तुलन को जन्म दिया।

आर्थिक पहलू और ग्रामीण विकास

इन कारणों से सामुदायिक विकास कार्यक्रम की विचार पद्धति में बदलाव आया। कार्यक्रम के आर्थिक पहलुओं पर अधिक जोर दिया गया ताकि गरीबी की रेखा के नीचे के 40 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के रहन-सहन का स्तर

सुधारने के लिये उनके लिये रोजगार की व्यवस्था की जा सके। यह रोजगार कृषि और उससे सम्बद्ध क्रिया-कलापों, ग्रामीण उद्योग तथा निर्माण कार्यक्रमों द्वारा पैदा किया गया। इस विचार पद्धति के अन्तर्गत कमजोर वर्ग तथा कमजोर तथा विशेष क्षेत्र आदि को विकास का केन्द्रबिन्दु बनाया गया।

ग्रामीण विकास संस्थायें :

इस तरह कार्यक्रमों में बदलाव आया। कार्यक्रम का नाम समन्वित ग्रामीण विकास रखा गया हालाँकि बहुत से ऐसे तत्त्व लिये गये जो कार्यक्रम के मौलिक समन्वित रूप के बिल्कुल विपरीत थे। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण कदम था। हालाँकि सामुदायिक विकास एक सरकारी कार्यक्रम था जो सरकारी कार्यकर्ताओं द्वारा चलाया गया, फिर भी जनता का सहयोग लेने हेतु इसमें बहुत-सी गैर सरकारी संस्थाओं ने भी योगदान दिया। आज ग्राम विकास कार्य से निम्नलिखित संस्थायें जुड़ी हैं :—

(क) सरकारी प्रसार प्रखण्ड कार्यालय।

(ख) जिला ग्रामीण विकास अभिकरण।

(ग) पंचायती राज संस्थायें।

(घ) महिला मण्डल तथा युवक मण्डल।

(ङ) स्वैच्छिक संस्थायें।

(च) बैंक और वित्तीय संसाधन।

(छ) औद्योगिक तथा वाणिज्य संस्थायें।

(ज) अनुदान देने वाली राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें।

जिला-स्तर संगठन :

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की देखरेख जिलाधीश करता था जिसका एक संक्षिप्त पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान में होता था। कई राज्यों में जिलाधीश की सहायता के लिये जिला योजना अधिकारी या सहायक जिलाधीश होता था। कहीं-कहीं जिला परिषद् इस कार्य की देख-भाल करता है। जब ग्रामीण विकास कार्यक्रम में विभागीकरण हुआ तो प्रखण्ड स्तर का दल कमजोर हो गया, इसकी पूर्ति के लिये व ग्रामीण विकास कार्यक्रम की सफलता के लिये जिला स्तर पर जिला ग्रामीण विकास अभिकरण की स्थापना की गई। भारतीय प्रशासन सेवा का अधिकारी इस अभिकरण का परियोजना निदेशक होता है और उसके सहायक परियोजना निदेशक के अति-

रिक्त परियोजना में अर्थशास्त्री, ऋण नियोजन और ग्रामीण उद्योग के विशेषज्ञ होते हैं। ग्रामीण विकास के अन्तर्गत् आने वाली और रोजगार योजनाओं के लिये ये नियोजन दल के रूप में वित्तीय सहायता के लिये जिला ग्रामीण विकास अभिकरण की मदद करते हैं। वित्तीय सहायता, परियोजनाओं के बनाने में मार्गदर्शन करने और तत्पश्चात् उनकी छान-बीन करने के बाद ही मंजूरी दी जाती है।

पंचायती राज

भारत के गाँवों में सामुदायिक कार्यक्रम तथा सामूहिक फैसले गाँवों की पंचायतें करती थीं। इसलिये भारतीय विधान में राज्य द्वारा ग्राम पंचायतों को संगठित करने का प्राविधान किया गया। पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत् जो सामुदायिक विकास सरकारी कार्यक्रम के रूप में आरम्भ हुआ, उसे जनता का कार्यक्रम बनाने के लिये प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण का फैसला किया गया। 1958 में बलवन्त राय मेहता अध्ययन दल की सिफारिशों को क्रियान्वित करते हुए त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं की शुरुआत हुई। इस योजना के फलस्वरूप ग्राम, प्रखण्ड तथा जिलास्तर पर पंचायती राज संस्थाओं का विधान किया गया।

यद्यपि प्रत्येक राज्य में पंचायती राज की स्थिति अलग-अलग है, फिर भी आमतौर पर सब राज्यों में पंचायतों को सौंपे गये कार्यों में ग्रामीण सड़कें, सामुदायिक कुओं का निर्माण, तालाब, सिंचाई परियोजनायें, जन स्वास्थ्य, नागरिक सेवायें आदि शामिल हैं। इन कार्यों को करने के लिये पंचायतों पर वित्तीय साधन जुटाने का दायित्व है। पंचायतें सामान्यतः भूमि राजस्व तथा जल की दर के निर्धारण, बाई-साइक्लि कर, आवास या गृह कर आदि तथा राज्य सरकारों द्वारा अनुदान से प्राप्त धनराशि से अपना काम चलाती हैं।

पिछले तीन वर्षों में एक तरफ तो पंचायतों का पूरे देश मे जाल बिछ गया, दूसरी ओर इनके कार्यों और काम के ढंग पर टीका-टिप्पणी होने लगी। कई पंचायतों ने अपनी सत्ता तथा साधनों का दुरुपयोग करना शुरू किया। उधर सरकारी अधिकारियों ने पंचायतों को अपने काम के ढंग में रुकावट समझ कर उनकी सलाह मानने से इन्कार किया। फलस्वरूप ये बहुत सी शंकाओं और ईर्ष्यालु प्रतिरोध की भावना की शिकार हुईं। इनको स्थगित किया गया, कई राज्यों में इनके चुनाव नहीं करवाये गये, इन्हें वित्तीय साधनों से वंचित रखा गया। धीरे धीरे पंचायतें कुण्ठित और नाकाम साबित हुईं। यद्यपि पंचायतों के कारण गाँवों में राजनैतिक जागृति अवश्य हुई जिसके फलस्वरूप गाँव के मत-

दाता ने सरकारों को बदलने में काफी योगदान दिया। अलबत्ता कुछ राज्यों में जैसे महाराष्ट्र तथा गुजरात में जिला स्तर की, कर्नाटक तथा तमिलनाडु में प्रखण्ड स्तर की तथा उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, आसाम आदि में मण्डल स्तर की और केरल, गोवा आदि में गाँव स्तर की पंचायतें हाल तक कार्य करती रही हैं।

पंचायती राज की स्थापना के पश्चात्, प्रजातन्त्र तथा ग्राम विकास साथ-साथ चलते प्रतीत होते थे किन्तु कुछ वर्षों के भीतर पंचायतीराज संस्थायें शिथिलता, गतिरोध अथवा पतन की ओर जाने लगीं। फलस्वरूप जन-सहयोग की परम्परा धीरे-धीरे स्थानीय राजनीतिक गुटबन्दी की शिकार हो गयीं और भ्रष्टाचार फैलने लगा। पंचायतीराज के योगदान के विषय पर कई बार अध्ययन हुआ और इसके बारे में बहुत कुछ लिखा गया किन्तु इनको उपेक्षित किया गया। इनको संवैधानिक मान्यता तथा वित्तीय सहायता न मिलने, नियमित रूप से चुनाव न करवाने, अस्पष्टता के कारण उनके अधिकारों का हस्तान्तरण न करने और राज्य सरकारों के प्रशासनिक तथा राजनैतिक रवैये के कारण पंचायतीराज संस्थायें उपेक्षा की शिकार हो गईं।

यह सत्य है कि पंचायतीराज संस्थायें ग्राम विकास के कार्यों में सफल नहीं हुईं, किन्तु बालपन की अवस्था में इनसे कृषि विकास, सिंचाई परियोजनाओं, चकबन्दी, शिक्षा तथा गाँव के चौमुखी विकास जैसे जटिल कार्यों में कामयाबी की अपेक्षा करना ठीक नहीं था।

आज इस बात पर सहमति है कि पंचायतीराज संस्थाएँ सामान्य नागरिक काम करने के साथ-साथ ग्राम विकास की योजनाओं को क्रियान्वित करने में भी पूरी जिम्मेदारी लें। 1989 में इन संस्थाओं के बारे में दृष्टिकोण बदला और विकेन्द्रीकरण पर फुर्ती से अमल करने का फैसला किया गया जिसके फलस्वरूप पंचायतीराज संस्थाओं को मजबूत करने के लिए संविधान संशोधन का काम आरम्भ हुआ ताकि पंचायतीराज संस्थाओं को पक्की मान्यता मिले और उनके साथ उपेक्षा या खिलवाड़ न हो सके। इस विधेयक में पंचायतीराज संस्थाओं को नई दिशा देने का प्राविधान था। इस विधेयक द्वारा पंचायतों के चुनाव नियमित रूप से प्रत्येक पाँच वर्ष पर भारतीय चुनाव आयोग के नियंत्रण में होंगे। चुनाव द्वारा निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त कुछ राजनेतिक नेता, बैंकों के प्रतिनिधि आदि इसमें सम्मिलित होंगे। प्रत्येक पंचायत में कम-से-कम 30 प्रतिशत महिलाएँ और 30 प्रतिशत ही अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के प्रतिनिधि होंगे। पंचायतों के वित्तीय साधनों को बढ़ाने के लिये कर

लगाने तथा राज्य सरकारों द्वारा अनुदान देने के अलावा राज्य स्तर पर पंचायती वित्तीय आयोग की स्थापना का प्राविधान है। भारत के महानियंत्रक तथा लेखा परीक्षक पंचायतों का लेखा-जोखा रखेंगे। यह विधेयक संसद् में पारित न हो सका। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने संशोधित रूप में नया विधेयक संसद के अगले अधिवेशन में लाने का वादा किया।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने पंचायतीराज (संविधान संशोधन) विधेयक पर नये सिरे से विचार कर जून 1990 में हुए मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलन में इसका संभावित खाका रखा। दो मुख्य मुद्दे, जिनपर सहमति हुई है : (क) संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता; (ख) केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से परहेज रखना। इस प्रकार कांग्रेस सरकार द्वारा लाये गये संशोधन बिल के मूलभूत आधार पर असहमति दिखाते हुए, मुख्य मन्त्री निम्नलिखित मुद्दों पर सहमत हो गये :—

1. गाँव सभा पंचायतीराज की बुनियादी इकाई होगी।
2. संविधान संशोधन में गाँव की परिभाषा की जायेगी।
3. हर पाँच साल पर चुनाव होगा जिसकी जिम्मेदारी राज्य चुनाव आयोग पर, न कि केन्द्रीय चुनाव आयोग पर होगी।
4. पंचायतीराज वित्त आयोग राज्य सरकार स्थापित करेगी।
5. महिलायें, अनुसूचित तथा जनजातियों के लिये आरक्षण होगा।

केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाये गये दिशा निर्देशों पर अमल करने की सिफारिश करते हुए प्रधान मन्त्री ने राज्यों से सुझाव भेजने की अपील की है ताकि संविधान संशोधन को कार्यान्वित किया जा सके।

आशा की गई कि इस नये कानून द्वारा तथा राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के प्रजातन्त्र में दृढ़ विश्वास के आधार पर भारत के गाँवों में विकास कार्यक्रमों को ग्रामीण स्वायत्त शासन चलायेगा।

प्रशिक्षण :

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के फैलाव और आरम्भिक कामयाबी का मुख्य कारण था आर्थिक साधनों की उपलब्धि के साथ-साथ प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति। कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के साथ-साथ प्रशिक्षण की व्यवस्था भी सुचारु रूप से की गई ताकि नये क्षेत्रों में विकास प्रखण्ड के साथ प्रशिक्षित कार्यकर्ता भी काम के लिये सुलभ रहें। इन कार्यकर्ताओं में ग्राम सेवक, ग्राम

सेविकायें, प्रखण्ड प्रसार अधिकारी, जिनमें मुख्यतया अभियांत्रिकी, कृषि, पशु-पालक, ग्रामउद्योग, सहकारिता, समाज शिक्षा, महिला तथा बाल कल्याण आदि क्षेत्रों के कनिष्ठ विशेषज्ञ और विकास प्रखण्ड अधिकारी शामिल थे। इसके अतिरिक्त गैर सरकारी कार्यकर्ता जैसे महिला मण्डलों, युवक मण्डलों, सहकारी समितियों, पंचायतों के पदाधिकारी तथा सदस्यों को भी प्रशिक्षण दिया गया। प्रशिक्षण के इस प्रयास के फलस्वरूप आगे दिये गये ब्योरे से पता चलता है कि इतने बड़े पैमाने पर ग्राम विकास के पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों का प्रशिक्षण विश्व में कहीं भी नहीं किया गया।

ग्रामसेवक :

ग्राम सेवकों को प्रशिक्षण देने के लिये कृषि मंत्रालय द्वारा स्थापित प्रसार निदेशालय ने प्रसार प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये। राज्य सरकारों ने केन्द्र की इस योजना को क्रियान्वित किया। लगभग पचास हजार ग्राम सेवकों ने इन केन्द्रों में एक वर्ष का समन्वित पाठचक्रम द्वारा प्रशिक्षण पाया और उसके बाद पुनश्चर्या में भी भाग लिया। प्रत्येक राज्य में तथा छोटे राज्यों के समूह के लिये प्रसार प्रशिक्षण केन्द्र अब भी चल रहे हैं जो कि नये नियुक्त हुए ग्राम-सेवकों के लिये आरम्भिक पाठ्यक्रमों और पुनश्चर्या का आयोजन करते हैं।

ग्राम सेविकाएँ :

ग्राम सेविकाओं के प्रशिक्षण के लिये इन प्रसार प्रशिक्षण केन्द्रों में गृह विज्ञान विभाग खोले गये जहाँ से लगभग दस हजार ग्राम सेविकाओं ने प्रशिक्षण लिया। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने कस्तूरबा गांधी स्मृति न्यास द्वारा चलाये गये प्रशिक्षण केन्द्रों में अपनी कल्याण प्रसार परियोजना में नियुक्त ग्राम सेविकाओं को प्रशिक्षण दिलाया। सामुदायिक विकास मंत्रालय द्वारा नियुक्त ग्राम सेविकाओं के प्रशिक्षण का अधिक समय और बल कृषि सम्बन्धी कार्यों पर था और बोर्ड की ग्राम सेविकाओं के पाठ्यक्रम में अधिक बल महिला तथा बाल कल्याण कार्यक्रमों पर था।

प्रखण्ड स्तर अधिकारी :

प्रखण्ड स्तर के अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिये राज्य स्तर पर सामुदायिक विकास प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई। इन केन्द्रों में प्रखण्ड विकास अधिकारी तथा प्रखण्ड स्तर के विस्तार अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है तथा पुनश्चर्या का आयोजन किया जाता है। कई राज्यों में इन प्रशिक्षण केन्द्रों को प्रशासनिक प्रशिक्षण केन्द्रों में परिवर्तित किया गया है किन्तु इनमें ग्राम विकास अधिकारियों को भी प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

समाज शिक्षा अधिकारी :

इसके अलावा समाज शिक्षा में जुटे अधिकारियों आयोजकों तथा मुख्य सेविकाओं के छः माह के प्रशिक्षण के लिये समाज कार्य और कृषि में संलग्न संस्थाओं तथा स्वैच्छिक संस्थाओं को प्रशिक्षण केन्द्र चलाने के लिये सामुदायिक विकास मंत्रालय द्वारा अनुदान दिया गया। प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम भी मंत्रालय द्वारा मंजूर किया गया। कई राज्यों में समाज शिक्षा के अधिकारियों को प्रशिक्षण राज्य सरकार द्वारा चलाये गये प्रशिक्षण केन्द्रों में दिया गया। इसके साथ-साथ केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने अपनी कल्याण प्रसार परियोजनाओं में नियुक्त मुख्य सेविकाओं के प्रशिक्षण का बन्दोबस्त कस्तूरबा गांधी स्मृति न्यास के प्रशिक्षण केन्द्रों में किया। इस प्रशिक्षण में महिला तथा बाल कल्याण पर बल दिया गया। इस प्रकार ग्रामीण विकास में मुख्य सेविकायें दो प्रकार प्रकार की थीं—एक वे जो कृषि पर आधारित प्रशिक्षण पाकर महिलाओं के योगदान को बढ़ाने में जुट गयीं, दूसरी वे जो मुख्यतः महिला तथा बाल कल्याण के कार्य में जुटीं।

सहकारिता :

इसके अतिरिक्त प्रसार अधिकारियों को भी सहकारिता में प्रशिक्षण दिया गया। इसके लिये पुणे में नइकुण्ड बाल महिला सहकारिता प्रशिक्षण महाविद्यालय की स्थापना की गई जो आज भी सहकारिता के नाना प्रकार के प्रशिक्षण प्रदान कर रहा है।

गैर सरकारी कार्यकर्ता :

जब भारत में पंचायतों की स्थापना हुई तो पंचायतों के सदस्य तथा पदाधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिये प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई। अखिल भारतीय पंचायत परिवार ने इस क्षेत्र में जिम्मेदारी लेकर इस प्रशिक्षण को आगे बढ़ाया। इस प्रकार ग्राम सेविकाओं के प्रशिक्षण केन्द्रों में महिला मण्डलों के पदाधिकारियों तथा ग्राम सेवकों के प्रशिक्षण केन्द्रों में युवक मण्डलों के पदाधिकारियों को प्रशिक्षण दिया गया।

ग्राम विकास कार्यक्रमों को न केवल प्रशिक्षित अधिकारी बल्कि नये नियुक्त अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिये प्रशिक्षण का ढाँचा भी विरासत में मिला। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत् गाँव स्तर से लेकर जिला स्तर के अधिकारियों तथा भिन्न प्रकार के विषयों में लगे अधिकारियों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई। इसके साथ-साथ न केवल पुरुषों किन्तु महिला कार्मिकों

राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान :

सामुदायिक विकास कार्मिकों के प्रशिक्षण पर सरकार के विशेष बल का एक और द्योतक है मसूरी–राजपुरा में 1958 में राष्ट्रीय प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना, जो बाद में हैदराबाद के निकट राजेन्द्र नगर में राष्ट्रीय सामुदायिक विकास संस्थान के नाम से जाना गया। बाद में इसका नाम राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान हो गया। पिछले फँच वर्षों में संस्थान ने ग्रामीण विकास के विभिन्न पहलुओं पर शोध कार्यक्रम को अधिक उपयोगी तथा योजनाबद्ध बनाने में सरकार की सहायता की। इसके साथ-साथ संस्थान ने उच्चस्तरीय अधिकारियों के प्रशिक्षण की जिम्मेदारी भी ली। जिला, राज्य और केन्द्रीय सरकारों और बैंकों के अधिकारियों के अलावा भारत के बाहर से भी प्रशिक्षार्थी इस संस्थान में आते हैं। संस्थान के पाठ्यक्रम में समन्वित ग्राम विकास, कृषि तथा इससे सम्बद्ध कार्यक्रम समाजशास्त्र, आयोजन प्रक्रिया, पंचायती राज, स्वैच्छिक कार्य, भूमि सुधार, मानव संसाधन, जन-सहयोग, वित्तीय साधन, बच्चों, युवकों तथा महिला कार्यक्रम, ग्रामीण रोजगार आदि विषय शामिल हैं। संस्थान के पास बड़े पैमाने पर उच्चस्तरीय प्रशिक्षण देने के साधन उपलब्ध हैं।

कार्य की विधियाँ

समाज कार्य की छः मुख्य कार्य विधियाँ हैं :—

1. सामुदायिक संगठन—जिसमें समुदाय केन्द्र बिन्दु होता है।
2. समूह काय—जिसके द्वारा समूह को इकाई मानकर कार्य किया जाता है।
3. वैयक्तिक सामाजिक कार्य—जिसमें व्यक्ति सहायता-बिन्दु होता है।
4. सामाजिक संक्रिया—जो मुख्य सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये प्रयुक्त होता है।
5, सामाजिक अनुसंधान—जो समस्याओं के विषय में आधारभूत तथ्य प्रस्तुत करता है।

किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले उन लोगों का समूह है जिनके समान हित हों और जिसके प्रति लोगों में अपनापन की भावना प्रबल हो। इसलिये ग्रामीण समुदाय भी एक ऐसा समुदाय है जिसके विकास के लिये सामुदायिक संगठन कारगर सिद्ध हो सकता है। ऐसा मानकर ग्रामीण विकास के कार्यक्रम को सामुदायिक विकास का नाम दिया गया। सामुदायिक संगठन सामुदायिक कार्य का एक प्रक्रम है और साथ ही उसका कार्यक्षेत्र भी। इस क्षेत्र में सामाजिक शिक्षा पद्धति का प्रयोग कर समुदाय में जागृति पैदा कर जनता को अपने ध्येय के प्रति जागरूक किया जाता है। सामुदायिक संगठन द्वारा समुदाय की मुख्य आवश्यकताओं और समस्याओं की खोज करके, समुदाय के सदस्य तथा नेताओं में उसकी व्याख्या करके, सामुदायिक साधनों का उपयोग करते हुए उन आवश्यकताओं को पूरा करने अथवा समस्याओं का समाधान करने के तरीके खोजे जाते हैं।

सामुदायिक संगठन द्वारा सामुदायिक विकास की प्रक्रिया के प्रक्रमगत् चरण हैं : समुदाय का इतिहास, भौगोलिक क्षेत्र, जनसंख्या, सार्वजनिक स्थान, प्रथायें, परम्परायें, भिन्न समूह आदि मुद्दों पर सर्वेक्षण करना पहला चरण है; इसके बाद समुदाय की आवश्यकताओं, समस्याओं तथा साधनों का अध्ययन, उनके प्रयोग की विधियों पर विचार, समुदाय के भिन्न समूहों को संगठित करना, आवश्यकता पड़ने पर बाहरी साधनों को जुटाना, कार्मिकों का चयन तथा प्रशिक्षण, वित्तीय साधनों का निर्धारण करना, सामुदायिक नेताओं की पहचान और उनको संगठित करना, कार्य का मूल्यांकन सम्बद्ध आँकड़े एकत्रित करना और कार्यक्रम के लिये प्रशासनिक ढाँचा तैयार करने का काम किया जाता है।

सामुदायिक विकास के कार्यक्रम के लिये संगठनकर्ता समुदाय में जागृति पैदा करता है और समुदाय को नेतृत्व प्रदान करता है। यह कार्य प्रखण्ड विकास अधिकारी और समाज शिक्षा संगठनकर्ता करते हैं। तत्पश्चात् पंचायत, सहकारी समितियों, युवक तथा महिला मण्डलों द्वारा सामाजिक नेताओं को तैयार किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ में ग्रामीण विकास कार्यक्रम सामुदायिक संगठन की पद्धति द्वारा चलाने की चेष्टा की गई। इस कार्यक्रम में समाज़ कार्य की दूसरी विधियों का प्रयोग भी हुआ जैसे :—

1. कार्यक्रम में शामिल न होने, उसमें रुकावट डालने वाले और कार्यक्रम की क्षमता को भलीभाँति न समझने वाले व्यक्तियों के साथ वैयक्तिक सामा-

जिक कार्य की विधि का प्रयोग कर उन्हें समूह तथा समुदाय का एक भाग बनाकर उनका सक्रिय सहयोग भी लिया जाता है ।

2. युवक मण्डल, महिला मण्डल, सहकारी समिति, स्वैच्छिक संगठन तथा पंचायत जैसे समूहों का संगठन समूह कार्यविधि के माध्यम से किया जाता है ।

3. ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों में लाभार्थियों के चयन, विकास के प्रभाव और मापदण्ड आदि के लिये सामाजिक अनुसन्धान का सहारा लिया जाता है ।

4. सामाजिक नीति की चरितार्थता, कार्यक्रम की क्षमता बढ़ाने, इसके प्रशासनिक ढांचे, वित्तीय साधनों, कार्यालयी विधियों, वृत्तिक कुशलताओं और दक्षताओं के लिये सामाजिक प्रशासन की विधि का प्रयोग किया जाता है ।

5. जब देखा जाता है कि ग्रामीण समुदाय में शिक्षित, धनी, नेतागण कार्यक्रम का लाभ उठा रहे हैं और निर्धन और कमजोर सदस्य बंधुआ मजदूरों का सा जीवन बिता रहे हैं तो यह महसूस किया जाता है कि सामुदायिक ढाँचे में बहुत से समूह विकास से प्रभावित नहीं हुए हैं और न ही कार्यक्रम में इनके सेवार्थी बनने की कोई सम्भावना है तो ढाँचे को बदलने के लिये और मान्यता प्राप्त मूल्यों को ही बदलने और सामाजिक सुधार व सामाजिक संक्रिया का सहारा लेना पड़ता है (इसके फलस्वरूप हाल ही में कहीं-कहीं जोर-जबरदस्ती तथा मारपीट का वातावरण भी बना) । सामाजिक संक्रिया का यह पहला चरण है किन्तु संगठनकर्ता के अभाव के कारण इसको आगे बढ़ाने में गति नहीं मिली ।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम यह मानकर चलाया गया कि ग्रामीण समुदाय एक सामाजिक इकाई है किन्तु पिछले 40 वर्षों के अनुभव के अनुसार यह धारणा सिद्ध नहीं हो सकी, क्योंकि ग्राम समाज में भौगोलिक तौर पर तो निकटता है, लेकिन उनके समान हित नहीं है । इसी तरह बड़ी जमीन वाले और भूमिहीन, सम्पन्न परिवार और निर्धन तथा कमजोर वर्ग सवर्ण व अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लोगों के हित समान नहीं हैं । इसलिये प्रसार सेवाओं तथा वित्तीय साधनों के प्रयोग पर बहुत मतभेद है । इसी कारण कार्यक्रम का नाम सामुदायिक विकास से बदलकर ग्रामीण विकास किया गया जिसके फलस्वरूप समुदाय मानव संसाधन के बजाय ग्राम भूमि, पशु, वन आदि के विकास का केन्द्रबिन्दु बना ।

यद्यपि ग्रामीण विकास एक ऐसा सामाजिक कार्यक्रम है जिसको क्रियान्वित करने में सामाजिक कार्य की सभी छः विधियों का प्रयोग किया जाता है और उसमें मुख्य तौर पर सामुदायिक संगठन की पद्धति का प्रयोग होता है किन्तु सामुदायिक विकास कार्यक्रम ने यह सिद्ध कर दिया है कि जो सामाजिक कार्य की पद्धतियाँ सयुक्त राज्य अमेरिका में विकसित हुई वे भारत जैसे देश में लागू नहीं होतीं, विशेष तौर पर सामुदायिक संगठन, क्योंकि सामाजिक दृष्टिकोण से अमेरिका और भारत के ग्रामीण समुदाय भिन्न हैं। वैंसे तो भारत का गाँव एक समुदाय के रूप में रहता रहा है किन्तु प्रजातन्त्र के इस युग में पुराने घिसे-पिटे मूल्य समुदाय की परिभाषा पर पूरे नहीं उतरते; इसलिये भारत के गाँवों में यदि सामुदायिक जीवन ही नहीं है तो सामुदायिक संगठन द्वारा सामुदायिक विकास की बात बेमानी है।

जन-सहयोग

1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम में ग्रामीण समुदाय में सहयोग द्वारा विकास से की बात कही गयी। इसे आरम्भ में समुदायिक सहयोग द्वारा सरकारी कार्यक्रम बताया गया किन्तु दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह सरकारी सहयोग द्वारा जनता का कार्यक्रम बना। इस नीति के फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय के सहयोग पर बल देते हुए, युवक मण्डल तथा महिला मण्डलों को गठित करने में सामुदायिक विकास अधिकारियों का सहयोग तथा मार्गदर्शन मिला। युवकों तथा महिलाओं के इन संगठनों द्वारा सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों में योगदान मिला। बच्चों, महिलाओं तथा परिवारों के लिये कार्यक्रम, जैसे बालबाड़ियाँ, शिशु केन्द्र, पोषाहार केन्द्र, रसोई उद्यान, मुर्गी-पालन, परिवार कल्याण, खाद्य भण्डार, अचार-मुरब्बे बनाना आदि इन संगठनों द्वारा चलाये गये।

ग्राम विकास कार्यक्रम जनता द्वारा चुनी हुई पंचायतों को सौंपने का कार्य जनसहयोग के दूसरे चरण में किया गया जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। यहाँ संक्षेप में इतना कह देना उचित होगा कि पंचायतों में राजनीति और गुटबन्दी के कारण योजनाओं में जन-सहयोग की आकांक्षा पूरी न हो सकी।

चौथी योजना :

चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत् ग्राम विकास को ऐच्छिक कार्य द्वारा आगे बढ़ाने का प्राविधान किया गया। इस योजना के फलस्वरूप निम्नलिखित परियोजनाओं को क्रियान्वित किया गया :—

1. महिला मण्डल तथा युवक मण्डलों को प्रोत्साहित तथा मजबूत करना;
2. स्वैच्छिक संस्थाओं का योगदान प्राप्त करना;
3. सरकारी प्रखण्ड अधिकारियों द्वारा जन-सहयोग को प्रोत्साहित करना;
4. औद्योगिक तथा वाणिज्य-संस्थाओं का ग्राम विकास में सहयोग ।

महिला तथा युवक मण्डल जो कि प्रखण्ड अधिकारियों द्वारा बनवाये गये थे उन्हें आगे बढ़ाने और चल रहे मण्डलों को सुदृढ़ करने के लिये ठोस कदम उठाये गये ताकि ये संस्थायें ग्राम विकास के सामाजिक तथा आर्थिक पहलुओं से सम्बंधित कार्यक्रमों को मजबूती तथा दृढ़ निष्ठा से चलाकर महिलाओं और युवकों का विशेष सहयोग प्राप्त कर सकें ।

तमिलनाडु तथा उड़ीसा राज्यों में महिला संघों को स्थानीय भाषा में सीधा-सादा संविधान बनाकर उनसे पाँच या दस रुपये लेकर पंजीकृत किया गया । इनके अनुभवों का दूसरे राज्यों में भी अनुकरण हुआ । इसके साथ-साथ महिला तथा युवक मण्डलों के सदस्यों को प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम भी बनाया गया, इनको सरकारी अनुदान दिया गया और इनको जिला स्तर की स्वैच्छिक संस्थाओं से समन्वित किया गया । इस प्रकार गाँव स्तर पर स्वैच्छिक कार्य को बढ़ाने का एक अच्छा प्रयास किया गया ताकि सरकारी तन्त्र तथा पंचायतें जनता के सक्रिय योगदान द्वारा ग्राम विकास को आगे बढ़ा सकें । महिला तथा युवक मण्डल गाँव में सामान्य मंच के रूप में अपनी साझी समस्याओं पर विचार कर सरकारी अभिकरणों द्वारा आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था करते हैं जिनमें शिशु केन्द्र, क्रीड़ा केन्द्र, प्रौढ़ शिक्षा, परिवार कल्याण सेवायें, घर और खेत के प्रबन्ध में सुधार आदि शामिल हैं ।

स्वैच्छिक संस्थायें :

सामाजिक तथा आर्थिक विकास के क्षेत्र में कार्य कर रही स्वैच्छिक संस्थाओं को जन-सहयोग आधारित विकास के कार्यक्रम की परियोजना चलाने के लिए एक लाख रुपये तक की अनुदान राशि देने का भी प्राविधान किया गया । इसके साथ-साथ विकास प्रखण्ड कार्यालय को भी जन-सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिए पंचायती परियोजनाओं के लिये अनुदान दिया गया । इस प्रकार ग्राम विकास मंत्रालय द्वारा चलाई गयी जन-सहयोग की योजना द्वारा ग्राम विकास में स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका के लिये विशेष स्थान बनाया गया । इस प्रयास के फलस्वरूप ग्राम विकास के कार्य में बहुत-सी स्वैच्छिक संस्थाएँ जुट गयीं ।

इसके साथ-साथ औद्योगिक तथा वाणिज्य-घरानों को अपनी आय को ग्राम विकास कार्यों में लगाने पर आय-कर में शत-प्रतिशत की छूट दी गई। इसके फलस्वरूप उद्योगपतियों ने करोड़ों रुपयों का अनुदान ग्राम विकास के लिए दिया और वह स्वयं भी ग्राम विकास के कार्यों में जुट गये।

ग्राम विकास मंत्रालय द्वारा पुनर्गठित संस्था जनकार्य तथा ग्रामीण प्रविधि संघ (कापार्ट) ने स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान देकर गाँवों में स्वैच्छिक कार्य को और दृढ़ किया। इन सब प्रयासों के फलस्वरूप, गाँवों में तीन स्तरीय स्वैच्छिक कार्य द्वारा जन-सहयोग मिल रहा है जो निम्नलिखित हैं :—

(क) स्थानीय महिला तथा युवक मण्डल।

(ख) पंचायतीराज संस्थायें।

(ग) औद्योगिक तथा वाणिज्य-संस्थायें अथवा उनके द्वारा चलाये गये स्वैच्छिक संगठन।

(घ) दूसरी स्वैच्छिक संस्थायें।

इस प्रकार पिछले 40 वर्षों में बहुत-सी स्वैच्छिक संस्थायें ग्राम विकास के क्षेत्र में उतर आई हैं, इनमें से कुछ के नाम हैं :—

1. भारतीय ग्रामीण महिला संघ।
2. कस्तूरबा गांधी स्मृति न्यास, इन्दौर।
3. ऐग्रोइण्डस तथा बनवासी सेवा आश्रम, मीरजापुर।
4. आनन्द भवन आश्रम, रंगपुर।
5. मित्र निकेतन, केरल।
6. समाज कार्य तथा शोध केन्द्र, तिलोनिया।
7. भारतीय ऐग्रो इन्डस्ट्रियल फाउन्डेशन, उर्लीकांचन।
8. आदिम जाति सेवक संघ, दिल्ली।
9. ऐक्शन फॉर फूड प्रोडक्शन, दिल्ली।
10. अखिल भारतीय पंचायती परिषद्, दिल्ली।
11. एशियन इन्स्टीट्यूट ऑफ रूरल डेवलप्मेन्ट, बंगलोर।
12. भग्वतुल्ला चैरिटेबल ट्रस्ट, इलमावली।
13. भारत कृषक समाज, दिल्ली।
14. दीनदयाल उपाध्याय शोध केन्द्र, दिल्ली।

15. गांधी पीस फाउन्डेशन, दिल्ली ।
16. ग्राम विकास संस्था-संघ, दिल्ली ।
17. युवक विकास न्यास, अहमदाबाद ।
18. युवक विकास संस्था, दिल्ली ।
19. ईसाई युवा संस्था, दिल्ली ।
20. अखिल भारतीय शहरी तथा ग्राम विकास केन्द्र, दिल्ली ।

जन-सहयोग तथा स्वैच्छिक कार्य को ग्राम विकास के क्षेत्र में इतना प्रोत्साहित करने के बावजूद आज हजारों गाँव ऐसे हैं जिनमें नाम के वास्ते भी स्वैच्छिक संगठन नहीं हैं । ग्राम पंचायतों तथा महिला अथवा युवक मण्डलों का योगदान इस क्षेत्र में बहुत कम रहा । देश के पाँच लाख गाँवों में से केवल साठ हजार गाँवों में महिला मण्डल तथा नब्बे हजार में युवक मण्डल कार्य कर रहे हैं । बड़ी स्वैच्छिक संस्थायें तथा औद्योगिक अथवा वाणिज्य संस्थान भी इने-गिने ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं । सच तो यह है कि दुर्भाग्य से सामुदायिक विकास कार्यक्रम के आरम्भ करने के बाद जन-सहयोग की मात्रा और आकार दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है ।

सातवीं पंचवर्षीय योजना और स्वैच्छिक संस्थायें

भारत में अब तक की प्रवृत्ति यह रही है कि स्वैच्छिक अभिकरणों का काम केवल कल्याण क्रियाकलाप और दान कार्य ही माना जाता रहा है । सामाजिक और आर्थिक विकास की प्रगति में तेजी लाने में उनकी भूमिका को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है । सातवीं योजना के दौरान स्वैच्छिक अभिकरणों को ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों के आयोजन और कार्यान्वयन से सम्बद्ध करने के गम्भीर प्रयास किये गये । स्वैच्छिक अभिकरणों ने अनेक गैर पारम्परिक क्षेत्रों में सरकारी परियोजनायें चलने की आशा की बजाय अपनी खुद की परियोजनायें चलाने में विशेषज्ञता और क्षमता विकसित कर ली है । अतः स्पष्टतः विकास कार्यक्रमों में स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका इस प्रकार है :—

1. सरकारी प्रयास के पूरक के रूप में जिससे ग्रामीण गरीबों को अपनी पसन्द का विकल्प मिल सके ।
2. ग्राम स्तर पर जनता की आँख और कान बनकर ।
3. आदर्श उपस्थित करके । स्वैच्छिक अभिकरणों के लिये अपने सीमित साधनों से, कम ऊपरी खर्च से तथा अपेक्षाकृत अधिक सामुदायिक

सहभागिता से साधारण, नवीन, लचीले तथा सस्ते साधन अपनाना सम्भव होता है।

4. सुपुर्दगी तंत्र को क्रियाशील बनाना और ग्राम स्तर पर इसे प्रभावी बनाना ताकि यह सबसे अधिक गरीबों द्वारा महसूस की गई आवश्यकता के अनुरूप हो।
5. सूचना का प्रचार-प्रसार करना।
6. समुदायों को यथासम्भव आत्मनिर्भर बनाना।
7. यह प्रदर्शित करना कि ग्राम और स्वदेशी साधनों का किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है, किस प्रकार जनसाधनों, ग्रामीण कौशलों और स्थानीय जानकारी का, जिसका आजकल बहुत ही कम उपयोग किया जा रहा है, उनके अपने विकास के लिये उपयोग किया जा सकता है।
8. प्रविधि को रहस्य न बने रहने देना और ग्रामीण गरीबों के लिये इसे आसान रूप में प्रस्तुत करना।
9. ऐसे आधारिक कार्यकर्ताओं के संवर्ग को प्रशिक्षित करना जो स्वैच्छिकता को वृत्तिक बनाने में विश्वास करते हैं।
10. समुदायों को अपने ही पैरों पर खड़ा होने योग्य बनाने की दृष्टि से समुदाय के भीतर से ही वित्तीय साधन एकत्र करना।
11. गरीबों को एकत्र और संगठित करना, गुणवत्ता सम्पन्न सेवाओं की माँग करने के लिये जागरूकता उत्पन्न करना तथा ग्राम स्तर पर सरकारी कार्यकर्ताओं की भूमिका का निष्पादन कर उत्तरदायित्व की सामुदायिक प्रणाली आरोपित करना।

गरीबी हटाओ तथा न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के कार्यान्वयन में स्वैच्छिक अभिकरणों की सहायता तथा समर्थन के लिये समेकित दृष्टिकोण की आवश्यकता है। समाज कल्याण और समाज कार्य के क्षेत्र में अर्थात् पारम्परिक स्वैच्छिक अभिकरणों के लिये पहले से ही केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड विद्यमान है जिसकी राज्यों में भी शाखायें हैं। एकीकृत ग्रामीण विकास तथा सातवीं योजना में गरीबी हटाओ तथा न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम में शामिल सम्बद्ध सेवाओं के लिये पीपुल्स ऐक्शन फॉर डेवलप्मेन्ट (इण्डिया) के कार्य और विस्तार को बढ़ाने की आवश्यकता है।

योजना में स्वैच्छिक को वृत्तिक बनाने और व्यावसायिक क्षमता और

प्रबन्धकीय विशेषज्ञता लाने पर जोर दिया जायेगा ताकि स्वैच्छिक अभिकरण अपने साधनों और क्षमताओं के अनुरूप उत्तरदायित्व के रूप में सरकार की बुनियादी जरूरतें पूरी करने की स्थिति में हो सकें । स्वैच्छिक अभिकरणों को स्थानीय रूप से उपलब्ध जन और वित्तीय साधनों को एकत्र करने, किसानों, ग्रामीण कारीगरों, अनुसूचित जाति तथा जनजातियों, कृषि-मजदूरों, गिरिजन तथा बंधुआ मजदूरों जैसे अपेक्षाकृत अधिक गरीब और असुरक्षित व्यवसायों से व्यक्तियों को हटाने, उनका कौशल बढ़ाने और उन्हें आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर और उत्पादक बनाने पर अधिक ध्यान देने की जरूरत है ।

गरीबी हटाओ और न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रमों के बेहतर कार्यान्वयन के लिये जिन कार्यक्रमों और क्षेत्रों में स्वैच्छिक अभिकरणों की सहभागिता अधिक सहायक हो सकती है वे निम्नलिखित हैं :—

1. एकीकृत ग्रामीण विकास । ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम (ट्राइसेम) ।
2. भूमि की अधिकतम सीमा का निर्धारण और अतिरिक्त भूमि का वितरण ।
3. कृषि मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी दिलाना ।
4. बंधुआ मजदूरों का पता लगाना और उनका पुनर्वासन ।
5. अनुसूचित जातियों और जनजातियों का विकास ।
6. निरापद पीने के पानी की पूर्ति, सामुदायिक समर्थन से जलपूर्ति प्रणालियों की मरम्मत और रख-रखाव ।
7. वन रोपण, सामाजिक वानिकी, जैव गैस और ऊर्जा के वैकल्पिक साधनों (सौर और पवन ऊर्जा, उन्नत चूल्हे) का विकास ।
8. परिवार नियोजन को बढ़ावा देना ।
9. प्राथमिक स्वास्थ्य संरक्षण, कुष्ठ रोग पर नियंत्रण, तपेदिक, अन्धता आदि के (ग्राम साधनों का उपयोग करके) निरोधक स्वास्थ्य कार्यक्रम ।
10. ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों के लिये कार्यक्रम ।
11. बच्चों की प्रारम्भिक, प्राइमरी और मिडिल स्कूल शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और गैर विद्यालयगत् और अनौपचारिक शिक्षा के नये तरीके और कम लागत के विकल्प विकसित करना ।
12. उपभोक्ता संरक्षण, सहकारी संस्थाओं को बढ़ावा देना ।
13. हस्तशिल्प और ग्राम तथा कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना ।
14. विज्ञान और प्रविधि को बढ़ावा देना ।
15. कानूनी शिक्षा ।

16. ग्रामीण आवास में सुधार।
17. पर्यावरण और परिस्थिति सुधार तथा
18. सूचना के प्रचार-प्रसार के लिये पारम्परिक साधनों को बढ़ावा देना और प्रोत्साहित करना।

स्वैच्छिक कार्य के लिये अनुदान

स्वैच्छिक संस्थायें अब ग्रामीण विकास के कार्य में योगदान दे रही हैं। इस कार्य के लिये वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कई संस्थायें अनुदान देती हैं। अनुदान देने वाली संस्थाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(क) केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड जो बच्चों तथा महिलाओं के कल्याण कार्यक्रमों के लिये अनुदान देता है।

(ख) स्वैच्छिक कार्य तथा ग्रामीण प्रविधि से जुड़ी संस्थायें जो खाद्य पदार्थों के उत्पादन तथा ग्रामीण प्रविधि के विकास कार्यक्रमों से जुटे संगठनों को अनुदान देती हैं।

(ग) कुछ औद्योगिक तथा वाणिज्य संस्थान भी ग्रामीण विकास के भिन्न कार्यों के लिये वित्तीय सहायता देते हैं।

(घ) प्रधान मन्त्री के ग्रामीण विकास कोष से दी गयी धनराशि पर आयकर में शत-प्रतिशत छूट है। इस धन का उपयोग ग्रामीण क्षेत्र में कार्य कर रहे स्वैच्छिक संगठनों द्वारा अनुदान के रूप में किया जाता है।

(ड) राष्ट्रीयकृत बैंक, सहकारी समितियाँ तथा दूसरे वित्त-संगठन भी समन्वित ग्रामीण विकास की परियोजनाओं के लिये कर्जे देते हैं।

(च) राष्ट्रीय स्तर पर कार्य कर रही कुछ संस्थायें, न्यास आदि जैसे 'ऐफ्रों' आदि भी छोटी-छोटी परियोजनाओं के लिये अनुदान देती हैं।

पहली चार पंचवर्षीय योजनाओं में केवल समाज कल्याण के क्षेत्र में कार्य कर रही स्वैच्छिक संस्थाओं को ही अनुदान मिलता था किन्तु 1976 के बाद से बहुत सी स्वैच्छिक संस्थायें ग्रामीण विकास के भिन्न पहलुओं से सम्बद्ध कार्य कर रही हैं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों से वित्तीय सहायता प्राप्त करती हैं। ऐसी वित्तीय सहायता ने ग्राम-विकास के कार्यों को आगे बढ़ाने में सहायता की है। आशा है अधिक से अधिक पढ़े-लिखे तथा दूसरे जागृत लोग ग्रामीण विकास में भाग लेकर जनता को उत्साहित कर अपना सक्रिय योगदान देंगे।

जन सहयोग और 'कापार्ट'

यह तथ्य स्वीकार किया गया है कि विकास कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक

लागू करने के लिये उन लोगों को इसमें शामिल करना जरूरी है जिनके लिए कार्यक्रम चलाये जाते हैं। यह उद्देश्य ग्रामीण विकास के प्रयासों में स्वयंसेवी तथा गैरसरकारी संस्थाओं का सहयोग लेकर प्राप्त किया जा सकता है। ग्रामीण विकास में स्वयंसेवी प्रयासों को बढ़ावा देने के लिये लोक कार्यक्रम तथा ग्राम प्रविधि विकास परिषद (कापार्ट) के माध्यम से विकास परियोजनाओं को जनता की भागीदारी से क्रियान्वित करने के लिये स्वयंसेवी संस्थाओं और गैरसरकारी अभिकरणों को सहायता दी जाती है। इस योजना के अन्तर्गत् चलाई जाने वाली परियोजनायें ग्रामीण जीवन के ऐसे किसी पहलू से सम्बन्धित हो सकती हैं जिसमें उस क्षेत्र के लोगों की बुनियादी आवश्यकतायें झलकती हों।

गाँवों के गरीब लोगों में चेतना पैदा करने के लिये शिविर लगाये जाते हैं। इसके बाद इन लोगों से तब तक नियमित सम्पर्क रखा जाता है जब तक वे गरीब इस योग्य न हो जायें कि अपने हितों का स्वयं ध्यान रख सकें और कानूनी रूप में उन्हें जो कुछ मिलता है उसे प्राप्त करने के लिये सजग हो सकें। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता 1986-87 में शुरू की गई जो गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रमों के लाभार्थियों को संगठन व परियोजना के अनुसार दी जाती हैं।

अधिकतर राज्यों में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन में इसके लाभार्थियों का सार्थक सहयोग लेने के लिए प्रखण्ड स्तर पर लाभार्थी सलाहकार समितियाँ और पंचायत स्तर पर लाभार्थी उप-समितियाँ काम कर रही हैं। सरकार विभिन्न ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में स्वयसेवी संगठनों की और अधिक भागीदारी पर बल दे रही है तथा राज्य सरकारों को भी इसी तरह की सलाह दी गई है।

दुर्भाग्यवश स्वैच्छिक संस्थानों ने सरकारी कार्यपद्धति अख्तियार की है, इसलिये जनसहयोग में दिक्कत होती है क्योंकि लोग स्वैच्छिक ढाँचे को सरकार का अंग ही समझते हैं। तब समस्या और भी जटिल हो जाती है जब स्वैच्छिक संस्थायें जनता को सरकारी कार्यक्रम जैसी सेवायें प्रदान करती हैं, जबकि ग्रामीण विकास कार्य से जुटी स्वैच्छिक संस्थाओं का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत होना चाहिए। गरीबी-उन्मूलन कार्य में जुटी स्वैच्छिक संस्थाओं का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत होना चाहिए। गरीबी-उन्मूलन कार्य में उनका योगदान साधनों को जुटाने के बजाय गरीबी की रेखा के नीचे के परिवारों को शिक्षित करना, उन्हें उपलब्ध सेवाओं के बारे में जानकारी देना, सामाजिक चेतना पैदा करना, उन्हें संगठित करना तथा सरकारी कार्यक्रम को क्रिया-

न्वित करने तथा सरकारी तन्त्र पर तीखी नजर रखने में लोगों की सहायता करना है।

इतने बड़े देश में आर्थिक विकास तथा रोजगार प्रदान करने में स्वैच्छिक संस्थायें सीमित योगदान दे सकती हैं; स्वैच्छिक संगठनों का मुख्य उदेश्य सामाजिक संक्रिया होनी चाहिए। इसके लिये सरकारी और गैरसरकारी संगठनों में आपसी तालमेल होना आवश्यक है और सरकारी संगठनों को स्वैच्छिक संस्थाओं के काम में सहायक (न कि दखलन्दाजी वाली और शक की नजर से देखी जाने वाली) होना चाहिये।

स्वैच्छिक संगठनों की अपनी कमजोरियाँ और समस्याएँ हैं। कुछ संस्थाएँ कभी-कभी काम करती हैं और फिर लुप्त हो जाती हैं। कुछ राजनीति से प्रेरित होती हैं और कुछ ऐसी संस्थायें हैं जो सरकारी संगठन के साथ सम्बद्ध अथवा तालमेल रखने में शरमाती हैं। कई संस्थाओं ने सरकारी कार्य-पद्धति अपना रखी है। कारणवश इन संगठनों में लचीलापन लाने में बाधा होने के कारण जनता को अपने विकास के लिए संगठित करने में स्वैच्छिक संस्थायें असमर्थ रहती हैं।

किसका सहयोग

जन-सहयोग की प्रक्रिया में जो बात उभर कर सामने आई उससे यह पता चला कि जितने भी निर्माण के कार्य किये गये उनमें निर्धन और पिछड़े लोगों को ही लगाया गया जिससे उनके रोजगार पर बुरा असर पड़ा। इसके विपरीत गाँव के बड़े लोगों ने फावड़ा तक नहीं उठाया। इसका कारण था ग्रामीण सामाजिक मूल्य। इसलिए इस योगदान को सामुदायिक कार्य या संगठन की संज्ञा तो नहीं दी जा सकती, बल्कि इसको तो जन-सहयोग के नाम पर शोषण ही माना जायेगा। गाँव में चल रहे कार्यक्रमों में जन-सहयोग न मिलने का एक कारण गरीबी कही जाती है। यह भी एक भ्रम है। प्रत्येक व्यक्ति और परिवार अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही सहयोग दे सकता है। जन-सहयोग का रूप केवल वित्तीय ही नहीं होता। पोषाहार कार्यक्रम के लाभार्थी बच्चे की माता एक प्याज या दो-तीन हरी मिर्च भी अपने बच्चे के लिए दे तो, यह बड़ा योगदान होगा। यदि कोई गरीब परिवार का सदस्य अपनी आधी या पूरी दिहाड़ी विकास के कार्य में लगाये तो यह उतना ही अमूल्य योगदान है जितना किसी धनी का वित्तीय योगदान। सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक सरकारी योजना थी किन्तु इसमें जनता का सहयोग लेने के लिए प्रखण्ड स्तरीय सलाहकार समिति का गठन किया गया, जिसमें जनता के कुछ नेता सदस्य

थे। बाद में इस समिति को प्रखण्ड विकास समिति में बदल दिया गया और जनता के प्रतिनिधि प्रखण्ड विकास कार्यक्रमों में अपना योगदान देने लगे। इसके बाद जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को कार्यक्रम की देखरेख का काम सुपुर्द किया गया। इस प्रकार जन-सहयोग के कई उपाय, विधियाँ, आकार प्रकार और संस्थान कार्यक्रम के अन्तर्गत् सामने आये। महिलाओं और युवकों के संगठन, सहकारी समितियाँ, पंचायत तथा स्वैच्छिक संस्थायें जन-सहयोग को एक दिशा और आकार प्रदान करते हैं और लोगों की अपनी सहायता स्वयं करने की भावना को सफलता की ओर बढ़ाने में सहायक होते हैं।

औद्योगिक तथा वाणिज्यिक संस्थानों का योगदान

भारत में ग्राम विकास के कार्यक्रमों में कुछ उद्योग तथा वाणिज्य संस्थाओं ने रुचि दिखाई। इसका मुख्य कारण था कि उद्योगों के लिये कच्चा माल और जनशक्ति ग्रामीण क्षेत्रों से आती है और भविष्य में ग्रामीण क्षेत्रों में ही इन उद्योगों के बनाये माल अथवा सेवाओं की खपत होगी। इसीलिये इन संस्थाओं का गाँव के कल्याण में रूचि रखना, उनके अपने ही हित में है। चूंकि कुछ उद्योग जैसे टाटा स्टील, एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी, मफतलाल मिल्स, भारतीय तम्बाकू कम्पनी, ऊषा मशीन कम्पनी, एस्कार्ट्स, ग्लैक्सो, हिन्दुस्तान लीवर आदि ने गाँव में समाज कल्याण और विकास से सम्बन्धित परियोजनायें चलायीं। जब लेखक ग्रामीण विकास मंत्रालय में जनसहयोग का निदेशक था तो उसने इन अनुभवों पर सामग्री एकत्रित की और सरकार को एक योजना बनाने में सहायता की। इसके लिए सम्बद्ध उद्योगपतियों और वाणिज्य संस्थानों के नेताओंसे उच्च स्तर पर चर्चा के पश्चात् यह तय हुआ कि औद्योगिक तथा वाणिज्य संस्थानों को शहरी सीमा के 50 किलोमीटर के दायरे के बाहर मान्यता प्राप्त ग्रामीण कल्याण और विकास परियोजना पर किये गये व्यय पर आयकर में शत्-प्रतिशत छूट होगी। इस प्रकार पहले ही वर्ष में लगभग 17 करोड़ रुपये की धनराशि इन औद्योगिक तथा वाणिज्य घरानों ने ग्राम विकास के भिन्न कार्यक्रमों में लगाई। कुछ उद्योगों ने तो स्वयं ऐसी परियोजनायें चलाने के बजाय सामाजिक, स्वैच्छिक संगठन खड़े कर उनको वित्तीय और आर्थिक सहायता दी, जिसके लिये उनको आयकर में भी छूट मिली।

दो-तीन वर्ष की प्रगति से ऐसा प्रतीत होता था कि इन औद्योगिक तथा वाणिज्य घरानों की प्राविधिक तथा आर्थिक सहायता से गाँव के विकास की लहर चल पड़ी क्योंकि कुछ क्षेत्रों में ग्रामीण विकास में अच्छी प्रगति हुई और आशा व्यक्त की गई कि विकास की गति से अच्छे परिणाम निकले होंगे।

किन्तु सरकार के बदलने पर, नई सरकार ने यह कहते हुए कि आयकर को बचाकर इसका दुरुपयोग हो रहा है, इसलिये ग्रामीण विकास कोष बनाया जाय जिसका प्रबन्ध प्रधान मन्त्री के अधीन हो और औद्योगिक तथा वाणिज्य संस्थान इस कोष में धन जमाकर आयकर में छूट ले सकते हैं। इस धन का प्रयोग अर्द्ध-सरकारी संस्था 'कापार्ट' को देने का प्रस्ताव भी था किन्तु 4 करोड़ रुपये इकट्ठा करने के बावजूद, ऐसा लगता है कि संशोधित योजना सफल नहीं हुई। आशा है सरकार इस पर पुनर्विचार कर कोई कारगर योजना बनायेगी ताकि औद्योगिक और वाणिज्य संस्थान भी ग्रामीण विकास में सफलतापूर्वक प्रत्यक्ष योगदान दे सकें।

समाज शिक्षा

आज से 40 वर्ष पूर्व जब ग्राम विकास कार्यक्रम पारियोजित किया जा रहा था तो गाँवों में शिक्षा के अभाव और रूढ़िवादी स्थिति को ध्यान में रखा गया। यह मानकर कि विकास कार्यों की प्रगति में ऐसी स्थिति बाधक सिद्ध होकर विकास के कार्य को पीछे कर देगी, कार्यक्रम के आरम्भ में ही गाँव में शिक्षा, जागृति तथा चेतना उत्पन्न करने के लिये उपाय किये गये। ग्राम स्तर पर ग्राम सेवक तथा ग्राम सेविकाओं के अलावा समाज शिक्षा आयोजक की नियुक्ति की गई। प्रत्येक विकास प्रखण्ड में एक पुरुष और एक महिला कार्यकर्ता की नियुक्ति की गई। इसका काम प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा के कार्यक्रमों को चलाना था। दूसरे शब्दों में कृषि तथा सम्बद्ध कार्यकलापों में नयी प्रविधि द्वारा ग्रामीणों के रहन-सहन के स्तर में तबदीली लाने के प्रयास को प्रोत्साहित करने और ग्रामीणों को इसको अपने जीवन में ढालने के प्रयास किये गये। कुछ समय बाद कार्यक्रम के चेतना और जागृति पैदा करने के पहलू को जान-बूझकर नजरअन्दाज किया गया और समाज शिक्षा आयोजक तथा मुख्य सेविका के पदों को समाप्त कर इस पर आवंटित धनराशि को कृषि से सम्बद्ध कार्यों में लगाया गया।

इसके बाद 1978 में राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा परियोजना के अन्तर्गत् ग्रामीण क्षेत्रों में भी प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र स्थापित किये गये, पुरुषों और महिलाओं के लिये अलग-अलग केन्द्र खोले गये। लेकिन यह भी गाँव के विकास को आगे बढ़ाने में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुए।

1986 में फिर प्रौढ़ शिक्षा का राष्ट्रीय अभियान चलाया गया जिसे राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की संज्ञा दी गयी। इस कार्यक्रम का उद्देश्य मानव का विकास, भाषा तथा गणित के साथ-साथ आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों को

अपनी स्थिति को समझने और संगठित विकास में ऐसी भागीदारी था जिससे वे ऐसी कुशलताओं का विकास कर सकें जो उन्हें सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त बना सकें। मोटे तौर पर इस कार्यक्रम का भी मुख्य उद्देश्य सामाजिक तथा आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों में चेतना जागृत करना और अपनी स्थिति को बदलने के लिए उनमें क्रियात्मकता बढ़ाना था।

इस परियोजना का उद्देश्य 15-35 वर्ष आयु वर्ग के छः करोड़ ग्रामीणों को साक्षर बनाना है। सरकारी और गैरसरकारी संस्थाय इस कार्यक्रममें संलग्न हैं। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के साथ भी इसे जोड़ने का प्रबन्ध किया गया है। अब देखना यह है कि ग्राम विकास कार्यक्रमों से जुड़े पिछड़े वर्ग साक्षरता कार्यक्रम का लाभ कहाँ तक उठाकर अपनी गरीबी का उन्मूलन कर सकते हैं और यह कार्यक्रम कहाँ तक चेतना जागृति में सफल होगा और ग्राम विकास के कितने सेवार्थी परिवार इस कार्यक्रम द्वारा लाभान्वित हो सकेंगे।

प्रमुख कार्यक्रम

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 1951 से लेकर 1990 तक 40 वर्षीय अवधि में ग्रामीण विकास के विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम चलाये गये। इनमें प्रमुख कार्यक्रम तथा विकास परियोजनायें निम्नलिखित रही है :—

1. सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952)
2. राष्ट्रीय विस्तार सेवा (1953)
3. खादी एवं ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम (1957)
4. बहुउद्देश्यीय अनुसूचित जनजाति विकास प्रखण्ड कार्यक्रम (1957)
5. गहन जिला कृषि कार्यक्रम (1960)
6. व्यावहारिक आहार कार्यक्रम (1962)
7. उच्च उत्पादकता वाली किस्मों का कार्यक्रम (1966)
8. जनजाति विकास प्रखण्ड (1966)
9. ग्रामीण जनशक्ति और जनसहयोग कार्यक्रम (1969)
10. सूखा पीड़ित क्षेत्र कार्यक्रम (1970)
11. ग्राम रोजगार (क्रेश) योजना (1971)
12. लघु कृषक विकास अभिकरण (1971)
13 पाइलट गहन ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (1972)
14. कमाण्ड एरिया विकास कार्यक्रम (1972)
15. काम के बदले अनाज कार्यक्रम (1977)

16. रेगिस्तान (सूखा) क्षेत्र विकास कार्यक्रम (1977)
17. सम्पूर्ण ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1979)
18. रोजगार हेतु ग्रामीण युवा प्रशिक्षण कार्यक्रम (1979)
19. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1979)
20. राष्ट्रीय रोजगार कार्यक्रम (1980)
21. नया बीस सूत्रीय कार्यक्रम (1980)
22. ग्रामीण क्षेत्रों में महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम (1983)
23. सातवीं योजना में समन्वित ग्रामीण विकास योजना (1985-90)
24. जवाहर रोजगार योजना (1989)
25. नया पंचायतीराज बिल (1989)
26. ग्रामीण विकास पर आश्री परियोजना राशि (1990)

समन्वित ग्रामीण विकास द्वारा निर्धनता उन्मूलन

भारत की तीन चौथाई आबादी गाँव में रहती है। वह देश के लिए खाद्य पदार्थों की आवश्यकताओं को पूरा करने के संघर्ष में लगी रहती है। देश के योजनाबद्ध विकास के बावजूद उनके आर्थिक विकास के लिये कारगर उपायों ने उनके रहन-सहन को अधिक प्रभावित नहीं किया। चौथी पंचवर्षीय योजना में देखा गया कि करीब आधी ग्रामीण आबादी गरीबी की रेखा के नीचे के स्तर का जीवन व्यतीत कर रही थी। इस गरीबी की रेखा का उस समय इशारा उन परिवारों की ओर था जिनकी वार्षिक आय 3500 रुपये से कम थी। उसके बाद में इस रेखा के नीचे आने वाले परिवारों की न्यूनतम आय 4800 रुपये निर्धारित की गयी। अब 6400 रुपये से कम आय वाले परिवार गरीबी की रेखा से नीचे समझे जाते हैं जो कि ग्रामीण आबादी का एक तिहाई भाग है। तीन पंचवर्षीय योजनाओं के मूल्यांकन से पता चला कि गाँव की अधिकांश आबादी (छोटे तथा सीमान्त किसान, खेतिहर भूमिहीन मजदूर और दूसरे ग्रामीण कारीगर) विकास का लाभ तब उठा सकती हैं जब उसकी आय को बढ़ा के उन्हें गरीबी की रेखा के ऊपर लाया जाये। इसके साथ-साथ, अनुसूचित जातियों, जन-जातियों, महिलाओं तथा मुक्त हुए बंधुआ मजदूरों को भी ऐसे कार्यक्रमों के अन्तर्गत् लाया जाये। इसलिये 1977-78 में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम को 16 जिलों में कार्यान्वित किया गया। 1978-79 में यह परियोजना 2300 विकास प्रखण्डों में चलाई गई। 2 अक्टूबर 1980 तक इस कार्यक्रम को 5011 अर्थात् देश के तमाम विकास प्रखण्डों में लागू किया जा चुका था।

उद्देश्य :

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य हैं—गाँवों में चुने हुए निर्धन परिवारों को गरीबी की रेखा के ऊपर उठाने में सहायता करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये निर्धनतम परिवारों को रोजगार प्रदान कर आय बढ़ाने पर विशेष जोर देना है व इसके लिए उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम उपयोग करने का प्रयास करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं :—

(क) छोटे तथा सीमान्त किसान, कृषक श्रमिक, ग्रामीण कारीगर व दस्तकार तथा लघु कुटीर उद्यमी, बंधुआ मजदूर आदि इस कार्यक्रम के लक्ष्य अथवा लाभार्थी हैं।

(ख) जिन पाँच सदस्यों के परिवार की वार्षिक आय 3500 रुपये से कम हो और दूसरी श्रेणी में प्राथमिकता उन परिवारों को दी जाती है जिनकी वार्षिक आय 4800 रुपये से कम है इसके बाद 6400 रुपये आय वाले परिवारों की बारी आती है।

(ग) ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि पर आधारित ऐसे कृषि मूलक उद्योगों की स्थापना करना जिनके द्वारा रोजगार के अवसर उपलब्ध हों।

(घ) विज्ञान व प्रविधि की परिस्थितियों का निर्माण कर पिछड़े वर्गों को लाभान्वित करना।

(ङ) अत्यधिक पिछड़े वर्गों का आर्थिक विकास और उनका विकास में योग-दान लेना।

(च) प्रत्येक क्षेत्र में आय अर्जन की स्थाई परिसम्पत्तियों का निर्माण करना।

पद्धतियाँ :

इस कार्यक्रम को चलाने के लिये निम्नलिखित पद्धतियों का प्रयोग किया गया :—

(क) गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों को अपनी आय बढ़ाने तथा रोजगार में जुटने के लिये वित्तीय सहायता देना। यह सहायता दो प्रकार की थी—बैंक तथा दूसरी वित्तीय संस्थाओं द्वारा ऋण की व्यवस्था तथा ग्राम विकास संस्था द्वारा अनुदान सहायता।

(ख) लाभार्थियों का चयन परिवार-सर्वेक्षण पर आधारित है जिसकी सूची सम्बद्ध पंचायत को दी जाती है।

गतिविधियाँ :

लक्षित समूहों के लिये निम्नलिखित गतिविधियों को प्राथमिक क्षेत्रों में सम्मिलित किया जाता है :—

(क) कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्र जैसे लघु सिंचाई, सामूहिक सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, भूमि सुधार व संरक्षण, कृषि यंत्र, दुग्ध विकास, पशुपालन, बागवानी आदि।

(ख) ग्रामीण उद्योग—खादी, गुड़, खाँड़सारी तथा चमड़ा कार्य, तेल घानी, मिट्टी बर्तन, लोहार-कार्य, लकड़ी का काम, रस्सी बुनना आदि।

(ग) सेवाकार्य व विपणन—ग्रामीण खुदरा दूकानें, चाय स्टाल, सिलाई, कढ़ाई-बुनाई, नाई की दूकान, साइकिल, रेडियो, घड़ी मरम्मत आदि।

अनुदान :

गरीबी से राहत प्रदान करने के लिये लघु कृषकों को निवेश का 25 प्रतिशत, सीमान्त कृषकों, ग्रामीण दस्तकारों को 33.33 प्रतिशत तथा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को 50 प्रतिशत आर्थिक अनुदान दिया जाता है। सामान्यतः अनुदान 3000 रुपये दिया जाता है। सूखाग्रस्त क्षेत्रों में 4000 रुपये तक तथा पर्वतीय क्षेत्रों में 5000 रुपये तक अनुदान दिया जा सकता है। कृषि और सम्बद्ध गतिविधियों के लिये प्रतिभूति मुक्त ऋणों की सीमा अब 5000 रुपये से बढ़ाकर 10,000 रुपये कर दी गई है। ग्रामीण उद्योग एवं सेवा व्यवसाय क्षेत्र के मामले में यह सीमा 25,000 रुपये तक कर दी गई है। उसके साथ-साथ बैंकों की कार्यपद्धति में सुधार लाकर महीने में दो दिन के बजाय चार दिन कर्जों का भुगतान होता है।

प्रशासनिक ढाँचा :

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत् सहायता के लिये परिवारों का चयन करने में ग्राम सेवक आरम्भिक सर्वेक्षण करता है जो कि ऐसे परिवारों से सम्पर्क स्थापित करता है। तत्पश्चात् प्रसार अधिकारी तथा प्रखण्ड विकास अधिकारी द्वारा लाभार्थियों के आवेदनपत्र छान-बीन कर जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को भेजे जाते हैं। जिला विकास अधिकारी इस अभिकरण का प्रधान होता है। अभिकरण में परियोजना का निदेशक और पशुपालन व सम्बन्धित क्षेत्रों के विशेषज्ञ तथा सहायक परियोजना अधिकारी होते हैं। नियोजन दल जिला अभिकरण की सहायता करता है जिसमें एक अर्थशास्त्री, ऋण नियोजन अधिकारी एवं ग्रामीण उद्योग अधिकारी होता है। इसके साथ ही स्वयंसेवी संस्थाओं का सहयोग भी इस कार्यक्रम में लिया जाता है। जिला अभिकरण की सहायता, मार्गदर्शन, परामर्श आदि के लिये एक प्रबन्ध संस्था होती है जिसमें सांसद, विधायक, जिला परिषद् का अध्यक्ष, जिला विकास के प्रमुख अधिकारी, अनुसूचित जातियों और जनजातियों और महिलाओं के प्रतिनिधि होते हैं।

बीमा :

इस कार्यक्रम का एक और पहलू है सामान्य बीमा निगम और उसकी चार कम्पनियों द्वारा परिसम्पत्तियों का रियायती दर पर बीमा करना। इसके लिए दावा सम्बन्धी नियमों को सरल बनाया गया है। भारत सरकार द्वारा लाभार्थियों के लिये सामूहिक बीमा योजना बनाई गई है जिसके अन्तर्गत 18 से 60 वर्ष तक के लाभार्थी सम्मिलित किये गये हैं और बीमाकृत लाभार्थी की मृत्यु होने पर यह राशि दुगुनी कर दी जाती है। ऐसे दावों का निपटारा एक ही पखवारे में करने का प्राविधान है।

सूचना प्रणाली :

विकास के कार्यक्रमों की धीमी गति तथा घूस की प्रथा का मुख्य कारण होता है सूचना प्रणाली का अभाव। चूंकि इस कार्यक्रम में बहुत सी संस्थाएँ जुटी हैं, तालमेल के अभाव से काम की गति धीमी पड़ सकती है, इसलिये जिला स्तर पर कार्यक्रम के विषय में सूचना और ब्यौरे का सुचारु रूप से रख-रखाव करने के लिये संगणकीकृत ग्रामीण विकास सूचना प्रणाली का विकास किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप जन-साधारण और जन-प्रतिनिधियों को अपेक्षित जानकारी अधिक सुविधापूर्ण ढंग से मिल सकेगी।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् तैयार सामान की व्यावसायिक आधार पर बिक्री सुनिश्चित करने के उद्देश्य से 'कापार्ट' में एक कोशिका की स्थापना की गई जो परामर्श और विपणन विशेषज्ञों की सुविधायें उपलब्ध कराता है और तैयार सामान की बिक्री के लिये परामर्श और मार्गदर्शन करता है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के साथ-साथ इसके दो महत्वपूर्ण घटक भी अस्तित्व में आये हैं, ये हैं "ड्वाकरा" जो महिलाओं और आर्थिक विकास की परियोजना है और दूसरा 'ट्राइसेम' जो ग्रामीण युवाओं के स्व-रोजगार हेतु प्रशिक्षण की योजना है। इन दो परियोजनाओं का विवरण महिलाओं तथा युवकों के रोजगार सम्बन्धी योजनाओं में दिया गया है। इसी के साथ ही राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम तथा भूमिहीन ग्रामीण रोजगार गारन्टी कार्यक्रम भी आरम्भ किये गये हैं। ये सभी कार्यक्रम एक दूसरे के पूरक के रूपमें चलाये जा रहे हैं। आशा की जाती है कि इन उपायों से ग्रामीण जनता को अपने लिए रोजगार के अवसर स्वयं अपनी क्षमता द्वारा उपलब्ध होंगे और बजाय शहरों की ओर भागने के उन्हें अपने गाँव में ही रोजगार सुलभ होंगे।

ग्रामीण महिलाओं का आर्थिक विकास

1981 की जनगणना के अनुसार भारत में लगभग 14 प्रतिशत महिलाएँ

कामगारों की श्रेणी में आती थीं, यद्यपि महिलाएँ आबादी का लगभग 50 प्रतिशत हैं और प्रत्येक महिला आर्थिक विकास में योगदान देती है। कृषि उत्पादन, पशुपालन और अन्य सम्बद्ध कार्यकलापों जैसे भण्डारण, बिक्री, खाद्य संशोधन इत्यादि में महिलायें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इसके अतिरिक्त घर के काम विशेषत: पानी और ईंधन एकत्रित करने में प्रत्येक ग्रामीण महिला 10-12 घण्टे व्यतीत करती हैं। 54 प्रतिशत ग्रामीण महिलाएँ अपने पारिवारिक आय की प्रतिपूर्ति के लिए सीमान्त व्यवसायों जैसे बागवानी, मछली पकड़ना और बेचना, सिलाई-बुनाई आदि के काम करती हैं। महिलाओं के इस योगदान के आर्थिक पहलू का अभी तक कोई लेखा-जोखा नहीं किया गया है।

इस पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में महिला विकास कार्यक्रमों का दीर्घकालीन उद्देश्य है उनका आर्थिक और सामाजिक स्तर उठाना, ताकि उन्हें राष्ट्रीय विकास की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके। सातवीं पंचवर्षीय योजना में महिलाओं में आत्मविश्वास और आर्थिक समता पैदा करने और विज्ञान और शिल्प विकास द्वारा कठोर श्रम को कम करने पर बल देने के साथ ही शिक्षा के साथ-साथ, कृषि और सम्बद्ध क्षेत्रों में प्रविधि द्वारा उनके कार्य कौशल को सुधारने पर भी ध्यान दिया गया है। योजना के अनुसार राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना द्वारा महिलाओं के लिए रोजगार उत्पन्न करने के साथ 'ड्वाकरा' तथा 'ट्राइसेम' नाम की योजनाओं तथा जवाहर रोजगार योजना के अन्तर्गत् 30 से 50 प्रतिशत ग्रामीण महिलाओं की आर्थिक स्थिति में सुधार लाना मुमकिन हो जायेगा।

सामाजिक कल्याण :

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के तीन मुख्य कार्यक्रम हैं जिनका लाभ ग्रामीण महिलाओं को पहुँच रहा है। वे हैं : (क) महिला मण्डलों द्वारा चलाई गई कल्याण प्रसार परियोजनायें, (ख) सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम तथा (ग) शिशु केन्द्र। स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान द्वारा महिलाओं को ग्रामीण उद्योगों में प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि वे इन उत्पादन केन्द्रों में काम कर अपने परिवारों की आय को बढ़ा सकें। ये उद्योग हैं खादी, शिल्प सुधार, पशुपालन या दुग्ध उत्पादन आदि।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण महिलाओं को रोजगार के अवसर प्रदान करके के लिये समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम तथा उसके अन्तर्गत रोजगार योजनाओं को प्रभावशाली बनाकर महिलाओं की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने का प्रयास किया जा रहा है। अब महिलायें केवल परिवार के सदस्य के

रूप में ही नहीं, बल्कि अपने निजी अस्तित्व को निखारने के लिये ग्रामीण विकास परियोजनाओं में भाग लेकर उनसे पूरा लाभ उठाती हैं।

समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम की एक लड़ी के रूप में ग्रामीण महिलाओं तथा बच्चों के विकास की योजना 'ड्वाकरा' सरकारी यन्त्र तथा स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा क्रियान्वित की गई है। इस परियोजना के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

1. ग्रामीण महिलाओं को उनके अपने विकास और अधिकारों के लिये समूहों में संगठित करना।
2. ग्रामीण गरीब महिलाओं की आय बढ़ाना।
3. गरीबी रेखा से नीचे की ग्रामीण महिलाओं के उत्पादक क्रियाक्रलापों को उन्नत तथा सुदृढ़ बनाकर या नये क्रियाकलाप शुरू करके उनके लिये रोजगार के अवसर उत्पन्न करना तथा उनमें वृद्धि करना।
4. महिलाओं को उत्पादक कार्यों में लगाने के लिये उनके वास्ते सहायक सेवायें उपलब्ध करना।
5. उन्नत पर्यावरण, देखरेख की व्यवस्था करके तथा बालवाड़ियों को स्थापित करके सेवारत् महिलाओं के बच्चों की देखभाल करना।

कार्य प्रणाली :

इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये निम्नलिखित मार्ग निर्देशों को ध्यान में रखा जाता है :

(क) निर्धन ग्रामीण महिलाओं के शक्तिशाली समूहों के निर्माण में सहायता—यह पहला महत्त्वपूर्ण कदम है।

(ख) उपयुक्त आर्थिक कार्यकलापों की पहचान करने के लिये निर्धन ग्रामीण महिलाओं की दैनिक उत्पादक नित्यचर्या से ही काम की शुरुआत।

(ग) निर्धन ग्रामीण महिलाओं को सामान्यतः पशुपालन, खेती, ईंधन और चारा एकत्र करना, खेत में कार्य, फसलों की सिंचाई आदि के लिये एक से अधिक आर्थिक कार्यकलाप आयोजित और विकसित करना।

(घ) आय प्राप्त करने के सामूहिक आधार पर संचालित समूह की प्रत्येक महिला या तो एक ही कार्य करे या कार्यकलाप ऐसा हो कि सारी महिलाओं को वह कार्य करना पड़े।

(ङ) आर्थिक कार्यक्रमों के आयोजन तथा कार्यान्वयन की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिये कि समूह की महिलायें पूरे कार्यक्रम का प्रबन्ध धीरे-धीरे अपने हाथ में ले लें।

(च) क्रियाकलापों में महिलाओं के वर्तमान व्यवसायों में कौशल, डिजाइन तथा प्रौद्योगिकी का विकास करना, ऋण, कच्चे माल और बिक्री के बिचौलियों पर निर्भरता कम करने, महिलाओं को प्रशिक्षण तथा वर्तमान कार्यकलापों में समय बचाने की व्यवस्थायें हैं।

(छ) आर्थिक कार्यकलापों का चयन स्वयं निर्धन ग्रामीण महिलायें करती हैं।

ग्रामीण महिलाओं को प्रशिक्षण :

इस परियोजना के अन्तर्गत् महिलाओं का प्रशिक्षण होना चाहिए जिसके फलस्वरूप उन्हें निम्नलिखित सामर्थ्य प्राप्त हो :—

(क) अपनी गरीबी का कारण समझने;

(ख) एक समूह के रूप में एकजुट होने की आवश्यकता को समझने;

(ग) अतिरिक्त प्राविधिक कौशल सीखने, वर्तमान कौशलों को विकसित करने अथवा नये कौशल जिनके द्वारा अधिक आय उपलब्ध हो, की आवश्यकता को समझते;

(घ) अपने कार्यक्रमों और क्रियाकलापों का प्रबन्ध धीरे-धीरे अपने हाथ में लेने की क्षमता प्राप्त करने की आवश्यकता को समझते तथा।

(ङ) सामूहिक आधार पर सौदेबाजी करने की क्षमता प्राप्त करने की आवश्यकता का ज्ञान।

प्रखण्ड स्तर पर इस कार्यक्रम की देख-रेख मुख्य सेविका की सहायता से प्रखण्ड विकास अधिकारी करता है। गाँव स्तर पर ग्राम सेविका महिला मण्डलों का मार्गदर्शन करती है। इस कार्यक्रम का दो तरफा स्थान तथा लाभ है। एक ओर यह समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के साथ ग्रामीणों को जोड़कर आर्थिक विकास में उनको सहायता देता है व दूसरी ओर बच्चों की विकास परियोजनाओं के साथ तालमेल रख मानव विकास में सहायक होता है। इस कार्यक्रम को केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के बालवाड़ियों, सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों, एकीकृत बाल विकास कार्यक्रमों तथा प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रमों के साथ समन्वित करने से आर्थिक तथा मानव विकास में यह और अधिक उपयोगी होगा।

युवकों को रोजगार

महिलाओं के अतिरिक्त ग्रामीण युवा वर्ग हेतु गरीबी उन्मूलन नीति के अन्तर्गत् एक नया कार्यक्रम 'ट्राइसेम' (1979) प्रारम्भ किया गया। सामु-

दायिक कार्यक्रम के अन्तर्गत् युवक मण्डलों को स्थापित करने और उन्हें प्रभावशाली बनाने के प्रयास किये गये। पौष्टिक आहार कार्यक्रम, प्रौढ़ शिक्षा, परिवार कल्याण और खेलकूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में युवा केन्द्रों ने योगदान दिया। लेकिन गाँव में रोजगार न मिलने के कारण ग्रामीण युवा शहरों की ओर भागने लगे जिससे शहरी सन्तुलन में बाधा पड़ने लगी। इसलिये "ट्राइसेम" कार्यक्रम द्वारा ग्रामीण युवक-युवतियों को प्रशिक्षण देकर गाँव में ही अपना काम-धन्धा चलाने में समर्थ बनाने का प्रयत्न किया गया।

उद्देश्य :

ग्रामीण युवाओं को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण की योजना का मुख्य उद्देश्य है—गरीबी की रेखा के नीचे जीवन बसर कर रहे ग्रामीण परिवारों के 18-35 वर्ष तक के युवाओं को कुछ चुने हुए व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जाय जिससे वे कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों, उद्योगों और सेवाओं में अपना कोई काम-धन्धा शुरू कर सकें। इस प्रशिक्षण के पश्चात् युवा समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत् लाभ प्राप्त करने का हकदार हो जाता है, अर्थात् कम व्याज पर ऋण, आर्थिक सहायता तथा कच्चा माल व बिक्री आदि की सुविधा उन्हें मिल सकती है।

प्रशिक्षण :

युवाओं को व्यवसायों में प्रशिक्षण स्थानीय अनुभवी कारीगरों या शिल्पियों द्वारा अथवा बहुशिल्प संस्थानों और औद्योगिक संस्थानों आदि में दिलाया जाता है। प्रशिक्षण की अवधि में गाँव में रहने वाले युवकों को 25 रुपये का मासिक वजीफा मिलता है। गाँव से बाहर प्रशिक्षण पाने वाले युवकों के लिये मुफ्त आवास सुविधा के साथ 150 रुपये और 200 रुपये मासिक दिया जाता है। प्रशिक्षण पूरा होने पर 500 रुपये का एक 'टूलकिट' भी दिया जाता है। प्रत्येक प्रशिक्षक को प्रति प्रशिक्षार्थी 50 रुपये प्रतिमाह और कच्चे माल के लिये 25-200 रुपये तक प्रति पाठ्यक्रम प्रतिमाह मिलते हैं और प्रशिक्षण पूरा होने पर प्रति प्रशिक्षणार्थी को 50 रुपये पुरस्कार भी दिया जाता है। प्रशिक्षण और उसके पश्चात् का पूरा व्यय समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के बजट से पूरा किया जाता है। प्रत्येक विकास प्रखण्ड से 40 ग्रामीण युवाओं का चयन होता है जिनमें 20 प्रतिशत युवतियाँ होती हैं। इस प्रकार 5000 प्रखण्डों में प्रतिवर्ष दो लाख युवा प्रशिक्षण की योजना है।

सातवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक लगभग साढ़े सात लाख युवाओं को

प्रशिक्षण दिया गया जिस पर वार्षिक व्यय 6 करोड़ रुपये हुए। उनमें से 5 लाख युवाओं को रोजगार के अवसर मिले। इनमें साढ़े तीन लाख युवा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के और कुल में पौने चार लाख युवतियाँ थीं।

समीक्षा :

'ट्राइसेम' कार्यक्रम के कार्यान्वियन में कुछ कमियाँ और त्रुटियाँ सामने आई हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं :—

1. युवाओं का चयन कार्यक्रम में दिये निर्देशों के अनुसार नहीं होता, फलस्वरूप सम्पन्न परिवारों के युवा इसका लाभ उठाते हैं और कमजोर वर्गों के युवा पीछे रह जाते हैं जो आमतौर पर प्रशिक्षित नहीं होते। इसलिए गरीबी की रेखा से ऊपर उठने वाले लाभार्थी कम होने के कारण कार्यक्रम के लक्ष्य को पूरा करने में भी कठिनाई आती है।
2. उपयुक्त व्यवसायों का चयन करने में भी दिक्कतें हैं। आमतौर पर युवा कृषि सम्बन्धित व्यवसाय ढूँढ़ते हैं या ऐसे व्यवसाय जिसके लिए उपयुक्त कच्चा माल, औजार, प्रशिक्षण संस्थान, कारीगर और बिक्री की सुविधायें नहीं होतीं जिससे कार्यक्रम की सफलता में बाधायें आती हैं। उत्पादन आधारित प्रविधि व कार्यक्रम से सम्बन्धित जानकारी एकत्रित करने और उसका प्रसार करने की आवश्यकता है।
3. पाठ्यक्रम, प्रशिक्षण पद्धतियों, दैनिक घण्टों, कच्चा माल, बिक्री, आर्थिक सहायता आदि जैसे पहलुओं की समय-समय पर समीक्षा करने की आवश्यकता है।
4. कार्यक्रम में युवतियों का अनुपात कई कारणवश अपेक्षाकृत कम है। महिलाओं को रोजगार देने की विशेष सुविधाओं को सामने रखते हुए उनके लिए विशेष उपाय करने चाहिए। इसलिए कार्यक्रम में कुछ लचीलापन लाने की भी आवश्यकता है।
5. कार्यक्रम के प्रचार के लिये मेले तथा प्रदर्शनियों का आयोजन करने और विशेष बाजार लगाने की भी आवश्यकता है।
6. कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने और इसके विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराने के लिये पंचायतों, सहकारी समितियों, युवक तथा महिला मण्डलों तथा स्वैच्छिक संस्थाओं का अधिक से अधिक सहयोग लेना चाहिए।
7. चूँकि इस कार्यक्रम में बहुत-सी संस्थाएँ जुटी हैं, इनमें ताल-मेल कमजोर होने के कारण कई समस्याएँ सामने आती हैं। इसलिये विकास प्रखण्ड

अधिकारी, जिला विकास अभिकरण, जिला उद्योग केन्द्र, वित्तीय, प्रशिक्षण और जनता की संस्थाओं में समन्वय की आवश्यकता है।

8. अभी भी बिचौलिये व व्यापारी ग्रामीण कारीगरों का शोषण करते हैं। इसकी रोकथाम के उपाय करने की भी जरूरत है।
9. प्रशिक्षण द्वारा सीखी पद्धतियाँ और प्रविधियाँ और वृत्तिकों द्वारा इनके प्रयोग में काफी खाई है। इसके लिये व्यावहारिक अनुभव की आवश्यकता है ताकि व्यवसाय से नियमित आय के स्रोत में बाधा न पड़े।
10. व्यवसाय की सफलता का दारोमदार उद्यमियों में प्रबन्धकीय कौशल तथा क्षमता के विकास पर आधारित है। इसके लिये न केवल विशेष प्रशिक्षण अपितु व्यावसायिक अनुभव की भी आवश्यकता है।
11. माल का बिक्री मूल्य निर्धारित करना, गुणवत्ता नियंत्रण व सुधार, अच्छी पैकिंग और ब्राण्ड नामों जैसे मुद्दों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।
12. गाँवों में रोजगार दिलाने के लिये बड़े उद्योगों को कम दर पर भूमि, पानी, बिजली, कर आदि की सुविधायें देकर प्रोत्साहित करना चाहिये। युवा वर्ग को इन उद्योगों की सहायक छोटी इकाइयों को चलाने में सहायता दी जानी चाहिए।

निष्कर्ष :

ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार और आयवर्धन की परियोजनायें चलाना इतना सरल नहीं है क्योंकि इनके प्रयास पहली बार किये गये हैं। इनमें बहुत सी कठिनाइयाँ आ रही हैं। ऐसे कार्यक्रम में ऐसे कर्मचारियों का चयन बहुत सावधानी से करना होगा जिनमें निष्ठा और ईमानदारी हो। दोषी और भ्रष्ट लोगों को दण्ड देना होगा। कार्यक्रम ने अभी छोटी सी भूमिका अदा की है। ग्रामीण युवाओं को आर्थिक तौर पर आत्म-निर्भर बनाने के लिए काफी कठोर प्रयास करने होंगे। उनको और सुविधायें प्रदान करनी होंगी और कार्यक्रम में लचीलापन लाना होगा ताकि काम के साधन जुटाने में कम-से-कम समय लगे। आशा है कि इस कार्यक्रम को प्रभावशाली ढंग से चलाने के फलस्वरूप शहरी क्षेत्रों की ओर भागने की युवा वर्ग की प्रवृत्ति में कमी होगी और ग्रामीण-नगरी सन्तुलन बना रहेगा।

ग्रामीण रोजगार

आजादी के बाद कृषि तथा उससे सम्बद्ध विकास कार्यक्रमों के बावजूद अधिकांश ग्रामवासियों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति पर कोई सन्तोष-

जनक असर नहीं पड़ा। दस साल तक क्रियान्वित सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की समीक्षा से पता चला कि ग्रामीण समस्याओं का मुख्य कारण गरीबी है जिसका मुख्य कारण रही है बड़े किसानों को लाभ पहुँचाने की प्रक्रिया। ग्राम विकास कार्यक्रमों के साथ-साथ गरोबी उन्मूलन जनशक्ति का कार्यक्रम चला जिसको 1969 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का एक भाग बनाया गया। 1972 में ग्रामीण रोजगार योजना चलाई गई जिसके अन्तर्गत् प्रत्येक विकास प्रखण्ड में चुने हुए परिवारों के एक सदस्य को सौ रुपये मासिक की राशि के बदले काम दिया गया। तत्पश्चात् इसे काम के बदले अनाज कार्यक्रम के साथ जोड़ा गया। रोजगार की सभी योजनाओं को एक ही कार्यक्रम के अन्तर्गत् लाकर इसे राष्ट्रीय रोजगार कार्यक्रम का नाम 1980 में दिया गया। तब से गरीबी उन्मूलन को ग्रामीण आर्थिक नीति का मुख्य पहलू मानते हुए, इस कार्यक्रम का उद्देश्य कृषि विकास, पशुपालन, ग्रामीण उद्योग-धन्धों आदि द्वारा गरीबी की रेखा के नीचे के परिवारों को रोजगार के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करना है। चौथी पंचवर्षीय योजना से लेकर अब तक ग्रामीण रोजगार की निम्नलिखित परियोजनायें क्रियान्वित की गयीं :—

(क) ग्रामीण रोजगार की योजना
(ख) काम के बदले अनाज
(ग) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार सेवा
(घ) महिला तथा बच्चों के विकास की योजना
(ङ) ग्रामीण युवकों को स्व-रोजगार की परियोजना
(च) भूमिहीन मजदूर रोजगार गारण्टी योजना
(छ) जवाहर रोजगार योजना
(ज) सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम
(झ) शिक्षित युवकों के लिये रोजगार

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम

1977 में आरम्भ किये गये काम के बदले अनाज कार्यक्रम का नाम बदलकर 1980 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम रख दिया गणा जिसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार, अल्परोजगार लोगों को कार्यक्रम द्वारा रोजगार मुहैया कराना, ग्रामीण आर्थिक एवं सामाजिक आधार के लिये सामुदायिक सम्पत्ति का उत्पादन करना एवं ग्रामीण क्षेत्रों के जीवन स्तर में सुधार करना है। छठीं पंचवर्षीय योजना में 1834 करोड़ रुपये इस कार्यक्रम पर खर्च किये गये। सातवीं योजना में लगभग पाँच हजार करोड़ रुपये खर्च किये गये जिसके फलस्वरूप 193 करोड़ दिन के लिये रोजगार उपलब्ध कराया

गया। इस कार्यक्रम पर व्यय किये गये कुल धन और उसके फलस्वरूप रोजगार सृजन का ब्योरा नीचे तालिका में दिया गया है। योजना में व्यय किये गये धन में खाद्यान्न का मूल्य भी सम्मिलित किया गया :—

सातवीं पंचवर्षीय योजना की प्रगति[1]

वर्ष	कुल व्यय (लाख रुपये में)	रोजगार सृजन (लाख श्रम दिन)
1985–86	53253	3164
1986–87	60807	3954
1987–88	89871	3708
1988–89	90291	3950
1989–90	21000	4566

भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम

सबसे पहले महाराष्ट्र में रोजगार गारण्टी परियोजना चलाई गई। इसके बाद इस कार्यक्रम की सफलता को देखते हुए कुछ और राज्यों में ऐसे ही प्रयास किये गये। इस कार्यक्रम को फिर राष्ट्रीय स्तर पर 1983 से चलाया गया ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीनों की निर्धनता को दूर किया जाये। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् टिकाऊ परिसम्पत्तियों के निर्माण पर बल दिया जाता है। इस योजना का व्यय आधा-आधा केन्द्र और राज्यों में बाँटा जाता है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के तहत 5250 करोड़ रुपये की धनराशि का आबंटन किया गया। इस धनराशि में काम के बदले दिये गये खाद्यान्नों का मूल्य भी सम्मिलित है। योजना के दौरान व्यय तथा रोजगार सृजन का ब्यौरा नीचे तालिका में दिया है :—

सातवीं पंचवर्षीय योजना में प्रगति[2]

वर्ष	कुल व्यय (लाख रुपये में)	रोजगार सृजन (लाख श्रम दिवस)
1985–86	69451	2477
1986–87	86858	3061
1987–88	85924	3041
1988–89	93933	2966
1989–90	210000	4566

1. वार्षिक रिपोर्ट 1989–90 ग्रामीण विकास विभाग, भारत सरकार।
2. वार्षिक रिपोर्ट 1989-90 ग्रामीण विकास विभाग, भारत सरकार।

जवाहर रोजगार योजना

ग्रामीण रोजगार के इतिहास में यह सबसे आधुनिक योजना है। जवाहर-रोजगार योजना जो कि ग्रामीण बेरोजगारी का उन्मूलन करने का प्रयास करेगी, ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों को प्रभावशाली बनाने के लिए राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार व ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम को मिलाकर एकीकृत ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम को भारत के प्रधानमन्त्री ने संसद् में अप्रैल, 1989 में घोषित किया। आधुनिक भारत के निर्माता श्री जवाहरलाल नेहरू के नाम पर उनकी शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य पर इस योजना का नामकरण जवाहर रोजगार योजना किया गया। इस योजना का आरम्भ केन्द्रीय सहायता के रूप में 2100 करोड़ रुपए की धनराशि द्वारा किया गया। यह योजना जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों की देख-रेख में पंचायतों द्वारा चलाई जाती है। इसका लक्ष्य प्रत्येक पंचायत तक पहुँचना है। योजना के अन्तर्गत् अनुसूचित जातियों और जनजातियों, कृषि-मजदूरों और भौगोलिक रूप से विशिष्ट क्षेत्रों जैसे पहाड़ी, मरुस्थली तथा द्वीप समूह की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रत्येक गाँव के निर्धन ग्रामीण परिवार के कम से कम एक सदस्य को सौ दिनों के लिये उसके घर के पास रोजगार की व्यवस्था की जाती है। इस योजना द्वारा उत्पन्न रोजगार का 30 प्रतिशत भाग महिलाओं के लिए आरक्षित किया जाता है। रोजगार में अनुसूचित तथा जनजातियों को प्राथमिकता दी गयी है। योजना की जानकारी लोगों को पहुँचाकर उन्हें इससे पूरा लाभ उठाने का मौका दिया जाता है। योजना की घोषणा करते समय आशा की गयी थी कि इससे कल्याणकारी राज्य तथा लोकतन्त्र की नींव पक्की होगी।

दिसम्बर 1989 तक (1989-90 वर्ष के दौरान) कुल 45 करोड़ 66 लाख 20 हजार कार्य दिवसों का सृजन किया गया। अनुसूचित जातियों को 38 प्रतिशत, जनजातियों को 15 प्रतिशत, भूमिहीनों को 24 प्रतिशत तथा महिलाओं को 23 प्रतिशत रोजगार लाभ प्राप्त हुए।

कार्यक्रम की प्रगति

छठीं पंचवर्षीय योजना में इस कार्य में विशेष प्रगति हुई। योजना अवधि में 166 लाख परिवारों को सहायता मिली जबकि लक्ष्य 160 लाख परिवारों का था। इस सहायता पर 3000 करोड़ रुपये ऋण वितरण के लक्ष्य की जगह 3102 करोड़ रुपये व्यय हुए। अनुसूचित तथा जनजातियों का लक्ष्य जो एक तिहाई था वास्तव में 39 प्रतिशत रहा।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के लिए 7187 करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया था। योजना में यह लक्ष्य पूरा हो गया और इसमें 7500 करोड़ रुपये व्यय किए गये। मार्च 1990 तक व्यय होने वाली धनराशि में बैंकों का योगदान 4634 करोड़ रुपए था और लगभग 2876 करोड़ रुपए अनुदान के रूप में दिए गए थे। सातवीं योजना में इस कार्यक्रम की प्रगति का व्यौरा नीचे दी गई तालिका में दर्शाया गया है :—

सहायता परिवार

वर्ष	लक्ष्य (लाख)	उपलब्धियाँ (लाख)	अनु० जाति	महिलाएँ	खर्च राशि (करोड़ रु०)	ऋण (करोड़ रु०)	पूँजी निवेश (करोड़ रु०)
1985-86	24.70	30.61	43.22	9.89	441.10	730.16	1171.26
1986-87	35.00	37.47	44.83	15.13	613.38	1014.88	1628.26
1987-88	39.64	42.47	44.71	19.53	727.44	1175.35	1902.79
1988-89	31.94	23.62	45.42	22.47	490.79	762.43	1253.22
1989-90	30.00	27.00	12.00	06.00	606.00	952.00	1558.00
1985-90	161.28	161.17	190.18	73.02	2878.71	4634.82	7513.53

इस प्रकार कार्यक्रम के आरम्भ से सातवीं योजना के अन्त तक बड़ी संख्या में परिवारों को गरीबी की रेखा से ऊपर लाया गया जिसके फलस्वरूप जहाँ 50 प्रतिशत से अधिक ग्रामीण जनता गरीबी की शिकार थी, अब वह 30 प्रतिशत से भी कम रह गई है। 1994-95 तक गरीबी के अनुपात को कम कर 11 प्रतिशत तक लाने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए लगभग दो करोड़ परिवारों को सहायता पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया है।

रोजगार का अधिकार

रोजगार की कमी के कारण बंधुआ मजदूरी की प्रथा ग्रामीण क्षेत्रों में आदिकाल से चल रही है। आज गाँव में भूमिहीन लोगों को रोजगार साल में 180 दिन तक ही मिलता है। ग्रामीण निर्धनता के उन्मूलन के सन्दर्भ में रोजगार मुहैया कराने के लिये बहुतसी योजनायें क्रियान्वित की गयीं लेकिन ग्रामीण गरीबी दूर नहीं हुई। इसलिये यदि, निर्धन, कमजोर और पिछड़े हुए लोगों का जीवन स्तर ऊँचा करना है तो उनको रोजगार की गारंटी देनी होगी। इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का विचार भारतीय संविधान में संशोधन करने का था ताकि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार का संवैधानिक हक दिलाया जा सके। ऐसा समझा जा रहा है कि जब तक ऐसा प्राविधान नहीं किया जायेगा, गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता।

भारतीय संविधान में जीविका और वेतन के सन्दर्भ में पुरुष और स्त्री में बराबरी और सामुदायिक भौतिक सम्पदा का सामूहिक हित में तथा उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिये प्रयोग का प्राविधान किया गया है। भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम के क्रियान्वयन का अनुभव काम का मौलिक अधिकार दिलाने में सहायक सिद्ध होगा। एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम, जिसमें सभी रोजगार परियोजनाएँ सम्मिलित हैं, के बावजूद कमजोर तथा पिछड़े हुए वर्गों को रोजगार दिलाने में बहुत कामयाबी नहीं मिली। इसलिये आशा की जाती है कि काम का अधिकार ही इन वर्गों की आर्थिक स्थिति सुधारने में प्रभावशाली सिद्ध हो सकेगा।

भूमि सुधार

भूमि सुधार उपायों को ग्रामीण विकास नीति का अभिन्न अंग माना गया है और इसके अन्तर्गत् निर्धन ग्रामीणों को कृषि क्षेत्र में शोषण से मुक्ति दिलाने पर बल दिया जा रहा है। जोतों की विषम स्थिति के कारण कमजोर वर्गों के सामाजिक और आर्थिक उत्थान के लिये भूमि का पुनर्वितरण एक महत्त्वपूर्ण उपाय बन गया है। ग्रामीण विकास की 1989-90 के वार्षिक प्रतिवेदन के

अनुसार कुछ क्षेत्रों को छोड़कर अन्य जगहों में पट्टेदारी समाप्त कर दी गयी है। पट्टेदारी सुधार उपायों के अन्तर्गत् लगभग 77 लाख पट्टेदारों को करीब 50 लाख हेक्टेयर भूमि का स्वामित्व मिल गया है। जहाँ कहीं पट्टेदारों को स्वामित्व के अधिकार नहीं मिले हैं वहाँ पट्टेदारी सुरक्षित करने की व्यवस्था की गई है। पुनर्वितरण के उपाय के तौर पर कृषि भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई है और इस तरह प्राप्त फालतू भूमि भूमिहीन निर्धन ग्रामीणों को आबंटित की जाती है। 18 लाख हेक्टेयर से अधिक फालतू भूमि 42 लाख लाभार्थियों में आबंटित की जा चुकी है। इनमें आधे लाभार्थी अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के हैं।

लाभार्थियों को आबंटित फालतू भूमि घटिया होने पर प्रति हेक्टेयर 2500 रुपये की दर से वित्तीय सहायता, केन्द्र प्रायोजित एक योजना के अन्तर्गत्, भूमि विकास कार्यों, आवश्यक निवेशों की खरीद तथा तात्कालिक उपयोग–आवश्यकताओं के लिये दी जाती है। इस काम के लिये राज्यों को केन्द्र से हिस्से के रूप में 39 63 करोड़ रुपये स्वीकृत किये गये हैं। इस योजना का लाभ भूदान और सरकारी परती भूमि के अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आबंटियों को भी दिया जा रहा है। राज्यों को सलाह दी गई है कि वे इस योजना को गरीबी दूर करने के कार्यक्रमों से जोड़ें जिससे निर्धन ग्रामीणों को अधिक लाभ मिल सके।

जनजातीय लोगों की जमीन गैरजनजातीय लोगों के हाथों में जाने से रोकने के लिये उन अधिकांश राज्यों में कानूनी प्राविधान कर दिये गये हैं जहाँ जनजातीय आबादी काफी अधिक है। जनजातीय लोगों की जमीन छीनने के मामलों पर अंकुश लगाने के वर्तमान प्रबन्ध अधिक सफल नहीं हुए इसलिए संविधान में संशोधन करने का प्रावधान भी है।

मानव संसाधन विकास

1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की नींव, मानव संसाधन विकास, अर्थात् 'समुदाय द्वारा समुदाय का विकास' की नीति पर रखी गई। इस नीति के फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय के सदस्यों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक विकास के साथ-साथ विकास में उनके सहयोग को मजबूत और परियोजित करने के लिये कदम उठाए गए। इस नीति के अन्तर्गत् निम्नलिखित कार्यक्रम सामुदायिक विकास योजना में लिये गये :—

(क) बालवाड़ियाँ तथा शिशु केन्द्र,

(ख) पोषाहार कार्यक्रम,

(ग) प्रसूति तथा बाल कल्याण,

(घ) प्रौढ़ शिक्षा तथा समाज शिक्षा,
(ङ) महिला सिलाई तथा कढ़ाई केन्द्र,
(च) महिलाओं के लिये आर्थिक परियोजनायें,
(छ) वाचनालय तथा पुस्तकालय,
(ज) परिवार कल्याण,
(झ) औषधालयों की स्थापना,
(ञ) मनोरंजन कार्यक्रम,
(ट) सांस्कृतिक कार्यक्रम,
(ठ) पानी तथा सफाई की व्यवस्था,
(ड) शिक्षा ।

ऊपर दिये गये कार्यक्रम ग्रामीण जनता को सामाजिक विकास की ओर ले जाने के प्रयास थे। शिक्षा (औपचारिक तथा अनौपचारिक) स्वास्थ्य सेवाएँ, पोषाहार, मनोरंजन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम ग्रामीण सामाजिक विकास के लिए जरूरी हैं। सामाजिक विकास कार्यों की देख-रेख के लिए प्रखण्ड स्तर पर एक प्रशिक्षित समाज शिक्षा आयोजक की नियुक्ति की गई। इसके साथ-साथ शिशुओं, युवकों तथा महिलाओं के लिए विशेष कार्यक्रम बनाये गये। ये कार्य थे—बालवाड़ियाँ तथा शिशु केन्द्र तथा महिलाओं के लिए और उनके द्वारा पोषाहार, आर्थिक तथा परिवार कल्याण कार्यक्रम। इन कार्यक्रमों को चलाने के लिए प्रत्येक प्रखण्ड में दो प्रशिक्षित ग्राम सेविकाओं तथा एक मुख्य सेविका को प्रखण्ड दल में शामिल किया गया।

सामाजिक विकास कार्यक्रमों को चलाने के लिए इन कार्यकर्ताओंने सहकारी समितियों, युवक मण्डलों तथा महिला समितियों को संगठित किया।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने पहली पंचवर्षीय योजना में ही बालकों तथा महिलाओं के लिए कार्यक्रमों को गाँवों तक पहुँचाने के लिए समाज कल्याण परियोजनाएँ चलायीं जिनको दूसरी पंचवर्षीय योजना में विकास प्रखण्ड के उक्त कार्यक्रमों के साथ समन्वित किया गया। इन परियोजनाओं के अन्तर्गत् चलाये गये कल्याण केन्द्रों की रूपरेखा कस्तूरबा गांधी स्मृति न्यास द्वारा चलाये गये कार्यक्रम के आधार पर बनाई गई जिसमें बालवाड़ी, आरोग्य केन्द्र, सिलाई-कढ़ाई केन्द्र, समाज शिक्षा आदि का प्रावधान किया गया। इन केन्द्रों को चलाने के लिये प्रत्येक केन्द्र में दस्तकारी शिक्षक, ग्राम सेविका, धाय तथा मुख्य सेविका की नियुक्ति करके उनको प्रशिक्षण भी दिया गया। जब सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को चलाने के लिए पंचायतों का संगठन किया गया तो बाल तथा महिला कल्याण परियोजना को महिला मण्डलों को सौंप दिया

गया। तीसरी पंचवर्षीय योजना से बोर्ड ने परिवार तथा बाल कल्याण परियोजनाओं को क्रियान्वित किया जिनकी रूपरेखा पुरानी परियोजनाओं से कुछ भिन्न थी। इन परियोजनाओं में बाल विकास तथा परिवार (महिला) कल्याण केन्द्र का आयोजन किया गया। इन केन्द्रों द्वारा माताओं को गृह प्रबन्ध, शिशु पालन-पोषण, परिवार नियोजन, सफाई आदि कार्यों के बारे में पन्द्रह दिन का प्रशिक्षण दिया जाता था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में समन्वित बाल विकास परियोजनाओं को क्रियान्वित किया गया जिसके अन्तर्गत् पूर्व पाठशाला बालकों के लिए विकास केन्द्र तथा गर्भवती और दूध पिलाती माताओं के लिए आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था की गयी जिनमें पूर्व पाठशाला सेवाओं, स्वास्थ्य और पोषाहार सेवाओं का आयोजन था। ऐसी परियोजनाएँ लगभग 1500 विकास प्रखण्डों में चल रही हैं और आठवीं पंचवर्षीय योजना में अन्य प्रखण्डों में भी ऐसे कार्यक्रम चलाये जायेंगे।

इन सेवाओं के संचालित होने पर और सामुदायिक विकास को समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम में बदलने के फलस्वरूप सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों को बन्द किया गया। 'यूनीसेफ' द्वारा उपक्रमित व्यावहारिक पोषाहार कार्यक्रम को तीन पंचवर्षीय योजनाओं में चलाने के पश्चात् दूसरे कार्यक्रमों में परिवर्तित करके बाद में बन्द कर दिया गया। इसी तरह महिलाओं तथा पाठशाला पूर्व बालकों के लिए संयुक्त कार्यक्रम को भी राज्यों को सौंप दिया गया। केरल को छोड़कर अन्य राज्यों में छठीं पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम को बन्द कर दिया गया। इसके बाद एक परियोजना और आरम्भ की गई जिसका नाम ग्रामीण महिला तथा बाल विकास था। इस तरह समन्वित ग्राम विकास केवल आर्थिक कार्यक्रम होकर रह गया। सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक के बाद एक बन्द होते गये क्योंकि इनकी महत्ता में अर्थशास्त्रियों का विश्वास नहीं था।

आज समन्वित ग्राम विकास द्वारा भूमि, पशु तथा औद्योगिक विकास पर बल दिया जा रहा है। भूमि के लिए पोषाहार (खाद) जल अथवा सिंचाई तथा स्वास्थ्य (कीटनाशक) सेवाओं का आयोजन किया गया है और पशुओं के स्वास्थ्य पर बल दिया जा रहा है और बालक जो कि एक अमूल्य मानव संसाधन है, उसके लिये पोषाहार, पेयजल तथा स्वास्थ्य को दृष्टिगोचर किया गया है। यह सच है कि आर्थिक पहलू तथा रोजगार बहुत ही आवश्यक हैं किन्तु मानव संसाधन विकास को नज़रअन्दाज करके समन्वित ग्राम विकास असम्भव है। यदि कृषि तथा पशुपालन से सम्पूर्ण विकास सम्भव होता तो पंजाब में हुए

विकास के परिणाम हमारे सामने न आते। ऐसा लंगड़ा विकास हमें कहीं का नहीं रखेगा।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम में विशेष बल समुदाय को विकास की नीति के विषय में शिक्षित करना और उनमें जागृति पैदा करना था ताकि ग्राम विकास ग्राम समुदाय द्वारा ही सम्भव हो। किन्तु इस सन्दर्भ में विकास का असर उन परिवारों पर पड़ा जो शिक्षित थे और जिनके हाथ में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सत्ता थी, क्योंकि इन्होंने ही आगे बढ़कर विकास परियोजनाओं का विशेष लाभ उठाया व फलस्वरूप निर्धन और पिछड़े लोग आगे न बढ़ सके। इसलिये ग्रामविकास के कार्यक्रमों को अनुसूचित तथा जनजातियों तथा दूसरे कमजोर वर्गों के लोगों तक पहुँचाने के लिये विशेष प्रबन्ध किये गये। यद्यपि समन्वित ग्राम विकास की नींव इस नीति पर रखी गई किन्तु मानव संसाधन विकास कार्यक्रमों को इन कमजोर वर्गों तक पहुँचाने के लिये कोई उपाय नहीं हुआ क्योंकि नियोजन नीति यह मानकर चली कि केवल आर्थिक विकास का मतलब है सम्पूर्ण विकास, जो कि एक भ्रम है, गलत धारणा है।

ग्रामीण विकास—कितना विकास

सामुदायिक विकास कार्यक्रम रिसन अथवा विकिरण पद्धति पर आधारित था। दूसरे शब्दों में, विकास आयोजक यह मानकर चले कि कृषि की आधुनिक प्रविधियों के प्रयोग के फलस्वरूप खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाकर आर्थिक रूप से परिवारों का विकास होगा तो वह नीचे के स्तर के परिवारों को भी ऊपर उठायेंगे और उत्तम खेती के आधुनिक तरीकों का प्रसार होगा। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। ऐसा देखा गया कि जमींदार अपनी उपज बढ़ाकर धनी हो गये और खेतिहर मजदूर और छोटे किसान निर्धनता की ओर जाने लगे। इसके साथ-साथ कुछ विशेष क्षेत्रों में विकास की गति बहुत धीमी रही।

इसीलिए आने वाली योजनाओं में नई पद्धतियाँ अपनाकर छोटे किसान, खेतिहर मजदूरों, दूसरे कमजोर वर्गों और विशेष क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का आर्थिक स्तर ऊँचा करने के लिये उन्हें कर्जा तथा अनुदान के रूप में वित्तीय सहायता का प्रावधान किया गया।

लेकिन पिछले 40 वर्षों में ग्रामीण विकास के जो परिणाम हमारे सामने आये हैं उनसे एक बात उभर कर सामने आती है कि कमजोर वर्गों को ऊँचा उठाना इतना सरल नहीं है। स० ग्रा० वि० तथा अन्त्योदय जैसी पद्धतियों को अपनाने के बावजूद विकास का लाभ उन परिवारों ने उठाया जो साक्षर थे, सामाजिक तथा राजनैतिक रूप से जागरूक थे, जिनके पास सामाजिक, आर्थिक

और राजनैतिक सत्ता रही है और जिनके पास कृषि साधन हैं। पिछड़े और निर्धन वर्ग, चेतना, साधनों और मानसिक बल के अभाव के कारण ग्राम विकास योजना का पूरा लाभ उठाने में असमर्थ हैं।

विकास की सरकारी मशीनरी में पढ़े-लिखे लोग अपने आप ऊपरी स्तर के ग्रामीण सम्भ्रान्त लोगों से मेल-जोल रखकर उनसे लाभ उठाते हैं जिससे वे विकास का अधिक से अधिक लाभ उनको ही पहुँचाते हैं। चाहे पंचायतें हों या सहकारी समितियाँ, महिला अथवा युवक मण्डल इन सबके सदस्य ऊपरी स्तर के परिवारों के हैं, जिनका विकास के पूरे तन्त्र पर प्रभुत्व है। स्वैच्छिक, औद्योगिक तथा वाणिज्य संस्थाएँ भी गाँव में ऊँचे वर्गों का योगदान लेने की इच्छुक होती हैं। इसलिये पिछड़ा वर्ग विकास से उपेक्षित रहता है। इसलिये ग्रामीण भारत में जब तक निर्धन वर्गों को संगठित नहीं किया जायेगा (जो कि एक बहुत कठिन काम है), गरीबी की रेखा से नीचे के एक तिहाई परिवारों का विकास प्रश्नचिह्न ही रहेगा।

मूल्यांकन

1965 के बाद समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के कई मूल्यांकन किये गये जिनके पर्याप्त सकारात्मक परिणाम सामने आये। कार्यक्रम के मूल्यांकन तथा अध्ययन से कुछ बातें और कार्यक्रम से सम्बन्धित कमियाँ सामने आयी हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं :—

1. सम्पन्न परिवारों ने सस्ती ब्याज दर पर ऋणों के लाभ को हथिया लिया है। ऐसे बेनामी कर्जों पर कड़ी निगरानी होनी चाहिये। 19 प्रतिशत लाभार्थी ऐसे थे जो कि कार्यक्रम की शर्तों के अनुसार सहायता के हकदार नहीं थे। लाभार्थियों के चयन की पद्धति पर पुनर्विचार की जरूरत है।
2. 22 प्रतिशत मामलों में आय में कोई वृद्धि नहीं हुई है। आय सृजन और परिसम्पत्ति वृद्धि में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का योगदान नहीं के बराबर रहा है। इस त्रुटि को ठीक करने की जरूरत है।
3. बेनामी लाभार्थियों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए इसको रोकने के उपाय सोचने पड़ेंगे।
4. परिवार पर किये जाने वाली निवेश राशि समन्वित ग्रामीण विकास के अन्तर्गत् पर्याप्त नहीं है। इसे बढ़ाने की आवश्यकता है।
5. कार्यक्रम को मार्गदर्शिका पर प्रत्येक क्षेत्र की विशेष समस्याओं को सामने रखकर पुनर्विचार किया जाये।
6. लाभार्थियों की जानकारी के लिये और उनको जागरूक करने के लिये प्रशिक्षण की जरूरत है।

7. रोजगार की समस्याओं का एक कारण भूमि-नीति है। कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये भू-सुधार कार्यक्रम का पालन किया जाये।
8. कार्यक्रम में बहुत से कार्यकर्ता तथा अनेक संस्थाएँ जुटी तो हैं किन्तु उनमें तालमेल के अभाव के कारण लाभार्थियों को कठिनाई होती है। इस कार्यक्रम में दृढ़ता से समन्वय और निगरानी की आवश्यकता है।
9. कार्यक्रम की सफलता लाभार्थियों की गिनती और उन पर व्यय पर आधारित न होकर उत्पादकता के सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिये और इसके लिये सम्बद्ध कर्मचारियों को पारितोषित करना चाहिये।
10. अच्छे कर्मचारियों को पारितोषित करना चाहिये।
11. कार्यक्रम के संगठनात्मक पहलू को सामने रखते हुए सहकारी समितियों, युवक तथा महिला मण्डलों को मजबूत करना चाहिए।
12. अध्ययन लाभार्थियों के चयन में त्रुटियों, अपर्याप्त पूँजी निवेश और आधारभूत सुविधाओं की कमी की ओर संकेत करते हैं। इन सबकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।
13. एक ओर ऋण की मंजूरी के लिये जमानत पर जोर दिया गया, दूसरी ओर ऋण की माफी की नीति के कारण लोगों में कार्यक्रम में निष्ठा कम हो गयी।
14. ऋण माफी की प्रक्रिया को बन्द किया जाये वरना इसके नतीजे कार्यक्रम की सफलता में बाधा के रूप में सिद्ध होंगे।
15. ऐसा लगता है कि इस कार्यक्रम में गरीबी हटाने की आधारभूत और स्थाई व्यवस्था नहीं है। जरूरत ऐसी सामाजिक-आर्थिक प्रणाली की है जो ऐसी अर्थव्यवस्था लाये जिसमें प्रत्येक नागरिक के पास ऐसे साधन हों जो उसे स्थाई रूप से जीविका प्रदान कर सकें।
16. इस कार्यक्रम में मार्गदर्शन सेवा प्रारम्भ किये जाने की आवश्यकता है क्योंकि अज्ञानता और निरक्षरता के कारण लाभार्थी कार्यक्रम के सभी पहलू समझ नहीं पाते।
17. प्रशिक्षण की व्यवस्था गाँव स्तर पर ही होनी चाहिये क्योंकि गाँव से बाहर जाने के लिये काम में रुकावट आने की सम्भावना हो सकती है।
18. सुलभ कीमत पर कच्चे माल की खरीद तथा उत्पादित माल की बिक्री की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये।

कार्यक्रम के बेहतर क्रियान्वयन के लिये इसमें सामूहिक बीमा योजना, कार्यों में विविधता लाना, कार्यक्रम पर निगरानी, व्यावसायिकता को दूर करने

के लिये उपाय, नवीनीकरण सम्बन्धी कार्यक्रम, छोटे स्तर के उद्योगों को प्रोत्साहित करना और उत्पादित माल की मण्डी की व्यवस्था करना आदि सम्मिलित हैं।

कमियों और त्रुटियों के बावजूद कुल मिलाकर समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम एक अच्छा कार्यक्रम है जिसके द्वारा ग्रामीण निर्धनता के उन्मूलन में सहायता मिली है लेकिन ऐसे आर्थिक विकास के लिये राष्ट्रीय, सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे के अन्तर्गत् निर्धन परिवारों को ऊँचा उठने के अवसर मिलने चाहिए। कार्यक्रम तो समझ-बूझ से बनाया गया परन्तु इसे क्रियान्वित सही ढंग से नहीं किया गया। आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को सुचारु रूप से चलाने के लिये मानवशक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका को भी ध्यान में रखना चाहिये। फिर भी, पिछड़े वर्गों के उत्थान में इस कार्यक्रम ने विशेष योगदान दिया है। इसे अधिक सफल बनाने के लिये गुणात्मक पहलुओं पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। लाभार्थियों की जागरूकता, प्रशासन में उचित तालमेल, सुदृढ़ संगठन एवं कर्मचारियों के प्रशिक्षण से यह कार्यक्रम अधिक सफल होगा।

निष्कर्ष

लेखक ने अपने चालीस वर्षों के शैक्षिक व वृत्तिक जीवन में सामुदायिक विकास कार्यक्रम में उतार-चढ़ाव देखे हैं। कार्यक्रम के उद्देश्यों के अनुसार यह आशा की गई कि ग्रामीण समाज अपने साधनों का उपयोग कर स्वय ही अपने समुदाय का विकास करने में समर्थ हो जायेगा। यह धारणा भी थी कि कृषि उत्पादन के फलस्वरूप पूरे समुदाय के विकास में यह उपयोगी सिद्ध होगा और साथ-साथ खाद्य पदार्थों का उत्पादन (जिसका देश में अभाव था) बढ़ेगा किन्तु इस कार्यक्रम को अधिकतर कल्याण कार्य ही समझा गया।

सामुदयिक विकास कार्यक्रम के मूल्यांकनों से यह पता चला कि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में समुदाय नाम की कोई सामाजिक प्रक्रिया नहीं है, गाँव-समाज एक ही भौगोलिक इकाई में रहने के बावजूद समन्वित सामाजिक संस्था न होकर छोटे-छोटे समूहों में बँटा है, जिनके हित और आकांक्षाएँ भिन्न हैं तथा जिनका आपस में टकराव है। कार्यक्रमों द्वारा बड़े किसानों के लाभान्वित होने के फलस्वरूप समुदाय में छोटे तथा कमजोर वर्गों का विकास जब नहीं हुआ तो कार्यक्रम की रूपरेखा बदली गई। इससे पहले लोगों द्वारा निर्वाचित पंचायतों को विकास कार्य का प्रबन्ध सौंपा गया। कार्यक्रम का नाम समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम रखा गया जिसके अन्तर्गत् गरीबी उन्मूलन, आर्थिक विकास अथवा रोजगार के अवसर लोगों को प्रदान करने के लिये छोटे और सीमान्त किसानों, भूमिहीन

मजदूरों और कारीगरों, अनुसूचित जाति और जन-जाति-परिवारों, महिलाओं और युवकों को कार्यक्रम का लाभार्थी बनाया गया; विशेषकर पिछड़े, सूखाग्रस्त, पहाड़ी और तटीय क्षेत्रों में। किन्तु समन्वित विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन के अध्ययनों से पता चला है कि इन कार्यक्रमों के फलस्वरूप न तो पिछड़े लोगों को और न ही पिछड़े हुए क्षेत्रों को उतना लाभ पहुँचा जितना अपेक्षित था। इससे पढ़े-लिखे, राजनैतिक तथा आर्थिक तौर पर अग्रसर परिवारों को अधिक लाभ पहुँचा। ऐसे परिवारों ने निर्धन और कमजोर वर्गों के परिवारों के नाम पर आर्थिक सहायता का लाभ उठा कर उन्हें विकास प्रक्रिया से वंचित रखा। इस कारण गरीबी की रेखा के नीचे के परिवारों की संस्था में तमल्लीबख्श कमी नहीं हुई। इसके साथ किसानों को उनके उत्पादन का पूरा मूल्य नहीं मिला, जिसके कारण, ग्रामीण क्षेत्रों में असन्तोष पैदा हो रहा है तथा इसका लाभ राजनीतिक दल उठा रहे हैं।

कार्यक्रम के फलस्वरूप कृषि कार्यों में तो तरक्की हुई है लेकिन हरित क्रान्ति और श्वेत क्रान्ति का लाभ भूमिधर किसान, वणिक और दूसरे सम्पन्न वर्ग उठा रहे हैं। भूमिहीन मजदूरों की हालत में पर्याप्त सुधार नहीं हुआ। खाद्य पदार्थ उपलब्ध हैं किन्तु खरीदने के लिए पैसा चाहिए, जिसके लिये परिवारों की आय बढ़ाने की जरूरत है।

कार्यक्रम का एक और निष्कर्ष जो सामने आया है वह है जन संसाधन विकास की उपेक्षा। यद्यपि सामुदायिक विकास कार्यक्रम का बल मानव संसाधन अथवा समुदाय के विकास पर था, ग्राम विकास का बल आर्थिक विकास पर होने के कारण न मानव संसाधन का विकास हुआ और न ही छोटे और निर्धन वर्गों का आर्थिक विकास हुआ; हाँ, कहीं-कहीं पंचायती राज द्वारा राजनीतिक जागृति अवश्य आई और इसने ग्रामीण समुदाय में दरारें उत्पन्न करके समुदाय के आधार को आखिरी चोट पहुँचायी।

भारत का योजनाबद्ध विकास, भारत की तीन चौथाई आबादी को चाहे उपेक्षित कर दे, किन्तु औद्योगिक तथा वाणिज्यिक विकास इस कमी से अछूता नहीं रह सकता। उद्योगों द्वारा बनाये गये आम जरूरत और ऐशो-आराम, इशरत के सामान जैसे वाहन, रेफ्रीजरेटर, टेलिविजन, रेडियो, घड़ियाँ, गैस चूल्हे, वस्त्र आदि की खपत शहर के साथ-साथ अब गाँवों में भी होने की सम्भावना बढ़ी है। इसी प्रकार वाणिज्यिक सेवाओं का उपभोक्ता ग्रामीण समाज भी है जिसकी आबादी 60 करोड़ से ऊपर है। इसलिये उद्योग और वाणिज्य संस्थाओं के अपने ही हित में है कि वे ग्रामीण विकास की ओर अधिक

ध्यान दें और सरकार, बैंकों, पंचायतों तथा स्वैच्छिक संस्थाओं के साथ ताल-मेल स्थापित कर ग्रामीण विकास में सहायक सिद्ध हों।

यदि समन्वित ग्रामीण विकास को वास्तव में समन्वित रूप से चलाकर चहुँमुखी ग्रामीण विकास करना है तो मानव संसाधनों के विकास पर भी उतना ही जोर देना होगा जितना आर्थिक और राजनीतिक प्रगति पर, नहीं तो लुंज-पुंज विकास हमें दिशाहीन छोड़ जायेगा।

सुझाव :

ग्रामीण विकास को प्रभावशाली बनाने के लिये, निम्नलिखित कदम उठाने होंगे :—

(क) भूमि सुधार नीति को क्रियान्वित करना ताकि भूमिहीनों को भूमि मिल सके।

(ख) कमजोर और पिछड़े वर्गों तक विकास के लाभ को पहुँचाने के लिये वितरण प्रणाली को प्रगतिशील और चुस्त बनाना पड़ेगा।

(ग) न्यूनतम आवश्यकताओं के कार्यक्रम को स्फूर्ति देनी होगी।

(घ) मानव संसाधनों के विकास पर अधिक बल देना होगा, तभी समन्वित ग्रामीण विकास का सपना पूरा होगा।

(ङ) ग्रामीण जनता को रोजगार की गारण्टी देनी होगी।

(च) विज्ञान और प्रविधि का प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में करना होगा।

(छ) पंचायत, सहकारी समितियाँ, युवक तथा महिला मण्डलों और स्वैच्छिक संस्थाओं को सक्रिय करना होगा।

(ज) ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण की व्यवस्था को सुचारु रूप देना होगा ताकि ऋण और दूसरी वित्तीय सहायता केवल कार्यक्रम के निश्चित लाभार्थियों को ही मिले।

(झ) रोजगार गारण्टी के बजाय रोजगार का संवैधानिक अधिकार प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को दिया जाये ताकि रोजगार किसी की भी मेहरबानी से न मिलने के बजाय हर व्यक्ति का हक बन सके।

(ञ) एक ओर राजकीय वित्तीय संसाधन अधिक मात्रा में ग्रामीण क्षेत्रों में लाना होगा, दूसरी ओर जनसहयोग की क्रिया को फिर से जीवित करना होगा और ग्रामीण समुदायों को अपना संवैधानिक हक दिलाने के साथ-साथ उन्हें स्वावलम्बी बनाने में सहायता देनी होगी।

(ट) पंचायती राज प्रक्रिया को इस तरह चुस्त करना होगा ताकि इसके द्वारा स्वायत्त शासन के साथ-साथ विकास की क्रिया को तेज किया जा सके और ग्रामीण समुदाय को राजनीति के दुष्प्रभाव से दूर रखा जा सके।

(ठ) महिलाओं को ग्रामीण विकास और प्रबन्ध क्रिया में अधिक से अधिक भाग लेने के लिये प्रोत्साहित करना होगा।

ग्रामीण विकास नीति

ग्रामीण विकास विभाग के 1989-90 के वार्षिक प्रतिवेदन के अनुसार सातवीं पंचवर्षीय योजना में सरकार की नीति में गरीबी दूर करने के लिए ग्रामीण विकास पर मुख्य बल दिया गया। शुरू की पंचवर्षीय योजनाओं में सामुदायिक विकास पर जोर दिया गया लेकिन बाद की योजनाएँ उद्देश्य-उन्मुखी बन गईं और क्षेत्र-विकास कार्यक्रमों पर जोर दिया जाने लगा। छठीं योजना में यह बल विशेष प्रकार के रोजगारोन्मुखी कार्यक्रमों में बदल गया। इनके अन्तर्गत् स्वरोजगार और मजदूरी वाले रोजगार कार्यक्रम चलाये गये। स्वरोजगार कार्यक्रम (समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम) में आय पैदा करने वाली परिसम्पत्तियों के निर्माण के लिये ऋण और इमदाद प्रदान की गई। अनेक क्षेत्रों में स्वरोजगार को बढ़ावा देने के लिये मुख्य ध्यान इस बात पर दिया गया कि उपलब्ध बुनियादी सुविधाओं और मण्डियों को एक दूसरे से जोड़ा जाए। दूसरी ओर मजदूरी वाले रोजगार कार्यक्रमों के दो मुख्य उद्देश्य, ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी सुविधाओं की क़मी को दूर करने के लिये परि-सम्पत्तियों का निर्माण करना तथा काम की तलाश करने वाले ग्रामीण निर्धन लोगों को रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाना रहे हैं। मजदूरी रोजगार कार्यक्रमों में सार्वजनिक परिसम्पत्तियों के चयन का उद्देश्य समाज की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करना था। अब रोजगार गारन्टी तथा काम के अधि-कार पर जोर दिया जा रहा है। काम के अधिकार को कानूनी दर्जा देने के लिये कदाचित सरकार संविधान-संशोधन पर विचार कर रही है।

प्रशासन का लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण भी सरकार का मुख्य उद्देश्य रहा है। विचार-विमर्श के बाद पंचायती राज संस्थाओं को नया रूप देने के जोरदार प्रयास किये गये। पंचायतों को संगठन और वित्तीय दृष्टि से मजबूत बनाने के साथ-साथ उनके चुनाव नियमित रूप से कराने पर बल दिया गया। उन्हें विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का दायित्व सौंपने का भी निश्चय किया गया। पंचायती राज संस्थाओं को संविधान के अन्तर्गत् लाने के लिये संविधान संशोधन विधेयक तैयार किया गया। अब पंचायती राज के बारे में विधेयक को नया रूप देने और विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया फिर शुरू करने की दिशा में नये सिरे से प्रयास हो रहे हैं।

भूमि सुधार उपायों को ग्रामीण विकास की नीति का अभिन्न अंग माना

गया है। पट्टेदारी और भूमि हदबन्दी के विभिन्न कानूनों को लागू करने में अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन कृषि-मजदूरों को वितरित करने और चकबन्दी के मामले में अब तक हुई ढिलाई के फलस्वरूप भूमि सुधार कानूनों को संविधान की नौवीं अनुसूची में शामिल करने का निर्णय किया गया है।

चूँकि गरीबों की अधिकतर संख्या अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा मुक्त किये गये बंधुवा मजदूरों में से है, जो वर्षों तक सामाजिक भेदभाव के शिकार रहे हैं, इसलिए समाज के इन वर्गों के लिये विशेष कार्यक्रम चलाये गये हैं और अन्य विभिन्न कार्यक्रमों के अन्तर्गत् इन वर्गों को विशेष लाभ देने के प्रयास किये गये हैं।

समाज में महिलाओं का सामाजिक और आर्थिक स्तर असन्तोषजनक होने के कारण विभिन्न कार्यक्रमों में महिलाओं के लाभ पर विशेष बल दिया गया है। स्वरोजगार कार्यक्रमों और मजदूरी वाले रोजगार कार्यक्रमों के अन्तर्गत् महिला लाभार्थियों के लिये विशेष लक्ष्य निश्चित किये गये हैं और देश में अधिक से अधिक महिलाओं को लाभान्वित करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में 'महिला और बाल विकास कार्यक्रम' जैसे विशिष्ट कार्यक्रम चलाये गये हैं।

ग्रामीण विकास में आम लोगों की भागीदारी के महत्त्व को देश में सामुदायिक विकास आन्दोलन के प्रारम्भ से ही महसूस किया गया है। ग्रामीण विकास में स्वयंसेवी अभिकरणों के योगदान को बढ़ावा देने के लिए 1986 में 'कापार्ट' की स्थापना की गई जिसके जरिये विकास कार्यों के लिये स्वयंसेवी संगठनों को धन उपलब्ध होता है।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखती थी इसलिये यह 1977 की डा० दाँतवाला कार्यकारी दल तथा अशोक मेहता समिति की सिफारिशों को लागू करने की इच्छुक थी। महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, प० बंगाल और कर्नाटक में जिला स्तर पर आयोजन पद्धति कुछ हद तक सफल हुई है इसलिये आठवीं पंचवर्षीय योजना के मुख्य उद्देश्यों में जिला स्तर के नियोजन का प्रस्ताव है। इस कार्य के लिये आवश्यक संगठनात्मक व्यवस्था जैसे जिला परिषद् और जिला ग्रामीण विकास अभिकरण आदि, पहले से ही मौजूद हैं और आशा है कि विकेन्द्रित योजना-पद्धति द्वारा ग्रामीण विकास में जनता का सहयोग बढ़ेगा।

इस नीति का अनुमोदन आठवीं पंचवर्षीय योजना की मार्गदर्शिका में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने जून 1990 में कर दिया है।

ग्रामीण विकास विभाग की योजनायें और उनके वित्तीय परिव्यय

(1) योजना का नाम	(2) 1988-89 के लिये (अनुमोदित परिव्यय) (करोड़ रुपये)	(3) 1989-90 के लिये (अनुमोदित परिव्यय) (करोड़ रुपये)	(4) 1990-91 के लिये (अनुमोदित परिव्यय) (करोड़ रुपये)
(क) ग्रामीण जल सफाई और स्वच्छता :			
1. त्वरित ग्रामीण जल सफाई	410.00	410.00	423.00
2. स्वच्छता	20.00	20.00	20.00
(ख) ग्रामीण विकास के लिये विशेष कार्यक्रम :			
3. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम	355.00	390.00	390.00
4. ग्रामीण युवाओं को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण योजना	6.00	8.00	8.00
5. सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम	51.26	—	51.26
6. मरुभूमि विकास कार्यक्रम	50.00	50.00	50.00
(ग) ग्रामीण रोजगार :			
7. ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम	730.00	—	—
8. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम	529.43	—	—
9. जवाहर रोजगार योजना	—	2100.00	2100.00
(घ) भूमि सुधार :			
10. भूमि सुधार	9.65	15.65	25.33
(ङ) ग्रामीण विकास के लिये अन्य कार्यक्रम :			
11. ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों का विकास	11.41	11.49	11.49
12. आदिवासी क्षेत्रों में सड़कें	3.00	2.00	—
(च) प्रशिक्षण :			
13. (i) लोक कार्यक्रम तथा ग्रामीण तकनीकी विकास परिषद्	4.00	5.00	5.50
(ii) राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान	1.30	2.00	—

(iii) अनुसंधान एवं प्रशिक्षण के लिये राज्य व क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना, उन्हें सुदृढ़ करना	2.00	2.00	5.00
(iv) प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, संगोष्ठियों एवं कार्यशालाओं का आयोजन	30	30	30
(v) विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रों को सुदृढ़ करना	1.00	1.00	3.00
(vi) संयुक्त ग्रामीण प्रशिक्षण और प्रौद्योगिकी केन्द्र	2.50	—	—
14. स्वैच्छिक योजनाओं और सामाजिक कार्यवाही कार्यक्रम को बढ़ावा देना	1.00	1.50	2.00
15. संचार प्रकोष्ठ	25	25	25
16. लाभार्थियों का संगठन	1.00	6.00	4.00
17. एफ्रो-एशियाई ग्रामीण पुनर्निर्माण संगठन का निर्माण	30	30	30
18. अभिनव परियोजना के लिये सहायता	1.00	1.00	—
19. पंचायत विकास एवं प्रशिक्षण	—	—	2.00
(छ) खाद गोदाम और भण्डारागार			
20. ग्रामीण गोदामों का राष्ट्रीय ग्रिड	3.50	3.50	4.00
(ज) अन्य कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम			
21. कृषि विपणन	6.50	7.50	7.00
(झ) राज्य योजना कार्यक्रम			
22. विशेष केन्द्रीय सहायता-विशेष समस्या वाले जिले	12.00	13.00	14.40

●

अध्याय–4

चिकित्सकीय समाज कार्य

समाज कार्य का विश्वास है कि जीवन समग्रता प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि उसे सम्पूर्ण सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिले। परन्तु यह तभी सम्भव है जब अन्य व्यक्ति उसकी सहायता करें, अन्यथा कोई व्यक्ति मात्र अपने व्यक्तिगत् प्रयासों से जीवन के सभी पक्षों व क्षेत्रों में सफल जीवनयापन नहीं कर सकता। स्वास्थ्य मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसके बिना कोई व्यक्ति अन्य क्षेत्रों में कोई उपलब्धि नहीं कर सकता क्योंकि एक रोगग्रस्त व्यक्ति अशक्त होता है और अन्य लोगों से सहायता की अपेक्षा करता है। निर्धन रोगियों की सेवा के सिद्धान्त के आधार पर चिकित्सालयों की स्थापना हुई जो आज के आधुनिक स्वरूप तक विकसित हो चुके हैं। इसी प्रकार बहिरंग रोगियों की सहायतार्थ निदानशालाओं व औषधालयों की स्थापना की गयी।

हमारे समाज में प्राचीन काल से ही पीड़ितों व रोगियों की सहायता व सेवा का प्रचलन रहा है और हर व्यक्ति एक-दूसरे की सेवा करना अपना उत्तर-दायित्व समझता रहा है। परम्परागत् समाज सेवी मानवता के आधार पर आश्रम, विद्यालय, चिकित्सालय आदि के माध्यम से जनसाधारण की सेवा करते हैं। इतिहास के पन्नों से स्पष्ट है कि भारतीय समाज में सेवा व सहायता प्रदान करने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है; विशेषकर रुग्णता, विपन्नता, अपंगता, निराश्रिता की स्थिति में सहायता करना हर व्यक्ति अपना धर्म समझता था। प्रारम्भ में सेवा करना धार्मिक कार्य व पुण्य कार्य समझा जाता था परन्तु वर्तमान युग में सहायता प्रदान करने का आधार मानवतावादी दृष्टिकोण बन गया। पहिले एक मानव के नाते सक्षम व्यक्ति दूसरे की सेवा करना अपना उत्तरदायित्व समझता था परन्तु सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ इस दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया और परिस्थितियों ने नया रूप धारण किया जिसमें धर्म या मानवता के आधार पर सहायता प्रदान करना कठिन प्रतीत होने लगा। फलस्वरूप विशिष्टता व वृत्ति का प्रचलन हुआ। यही वह स्थिति थी जब समाज सेवा ने समाज कार्य का रूप धारण किया तथा धर्म या मानवता के आधार पर सहायता प्रदान करने के स्थान पर वृत्तिक रूप से सेवा करना समाज की प्रवृत्ति बनने लगी।

समाज कार्य के वृत्तिक विकास के क्रम में सर्वप्रथम चिकित्सकीय समाज कार्य का अवलोकन किया जा सकता है। स्वास्थ्य के विकास, रोग निवारण व उपचार के क्षेत्र में समाज कार्य की प्रणालियों व तकनीकों के उपयोग को ही चिकित्सकीय समाज कार्य की संज्ञा दी जाती है। मानव समाज में निरन्तर हो रहे परिवर्तन, औद्योगीकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप संयुक्त परिवारों के स्वरूप में परिवर्तन तथा दिन-प्रतिदिन की सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं के कारण व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत व पारिवारिक व्यस्तता के कारण रोगियों एवं रोग के फलस्वरूप उत्पन्न मनोसामाजिक समस्याओं के निवारण व निराकरण में चिकित्सकीय समाज कार्य की उपयोगिता तथा मान्यता में वृद्धि हुई है। अतः सर्वप्रथम चिकित्सकीय समाज कार्य की परिभाषा व अर्थ को समझ लेना उचित प्रतीत होता है।

चिकित्सकीय समाजकार्य की परिभाषा एवं अर्थ :

स्वास्थ्य की आधुनिक अवधारणा की मान्यता के पूर्व यह सर्वमान्य विश्वास था कि औषधि अथवा शल्य चिकित्सा ही रुग्णता का एकमात्र और अन्तिम उपचार है। परन्तु वैज्ञानिक प्रगति, आयुर्विज्ञान में वृद्धि, समाज कार्य व अन्य सामाजिक विज्ञानों के विकास के फलस्वरूप यह तथ्य सामने आ गया कि रोगी के रूप में व्यक्ति की रुग्णता में निम्नलिखित दो पहलुओं का समावेश होता है :—

(1) निरोधात्मक तथा उपचारात्मक पक्ष; तथा
(2) शारीरिक तथा सामाजिक पक्ष।

स्वास्थ्य के मानसिक, सामाजिक व शारीरिक तीन महत्त्वपूर्ण पक्षों में विश्वास के साथ यह सर्वमान्य हो चुका है कि रोगी के स्वास्थ्य सुधार में औषधि का जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व उसकी मानसिक व सामाजिक स्थितियों का भी है। इसी मान्यता के साथ चिकित्सा के क्षेत्र में समाज कार्य के अभ्यास की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है; फलस्वरूप समाज कार्य की एक नवीन शाखा के रूप में चिकित्सकीय समाज कार्य के माध्यम से समाज कार्य की पद्धति, दर्शन व तकनीकों के अभ्यास का प्रचलन सर्वमान्य हुआ। चिकित्सकीय समाज कार्य मुख्य रूप से वैयक्तिक सेवा कार्य प्रणाली द्वारा निम्नलिखित तीन स्तरों पर सम्पन्न होता है :—

(1) रोगग्रस्त व्यक्ति से सम्बन्धित सेवा कार्य,
(2) रोगी के परिवार तथा समुदाय से सम्बन्धित सेवा कार्य तथा
(3) चिकित्सालय व्यवस्था व प्रशासन से सम्बन्धित कार्य।

चिकित्सकीय समाज कार्य की परिभाषा :

चिकित्सकीय समाज कार्य, समाज कार्य की एक विशिष्टता है जिसके अन्तर्गत् रोगग्रस्तता के कारण उत्पन्न मानसिक, सामाजिक, शारीरिक एवं आर्थिक अवरोधों व समस्याओं के निवारण व निराकरण में वृत्तिक विधियों का प्रयोग करके सहायता की जाती है। विभिन्न विद्वानों ने चिकित्सकीय समाज कार्य को पारिभाषित करने का प्रयास किया है :—

प्रोफेसर राजाराम शास्त्री के अनुसार : 'चिकित्सकीय समाज कार्य का मुख्य ध्येय यह होता है कि वह चिकित्सकीय सहूलियतों का उपयोग रोगियों के लिये अधिकाधिक फलप्रद एवं सरल बनाये तथा चिकित्सा में बाधक मनोसामाजिक दशाओं का निराकरण करें।'[1]

अमेरिका के सामाजिक कार्यकर्ता राष्ट्रीय संघ ने चिकित्सकीय समाज कार्य को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया है :

"चिकित्सकीय समाज कार्य स्वास्थ्य एवं चिकित्सकीय देखरेख के क्षेत्र में समाज कार्य की पद्धतियों एवं दर्शन का उपयोग एवं स्वीकरण है। चिकित्सकीय समाज कार्य, समाज कार्य के ज्ञान तथा पद्धतियों के उन पक्षों का वर्गित व विस्तृत उपयोग करता है जो स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धो समस्याओं से ग्रस्त व्यक्तियों की सहायतार्थ विशिष्ट रूप से उपयुक्त होते हैं।"[2]

प्रोफेसर एच० एस० पाठक के अनुसार :

चिकित्सकीय समाज कार्य उन रोगियों को सहायता प्रदान करने से सम्बन्धित है जो सामाजिक व मनोवैज्ञानिक कारकों के कारण उपलब्ध चिकित्सकीय सेवाओं का प्रभावी रूप से उपयोग करने में असमर्थ होते हैं।'[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण एवं समाकलन के आधार पर चिकित्सकीय समाज कार्य को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है :

"चिकित्सकीय समाज कार्य, समाज कार्य तकनीकों का ऐसा व्यावसायिक उपचारात्मक अभ्यास है जिसके द्वारा रोगियों को उपलब्ध निवारक, निदानात्मक एवं उपचारात्मक सुविधाओं के अधिकतम उपयोग द्वारा उपयुक्त रूप से समायोजित सामाजिक प्राणी बनाने के लिए उसे मनोसामाजिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करने हेतु, सहायता प्रदान की जाती है।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि स्वास्थ्य वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति

1. इण्डियन जर्नल ऑफ सोशल वर्क (1970), पृ० 256
2. मेडिकल सोशल वर्क प्रोफेशन (1956), पृ० 3.
3. मेडिकल सोशल वर्क इन इण्डिया.

के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक तीनों पक्षों में सन्तुलन, सामंजस्य और आरोग्यता हो। स्वास्थ्य के उक्त तीनों पक्ष एक दूसरे से सम्बद्ध तथा प्रभावित होते रहते हैं। चिकित्सकीय समाज कार्य रोगी के मानसिक व सामाजिक पक्षों पर शारीरिक रुग्णता के प्रभाव से उत्पन्न समस्याओं के निवारण में सहायता प्रदान करने की प्रणाली है जिससे रोगी शारीरिक रूप से निरोग होकर सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ एवं समायोजित जीवन व्यतीत कर सके।

अर्थ :

चिकित्सकीय समाज कार्य ऐसे रोगियों को सहायता प्रदान करने से सम्बन्धित है जो मनोसामाजिक अवरोधों के कारण चिकित्सकीय सेवाओं का प्रभावी रूप से उपयोग करने में असमर्थ होते हैं। उपयुक्त चिकित्सकीय सेवाओं के उपरान्त भी कुछ रोगियों में समुचित प्रगति नहीं होती क्योंकि कभी-कभी रोगग्रस्त व्यक्ति को चिकित्सालय द्वारा प्राप्त आकर्षण, प्यार एवं सुरक्षा से उसकी मानसिक आवश्यकता की सन्तुष्टि होती है, फलस्वरूप कुछ रोगी उपचार के बाद भी चिकित्सालय से जाना नहीं चाहते जबकि कुछ अन्य रोगियों की आर्थिक व घरेलू चिन्ता उपचार को विपरीत रूप से प्रभावित करती है। कभी-कभी अज्ञानता व अभिज्ञता के कारण रोगी शल्य चिकित्सा या लगातार उपचार करवाने से भयभीत होते हैं। इसी प्रकार परिवार व बच्चों की देख-रेख की चिन्ता में कई रोगी चिकित्सालय में भर्ती नहीं होना चाहते। रोग भिन्न-भिन्न रोगियों को उनकी सामाजिक परिस्थितियों व व्यक्तित्व के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करता है। ऐसे रोगियों की सहायताक्रम में उनके व्यक्तित्व, सामाजिक परिस्थिति, उपचार व रोग के प्रति उनकी भावना एवं मनोवृत्ति को समझना आवश्यक होता है। रोगग्रस्तता के कारण सामाजिक सम्बन्धों व सामंजस्य के क्षेत्र में भी समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ रोगी परिवर्तित शारीरिक व सामाजिक परिस्थितियों के साथ स्वस्थ समायोजन स्थापित करने में सक्षम होते हैं परन्तु कुछ अन्य रोगियों को सहायता की आवश्यकता होती है। रोगियों को सहायता प्रदान करने में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता उनके साथ अपने वृत्तिक सम्बन्धों, मानवीय व्यवहार सम्बन्धी अपने ज्ञान, रुग्णता की स्थिति में लोगों के व्यवहार के ज्ञान तथा व्यक्ति, उनके परिवार एवं समुदाय में उपलब्ध संसाधनों का समुचित उपयोग करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता रोगियों को सहायता प्रदान करने के सन्दर्भ में अपने वैयक्तिक सेवा कार्य सम्बन्धी ज्ञान, निपुणता तथा अन्य अभिकरणों की सेवाओं का उपयोग करता है।

भारत में चिकित्सकीय समाज कार्य का इतिहास

भारतीय समाज में रोगियों तथा निर्धनों की सेवा व सहायता की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही थी परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में पाश्चात्य देशों में रोगियों की सहायता के सन्दर्भ में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर भी पड़ा और चिकित्सा के क्षेत्र में आधुनिक विकास के फलस्वरूप क्षेत्रीय स्थानों पर चिकित्सालयों की स्थापना की गयी जिसके माध्यम से सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में प्रगति हुई। इस प्रगति के साथ ही चिकित्सकीय एवं स्वास्थ्य सुविधाओं के अन्तर्गत् सामाजिक सेवा की एक पृथक् इकाई की स्थापना की गयी।

भारत में चिकित्सकीय समाज कार्य का प्रारम्भ ब्रिटेन तथा अमेरिका में चिकित्सकीय समाज कार्य की अनुभवी लेडी अल्मोनर्स द्वारा किया गया। प्रारम्भ में समाज कार्य की प्रशिक्षण व्यवस्था भारत में उपलब्ध नहीं थी इस कारण अमेरिका व इंग्लैण्ड में शिक्षित भारतीय मूल के चिकित्सकों ने यहाँ के चिकित्सालयों में स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करके उन्हें वृत्तिक कार्यकर्ता के रूप में कार्य करने के लिये प्रेरित करने का प्रयास किया। इसी दौरान 1936 में बम्बई में सर दोराब जी टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज की स्थापना हुई जहाँ विशेषकर औद्योगिक क्षेत्र में श्रम कल्याण हेतु सामाजिक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण प्रारम्भ हुआ जिससे चिकित्सा के क्षेत्र में स्वास्थ्य सम्बन्धी स्वैच्छिक सेवा प्रदान करने वाले कार्यकर्ताओं व चिकित्सकों में इंग्लैण्ड व अमेरिका की भाँति प्रशिक्षित चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं की आवश्यकताओं व उपयोगिता की ओर ध्यान आकर्षित हुआ।

इसी क्रम में 1945 में स्वास्थ्य निरीक्षण तथा विकास समिति ने अपनी बैठक में स्पष्ट किया कि "उन्हें सन्देह नहीं कि यदि चिकित्सालयों में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्तियाँ की जाये तो चिकित्सालयों की कार्यक्षमता एवं सेवायें अधिक प्रभावशाली हो सकेंगी।" समिति की इस संस्तुति के उपरान्त प्रारम्भ में अप्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की नियुक्तियाँ की गईं लेकिन जल्दी ही प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की संख्या में वृद्धि होने लगी।

तमिलनाडु (मद्रास) राज्य में सर्वप्रथम स्टेला मेरिस कॉलेज, मद्रास से एक वर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त महिला चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति कैंसर चिकित्सालय में की गयी। इसी दौरान इण्डियन रेडक्रॉस सोसायटी की मद्रास शाखा ने स्वास्थ्य सेवकों के प्रशिक्षण के लिये मैट्रिक तक शिक्षित 35-35 छात्रों के समूह को 10 मास तथा 18 मास के प्रशिक्षण की व्यवस्था की। परन्तु यह पाठ्यक्रम वृत्तिक समाज कार्य का नाममात्र ज्ञान प्रदान करता रहा,

इस कारण इस पाठ्यक्रम में प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं को चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं समझा गया। इसलिये शीघ्र ही इस पाठ्यक्रम को परिवर्तित करके 40-45 चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं को दो वर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत् प्रशिक्षण दिया जाने लगा। प्रारम्भ में इन कार्यकर्ताओं की नियुक्तियाँ कुछ विशिष्ट चिकित्सालयों में की गयीं परन्तु बाद में इन्हें सार्वजनिक चिकित्सालयों में भी स्थान मिलने लगा, धीरे-धीरे चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं की मान्यता में वृद्धि हुई तथा इन प्रशिक्षण प्राप्त कार्यकर्ताओं को यक्ष्मा, कैन्सर, कुष्ट रोग, मनोविकार, बाल, महिला एवं प्रसूति आदि रोगों से सम्बन्धित चिकित्सालयों में सेवा प्रदान करने का अवसर मिलने लगा। इसी प्रकार राज्य कर्मचारी बीमा योजना (ई० एस० आई० एस०) के अन्तर्गत् चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता के लिये दो वर्षीय स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के द्वारा प्रशिक्षण कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। प्रारम्भ में इन पाठ्यक्रमों में केवल पुरुष प्रशिक्षार्थियों को ही सम्मिलित किया गया परन्तु कुछ ही समय बाद महिला कार्यकर्ताओं की आवश्यकता का भी एहसास किया गया। ये समस्त प्रशिक्षण कार्यक्रम समय एवं आवश्यकता-नुसार सामयिक रूप से चलाए गए तथा इनकी विकास प्रक्रिया केवल मद्रास तक ही सीमित रह गयी जबकि चिकित्सकीय समाज कार्य का उदय मद्रास से पूर्व ही महाराष्ट्र में हुआ और क्रमबद्ध रूप से प्रगति करता गया।

सर्वप्रथम 1946 में जे० जे० ग्रूप ऑफ हॉस्पिटल्स, बम्बई में इंग्लैण्ड में चिकित्सकीय समाज कार्य में वृत्तिक प्रशिक्षण प्राप्त एक भारतीय मूल के सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति रु० 250) मासिक वेतन पर की गयी। इसी वर्ष सर दोराब जी के नाम की संस्था का नाम परिवर्तित करके टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, बम्बई रखा गया और समाज कार्य में स्नातकोत्तर शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। इसके एक वर्ष उपरान्त 1947 में काशी विद्यापीठ, वाराणसी में इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज की स्थापना की गयी। इसी के साथ दिल्ली स्कूल ऑफ सोशल वर्क तथा कुछ समय बाद बड़ौदा, लखनऊ, आगरा, उदयपुर, इन्दौर आदि स्थानों पर भी समाज कार्य प्रशिक्षण हेतु संस्थाओं व विभागों की स्थापना की गई।

भारतीय समाज कार्य कॉन्फरेन्स के ग्यारहवें अधिवेशन, हैदराबाद, में 1959 (दिसम्बर) में एक प्रस्ताव पारित करके यह संस्तुति की गई कि "पचास से अधिक रोगी शैय्याओं के अधिकांश या समस्त चिकित्सालयों में कम से कम एक चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति की जानी चाहिये।" अधिकांश सहभागियों ने यह विचार व्यक्त किया कि चिकित्सकीय एवं मनः

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का उपयोग निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :

1. रोगियों तथा उनके परिवारों की उन सामाजिक एवं सांवेगात्मक समस्याओं के समाधान में सहायता करना जो उपयुक्त उपचार, देखरेख व पुनर्स्थापन को अवरुद्ध करती हैं;
2. चिकित्सालय, रोगी, उसके परिवार तथा समुदाय के बीच मध्यस्थता करना तथा रोगी व उसके परिवार को उपचार एवं समुदाय के योगदान की व्याख्या करना;
3. रोगी के भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक पर्यावरण सम्बन्धी तथ्यों को निदान व समुचित उपचार के लिये संकलित करना ।
4. वर्तमान सामुदायिक साधनों को समुचित उपयोग के लिये सक्रिय करना तथा नवीन सामुदायिक सेवाओं को विकसित करना ।

समाज कार्य से सम्बन्धित राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, संस्थाओं तथा विद्वानों ने चिकित्सकीय समाज कार्य की उपयोगिता एवं आवश्यकता की ओर जनसाधारण एवं चिकित्सा के क्षेत्र के विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित किया जिसके फलस्वरूप समाज कार्य की मान्यता व स्वीकृति में वृद्धि हुई और अहमदाबाद, पूना, बम्बई, बंगलोर, शान्तिनिकेतन, विशाखापट्टनम्, नागपुर, भुवनेश्वर, हैदराबाद आदि नगरों में समाज कार्य प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई । यहाँ तक कि पिछले दशक में कुरुक्षेत्र, पटियाला, अमृतसर, श्रीनगर, शिलांग, आदि नगरों में वृत्तिक समाज कार्य का प्रशिक्षण शुरू हुआ ।

1946 में प्रथम चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति के पश्चात् समाज कार्य में प्रशिक्षण प्रदान करने वाले संस्थानों में चिकित्सकीय समाज कार्य को स्नातकोत्तर उपाधि के पाठ्यक्रम में एक विशेषीकरण के रूप में सम्मिलित किया गया जिससे स्वास्थ्य के क्षेत्र में चिकित्सकीय समाज कार्य के योगदान की मान्यता में तीव्र गति से वृद्धि हुई और अनेक चिकित्सा संस्थानों, चिकित्सालयों, मानसिक रोग चिकित्सालयों, परिवार नियोजन केन्द्रों में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्तियाँ की गईं ।

आयुर्विज्ञान में नवीन खोजों और प्रगति के फलस्वरूप निवारक व समाज-मूलक चिकित्सा का उदय हुआ जिसमें चिकित्सकीय समाज कार्य के योगदान व उपयोगिता को समुचित स्थान प्रदान किया गया तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य व सामुदायिक स्वास्थ्य शिक्षा की अवधारणा को महत्त्व व प्राथमिकता दी गयी । रोगों से रक्षण एवं निवारण की गतिविधियों को सफल बनाने के उद्देश्य से एक स्वास्थ्य दल की आवश्यकता पर बल दिया गया जिसमें चिकित्सकीय समाज

कार्य, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, भौतिक व वृत्तिक उपचार की विशिष्टताओं को स्वास्थ्यवर्धन, रोग निवारण, शीघ्र उपचार हेतु आयुर्विज्ञान के साथ आवश्यक व महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया गया। फलस्वरूप आयुर्विज्ञान विद्यालयों व चिकित्सालयों में स्थापित निवारक एवं समाजमूलक चिकित्सा विभागों, परिवार नियोजन केन्द्रों, चिर व दीर्घकालीन गम्भीर रोगों के उपचार स्थलों में रोगियों के सम्पूर्ण उपचार, मानसिक सन्तुलन, सामाजिक समायोजन तथा सर्वांगीण पुनर्स्थापन में सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्तियाँ की गयीं।

केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा संचालित अनेक स्वास्थ्य—सम्बन्धित विभागों व चिकित्सालयों के अतिरिक्त अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं में भी एक बड़ी संख्या में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्तियाँ की गयीं तथा उन्हें अपने व्यावसायिक प्रशिक्षण, समाज कार्य ज्ञान, निपुणता एवं अनुभव के आधार पर उपचार में योगदान देने का समुचित अवसर प्रदान किया गया।

इस प्रकार पिछले चार दशकों में सम्पूर्ण देश में निवारक एवं समाजमूलक चिकित्सा विभागों के विकास के साथ-साथ चिकित्सकोय समाज कार्य की भी प्रगति हुई। समाज कार्य का विकासक्रम, गति यद्यपि धीमी अवश्य है फिर भी इसकी मान्यता व उपयोगिता में धीरे-धीरे वृद्धि होती जा रही है। भारत में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की वास्तविक संख्या की सही जानकारी उपलब्ध नहीं है फिर भी उनकी अनुमानित संख्या निम्नलिखित है :

महाराष्ट्र–40, गुजरात–10, दिल्ली–50, राजस्थान–5, आन्ध्र प्रदेश–5, पंजाब–15, चण्डीगढ़–8, मध्य प्रदेश–10, राजस्थान–5, हिमाचल–5, बिहार–5 उत्तर प्रदेश–80, बंगाल–10, हरियाणा–10, उड़ीसा–5, आसाम तथा अन्य राज्य–15।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता के प्रकार्य

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता का प्राथमिक कार्य रोगग्रस्तता के कारण उत्पन्न सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु वैयक्तिक सेवाकार्य के अभ्यास द्वारा रोगो को सहायता प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त अन्य कार्य निम्नलिखित हैं :[1]

1. अभिकरण को नीति निर्धारण एवं कार्यक्रम नियोजन में सहभागिता प्रदान करना;
2. सामुदायिक संगठन में सहभागिता करना;

---

1. पाठक, एच० एस०, मेडिकल सोशल वर्क इन इण्डिया, पृष्ठ 3.

3. शैक्षणिक कार्यक्रमों में सहभागी होना;
4. समाज कार्य अनुसन्धान में सहयोग देना तथा
5. परामर्श एवं निर्देशन सेवा प्रदान करना ।

व्यक्तिगत रोगियों की सहायता करने के अनुभवों तथा अपने वृत्तिक ज्ञान के द्वारा चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता अभिकरण द्वारा प्रदत्त सेवाओं की कमियों, नीतियों एवं विधियों में परिमार्जन की आवश्यकता को समझने का प्रयास करता है क्योंकि इनकी जानकारी प्रभावी सेवा प्रदान करने के लिये अनिवार्य होती है । सामाजिक कार्यकर्ता अपने ज्ञान व अनुभवों से उपचार दल के अन्य सदस्यों को भी अवगत कराता है ।

समुदाय में लोगों की स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं से सम्बन्धित तथ्यों के संकलन की विश्लेषण तथा उनके उपयोग द्वारा चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता अभिकरणों की इस प्रकार सहायता करता है कि वह लोगों को समेकित स्वास्थ्य सेवा प्रदान कर सके ताकि लोग अपने स्वास्थ्य की प्रगति व उसे बनाये रखने के लिये अपेक्षित सेवा प्राप्त कर सकें । वह सामाजिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी अभिकरणों द्वारा प्रदत्त सेवाओं के उत्तम उपभोग हेतु उपलब्ध सेवाओं का सम्न्वय व समाकलन करके समुदाय की सहायता करता है ।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता अपने व्यावहारिक कार्य सम्बन्धी अनुभवों व निरीक्षण द्वारा समाज कार्य के प्रशिक्षार्थियों को उचित निर्देशन भी प्रदान करता है । इसके अतिरिक्त वह चिकित्सक, परिचारिका, सार्वजनिक स्वास्थ्य परिचारिका, भौतिक उपचारक, व्यावसायिक उपचारक, मनोवैज्ञानिक आदि वृत्तिक छात्र-प्रशिक्षण कार्यक्रमों में योगदान देने की दिशा में रोग व उसके उपचार से सम्बद्ध सामाजिक-संवेगात्मक एवं पर्यावरणीय कारकों के बारे में आवश्यक जानकारी प्रदान करता है ।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता चिकित्सकीय समाज कार्य से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध विषयों पर शोध कार्य तो करता ही है साथ ही अन्य वृत्तिक चिकित्सकीय विशेषज्ञों को अपने-अपने क्षेत्रों में शोध कार्य करने में सहयोग प्रदान करता है । सामाजिक कार्यकर्ता रोग के मनोसामाजिक व शारीरिक पक्षों और इनसे सम्बन्धित कारकों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये शोध कार्य करके समाजकार्य-ज्ञान में वृद्धि करने का प्रयास करता है तथा अर्जित वृत्तिक ज्ञान व अनुभवों का उपचार-दल के अन्य विशेषज्ञों के साथ आदान-प्रदान करता है ।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता, उपचार-दल के अन्य वृत्तिक सदस्यों को रोगी के सामाजिक व व्यक्तिगत कारकों सम्बन्धी जानकारी प्रदान करने में एक विशेषज्ञ के रूप में परामर्श देता है ताकि सभी सदस्य एक-दूसरे के अनुभवों

व ज्ञान का आदान-प्रदान करके रोगियों को सर्वांगीण रूप से अधिकतम सेवा प्रदान कर सकें ।

दिबोरा मैक्लुर्ग जेनसेन[1] ने चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता के प्रकार्य को स्पष्ट करने का निम्नलिखित रूप में प्रयास किया है :

1. चिकित्सालय के रोगियों की सामाजिक स्थितियों की जानकारी प्राप्त करना तथा सम्बन्धित चिकित्सकों को तथ्यों से अवगत कराना ।
2. रोगियों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित सामाजिक परिस्थितियों में निहित कारकों का निर्धारण करना; अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण करना तथा इन कारकों का चिकित्सकीय सामाजिक निदान के रूप में निरूपण करना ।
3. रोगियों द्वारा सम्भावित लक्ष्यों को पाने के सन्दर्भ में उनकी सहायतार्थ सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका तथा उद्देश्यों को पारिभाषित करना । उपर्युक्त 2 तथा 3 पर अंकित कार्यों को उनकी विशेषताओं के अनुरूप चिकित्सक के सहयोग से निष्पादित करना ।
4. चिकित्सकीय सामाजिक परिस्थितियों के अर्थ की रोगी-समूह एवं उपचारक दल के अन्य वृत्तिक विशेषज्ञों के सम्मुख व्याख्या करना । कई रोगियों के सन्दर्भ में जब दोनों समूह प्रभावशाली ढंग से अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने लगते हैं तो सामाजिक उपचार की आवश्यकता समाप्त हो जाती है ।
5. सामाजिक पक्षों पर विशेष बल देते हुए चिकित्सालय में सेवाओं का समाकलन तथा सामाजिक सार्थकता सन्निहित चिकित्सकीय पक्षों पर चिकित्सालयी सुविधा की अनुपस्थिति में विशेष बल देना ।
6. रोगियों के पुनर्समायोजन तथा देखरेख के सम्बन्ध में कार्यकर्ता द्वारा विशेष सेवायें निष्पादित करना जिसमें सेवा कार्य के लिये कार्यकर्ता को 'सम्पूर्ण व्यक्ति' को समझने की विधि का ज्ञान अपेक्षित होता है अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्ति को समझने के लिये विशेषीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न वृत्तियों के ज्ञान की आवश्यकता होती है । मिलफोर्ड कॉन्फरेन्स के प्रतिवेदन में इनमें से विशेष कुछ चारित्रिक सेवाओं को अधोलिखित रूप से व्यक्त किया जा सकता है :

"चिर रोगियों तथा अयोग्य व्यक्तियों के लिये सुविधा करना; उन्नयन हेतु प्रबन्ध तथा शारीरिक अशक्तों के लिये सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य करना;

---

1. दिबोरा मैक्लुर्ग जेनसेन (1947), इन्ट्रोडक्शन टू सोशियोलॉजी एण्ड सोशल प्रॉब्लॅम्स : सेन्टलुइस, दि सी० वी० मोस्वाई कम्पनी, सेन्टलुइस, पृष्ठ 271-277.

व्यक्तियों व समूहों का संक्रामक रोगों से संरक्षण तथा स्वच्छता व सफाई का विकास करना।

प्रवेश

अवधारणा एवं प्रक्रिया :

सामाजिक अभिकरणों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के लिए प्रवेश शब्द का महत्त्वपूर्ण अर्थ है। इनके द्वारा प्रदत्त सेवा प्रक्रिया के अभ्यास के सन्दर्भ में प्रवेश का अर्थ विशिष्ट भावार्थ में समझने की आवश्यकता है। वास्तव में प्रवेश उस विशिष्ट परिस्थिति में देखा जा सकता है जब जीवन के किसी भी मनो-सामाजिक पक्ष से सम्बन्धित समस्या से ग्रस्त व्यक्ति किसी समाज कल्याण संस्था पर सामाजिक कार्यकर्ता से सहायतार्थ आता है। प्रवेश एक ऐसी स्थिति है जिसके दौरान समस्याग्रस्त व्यक्ति के माध्यम से समुदाय की वस्तुस्थिति का प्रमापन होता है तथा पूर्ण व अपूर्ण सामाजिक आवश्यकताओं का ज्ञान होता है। ऐसी जानकारी को समस्त निजी एवं सार्वजनिक अभिकरणों में प्रवेश की आवृत्ति का मूल्यांकन करके सामाजिक आवश्यकताओं के लिये केन्द्रीय नियोजन संकायों के माध्यम से प्रभावी बनाई जाती है।

दूसरे अर्थ में प्रवेश एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत् सम्बन्ध स्थापन व संचार का मार्ग प्रशस्त करके व्यक्ति व परिवार की आवश्यकताओं को समझने और उनकी पूर्ति करने के प्रयास में वैयक्तिक सेवा कार्य की निपुणता का उपयोग किया जाता हैं। इस प्रक्रिया की सफलता के लिए आवश्यक है कि वैयक्तिक कार्यकर्ता को अपने समुदाय, अपने अभिकरण एवं मानवीय व्यवहार के सन्दर्भ में समुचित ज्ञान हो। विशेषकर मानव के उन व्यवहारों के सम्बन्ध में जानकारी हो जो व्यक्ति अपनी सामाजिक व व्यक्तिगत कठिनाइयों के दौरान व्यक्त करता है। वैयक्तिक कार्यकर्ता को साक्षात्कार की तकनीकों एवं प्रवेश-प्रक्रिया की विधियों की जानकारी होनी चाहिये ताकि वैयक्तिक कार्यकर्ता सेवार्थी के सम्बन्ध में अधिकतम जानकारी प्राप्त करने में सफल हो तथा सेवार्थी को अधिकतम सहायता प्राप्त करा सकने में समर्थ हो।

प्रवेश प्रक्रिया का उद्देश्य सेवार्थी एवं वैयक्तिक कार्यकर्ता के बीच एक दूसरे की समझ विकसित करना है जिसके आधार पर सर्वांगीण सेवा प्रदान की जा सके तथा सेवार्थी को सर्वोत्तम सेवा प्रदान करने के उद्देश्य से अन्य सामुदायिक साधनों के उपयोग हेतु उपयुक्त अभिकरण पर भेजने, क्रमबद्ध रूप से अन्वेषण जारी रखने का निर्णय लेने अथवा अभिकरण के माध्यम से वैयक्तिक सेवा कार्य के द्वारा उपचार प्रदान करने या इन समस्त सेवाओं को समेकित रूप से उपलब्ध बनाने की प्रवेश प्रक्रिया का उद्देश्य है।

विस्तृत सामाजिक परिवेश तथा विशिष्ट प्रक्रिया में प्रवेश के दो अर्थों को पूर्णतः एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। प्रवेश के दोनों अर्थों में जन-सेवा का ध्येय निहित है तथा सामुदायिक संगठन के कार्यक्रमों की अन्तर्निभंरता प्रतिबिंबित होता है जो वैयक्तिक व सामाजिक आवश्यकताओं को समझने व उनकी पूर्ति करने के सन्दर्भ में चित्रांकित की जाती है। इस विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रवेश जहाँ एक अवधारणा है वहीं एक प्रक्रिया भी है। प्रवेश अवधारणा एवं प्रक्रिया रोगी व्यक्ति एवं उसके परिवार को प्रदान की जाने वाली सेवाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। परन्तु यह स्पष्ट करना कि किस प्रकार सामुदायिक संगठन प्रवेश को प्रभावित करता है, सामाजिक संसाधनों के स्वरूप एवं किसी भी समुदाय में सामाजिक नियोजन की स्थिति, प्रत्येक अभिकरण के क्रिया-कलापों आदि से निर्धारित होता है। इन बातों को स्पष्ट करने के लिये विचारणीय तथ्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) अभिकरण की सेवा सम्बन्धी अवधारणा का आधार प्रवेश का दर्शन होता है तथा

(2) प्रवेश के तकनीकी व वैधानिक पक्ष मानवीय व्यवहार व सामाजिक समस्याओं को समझने सम्बन्धी वैयक्तिक सेवा कार्य की निपुणता से सम्बन्धित होते हैं।

प्रवेश का दर्शन

जब भी कोई व्यक्ति किसी सामाजिक अभिकरण पर सेवा प्राप्त करने के उद्देश्य से आता है, वह विस्तृत रूप से ऐसी विभिन्न आवश्यकताओं व समस्याओं से ग्रस्त होता है जिनके समाधान की वह अपेक्षा रखता है। कुछ समस्याग्रस्त व्यक्ति किसी विशेष अभिकरण पर इसीलिए आते हैं कि वे अभिकरण की कार्यविधि एवं सेवाओं से सुपरिचित होते हैं तो कुछ व्यक्ति अभिकरण के क्रियाकलापों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ होते हैं जिन्हें विशिष्ट सेवाओं के लिए किसी अन्य संस्था (अभिकरण) द्वारा भेजा जाता है। उन्हें यह ज्ञात नहीं होता कि जिस अभिकरण पर उन्हें भेजा गया है वह किस प्रकार और किस सीमा तक उनकी आवश्यकताओं व समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने में सक्षम होगा। अभिकरण पर सेवा प्राप्त करने के उद्देश्य से आये हुए अशक्त व समस्याग्रस्त व्यक्ति से किस रूप में प्रारम्भिक सम्पर्क स्थापित किया जाए, अभिकरण उसके निवेदन, उसकी समस्या, उसकी आवश्यकता अथवा इन समस्त पक्षों के प्रति कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करें; इनका आधार अभिकरण के प्रवेश सम्बन्धी दर्शन पर निर्भर करता है।

कुछ अभिकरण मुख्य रूप से समस्याग्रस्त व्यक्ति द्वारा सहायता प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत निवेदन पर ही विचार करके निर्णय करते हैं कि अपनी पारिभाषित क्रियाकलापों की सीमाओं के अन्तर्गत् अभिकरण आगन्तुक की सेवा कर सकता है अथवा नहीं, जबकि कुछ अन्य अभिकरण सेवा प्राप्त करने के निवेदन के पीछे निहित विशिष्ट समस्या को महत्त्व देते हैं तथा समस्याग्रस्त व्यक्ति के अभिभावकों व सम्बन्धियों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं के लक्षणों के आधार पर विचार करके कि क्या सम्बन्धित समस्या अभिकरण के द्वारा प्रदत्त सेवा-क्षेत्र की परिधि में है या नहीं, सेवा प्रदान करने की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं। अन्य अभिकरण व्यक्ति विशेष द्वारा की गई प्रार्थना, उसकी समस्या एवं आवश्यकताओं को अपने सामाजिक संसाधनों के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करते हैं, साथ ही वैयक्तिक कार्यकर्ताओं की समस्या-समाधान की विशिष्ट क्षमता व निपुणता को ध्यान में रखते हुए सेवा प्रदान करने या न करने का निर्णय करते हैं। कुछ ऐसे भी अभिकरण हैं जो न तो विशिष्ट निवेदन पर ध्यान देते हैं, न समस्या के स्वरूप व आवश्यकता की गम्भीरता पर, न ही वे अपने साधनों का अवलोकन करते हैं और न ही अपने कार्यकर्ताओं की क्षमता, निपुणता अथवा उपलब्ध सामाजिक साधनों पर ही ध्यान देते हैं वरन् वे केवल व्यक्ति व उसकी आवश्यकता की जानकारी के आधार पर ही सेवा प्रदान करने का निर्णय कर लेते हैं। अभिकरण की भूमिका पर तब विचार किया जा सकता है जब समस्याग्रस्त व्यक्ति की आवश्यकता निश्चित हो जाये तथा यह स्पष्ट हो जाये कि उसकी पूर्ति समुचित रूप से अभिकरण द्वारा सम्भव है। विस्तृत अर्थों में कहा जा सकता है कि अभिकरण को 'खुले द्वार' की नीति का पालन करना चाहिये तथा अभिकरण द्वारा आन्तरिक अथवा वाह्य रूप से सेवा प्रदान करने अथवा न करने का निर्णय तब करना चाहिए जब आवश्यकताओं का काफी सीमा तक अन्वेषण कर लिया जाये। कोई विशेष निर्णय, अभिकरण के क्रियाकलापों एवं अभिकरणों व समुदाय में उपलब्ध संसाधनों के सन्दर्भ में आवश्यकताओं के मनोसामाजिक ज्ञान व समझ पर आधारित होता है।

प्रवेश के दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि यह एक प्रक्रिया है जिसमें समस्या के स्वरूप व प्रकृति का ज्ञान समस्याग्रस्त व्यक्ति द्वारा समस्या व आवश्यकताओं के प्रस्तुतीकरण, उसकी प्रेरणा तथा व्यक्तिगत, सामुदायिक व अभिकरण में उपलब्ध साधनों का समाज कार्य की तकनीकों, विधियों व निपुणताओं के उपयोग द्वारा मनोसामाजिक ज्ञान से होता है। समस्याग्रस्त व्यक्ति की अभिकरण से अपेक्षायें और जानकारी का भी अन्वेषण किया जाता है। यदि उसे अभिकरण की कार्यविधि एवं साधनों

का समुचित ज्ञान नहीं होता तो इस प्रक्रिया के दौरान समस्याग्रस्त व्यक्ति को समुचित जानकारी प्रदान की जाती है। इस प्रक्रिया के दौरान कार्यकर्ता प्रारम्भिक साक्षात्कारों के द्वारा समस्याग्रस्त व्यक्ति को यह आभास कराता है कि कार्यकर्ता उसे और उसकी समस्या को भलीभाँति समझता है, साथ ही कार्यकर्ता अपनी व अभिकरण की सीमाओं व कमियों को भी स्पष्ट कर देता है ताकि समस्याग्रस्त व्यक्ति में कार्यकर्ता व अभिकरण के प्रति विश्वास की धारणा विकसित हो सके।

प्रवेश-प्रक्रिया द्वारा कार्यकर्ता वास्तविक तथ्यों के संचालन द्वारा वास्तविक परिस्थितियों का अन्वेषण करके देखता है कि व्यक्ति विशिष्ट अभिकरण में क्यों आया और अपनी समस्याओं के बारे में क्या विचार करता है, वह कार्यकर्ता से क्या अपेक्षा करता है कि क्या अभिकरण के क्रिया-कलापों द्वारा समस्याग्रस्त व्यक्ति की अपेक्षायें पूरी हो सकती हैं। साथ ही कार्यकर्ता साक्षात्कार के मध्य सेवार्थी की समस्या-समाधान के सम्बन्ध में स्वयं अपनी योग्यताओं, क्षमताओं एवं प्रेरणाओं तथा निपुणताओं का भी प्राथमिक रूप से आँकलन करता है। केवल इतना ही नहीं वरन् प्रवेश-प्रक्रिया के दौरान साक्षात्कार के माध्यम से प्राथमिक निदान एवं मूल्यांकन का कार्य भी किसी सीमा तक पूर्ण होता है अर्थात् प्रवेश-प्रक्रिया द्वारा समाज कार्य के सम्पूर्ण चरण–अध्ययन, निदान व उपचार की प्रक्रिया सुचारु रूप से चलती रहती है।

इस प्रकार प्राथमिक या प्रवेश साक्षात्कार के माध्यम से ही सेवार्थी को प्राथमिक अवस्था में ही प्रारम्भिक चिन्ताओं से मुक्त करने तथा सुरक्षा एवं विश्वास की अनुभूति प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप अपने वृत्तिक सम्बन्धों को भी स्पष्ट कर दिया जाता है क्योंकि वृत्तिक सम्बन्ध के साथ सेवार्थी से तादात्मीकरण स्थापित करने की सम्भावनाएँ बढ़ती हैं।

प्रवेश-प्रक्रिया के अन्तर्गत् सामान्यतः उपर्युक्त सभी लक्ष्य पूरे किये जाते हैं जिमके लिये अधिकतम पाँच प्रवेश साक्षात्कार किये जाते हैं। प्रवेश-प्रक्रिया को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है।

प्रवेश के प्रकार

1. प्रत्यक्ष-प्रवेश : सेवार्थी जब स्वयं अभिकरण पर आकर अपनी समस्या के समाधान हेतु चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता से सम्पर्क स्थापित करता है। इस प्रकार आमने-सामने, समस्याग्रस्त व्यक्ति व कार्यकर्ता के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्धों के आधार पर साक्षात्कार करके प्रवेश-प्रक्रिया पूर्ण की जाती है।

2. दूरभाष-प्रवेश : किसी परिस्थिति विशेष में जब समस्याग्रस्त व्यक्ति संस्था पर न आकर दूरभाष के द्वारा अभिकरण पर चिकित्सीय सामाजिक कार्यकर्ता से सम्पर्क करके स्वयं अपने व अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में अवगत् कराके प्रवेश-प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण पूर्ण करता है।

3. पत्राचार-प्रवेश : कभी-कभी जब समस्याग्रस्त व्यक्ति किसी विशिष्ट अभिकरण से सहायता प्राप्त करने का इच्छुक होता है परन्तु वह व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने में असमर्थ होने के कारण पत्राचार द्वारा सम्पर्क करता है तो इसे पत्राचार-प्रवेश की संज्ञा दी जाती है।

4. सूचनावाहक द्वारा प्रवेश : जब समस्याग्रस्त व्यक्ति अपनी असमर्थता के कारण अभिकरण पर स्वयं नहीं आता वरन् सम्बन्धियों या मित्रों द्वारा अपनी समस्या के सम्बन्ध में अभिकरण पर कार्यकर्ता को सूचित करके सहायता प्राप्त करने के सन्दर्भ में प्रवेश-प्रक्रिया प्रारम्भ करता है तो इस प्रकार के प्रवेश को हम सूचनावाहक द्वारा प्रवेश कहते हैं।

चिकित्सकीय समाज कार्य की पद्धतियाँ

गोल्ड स्टीन द्वारा सम्पादित पुस्तक "रीडिंग्स इन दि थियरी ऐण्ड प्रैक्टिस ऑफ मेडिकल सोशल वर्क" में कैनन ने अपने लेख "दी यूज़ ऑफ मेडिकल सोशल वर्क" में चिकित्सकीय समाज कार्य की निम्नलिखित तीन पद्धतियों का उल्लेख किया है[1]:—

1. सहायता : चिकित्सकीय समाज कार्य पद्धति द्वारा सार्वजनिक या व्यक्तिगत् रूप से नियंत्रित सामुदायिक संसाधनों को उस व्यक्ति या व्यक्तियों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये विस्तृत किया जाता है जो व्यक्तिगत साधनों का उपयोग करके परम्परागत् तथा वैधानिक रूप से मान्य जीवन-स्तर को बनाये रखने में असमर्थ होते हैं।

2. सूचना : सहायता देने के पूर्व की वह स्थिति जहाँ सेवार्थी को सूचनायें एवं स्पष्टीकरण दिया जाता है। यह पद्धति सामान्यतः रुग्णता के निवारण के प्रति ज्ञान के उपयोग की दिशा में निदेशित होती है साथ ही चिकित्सकीय साधनों एवं उनके उपयोग के सम्बन्ध में उपयुक्त स्पष्टीकरण किया जाता है।

---

1. कैनन, ए० "दि यूज़ ऑव मेडिकल सोशल वर्क" गोल्डस्टीन (सम्पादित) रीडिंग इन दि थियरी ऐण्ड प्रैक्टिस ऑव मेडिकल सोशल वर्क, पृष्ठ 27–37.

3. संवेगात्मक-मुक्ति के अवसर : चिकित्सकीय समाज कार्य के अन्तर्गत सामाजिक उपचार की तीसरी पद्धति सेवार्थी की बातों को धैर्य एवं सहानुभूतिपूर्वक सुनने के साथ ही उसे ऐसा अवसर प्रदान करने के रूप में वर्णित की जा सकती है कि वह अपने संवेगों को निःसंकोच व्यक्त करके उससे मुक्ति पा सके। इसके अन्तर्गत् सेवार्थी को यह भी विश्वास दिलाया जाता है कि वह ऐसा आभास करे कि कोई विशेषज्ञ उसे निःस्वार्थ सेवा प्रदान करने के लिये उपस्थित है। कभी-कभी यह पद्धति रोगी के उपचार हेतु प्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करने के उपयोग में लायी जाती है, विशेषकर उस स्थिति में जब यह आभास हो कि रोगी की अवदमित भावनाएँ रोग का कारण हैं। साथ ही रोगी की इस प्रकार सहायता की जाती है कि रोगी अपनी अक्षमता के बावजूद कुछ रचनात्मक कार्य कर सके।

चिकित्सकीय सामाजिक उपचार

संसूचित वास्तविक चिकित्सकीय उपचार प्रायः सामाजिक उपचार के लिये उपयुक्त मार्ग होता है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता मुख्य रूप से उन सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित होता है जो चिकित्सकीय स्थितियों तथा उपचार के प्रत्यक्ष कारणों से उत्पन्न होती हैं। सामाजिक कार्यकर्ता रोगियों के आहार, देखरेख, चिकित्सालय तक आवागमन आदि के लिये व्यवस्था करने में सहायता करता है।

अधिकांश चिकित्सकीय सामाजिक उपचार रोगी की सामाजिक भूमिका व सम्बन्धों के समायोजन से सम्बन्धित होते हैं, अतः कार्यकर्ता रोग एवं सांवेगिक पक्षों के कारण उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक व शारीरिक समस्याओं के अध्ययन व उपचार में सहायता करता है। चिकित्सकीय सामाजिक उपचार का एक शक्तिशाली पर्यावरणीय आधार होता है अर्थात् भौतिक पर्यावरण के साथ स्थाई या अस्थाई सामंजस्य का पक्ष होता है। इस सम्बन्ध में रोगी के व्यवसाय या आवास स्थल या जीवनयापन के तरीके में परिवर्तन की आवश्यकता तथा अन्य विशिष्ट सेवाओं के लिये चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता से अपेक्षा की जाती है।

व्याख्या चिकित्सकीय सामाजिक उपचार की एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रविधि है। बार्टलेट ने इसके निम्नलिखित विभिन्न स्वरूप बताये हैं :—

1. सामाजिक कारकों की व्याख्या नैदानिक प्रक्रिया का एक अंग है जिन्हें सामाजिक कार्यकर्ता चिकित्सक के सम्मुख प्रस्तुत करता करता है।
2. चिकित्सकीय सामाजिक समस्याओं की व्याख्या—जिसे कार्यकर्ता अन्य वृत्तिक सहकर्मियों के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

3. **रोगी और उसके सम्बन्धियों के सम्मुख चिकित्सकीय समस्या, इसके सामाजिक प्रभावों तथा समाधान की विधियों की व्याख्या करना।**

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता मुख्य रूप से चिकित्सकीय व सामाजिक पक्षों तथा इन सम्बन्धों के कारण उत्पन्न समस्याओं के उपचार व अध्ययन के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह सेवा चिररोगों व शारीरिक-बाधित रोगियों के वैयक्तीकरण में उपयोग में लाई जाती है। रोगियों के समस्त सामाजिक सम्बन्धों के विस्तृत अध्ययन के द्वारा चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता उपचार-दल के अन्य सदस्यों को तथ्यों से अवगत कराता है जिससे चिकित्सकीय उपचार की प्रगति उचित रूप से प्रभावित होती है; अर्थात् सामाजिक कार्यकर्ता उपचार-दल के समस्त सदस्यों को रोगी की मनोसामाजिक स्थिति को रोग व उपचार के सन्दर्भ में विवेचित करके स्पष्ट करने के प्रयास में उसकी व्याख्या करता है जो सन्तोषजनक चिकित्सकीय उपचार प्रदान करने में दल के सदस्यों को सहायता प्रदान करने का उत्तरदायित्व-निर्वाह है।

चिकित्सकीय समाज कार्य की प्रणालियों एव प्रविधियों का अभ्यास

चिकित्सकीय समाज कार्य के अन्तर्गत् कार्यकर्ता रोगी की रुग्णता और उसके कारण उत्पन्न सामाजिक, मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक पक्षों से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन, निदान एवं उपचार में सहायता प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक अनूठी इकाई के रूप में होता है, उसकी मनोसामाजिक स्थितियाँ, पर्यावरण, मनोवृत्तियाँ, भावनाएँ, शारीरिक गठन तथा व्यक्तित्व दूसरे से भिन्न होता है। इस कारण एक ही रोग से ग्रस्त विभिन्न व्यक्तियों के रोग के कारण और उपचार भी भिन्न होते हैं। अतः चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता उनके अध्ययन, निदान व उपचार प्रक्रिया में आवश्यकता-नुसार अलग-अलग प्रविधियों का उपयोग करता है।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्तिगत रोगी की सहायता हेतु वैयक्तिक सामाजिक कार्य प्रणाली का उपयोग करता है; परन्तु जब अनेक व्यक्ति किसी एक रोग से ग्रस्त होते हैं तथा उनकी एक या अधिक मनोसामाजिक समस्याएँ समान होती हैं तो इन समस्याओं के समाधान तथा पुनर्स्थापन की प्रक्रिया में सामूहिक सेवा कार्य प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार रोग निवारण, स्वास्थ्यवर्धन तथा सामुदायिक स्वास्थ्य शिक्षा तथा परिवार कल्याण आदि कार्यक्रमों में सामुदायिक संगठन प्रक्रिया का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चिकित्सकीय समाजकार्य के अन्तर्गत् समाज कार्य की प्राथमिक तीन प्रणालियों का उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इनके अतिरिक्त समाज कल्याण प्रशासन, सामाजिक क्रिया तथा समाज कार्य शोध

प्रणालियों का प्रयोग भी सहायक प्रणालियों के रूप में समय-समय पर आवश्यकतानुसार किया जाना स्वाभाविक है।

चिकित्सा के क्षेत्र में मुख्य रूप से समाज कार्य की वैयक्तिक सेवा कार्य प्रणाली का सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। इस प्रणाली के माध्यम से चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता तीन स्तरों पर कार्य करता है :—

1. रोगी से सम्बन्धित कार्य,
2. रोगी के परिवार व समुदाय से सम्बन्धित कार्य तथा
3. चिकित्सालय से सम्बन्धित कार्य।

उपर्युक्त समस्त क्षेत्रों में सेवा कार्य के दौरान वह इस बात में विश्वास करता है कि इनका पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध एक दूसरे का परिपूरक होता है क्योंकि कभी तो रोगो किसी व्यक्तिगत् अथवा सामाजिक कारणों से विभिन्न चिकित्सकीय सुविधाओं से वंचित रह जाता है तो कभी रोगी पारिवारिक व सामुदायिक कारणों से रोग व उसके उपचार में अवरोध का सामना करता है तथा कभी-कभी रोगी चिकित्सालय के नियमों, कार्यक्रमों व नीतियों के कारण अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में कठिनाई का एहसास करता है; अर्थात् ऐसा देखा जाता है कि कभी-कभी रोगी, रोगी का परिवार या समुदाय तथा चिकित्सालय तीनों का जो स्वास्थ्यप्रद, संयोग रोग-सुधार, निवारण, उपचार तथा पुनर्स्थापन में होना आवश्यक होता है, वह नहीं होता।

उपर्युक्त समस्त दशाओं में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता वैयक्तिक सेवा कार्य प्रणाली की अनेक उपचार प्रविधियों के माध्यम से सहायता कार्य करता है। इस अभ्यास के दौरान कार्यकर्ता अपने वृत्तिक सम्बन्धों के अन्तर्गत् सचेत रूप से निदेशित क्रियाओं के द्वारा उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपयुक्त प्रविधियों एवं प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक ढंग से निपुणता पूर्वक अभ्यास करता है। चिकित्सकीय समाज कार्य अभ्यास की सफलता के लिये आवश्यक होता है कि कार्यकर्ता व सेवार्थी के बीच वृत्तिक एवं विश्वसनीय सम्बन्ध स्थापित हो। चिकित्सकीय समाजकार्य क्षेत्र में प्रयुक्त वैयक्तिक सेवा कार्य की प्रविधियाँ अपने आप में प्रक्रिया स्वरूप होती हैं जिन्हें कई चरणों में क्रियान्वित करके सेवार्थी की सर्वांगीण रूप से सहायता की जाती है। चिकित्सा के क्षेत्र में अभ्यास की जाने वाली वैयक्तिक सेवा कार्य की कुछ प्रमुख प्रविधियाँ निम्नलिखितहैं : —

(अ) अन्वेषण : उपचार की प्रक्रिया के रूप में इसे प्रश्नीकरण की प्रक्रिया भी कहते हैं। यह उपचार का एक माध्यम भी है और तथ्य संकलन का एक साधन भी। इस उपचार विधि द्वारा कार्यकर्ता विश्वसनीय घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके रोगी के विचारों व भावनाओं को आदरपूर्वक

मान्यता देते हुए प्रश्नों की शृंखला द्वारा समस्या को गहराई तक प्रवेश करता है; फलस्वरूप सेवार्थी की समस्या के निहित स्रोत को स्वयं समझ कर सेवार्थी को भी वास्तविकता के प्रति जागरूक करता है जिसके फलस्वरूप सेवार्थी स्वयं अपनी समस्या, उसके वास्तविक कारण और उपचार की प्रक्रिया से अवगत् हो जाता है और वास्तविकता का ज्ञान होने से उसकी मानसिक चिन्ता व दबाव समाप्त हो जाते हैं। इस विधि के अन्तर्गत् कुछ अन्य प्रविधियों का समावेश भी होता है। इस प्रक्रिया में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता खोद-विनोद व समन्वेषण द्वारा स्पष्ट व अर्न्तनिहित तथ्यों की जानकारी प्राप्त करता है जो मात्र तथ्य संकलन की प्रक्रिया ही नहीं वरन् कई समस्याओं के समाधान में सहायक भी होता है।

(आ) व्याख्या : कभी-कभी सेवार्थी भ्रम एवं वास्तविक ज्ञान के अभाव, व्यर्थ की आशंकाओं अथवा उसके गलत प्रभावों की आशंका से चिन्तित व समस्याग्रस्त रहता है। ऐसे सेवार्थी के साथ सेवा कार्य के दौरान कार्यकर्ता वस्तुस्थिति को समुचित व्याख्या द्वारा वास्तविकता का बोध व अर्द्धचेतन व अचेतन में निहित कारणों को सेवार्थी को स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

(इ) स्पष्टीकरण : इस विधि में कार्यकर्ता द्वारा सेवार्थी के सामने उसके व्यवहारों, समस्या के कारणों व परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करके उसे वास्तविकता से अवगत कराने का प्रयास किया जाता है। स्पष्टीकरण वास्तव में व्याख्या से इस रूप में भिन्न है कि स्पष्टीकरण में उन तथ्यों पर विचार किया जाता है जो स्पष्ट रूप से सेवार्थी के सामने होते हैं तथा व्याख्या उन तथ्यों की होती है जो अर्न्तनिहित होती है जैसे बच्चे के अँगूठा चूसने का कारण शैशवावस्था में स्तनपान की असन्तुष्टि।

(ई) सम्बल : उपचार की यह प्रक्रिया अनेक प्रविधियों का योग है। इसके अन्तर्गत् कार्यकर्ता अनेक प्रविधियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करके सेवार्थी की अहम् शक्ति को विकसित करके साहस व प्रोत्साहन प्रदान करता है जिससे मानसिक तनाव तथा दोष-भावना का शमन होता है और सेवार्थी में आत्म-विश्वास व स्वस्थ रूप से कार्य व व्यवहार करने की दिशा में समुचित शक्ति का विकास होता है। उपचार को इस विधि का प्रयोग घनिष्ठ व विश्वसनीय वृत्तिक सम्बन्ध स्थापन के पश्चात् किया जाता है। इसके द्वारा सेवार्थी में इस सीमा तक मनोबल, आत्मविश्वास, ज्ञान, और अहम् शक्ति का विकास किया जाता है कि वह वास्तविकता को समझकर अपनी समस्या का निराकरण करने में स्वयं सक्षम हो सके। इस

विधि के अन्तर्गत् उपचार प्रविधियों की एक अधोवर्णित शृंखला का प्रयोग किया जाता है :—

1. **अंशीकरण** : जब किसी शारीरिक रुग्णता के कारण रोगी के जीवन सम्बन्धी अनेक मनोसामाजिक पक्ष प्रभावित होते हैं और अनेक छोटी-छोटी समस्यायें एक गम्भीर समस्या को जन्म देती हैं अथवा किसी एक गम्भीर समस्या के फलस्वरूप अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं तो चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता किसी एक प्रमुख समस्या या किसी गम्भीर समस्या के अंश का चयन करके उसके समाधान में सहायता करता है, इसी प्रक्रिया को अंशीकरण की प्रविधि की संज्ञा दी जाती है।
2. **सामान्यीकरण** : शारीरिक रोगग्रस्त सेवार्थियों में कुछ ऐसे रोगी भी होते हैं जो अज्ञानता, भ्रम अथवा अशिक्षा आदि के कारण यह धारणा बना लेते हैं कि उनका रोग तथा अन्य समस्याएं अत्यन्त विशिष्ट हैं तथा वह एकमात्र व्यक्ति हैं जो ऐसे रोग व समस्या से ग्रस्त हैं। ऐसी दशा में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता रोगी के रोग व समस्याओं का सामान्यीकरण करके उसे यह विश्वास दिलाने का प्रयास करता है कि मात्र वही नहीं वरन् अनेक व्यक्ति इस प्रकार की समस्या से ग्रस्त हैं और उसके रोग का उपचार तथा समस्याओं का समाधान भी सम्भव है।
3. **शिक्षण** : समस्या की वास्तविकता एवं प्रकृति को समझने, सम्बन्ध को सुदृढ़ करने तथा समस्या के निराकरण के लिये चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी को नवीन ज्ञान व शिक्षा द्वारा वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास करता है जिससे सेवार्थी न केवल समस्या के वास्तविक स्वरूप वरन् इसके कारण और उपचार से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करके समस्या से जूझने का भी प्रयास करता है।
4. **तादात्मीकरण** : इस प्रविधि के अन्तर्गत चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ आत्मीयता का वृत्तिक सीमा में प्रदर्शन करके उसकी भावनाओं व मनोवृत्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। कार्यकर्ता यह भी प्रदर्शित करता है कि वह सेवार्थी की समस्याओं को समझ रहा है; इससे सेवार्थी को यह विश्वास होता है कि उसकी समस्याओं का समाधान सम्भव है क्योंकि कार्यकर्ता उसे और उसकी समस्या को समझ रहा है।
5. **संक्षिप्तीकरण** : एक ही समय में जब सेवार्थी के मन में अनेक प्रकार की भावनाएँ व प्रभाव व्याप्त होते हैं और वह इनकी व्यापकता के कारण जटिलताओं के वशीभूत हो जाता है तथा अपने कार्य व व्यवहार की उपयुक्त दिशा निश्चित नहीं कर पाता तो कार्यकर्ता सहायता प्रदान करने के

उद्देश्य से कार्य-कारण-प्रभावों तथा उसकी विचारधाराओं के बीच अन्त-सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें सरल एवं संक्षिप्त रूप से सेवार्थी के सम्मुख स्पष्ट करता है जिससे सेवार्थी सुगमतापूर्वक अपनी समस्याओं और उनके कारणों से अवगत होकर निराकरण की ओर अग्रसर होता है।

6. पुनर्सान्त्वना : इसके अन्तर्गत् चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी रोगी को इस प्रकार के संकेत देता है कि उसकी भावनाएँ एवं व्यवहार समझने योग्य हैं तथा उसकी समस्याओं का समाधान सम्भव है। सेवार्थी को सान्त्वना देकर आश्वस्त किया जाता है कि वह पुनः स्वस्थ एवं समस्या-रहित हो सकता है। इस प्रविधि के प्रयोग में वास्तविक स्थिति व समस्या के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक होता है ताकि सान्त्वना त्रुटिपूर्ण व गलत न हो।

7. निर्देश : कभी कभी रोगी सेवार्थी की कुछ विशिष्ट भावनाओं, स्थितियों एवं रोग व उपचार के प्रति मनोवृत्तियों के नियंत्रण हेतु कार्यकर्ता अधि-कारपूर्ण निर्देशन भी देता है। परन्तु निर्देशन प्रविधि का उपयोग तभी किया जाता है जब सेवार्थी-कार्यकर्ता सम्बन्ध अत्यन्त विश्वसनीय होने के कारण यह सुनिश्चित हो कि निर्देशन से सेवार्थी में आश्रितता की भावना उत्पन्न नहीं होगी तथा वृत्तिक सम्बन्धों की सीमा का उल्लंघन नहीं होगा। साथ ही यह भी निश्चित कर लिया जाता है कि जिस विषय के सन्दर्भ में निर्देशन किया जा रहा है उसकी पूरी जानकारी कार्यकर्ता को हो चुकी है।

8. साधनों का उपयोग : कभी-कभी सेवार्थी के क्रिया-कलापों में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता भागीदारी करके कार्य-निष्पादन को सुलभ बनाता है। साथ ही समस्या के निराकरण में अधिक-से-अधिक मानवीय साधनों का उपयोग किया जाता है। प्रत्येक समुदाय एवं अभिकरण में ऐसे साधन भी उपलब्ध होते हैं जो सेवार्थी की समस्या के समाधान में उपयोगी होते हैं। ऐसे समस्त मानवीय, सामुदायिक व अभिकरण सम्बन्धी साधनों के समुचित उपयोग का प्रयास किया जाता है।

9. स्वीकृति इस प्रविधि का उपयोग आधारभूत रूप से वृत्तिक सम्बन्ध स्थापन प्रक्रिया में ही किया जाता है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता अभिकरण पर सेवार्थी की मानवीय अवधारणों पर पूरी स्वीकृति एवं मान्यता प्रदान करता है जिससे सेवार्थी की अपनी समस्या-समाधान का मार्ग प्रशस्त होता है। स्वीकृति एकपक्षीय न होकर उभयपक्षीय होती है और सेवार्थी व कार्यकर्ता दोनों एक दूसरे को व्यावसायिक परिधि में स्वीकृति व मान्यता प्रदान करते हैं।

10. सार्वभौमीकरण : रोगग्रस्त सेवार्थी अपने रोग एवं इससे सम्बन्धित समस्याओं के कारण निराश व हतोत्साहित होकर समझने लगता है कि समस्या केवल उसके समुदाय और क्षेत्र से ही सम्बन्धित है जिसके कारण समस्या और भी अधिक जटिल रूप धारण करती है। कार्यकर्ता ऐसी स्थिति में सेवार्थी को विश्वास दिलाता है कि उसकी समस्या केवल उसके परिवार, समुदाय या क्षेत्र तक ही सीमित उस जैसे व्यक्तियों की ही समस्या नहीं है वरन् विश्व के अन्य समुदाय या क्षेत्र के व्यक्ति भी इस प्रकार की समस्या से ग्रस्त होते हैं या हो सकते हैं। इस प्रक्रिया से रोगी को अपनी समस्या समाधान के लिए आत्मविश्वास, मनोबल और शक्ति मिलती है।
11. सकारात्मकता : इस प्रविधि द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी की अपनी मनोवृत्ति, व्यवहार, विचार व चिन्तन आदि को स्पष्ट रूप से स्वीकृति प्रदान करता है। साथ ही अन्य लोगों के कार्यों व व्यवहारों को सेवार्थी द्वारा उचित अवलोकन की वास्तविकता के आधार पर जाँचने सम्बन्धी क्रिया-कलाप को भी कार्यकर्ता सकारात्मक स्वीकृति प्रदान करता है।
12. संप्रेषण : कार्यकर्ता नव अन्वेषण द्वारा प्राप्त तथ्यों की व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट करता है कि सेवार्थी में समस्याजनक क्रियाकलाप और व्यवहार क्यों और कैसे हो रहे हैं; इसके फलस्वरूप विशिष्ट अनुभवों से सम्बन्धित सेवार्थी की कष्टदायक भावनाओं में कमी होती है और सम्बल मिलता है।
13. प्रोत्साहन : इस प्रविधि के अन्तर्गत् कार्यकर्ता सेवार्थी की अर्न्तनिहित क्षमताओं को महत्त्व देता है जिससे उसे प्रोत्साहन मिलता है और आत्म सम्मान का विकास होता है। जब सेवार्थी कोई कार्य सफलतापूर्वक कर लेता है तो कार्यकर्ता उस पर विश्वास प्रकट करते हुए प्रशंसा करता है।
14. पर्यावरण परिवर्धन या परिमार्जन : सेवार्थी समस्त परिस्थितियों तथा पर्यावरण से प्रभावित होता है, इस क़ारण कभी-कभी समस्या का स्रोत पर्यावरण में निहित होता है, अतः कार्यकर्ता समस्या-समाधान की दिशा में पर्यावरण व परिस्थितियों में सुधार व परिवर्धन करने का प्रयास करता है जिससे समस्या के निराकरण में सहायता मिलती है।
15. अन्तर्दृष्टि का विकास : इस प्रविधि के द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी की समस्या के समाधान में इस प्रकार सहायता करता है कि वह अपनी आन्तरिक शक्तियों, क्षमता, संवेग व सामर्थ्य तथा इनके समुचित उपयोग की क्षमता को विकसित कर सके। जहाँ कार्यकर्ता यह समझता है कि सेवार्थी की ये आन्तरिक क्षमताएँ क्षीण हैं तो उन्हें शक्तिशाली बनाने की दिशा में भी कार्य करता है ताकि सेवार्थी की समस्या का निराकरण हो सके।

इसके अतिरिक्त चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता स्वास्थ्य से सम्बन्धित अनेक समस्याओं के निराकरण की दिशा में वैयक्तिक सेवा कार्य व सामूहिक सेवा कार्य प्रणालियों में उपयोग की जाने वाली अन्य उपचार प्रक्रियाओं व प्रविधियों का भी प्रयोग करता है।

समूहगत् उपचार :

किसी ऐसे अभिकरण में जहाँ वैयक्तिक सेवा कार्य का अभ्यास किया जाता है जब कार्यकर्ता यह अवलोकन करता है कि रोगी सेवार्थियों की समस्याओं का समाधान सामूहिक सेवा कार्य के माध्यम से सरल और शीघ्र सम्भव हो सकता है तो उस विशिष्ट अभिकरण के अन्तर्गत् सेवा प्राप्त कर रहे सेवार्थियों की अन्य बातों का ध्यान रखते हुए रोगियों के समूह का निर्माण किया जाता है और समूह के माध्यम से कार्यकर्ता अपनी वृत्तिक सेवा को अधिक से अधिक फलदायी और उपयोगी बनाकर सेवार्थी की समस्या के निराकरण का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में यह बात ध्यान में रखी जाती है कि सेवा-र्थियों में समस्या समान रूप से उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त उन समस्याओं का निराकरण व्यक्तिगत् रूप से किया जाता है जो उनकी अपनी अलग समस्या होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वास्थ्य एवं रुग्णता के फलस्वरूप उत्पन्न मनोसामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु चिकित्सालयों में मुख्य रूप से वैय-क्तिक सेवा कार्य प्रणाली का उपयोग किया जाता है। मगर साथ ही जब अनेक रोगी एक ही रोग से ग्रस्त होते हैं या भिन्न-भिन्न रोगग्रस्तों की कुछ समस्याएँ समान व एकरूप होती हैं तो उनके समाधान हेतु सामूहिक सेवा कार्य प्रणाली का उपयोग किया जाता है तथा कभी-कभी आवश्यकतानुसार समूहगत् उपचार का अभ्यास भी करना उपयोगी होता है।

चिकित्सकीय समाज कार्य की उपयोगिता

आयुर्विज्ञान के आधुनिकतम विकास से स्पष्ट व स्थापित हो चुका है कि स्वास्थ्य एवं रुग्णता का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के शारीरिक पक्ष से ही सम्बन्धित नहीं है वरन् इसके सामाजिक व मानसिक पक्ष भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। अतः रोग के कारण उत्पन्न मनोसामाजिक समस्याओं का निराकरण सर्वांगीण स्वास्थ्य का द्योतक है। इस क्षेत्र में चिकित्सकीय समाज कार्य का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसे निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :–

(1) रोगी की सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन :—चिकित्सक का कार्य रोगी की शारीरिक रुग्णता का उपचार करना है मगर उपचार का उद्देश्य रोगी को पूर्ण रूप से स्वस्थ बनाना है। शारीरिक चिकित्सक रोगी की

सामाजिक व मानसिक पृष्ठभूमि और रोग के कारणों, निदान व उपचार के बारे में इनके सम्बन्धियों से ज्ञान प्राप्त करने के सन्दर्भ में प्रशिक्षित नहीं होता। अतः चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता रोग के मनोसामाजिक पक्षों सम्बन्धी तथ्यों का वैज्ञानिक ढंग से संकलन करके रोग के कारणों, निदान व उपचार के क्षेत्र में चिकित्सक व रोगियों की सहायता करता है।

(2) रोगी को व्यक्तिगत् मानसिक दबावों से मुक्ति दिलाने में सहायता :—हेनरी रिचर्ड्सन के अनुसार चिकित्सकीय समाज कार्य का मुख्य उद्देश्य रोगी को उन मानसिक दबावों से मुक्त करने में सहायता करना है जो उसके व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के कारण विकसित होते हैं। 'एच० एम० मागोलिस के विचारों में रोगी की चिकित्सा के लिये एक व्यवस्थित कार्यक्रम की सफलता चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता के महत्वपूर्ण सहयोग पर निर्भर है, वह रोगी की सामाजिक, पारिवारिक तथा आर्थिक दशा का स्पष्टीकरण करता है; अतः रोगी के उपचार के लिये चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता का सहयोग प्राप्त करना अत्यन्त उपयोगी होता है।'

(3) रोग के मनोसामाजिक कारणों की खोज :—शारीरिक रोगों के फलस्वरूप सामाजिक असमायोजन तथा मानसिक असन्तुलन का होना सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार अनेक ऐसे शारीरिक रोग हैं जिनके कारण सामाजिक व मानसिक परिस्थितियों में निहित होते हैं। ऐसे रोगो के समुचित निदान व सफल उपचार के लिये व्यक्तित्व, पर्यावरण व सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक होता है। आयुर्विज्ञान के विशेषज्ञ मात्र शारीरिक लक्षणों के आधार पर निदान व उपचार करते हैं अतः शारीरिक रोगों के साथ ही मनोसामाजिक असामान्यताओं के उपचार के लिये सामाजिक कार्यकर्ता का योगदान आवश्यक होता है।

(4) रोगी को स्वयं समस्या समाधान करने में सक्षम बनाना :—रोग के निदान व उपचार में चिकित्सक के साथ-साथ रोगी का व्यक्तिगत् योगदान भी महत्त्वपूर्ण होता है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता तथा पद्धतियों के उपयोग द्वारा रोगी को अपनी आवश्यकताओं को समझने तथा रोग के कारण उत्पन्न समस्याओं के सन्तोषप्रद समाधान के लिये अपनी क्षमताओं को विकसित करके उनका उपयोग करने में उसे समर्थ बनाता है। साथ ही कार्यकर्ता इस प्रकार भी महत्वपूर्ण योगदान देता है कि रोगी उपलब्ध सामुदायिक साधनों का समुचित उपयोग कर सके।

(5) रोगी को इच्छा शक्ति का विकास करना :—ऐतिहासिक पक्ष पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि रोग के अन्तर्गत् सामाजिक

व आध्यात्मिक पक्षों का भी समावेश होता है इस प्रकार रोगी के प्राकृतिक व आध्यात्मिक विश्वास, उसकी संकल्प व इच्छा शक्ति आदि किसी सीमा तक स्वास्थ्य-सुधार व उपचार को प्रभावित करते हैं। आधुनिक आयुर्विज्ञान के विश्वास के अनुसार रोगी को उसके पर्यावरण से अलग करके नहीं ठीक किया जा सकता। अतः चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता रोगी की भावनाओं, आवश्यकताओं, रोग के प्रति मनोवृत्तियों व इच्छा शक्ति को इस प्रकार विकसित व परिमार्जित करता है कि वे रोग के निदान व उपचार में उपयोगी सिद्ध हो सकें।

6. व्यवस्थापन में रोगी को सहायता :—यह निर्विवाद है कि अभिव्यक्ति व्यवहार के रूप में सामने आती है। अतः रोगी के व्यवहार के सम्बन्ध में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता का यह दायित्व समझा जाता है कि वह रोगी की इस प्रकार सहायता करे कि वह रोग व रोग के कारण उत्पन्न बाधाओं के साथ सुव्यवस्थापन कर सके।

7. पर्यावरण में समुचित परिमार्जन व विकास :—निश्चित रूप से रोगी किसी न किसी विशिष्ट समूह का सदस्य होता है तथा समाज के अन्य सदस्यों के साथ उसका सामाजिक सम्बन्ध होता है। फलस्वरूप रोगी एक ओर तो अपने व्यवहारों व कार्यों से अन्य सदस्यों को प्रभावित करता है, दूसरी तरफ दूसरों के व्यवहार व कार्यों से स्वयं भी प्रभावित होता है। अतः कार्यकर्ता रोगी के सामाजिक सम्बन्धों व पर्यावरण में समुचित परिमार्जन व सुधार करने का प्रयास करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता रुग्णता व स्वास्थ्य, रोग के निवारण, कारण, उपचार व पुनर्स्थापन में महत्वपूर्ण व उपयोगी योगदान देता है।

दलीय कार्य

चिकित्सा के क्षेत्र में दलीय कार्य एक कौशलपूर्ण प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तर्गत् अनेक विशेषज्ञ अपने-अपने क्षेत्र विशेष के ज्ञान, निपुणताओं एवं तकनीकों का प्रयोग करके रोगियों की मानसिक, शारीरिक व सामाजिक समस्याओं का अध्ययन, निदान व उपचार करते हैं। दलीय कार्य के दर्शन, सिद्धान्त एवं सदस्यों के सम्बन्धों आदि पर विचार करने से पूर्व आवश्यक है कि हम दलीय कार्य के अर्थ को समझ लें।

वेब्स्टर्स अन्तर्राष्ट्रीय शब्द कोष में उद्धृत परिभाषा के अनुसार—"दलीय कार्य से तात्पर्य ऐसे कार्य से है जो कई सम्बद्ध व्यक्तियों (विशेषज्ञों) द्वारा

किया जाता है; सामान्यतः सभी स्पष्ट रूप से पारिभाषित कार्यांश को पूर्ण करते हैं परन्तु उनका उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत् विशिष्टता के अन्तर्गत् कार्य करके सम्पूर्ण दल की क्षमता को अधिक उपयोगी बनाना होता है।"

किसी भी दलीय कार्य में सम्बन्ध का आधार प्रत्येक सदस्य के योगदान को आदर देने, सदस्यों को अपनी भूमिका के प्रति जागरूक रहने, दल के अन्य सदस्यों की क्षमताओं के उपयोग करने सम्बन्धी ज्ञान तथा सभी सदस्यों को यह अवसर प्रदान करना है कि वे स्पष्ट कर सकें कि किसी विशिष्ट रोगी के साथ उनकी क्या भूमिका होगी। परस्पर-अन्वय सदस्यों के विशिष्ट उत्तरदायित्व की सीमा तक होता है। इसके सदस्यों के बीच सम्बन्ध प्राथमिक महत्त्व का होता है। वैयक्तिक सेवा कार्य के सन्दर्भ में प्राप्त ज्ञान व अनुभवों के आधार पर ज्ञात होता है कि किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये दो व्यक्तियों का एक साथ कार्य करना उनके आपस के उपयुक्त व सुरक्षित सम्बन्धों पर निर्भर होता है।

यहाँ यह देखना उपयुक्त प्रतीत होता है कि हम यह समझ लें कि उपचार दल के प्रमुख सदस्यों की एक दूसरे के प्रति क्या भूमिका है।

चिकित्सक को औषधि व चिकित्सकीय ज्ञान होता है जिसके द्वारा वह रोगियों की रुग्णता का निदान करता है और उसी के आधार पर भविष्य में रोगियों का उपचार व देखरेख की जाती है। चिकित्सा सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान के अतिरिक्त चिकित्सक मानवीय भावनाओं व चेतना के सम्बन्ध में औपचारिक जानकारी प्राप्त करता है। व्यवहार व भावनाओं सम्बन्धी यह ज्ञान विस्तृत या सीमित हो सकता है। चिकित्सक की रोगी के प्रति निर्भरता, पारिवारिक उत्तरदायित्व, सहायता देने व पाने तथा विभिन्न वृत्तिक समूहों के प्रति एक निश्चित मनोवृत्ति होती है। चिकित्सक, दल का सदस्य होता है और उसमें अन्य वृत्तिक विशेषज्ञों के साथ कार्य करने की क्षमता होती है, उसे अपने वृत्तिक क्षेत्र के महत्व व उत्तरदायित्व को सुरक्षित रखने व कार्यान्वित करने का ज्ञान होता है। चिकित्सक के इसी ज्ञान व क्षमता पर यह निर्भर होता है कि वह अन्य वृत्तियों के सदस्यों का दल में उचित उपयोग कर सके अथवा उनके योगदान को अनुपयुक्त समझे। इस सन्दर्भ में चिकित्सक की व्यक्तिगत् मनोवृत्ति और वृत्तिक धारणा का भी महत्त्व होता है। यदि चिकित्सक की तकनीकी जानकारी उसकी प्राथमिक आवश्यकता का निर्माण करती है तो वह अन्य क्षेत्रों से कुछ और सीखने में रुचि नहीं लेता। परन्तु सामान्यतः उपचार दल के साथ सेवा प्रदान करने में चिकित्सक इस दिशा में सचेत रहता है कि वह दल के अन्य सदस्यों को अपना क्या योगदान दे सकता है। उसमें यह क्षमता भी होती है कि

उन तथ्यों का चयन कर सके जिनके बारे में वह समझता है कि उत्तम सेवा प्रदान करने के सन्दर्भ में अन्य विशेषज्ञों को उनकी आवश्यकता है। चिकित्सक को रोगियों, रोगी समूह तथा दल के अन्य वृत्तिक सदस्यों के साथ अपने सम्बन्धों के सन्दर्भ में अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत रहने की आवश्यकता होती है।

उपचार दल में परिचारिका के योगदान के सन्दर्भ में विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उसमें भी चिकित्सकों की भाँति पृष्ठभूमि एवं मनोवृत्ति में अन्तर होता है। परिचारिकाओं में व्यक्तिगत् स्तर पर मानवीय ज्ञान के स्तर में भिन्नता होती है, क्योंकि प्रशिक्षण के दौरान् मानवीय ज्ञान के आदान-प्रदान एवं व्यक्तिगत् रुचि में भी अन्तर होता है। एक परिचारिका चिकित्सालय में रोगी को काफी समय तक एक नियंत्रित पर्यावरण में देखती है। भर्ती कक्ष में वह रोगी का व्यवहार, प्रतिक्रिया, रोगी की देख-रेख करने वाले सम्बन्धियों, उनके व परिवार के सदस्यों के प्रति रोगी की मनोवृत्ति व प्रतिक्रिया आदि पर दृष्टि रखती है। केवल इतना ही नहीं वरन् परिचारिका उपचार के प्रति रोगी की धारणा व प्रतिक्रिया और परिवार के सदस्यों की रोगी के चिकित्सालय में भर्ती होने के सन्दर्भ में प्रतिक्रिया का गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करती है। इस प्रकार परिचारिका उपचार दल के सदस्यों को ऐसे तथ्य उपलब्ध कराती है जो व्यक्तिगत रोगी एवं उसके परिवार को उपयोगी जानकारी प्रदान करता है।

सामाजिक कार्यकर्ता परिचारिका द्वारा उपलब्ध किये गये तथ्यों का अत्यधिक उपयोग कर सकता है। सामाजिक कार्यकर्ता परिचारिका द्वारा रोगी, उसके परिवार व रुचि आदि के बारे में अत्यन्त कौशलपूर्ण अवलोकन के प्रति स्थिर रूप से सचेत रहता है और इस बात के प्रति भी जागरूक रहता है कि रोगी व उसके परिवार के बारे में सामाजिक कार्यकर्ता व दल के अन्य सदस्य कितनी सूचनायें सम्मिलित कर सकते हैं। रोगी के उपचार के दौरान रोगी के चिकित्सा-कक्ष में समायोजन में वह अत्यधिक योगदान दे सकती है परन्तु यह रोगी की चिकित्सकीय, सामाजिक व संवेगात्मक आवश्यकताओं सम्बन्धी परिचारिका के ज्ञान पर निर्भर होता है। इसी प्रकार परिचारिका भी दूसरे सदस्यों से रोगी व उसके परिवार के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करती है।

उपचार दल में सामाजिक कार्यकर्ता क्या करता है ? सामाजिक कार्यकर्ता की पृष्ठभूमि एवं व्यक्तिगत मनोवृत्तियों में अन्य सदस्यों की भाँति ही भिन्नता पायी जाती है। सामाजिक कार्यकर्ता का सम्बन्ध रोगियों के साथ वस्तुनिष्ठ होता है। सामाजिक कार्यकर्ता की औपचारिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण उसकी

चेतना, मनोवृत्ति तथा रोगियों व अन्य व्यक्तियों एवं स्वयं के सन्दर्भ में मानवीय व्यवहार को समझने में सहायता प्रदान करता है। उसे ऐसा ज्ञान प्रदान किया जाता है कि वह लोगों की मनोवृत्तियों एवं उनकी क्रियाओं में भिन्नता को स्वीकार करे। रोगी के साथ सामाजिक कार्यकर्ता की कार्य विधि उसके प्रशिक्षण व मानवीय ज्ञान पर निर्भर होती है। सामाजिक कार्यकर्ता उपचार-दल के अन्य सदस्यों को भी मानवीय व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करता है।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता विशेषकर रोगी तथा उसके परिवार के सदस्यों में रोग से सम्बन्धित चेतना एवं संवेदनशीलता विकसित करता है, साथ ही रोग से सम्बन्धित सामाजिक व संवेगात्मक पक्षों के प्रति उन्हें जागरूक करता है और ऐसी योग्यता में वृद्धि करता है जिससे वे इन पक्षों का मूल्यांकन रोग के संदर्भ में कर सकें। सामाजिक कार्यकर्ता साक्षात्कार की ऐसी निपुणता विकसित करता है जिसकी सहायता से वह सामाजिक समस्या का निदान करता है। इस क्षेत्र में रोगियों की आवश्यकताओं का मूल्यांकन करता है, अपनी विशिष्ट क्षमता एवं क्षेत्र में आने वाली समस्या का समाधान करता है तथा उपचार दल के अन्य व्यावसायिक सदस्यों की विशिष्ट सेवाओं के अन्तर्गत् आने वाले बिन्दुओं के प्रति जागरूक हो पाता है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता से अपेक्षा की जाती है कि वह रोगी की चिकित्सकीय, सामाजिक एवं संवेगात्मक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उसके पर्यावरण का समुचित रूप से मूल्यांकन करने तथा उसकी इस प्रकार सहायता करने में सक्षम हो कि रोगी अपने सामाजिक पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके। कार्यकर्ता अपना यह दायित्व समझता है कि रोगी के परिवार के सदस्यों की इस प्रकार सहायता करें कि वे सम्पूर्ण उपचार को स्वीकार व कार्यान्वित कर सकें। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता उपचार दल का ऐसा सदस्य होता है जिसे सामुदायिक साधनों का ज्ञान होता है। वह जानता है कि रोगी की आवश्यकताओं की पूर्ति के सन्दर्भ में समुदाय में कौन से साधन उपलब्ध हैं और उनकी प्राप्ति हेतु सामुदायिक अभिकरणों के साथ किस प्रकार कार्य व सम्पर्क करने की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में वह अभिकरणों की नीतियों एवं क्रियाकलापों से अवगत् होता है। कार्यकर्ता समुदाय की कमियों के प्रति जागरूक होता है एवं अनिवार्य साधनों को विकसित करने की विधियों का भी उसे ज्ञान होता है। चिकित्सीय सामाजिक कार्यकर्ता उपचार दल के उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में अपनी योग्यता एवं वैयक्तिक सेवा कार्य सम्बन्धी निपुणता के माध्यम से योगदान देता है तथा अन्य सदस्यों को भी रोगी को भलीभाँति समझने व स्वीकार करने की स्वयं में क्षमता विकसित करने में सहायता प्रदान करता है। कार्यकर्ता अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति भी सचेत रहता है

कि उसे ऐसे तथ्यों का भी संकलन करना है जिनकी सहायता से चिकित्सक, परिचारिका, भौतिक उपचारक, मनोवैज्ञानिक, वृत्तिक उपचारकर्ता तथा उपचार-दल के अन्य सदस्य रोगी को सर्वांगीण सेवा प्रदान करने में सक्षम हो सकेंगे।

उपचार दल के समस्त सदस्य दलीय कार्य के अन्तर्गत् निर्धारित भूमिका को कार्यान्वित करने के सन्दर्भ में एक दूसरे के साथ अपने विशिष्ट वृत्तिक ज्ञान का आदान-प्रदान करते हैं। सामान्यतः सभी सदस्य विशिष्ट रोगियों के सन्दर्भ में विचार-विमर्श करते हैं। दल का प्रत्येक सदस्य समय-समय पर अपनी वृत्तिक विशिष्टता, निपुणता, ज्ञान एवं अनुभवों से अन्य सदस्यों को अवगत् कराने के उद्देश्य से व्याख्यान देते हैं। इस सन्दर्भ में अन्य वृत्तिक विद्वानों के व्याख्यान का भी आयोजन किया जाता है ताकि उपचार दल और अधिक सक्षम हो सके। रोगियों की विशिष्ट आवश्यकताओं के मूल्यांकन के उद्देश्य से उत्तर-निदान गोष्टियों का भी आयोजन किया जाता है। रोगियों को सर्वांगीण एवं सर्वोत्तम सेवा प्रदान करने के उद्देश्य से उपचार दल के समस्त सदस्य भर्ती-कक्ष में रोगियों से सम्पर्क करके सेवा प्रदान कर सकते हैं।

दलीय सम्बन्ध

चिकित्सकीय देखरेख का विस्तृत उद्देश्य स्वास्थ्य की पुनः प्राप्ति एवं वृद्धि तथा रोग निवारण है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अनेक वृत्तियाँ जैसे परिचर्या, आहार विज्ञान, वृत्तिक उपचार, भौतिक उपचार, चिकित्सकी समाज कार्य आदि चिकित्सा-वृत्ति के साथ अपने विशिष्ट वृत्तिक ज्ञान व निपुणता के साथ सहयोग करती हैं। यद्यपि किसी निदान शाला अथवा चिकित्सालय में चिकित्सकीय सेवा प्रमुख एवं प्राथमिक सेवा होती है परन्तु अन्य वृत्तियों द्वारा प्रदत्त सेवायें चिकित्सकीय देख-रेख के लिये समान रूप से महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। इस प्रकार चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता दल का मात्र एक सदस्य है, सभी सदस्यों के लिये आवश्यक है कि वे एक दूसरे की विशिष्ट वृत्तिक क्षमता के क्षेत्र से भलीभाँति अवगत हों। सहयोगी दलीय सम्बन्ध एवं रोगी की उत्तम सेवा के लिये आवश्यक है कि दल के सभी सदस्य एक दूसरे की भूमिका से भलीभाँति परिचित हों तथा एक दूसरे के वृत्तिक योगदान को परस्पर सम्मान दें। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता में दल के एक सदस्य के रूप में कार्य करने का आवश्यक ज्ञान एवं निपुणता होनी चाहिए। उसे यह ज्ञान होना चाहिये कि अन्य सदस्यों की क्या भूमिकाएँ हैं और वह अपनी भूमिका से किस तरह उन्हें अवगत करा सकता है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता में यह भी निपुणता होनी चाहिये कि वह अपनी सेवाओं को संस्था द्वारा प्रदान की जा रही सम्पूर्ण सेवा के साथ समेकित कर सके।

दलीय कार्य का दर्शन एवं सिद्धान्त

दलीय कार्य के दर्शन एवं सिद्धान्त उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाते हैं फिर भी हम यहाँ दलीय कार्य के दर्शन को इसकी निम्नलिखित चार आधारभूत मान्यताओं के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करेंगे :—

(1) समाज द्वारा दल के उत्तरदायित्वों की मान्यता व स्वीकृति :

उपचार दल के कुछ उत्तरदायित्व विधि, परम्परा एवं अन्य निश्चित प्रतिमानों के माध्यम से समाज द्वारा निर्धारित किये गये हैं। ये उत्तरदायित्व दल के सदस्यों को इस कारण नहीं दिये जाते कि उनके पास उपाधियाँ हैं अथवा वे किसी विशिष्ट वृत्तिक संगठन से सम्बन्धित हैं वरन् यह समाज और समुदाय है जो वृत्तिक क्रियाकलापों पर दृष्टि रखते हुए सेवा प्रदान करने के संदर्भ में दल को उत्तरदायित्व देते हैं और उससे अपेक्षायें करते हैं। उपचार दल के लिये यह आवश्यक होता है कि दल के सदस्य यह विश्वास करें कि उनकी वृत्तियों का प्रथम उद्देश्य सामुदायिक हित होता है; अर्थात् इस वृत्तिक दल का प्रथम उद्देश्य और उत्तरदायित्व उस समाज व समुदाय के प्रति होता है जिसने दल के सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करते हुए व शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्रदान करते हुए वृत्तिक दक्षता प्रदान की है।

(2) मानवीय समस्याओं का स्थायी व आधारभूत रूप से समाधान करने की आवश्यकता :

आज के आधुनिक युग में पहले की अपेक्षा यह धारणा अधिक पायी जाती है कि मानवीय समस्याओं का समाधान स्थाई व आधारभूत रूप से होना चाहिये। यह दृष्टिकोण मनोसामाजिक विज्ञान विशेषकर समाज कार्य के विकास व समस्या समाधान की वृत्तिक प्रक्रिया के साथ और भी अधिक स्पष्ट हो गया है। आज इस सत्यता में विश्वास किया जाता है कि सामाजिक स्थितियों व रुग्णता के बीच सम्बन्ध के कारण मानवीय समस्याओं का समय पर समाधान आवश्यक है; अन्यथा ये समस्याएँ और भी अधिक बृहद् रूप धारण करेंगी। इस कारण निराकरण की अपेक्षा निवारण पर बल दिया जाता है तथा समस्या समाधान या उपचार के संदर्भ में एक पक्षीय निराकरण की तुलना में समेकित एवं सर्वांगीण उपचार को दृष्टिगत् रखते हुए उपचार दल अपनी भूमिका का निर्धारण करता है।

(3) व्यक्ति की जैवकीय प्रकृति :

मानवीय विचारधाराओं के इतिहास में व्यक्ति की आधारभूत जैवकीय प्रकृति का विवरण मिलता है परन्तु धीरे-धीरे इस सम्बन्ध में और अधिक

अन्तर्दृष्टि विकसित हो चुकी है। फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सम्बन्धी योगदान, मनो-जैवकीय चिकित्सा तथा अन्य वृत्तिक विशिष्टताओं जैसे मनःचिकित्सा, समाज कार्य, मनोविज्ञान आदि के विकास ने अनेक दिशाओं एवं जटिलताओं को जन्म दिया है।

यह स्पष्ट है कि व्यक्ति मात्र जीवित ही नहीं रहना चाहता वरन् कुछ करना भी चाहता है। व्यक्ति उद्देश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। इस धरती पर व्यक्ति का जीवन भौतिक घटनाओं से अधिक आध्यात्मिकता से सम्बन्धित होता है। दलीय कार्य के अन्तर्गत् उक्त विश्वास रचनात्मक क्रियाओं की स्थिति उत्पन्न करता है। उपचार की विस्तृत अवधारणा के अन्तर्गत् उपयोगिता की धारणा निहित होती है, जैसे व्यक्ति की कार्य व्यस्तता या नौकरी जो रचनात्मक, उत्पादक एवं अंशदायी स्वरूप की होती हैं, जिसे सामुदायिक साधनों की उपयोगिता की संज्ञा दी जा सकती है। इसी के साथ स्थापन व पुनःस्थापन को भी सन्निहित किया जाना चाहिये।

व्यक्ति केवल जन्म लेने और समुदाय में शारीरिक व मानसिक रूप से विकसित होने के लिये ही नहीं होता वरन् उससे अपने जीवन में कुछ और भी करने की अपेक्षा की जाती है और जब व्यक्ति कुछ करना चाहता है तो समुदाय उसे उत्तरदायित्व निर्वाह करने में सहायता प्रदान करता है। यह विकास व्यक्ति के जन्म से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण जीवनभर एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में चलना चाहिये क्योंकि जब व्यक्ति को अपने जीवन-यापन की उपयुक्त दिशा, अपनी शारीरिक व मानसिक शक्ति व बौद्धिक क्षमता को रचनात्मक उद्देश्य-पूर्ण क्रियाकलापों के माध्यम से अभ्यास का अवसर प्राप्त नहीं होगा तो उसमें कुण्ठा व चिन्ता का उत्पन्न होना स्वाभाविक है जिसके कारण मनोजैवकीय व मनोविकार सम्बन्धी रोग विकसित हो जाते हैं।

सहयोगिता के सिद्धान्त

दलीय कार्य सहयोग के आधार पर की जाने वाली एक निरन्तर प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत् विभिन्न वृत्तियों के विशेषज्ञ एक साथ मिलकर सहयोगपूर्ण वातावरण में उद्देश्य की दिशा में अपने-अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए एक-दूसरे की कार्यक्षमता के समुचित अभ्यास के लिये मार्ग प्रशस्त करते हैं तथा अपने-अपने क्षेत्र विशेष के विशिष्ट ज्ञान का इस प्रकार आदान प्रदान करते हैं कि सम्पूर्ण दल की क्षमता व प्रकार्यात्मकता में सर्वांगीण रूप से विकास हो ताकि सेवार्थी को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। इससे स्पष्ट है कि दलीय कार्य की सफलता का आधार समुचित सहयोगिता होती है। यदि किसी एक सेवार्थी

की समस्या का स्वरूप ऐसा है कि उसके समाधान में दो या अधिक क्षेत्रों के विशेषज्ञों की भूमिका अपेक्षित है तो इन विशेषज्ञों में सहयोगिता की स्थिति में सेवा कार्य करने की जिज्ञासा, लगन तथा निपुणता की आवश्यकता होती है जो तभी सम्भव है जब उनमें अपने सीमित क्षेत्रों में कार्य करते हुए एक दूसरे को सहयोग प्रदान करने की भावना होगी जिसको विकसित करने के लिये कुछ विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

1. अभ्यास के स्तर पर सफलतापूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिये आधार स्वरूप यह अनिवार्य है कि प्रशासनिक स्तर पर परिपाटी, सम्बल तथा उपयुक्त संरचना निर्धारित हो।

   चिकित्सकीय एवं शल्य चिकित्सकीय सहयोगियों को अनुस्थापन-प्रशिक्षण सन्निहित सेवाओं के प्रमुखों द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए।

   सेवा कार्य अभ्यास के स्तर पर सहयोग देने वाले कार्यकर्ताओं को सम्मिलित करना चाहिये।

2. सम्पूर्ण सहयोगी प्रक्रिया का अन्तिम उद्देश्य रोगी को सेवा प्रदान करना होता है।

   सहयोगी प्रक्रिया का अनिवार्य तत्त्व संरचना है परन्तु इसे कभी भी सेवा कार्य से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए।

3. इस बात को सदा मान्यता देनी चाहिये कि सहयोगी प्रक्रिया एवं सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों के सम्बन्ध में ज्ञान विस्तार की दिशा में चिकित्सकीय सामाजिक शिक्षण प्रक्रिया के बीच भिन्नताएँ होती हैं।

   इन प्रक्रियाओं के बीच भिन्नताएँ हैं क्योंकि सहयोगिता का प्रमुख उद्देश्य रोगी की सेवा करना होता है जबकि चिकित्सकीय सामाजिक शिक्षण का प्राथमिक उद्देश्य ज्ञान वृद्धि होता है।

   प्रायः अप्रदर्शित (सन्निहित) शिक्षा की अपेक्षा प्रदर्शित सेवाएँ अधिक प्रभावशाली होती हैं।

4. दल के सदस्यों के बीच उचित संचार सहयोगिता का आधार है।

   (i) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिए कि वह दिन-प्रतिदिन की भाषा में वार्तालाप करे और समाज कार्य या मनोविकार के क्षेत्र की विशिष्ट कठिन शब्दावली का उपयोग न करे।

(ii) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिये कि वह उन तथ्यों का भी संकलन करे जो दल के अन्य सदस्यों को अपेक्षित हों तथा इन तथ्यों व सूचनाओं का दल के सदस्यों के बीच आदान-प्रदान करे।

(iii) यह सामाजिक कार्यकर्ता का उत्तरदायित्व होता है कि सामाजिक परिस्थितियों में हो रहे परिवर्तनों तथा वैयक्तिक सेवा कार्य की प्रगति से दल के अन्य सदस्यों को भी सूचित करता रहे।

(iv) जब दल में कोई नया सदस्य सम्मिलित होता है या स्थानान्तरित होता है तो सामाजिक कार्यकर्ता का उत्तरदायित्व है कि नये सदस्य के लिये वह अब तक की सहयोगिता-प्रक्रिया एवं वर्तमान सामाजिक परिस्थितियो का पुनर्मूल्यांकन करें।

(v) यह सामाजिक कार्यकर्ता का उत्तरदायित्व है कि वह प्रत्येक रोगी के चिकित्सकीय व स्वास्थ्य विकास पर गहरो दृष्टि रखे, विशेषकर उन रोगियों पर जिनके साथ वह निकटतम सम्बन्ध स्थापित करके सेवा कार्य करता है।

(vi) सामाजिक कार्यकर्ता का उत्तरदायित्व है कि वह दल के सदस्यों को यह स्पष्ट करे कि उनके वृत्तिक कार्यों से सम्बन्धित उपयुक्त क्रिया-कलाप क्या हैं ?

5. प्रत्येक सहभागियों के लिये यह महत्त्वपूर्ण है कि वे सहभागिता प्रक्रिया के अन्तर्गत् अपनी विशिष्ट वृत्ति द्वारा निर्दिष्ट भूमिका निष्पादित करें।

(i) सामाजिक कार्यकर्त्ता के लिये आवश्यक है कि वह अपनी भूमिका को समझे, स्वीकार करे तथा भूमिका के निर्वाह में अधिक सक्षम हो। ऐसी ही स्थिति में सभी सदस्य एक-दूसरे की क्षमता, अनुभव, ज्ञान व निपुणता का समुचित उपयोग कर सकते हैं।

(ii) सहयोगिता-प्रक्रिया की रुचि रोगी की सर्वोत्तम सेवा करने में है जिसके लिये सभी सदस्य अपनी-अपनी वृत्ति के आधार पर भूमिका का निर्वाह करते हैं।

(iii) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिये कि वह अपने वृत्तिक क्रिया कलापों के सम्बन्ध में अपने क्षेत्र के निरीक्षक से ही निर्देशन प्राप्त करे और अपनी विशिष्ट क्षमता की दिशा में चिकित्सकों पर निर्भर न हो।

(iv) सहयोगिता सम्बन्धी क्रियाकलाप निष्पादित करने के दौरान सामाजिक कार्यकर्त्ता को चाहिये कि वह रोगी के सर्वांगीण हित पर ही अपना

ध्यान व प्रयास केन्द्रित करे और इस सन्दर्भ में यदि आवश्यक हो तो अपने क्रियाकलापों के लिये चिकित्सक की सहमति भी प्राप्त कर लें।

6. सहयोगिता-प्रक्रिया के क्रियाकलापों द्वारा सामाजिक कार्यकर्ता तथा रोगी व उसके परिवार के साथ सम्बन्ध स्थापन की दिशा में भी कार्य किया जाता है।

(i) दल के सदस्यों का यह दायित्व होता है कि वे दल के सदस्यों व रोगी के बीच अधिकतम सम्भावित मानवोचित भावना विकसित करे।

(ii) सामाजिक कार्यकर्ता को चाहिये कि वह सेवार्थी (रोगी) को अपनी भूमिका के बारे में स्पष्ट जानकारी प्रदान करे, साथ ही अन्य सदस्यों की भूमिकाओं से भी उसे अवगत कराये ताकि रोगी को ज्ञात हो जाये कि वह दल व दल के सदस्यों से क्या अपेक्षा करे।

(iii) सहयोगिता-प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक कार्यकर्ता रोगी के पर्या-वरण सम्बन्धी पक्षों एवं पारिवारिक सम्बन्धों तथा रोगी पर इनके प्रभावों का मूल्यांकन करता है।

7. सहयोगिता प्रक्रिया के अन्तर्गत् सभी सहभागी सदस्यों के लिये महत्त्व-पूर्ण है कि वे एक-दूसरे की विशिष्टताओं के प्रति उपयुक्त ज्ञान व प्रशंसा की धारणा विकसित करें।

(i) सामाजिक कार्यकर्ता में विभिन्न चिकित्सकीय व शल्य-चिकित्सकीय परिस्थितियों में कार्य करने सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता होती है जिसे वह चिकित्सकों, पुस्तकों एवं प्रपत्रों से प्राप्त करता है।

(ii) अन्य विशिष्टताओं से सम्बन्धित दल के सदस्यों के साथ प्रभावशाली रूप से सहभागिता करने के उद्देश्य से सामाजिक कार्यकर्ता अन्य वृत्तिकों द्वारा प्रदत्त विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान, कार्य विधि, विषयवस्तु एवं दर्शन की बौद्धिक स्तर पर उचित जानकारी अर्जित करता है।

(iii) अन्य वृत्तियों से अर्जित ज्ञान व जानकारी को वृत्तिक संहिता व मूल्य तन्त्र में सन्निहित करना चाहिये जैसे परम्परागत् चिकित्सकों को मान्यता देनी चाहिए तथा चिकित्सक व रोगी के सम्बन्ध को चिकित्सकीय अभ्यास एवं उपयुक्त परिस्थितियों को उत्पन्न करने के आधार के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

(iv) सामाजिक कार्यकर्ता के लिये आवश्यक है कि वह इस तथ्य को स्वीकार करे कि अकेले वही रोगी सम्बन्धी समस्त सामाजिक तथ्यों के संकलन का स्रोत नहीं हैं इसलिये वह चिकित्सकों तथा अन्य सदस्यों के योग-दान को भी मान्यता प्रदान करे।

दलीय कार्य में समस्यायें

प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होता है। यह भिन्नता वृत्तिक विशेषज्ञों में भी होना प्राकृतिक है। उपचार-दल में विभिन्न वृत्तिक विशिष्टता के व्यक्ति सहभागिता के सिद्धान्त के आधार पर रोगी के सर्वांगीण उपचार हेतु सेवा कार्य करते हैं। अतः दल के सदस्यों में मुख्य रूप से दो आधारों पर अन्तर देखा जाता है; एक तो सदस्यों की वैयक्तिक भिन्नता तथा दूसरे उनके व्यवसायों में अन्तर इस कारण दलीय कार्य के निष्पादन में कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त रोगियों के व्यक्तित्व व उनके रोग तथा रोग से सम्बन्धित मनोसामाजिक समस्याओं, दल में सत्ता व प्राधिकार की अपेक्षा, दल के सदस्यों में वृत्तिक प्रतिस्पर्धा, वार्तालाप व संचार सम्बन्धी कठिनाई तथा दलीय प्रशासनिक'व्यवस्था आदि के कारण दलीय कार्य में अनेक समस्यायें देखी जाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलीय कार्य व्यवस्था के अन्तर्गत् रोगी सेवार्थी से दल के लगभग सभी सदस्य सम्पर्क करके सेवा प्रदान करते हैं फलस्वरूप अनेक लोगों से सम्बन्ध स्थापन के कारण रोगी कठिनाई का आभास करता है अथवा उसे विश्वास होने लगता है कि सम्भवतः वे उसकी सहायता नहीं कर रहे हैं। कभी-कभी रोगी यह देखकर प्रसन्न भी हो जाता है कि अनेक विशेषज्ञ उसको समस्या में रुचि ले रहे हैं। यद्यपि दल का मुखिया चिकित्सक होता है परन्तु सभी सदस्य अपने-अपने वृत्तिक क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं इस कारण सभी सदस्यों का नेतृत्व चिकित्सक नहीं कर सकता। सभी सदस्य रोगी की दृष्टि में अपनी वृत्तिक विशिष्टता को सर्वोपरि रखना चाहते हैं, इस कारण दल में वृत्तिक प्रतिस्पर्धा और एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना के कारण समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी दल के सदस्य अपने विशिष्ट ज्ञान का आदान-प्रदान सुचारु रूप से नहीं करते और उसमें समुचित वार्तालाप नहीं होता। परिस्थितियों व सत्ता को अस्वीकार करने के कारण संचार में बाधा पड़ती है। मानवीय प्रकृत्ति, सत्ता के अधिग्रहण, द्वेष की भावना और सभी सदस्यों के लिए सामान्य शब्दावली व भाषा न होने के कारण दलीय कार्य में समस्याएँ आती हैं।

उपर्युक्त समस्याएँ दल के सदस्यों के स्व-प्रयास से समाप्त हो सकती हैं। विशेषकर दल में उपयुक्त सम्बन्ध व सहभागिता की भावना विकसित कर दलीय समस्याओं के निवारण व निराकरण का उत्तरदायित्व सामाजिक कार्यकर्ता पर ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक कार्यकर्ता एक ओर तो रोगी की समस्याओं के समाधान के लिए उत्तरदायी सदस्य होता है तो दूसरी ओर दल के भीतर की समस्याओं का निराकरण करना भी उसका महत्वपूर्ण कार्य है।

चिकित्सकीय समाज कार्य के अभ्यास क्षेत्र

नेशनल एसोसियेशन आफ सोशल वर्कर्स के चिकित्सकीय समाज कार्य खण्ड उपसमिति ने 1958[1] में समाज कार्य शिक्षा हेतु स्वास्थ्य क्षेत्र की उन संस्थाओं को ऐतिहासिक क्रम में सूचीबद्ध किया जिनमें चिकित्सकीय समाज कार्य का अभ्यास किया जाता है चिकित्सकीय समाज कार्य संस्था प्रदत्त सेवाओं को अधिक उपयोगी बनाने के लिए एक आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया गया। ये अधोलिखित हैं :—

1. निजी एवं सार्वजनिक चिकित्सालय :

   सामान्य चिकित्सालय, बाल चिकित्सालय, विशिष्ट चिकित्सालय चिर संरक्षण, सेनिटोरियम, कैंसर अनुसन्धान, प्रसूति गृह, गृह सेवा आदि।

2. निदानशाला :

   बहिरंग विभाग, विशिष्ट नैदानिक शालाएँ, सामुदायिक निदानशाला, सामुदायिक स्वास्थ्य, प्रसवपूर्व निदानशाला, स्वास्थ्य बाल निदानशाला, विकलांग बाल निदानशाला, क्षेत्रीय कार्यालय आदि।

3. पुनर्स्थापना इकाइयाँ :

   चिकित्सालय एवं बहिरंग विभाग, निदानशालाएँ, केन्द्र व व्यावसायिक पुनर्स्थापन आदि।

4. सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं निवारक चिकित्सा :

   राजकीय स्वस्थ्य कार्यक्रम, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवायें, बाल ब्यूरो-स्वास्थ्य सेवा खण्ड, विकलांग बालक, मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य, राजकीय स्वास्थ्य विभाग, स्थानीय स्वास्थ्य विभाग तथा अन्य स्वैच्छिक स्वास्थ्य संगठन व संस्थायें।

---

1. बार्टलेट एम० हैरियट (1958) सोशल वर्क प्रैक्टिस इन दि हेल्थ फील्ड, नेशनल असोसियेशन आफ सोशल वर्क्स, न्यूयार्क–15, पृष्ठ 283।

5. सामुदायिक संगठन :
   सामुदायिक विकास व कल्याण सम्बन्धी स्वास्थ्य कार्यक्रम, समुदाय के सदस्य के रूप में व्यक्तियों के कल्याण एवं स्वास्थ्य वर्धन हेतु सेवायें।
6. सार्वजनिक कल्याण :
   राज्य स्तरीय एवं स्थानीय स्वास्थ्य इकाइयाँ, व्यक्तिगत् परामर्श तथा स्वास्थ्य समस्या के सम्बन्ध में अप्रत्यक्ष सेवा।
7. वृत्तिक विद्यालय :
   समाज कार्य विद्यालय, चिकित्कीय विद्यालय, सार्वजनिक स्वास्थ्य विद्यालय, परिचारिका विद्यालय, अन्तिम तोन विद्यालयों में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता निदानात्मक शिक्षण में पूर्ण या अंशकालिक प्राध्यापक के रूप में सम्मिलित होते हैं।

चिकित्सकीय सामाजिक समस्यायें

बार्टलेट[1] ने चिकित्सकीय तथा मनोसामाजिक तत्वों के प्रभाव के कारण उत्पन्न चिकित्सकीय सामाजिक समस्याओं को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत करने का प्रयास किया है :—

1. चिकित्सकीय समस्याएँ :
   (i) गम्भीर रोगों एवं बाधिता के फलस्वरूप अत्यधिक मानसिक दबाव
   (ii) रुग्णता का आकस्मिक प्रभाव
   (iii) गम्भीर एवं खतरनाक चिकित्सा विधियाँ
   (iv) गम्भीर बाधिता, अशक्तता एवं कुरूपता
   (v) प्रगतिशील एवं अन्तस्थ रुग्णता जो चिकित्सकीय परिस्थितियों के कारण उत्पन्न मनोसामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित होती हैं
2. चिकित्सकीय तथा मनोसामाजिक समस्याएँ :
   (i) अल्प तथा अस्थाई चिकित्सकीय तथा मनोसामाजिक अन्तर्सम्बन्धित समस्यायें।
   (ii) मनोसामाजिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करने वाली स्थिर या बार-बार उत्पन्न होने वाली रुग्णता या बाधिता

---

1. बार्टलेट, हैरियट एम० (1958) सोशल वर्क प्रैक्टिस इन द हेल्थ फाल्ड, नेशनल असोसियेशन ऑफ सोशल वर्क, न्यायार्क–16।

(iii) रोगी की जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों से सम्बद्ध प्रमुख चिकित्सकीय व मनोसामाजिक चिर समस्यायें ।

3. मनोसामाजिक समस्यायें :
   (i) व्यक्तित्व सम्बन्धी विक्षोभ उत्पन्न करने वाली समस्यायें
   (ii) सामाजिक कुसमायोजन
   (iii) पारिवारिक असमानता
   (iv) शारीरिक लक्षण व लघु चिकित्सकीय समस्याओं को जन्म देने वाली दिनचर्या व कार्य स्थल से जुटी विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप आर्थिक-सामाजिक समस्यायें

चिकित्सकीय सामाजिक परिस्थितियों के मूल्यांकन में स्थिर तत्त्व :—

बार्टलेट ने चिकित्सकीय सामाजिक परिस्थितियों के मूल्यांकन में मुख्य रूप से तीन स्थिर तत्वों को आधार स्वरूप स्वीकार किया है जो संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित हैं :—

1. **चिकित्सकीय परिस्थितियाँ**—चिकित्सा समस्या तथा उसके पर्यावरणीय व मनोसामाजिक निहितार्थता का अध्ययन तथा रोगी के सम्बन्ध में चिकित्सालय के पर्यावरण तथा कर्मचारियों की मनोवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन ।
2. **रोगी की परिस्थितियाँ**—रोगियों की प्रेरणा, अनुकूलित प्रतिमान तथा अनुकूलित क्षमता और रोगियों की सामाजिक भमिका एवं सामाजिक प्रकार्यात्मकता का अध्ययन व विश्लेषण ।
3. **पर्यावरण**—परिवार की प्रकार्यात्मकता जो रोगी की प्रकार्यात्मकता को प्रभावित करती है तथा स्वयं प्रभावित होती है; अन्य सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन और सामाजिक-आर्थिक-सास्कृतिक पक्षों एवं सामुदायिक संसाधनों का अध्ययन व विश्लेषण ।

उपर्युक्त तत्वों के सम्बन्ध में रोगी की भावनाओं का अध्ययन व विश्लेषण के साथ रोगी व कार्यकर्ता के सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर चिकित्सकीय सामाजिक परिस्थितियों का तथ्यात्मक मूल्यांकन किया जाता है । एक चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता के लिए परिस्थितियों का मूल्यांकन करना आवश्यक होता है जिसके बिना समाज कार्य अभ्यास द्वारा सेवार्थी रोगियों की सहायता करना असम्भव है ।

निवारक एवं समाजमूलक चिकित्सा

समाजमूलक चिकित्सा चिकित्सा क्षेत्र की नई शाखा नहीं है वरन् व्यक्ति

एवं समाज की बदलती आवश्यकताओं के सन्दर्भ में चिकित्सा का नवीन अनुस्थापन है। जॉन राइल के अनुसार 'सामाजिक चिकित्सा मानव की एक व्यक्ति के रूप में एवं समुदाय के एक सदस्य के रूप में सेवा प्रदान करने के उस चिकित्सकीय सिद्धान्त से परिपूर्ण है जिससे बचाव, सम्भावित रोगों की आवृत्ति में कमी तथा मानव स्वस्थता का सामान्य स्तर उन्नत हो सके। विभिन्न विद्वानों ने समाजमूलक चिकित्सा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि समाज मूलक चिकित्सा ऐसे सामाजिक, आर्थिक, पर्यावरणीय, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं जैवकीय कारकों का अध्ययन है जो व्यक्ति, समूह या समूह के सदस्य के रूप में व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं तथा इस ज्ञान का उपयोग व्यावहारिक रूप से इस प्रकार किया जाता है कि स्वास्थ्य का विकास, रोगों का निवारण तथा रोगों के उपचार में योगदान दिया जा सके।

समाज मूलक चिकित्सा को पारिभाषित करते हुए पार्क ने लिखा है कि यह मानव का उसके सम्पूर्ण पर्यावरण–शारीरिक, जैवकीय, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक व आर्थिक सन्दर्भों में अध्ययन है तथा व्यक्ति को सामाजिक सम्बन्धों तथा स्वास्थ्य के परिप्रेक्ष्य में सहायता प्रदान करता है।

समाज मूलक चिकित्सा सेवा के समुदाय में प्रतिपादन सम्बन्धी संगठन इसे प्रभावित करने वाले कारकों वितरण, उपभोग एवं प्रभावशीलता से भी सम्बन्धित है। प्रो० ग्रीव के अनुसार 'समाज मूलक चिकित्सा दो स्तम्भों पर आधारित है—आयुर्विज्ञान एवं समाजशास्त्र। समाजशास्त्र लैटिन भाषा के दो शब्द–व्यक्ति एवं समूह या समुदाय का योग है।''

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि समाज मूलक चिकित्सा व्यक्तिगत एवं समह के सदस्य के रूप में व्यक्तियों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित है जिसका उद्देश्य मानव स्वास्थ्य का विकास एवं रक्षा और उच्च स्तरीय स्वास्थ्य बनाये रखना है। समाज मूलक चिकित्सा का अध्यास क्षेत्र सम्पूर्ण मानव समुदाय है; इसलिये इसे सार्वजनिक स्वास्थ्य की संज्ञा भी दी जाती है जिसमें निम्नलिखित क्षेत्रों के अन्तर्गत् चिकित्सकीय एवं सामाजिक क्रियाकलापों का अभ्यास किया जाता है :–

1. **स्वास्थ्य वर्द्धन**—जनसाधारण के आहार, आवास एवं कार्य की स्थितियों का विकास करके जीवन-यापन के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न स्वास्थ्य वर्द्धन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसके अन्तर्गत् उपचार से अधिक रोग से बचाव पर बल दिया जाता है जिसके लिये सामाजिक एवं पर्यावरणीय स्थितियों के स्तर को इस प्रकार विकसित किया जाता है कि जनसाधारण को कम से कम मानसिक दबाव व कुण्ठा हो तथा वे स्वस्थ जीवन-

यापन की ओर अग्रसर रहें। प्राकृतिक रूप से स्वास्थ्य बनाये रखने की दिशा में निम्नलिखित आयामों में कार्य किये जाते हैं :—

(i) समुचित खाद्यान्न वितरण एवं आहार सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करना ताकि समुदाय में सन्तुलित आहार का प्रचलन हो।

(ii) आधारभूत स्वच्छता अर्थात् स्वच्छ व शुद्ध पेयजल, शुद्ध आहार तथा रोगाणुओं के नियंत्रण के सन्दर्भ में समुचित व्यवस्था।

(iii) व्यक्तिगत् स्वच्छता तथा स्वस्थ जीवन-यापन की आदत।

(iv) सामान्य शिक्षा के अन्तर्गत् स्वास्थ्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था।

(v) स्वास्थ्य-वर्धन तथा निरा रण व रोगोपचार की दृष्टि से समय-समय पर समुदाय में स्वास्थ्य परीक्षण की व्यवस्था।

(vi) यौन एवं रतिरोग शिक्षा तथा वैवाहिक उपबोधन।

(vii) मद्यपान एवं मादक द्रव्यों के कारणों व कुपरिणामों सम्बन्धी जानकारी तथा इस समस्या के निवारण व निराकरण सम्बन्धी कार्यक्रम।

(viii) जनसंख्या वृद्धि एवं समस्या, परिवार कल्याण नियोजन के साधनों एवं उपयोगिता सम्बन्धी जानकारी और शिशुओं के उचित लालन-पालन सम्बन्धी शिक्षा।

(ix) स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं और इससे सम्बन्धित अधिनियमों की समेकित जानकारी।

स्वास्थ्य वर्धन के लिये समुदाय में उपर्युक्त कार्यक्रमों को समुचित रूप से कार्यान्वित करने में सामाजिक कार्यकर्ता दल के एक सदस्य के रूप में उपयोगी भूमिका निष्पादित करता है।

2. **रोग निवारण**—यह सत्य है कि रोग-निवारण निराकरण से उत्तम है अर्थात् रोगों से सुरक्षा करना रोग हो जाने के बाद उसके उपचार से अधिक उचित होता है। रोग-निवारण स्वच्छता और रोगों से रक्षा के टीकों के कार्यक्रमों द्वारा सम्भव हो सकता है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित विशिष्ट रक्षात्मक कार्य उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में उपयोगी हो सकते हैं :—

(i) विशिष्ट रोग-प्रतिरक्षीकरण के अन्तर्गत् सक्रिय प्रतिरक्षीकरण एवं निष्क्रिय प्रतिरक्षीकरण कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का समुचित सामुदायिक प्रयास।

(ii) विशिष्ट पौष्टिक आहार की जानकारी व व्यवस्था में योगदान तथा रासायनिक रोग निरोधकों के उपयोग हेतु प्रोत्साहन ।

(iii) प्राकृतिक संकट तथा दुर्घटनाओं के प्रति रक्षा ।

(iv) सामान्य पर्यावरणीय, जल, वायु, शोर आदि सम्बन्धी संकटों से प्रतिरक्षा ।

3 **उपचारात्मक चिकित्सा**—संक्रामक रोगों से यक्ष्मा, कुष्ठरोग, यौन संक्रमित रोग (रतिज) आदि जिनके निवारण कार्य हेतु विलगाव व उपचार महत्वपूर्ण होता है, उपचारात्मक चिकित्सा की आवश्यकता होती है। इस सन्दर्भ में 'शीघ्र निदान एवं तुरन्त उपचार' के सिद्धान्त को सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त है । इस सिद्धान्त को निवारण की संज्ञा नहीं दी जा सकती, परन्तु कुछ रोगों और रोग स्थितियों में इसे रोगी के अतिरिक्त अन्य स्वास्थ्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में निवारण का एक स्वरूप माना जा सकता है । तुरन्त उपचार के लिए शीघ्र निशान के सन्दर्भ में निम्नलिखित क्रियाएँ वांछित होती हैं :—

(i) व्यक्तियों व समुदायों के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु तथ्यों की खोज ।

(ii) स्वास्थ्य परीक्षण एवं सर्वेक्षण ।

(iii) समय-समय पर समुदाय के सामान्य स्वास्थ्य का निरीक्षण ।

(iv) अस्वस्थता की स्थिति से घिरे विशिष्ट व्यक्तियों या समुदाय का विशिष्ट परीक्षण ।

4. **अक्षमता परिसीमन** : अक्षमता परिसीमन का उद्देश्य समुचित उपचार के द्वारा रोग की प्रक्रिया को अवरुद्ध करना है जिसमें अक्षमता को परिसीमित या मृत्यु के खतरे को स्थगित करना होता है । इस प्रकार अक्षमता निवारण किसी न किसी रूप में निवारण के निम्नलिखित स्तरों से सम्बद्ध होता है :—

(i) ह्रास की आवृत्ति को कम करना ।

(ii) उपचार द्वारा अक्षमता परिसीमन करना ।

(iii) अक्षमता के बाधिता के रूप में परिवर्तन का निवारण ।

इस स्थान पर क्षमता ह्रास तथा बाधिता के बीच अन्तर स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है । विश्व स्वास्थ्य संघ के अनुसार अक्षमता से तात्पर्य किसी व्यक्ति में अपेक्षित सामान्य शक्ति (क्षमता) में कमी अथवा अवरोध से है जबकि बाधिता का अर्थ किसी व्यक्ति की उस कमी से है जो अशक्तता या किसी ह्रास के कारण उत्पन्न होती है, फलस्वरूप बाधित व्यक्ति अपनी आयु, यौन

तथा सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में सामान्य गतिविधियों व भूमिका के सामान्य निर्वाह में अवरोध का अनुभव करता है। इस आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि किसी व्याधि या रोग के कारण ह्रास होता है जो अक्षमता का रूप धारण कर लेता है और अन्ततोगत्वा व्यक्ति बाधित हो जाता है अर्थात् ये क्रमबद्ध स्थितियाँ हैं।

5. **पुनर्स्थापन** : पुनः स्थापन के अन्तर्गत् वे समस्त क्रियाकलाप सम्मिलित किये जाते हैं जो इस उद्देश्य से किये जाते हैं कि रोगी पुनः अपनी कार्यक्षमता एवं सामाजिक अनुकूलता प्राप्त कर सके। महाजन के अनुसार 'पुनःस्थापन व्यक्ति को उसकी प्रकार्यात्मक क्षमता के उच्चतम स्तर तक पुनः लाने के लिये प्रशिक्षण प्रदान करने के सन्दर्भ में चिकित्सकीय, सामाजिक, शैक्षणिक तथा व्यावसायिक साधनों का सम्मिलित एवं समेकित उपयोग है।'

पुनर्स्थापन चिकित्सा का उदय कुछ ही दशक पूर्व एक चिकित्सकीय विशिष्टता के रूप में हुआ है। इसके अन्तर्गत् शारीरिक-चिकित्सा, शरीर विज्ञान, श्रवण विज्ञान, वाक् उपचार, समाज कार्य, व्यावसायिक निर्देशन आदि विशिष्टताओं का योगदान होता है। पुनर्स्थापन के निम्नलिखित क्षेत्रों को मान्यता प्रदान की गई है :—

(i) चिकित्सकीय पुनर्स्थापन द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य एवं प्रकार्यात्मकता का पुनःस्थापन किया जाता है।

(ii) व्यावसायिक पुनर्स्थापन के अन्तर्गत् जीवनयापन हेतु समुचित धनार्जन की क्षमता का पुनःस्थापन किया जाता है।

(iii) सामाजिक पुनर्स्थापन में पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक प्रकार्यात्मकता का पुनःस्थापन किया जाता है।

(iv) मनोवैज्ञानिक पुनर्स्थापन के अन्तर्गत् व्यक्तिगत आत्म विश्वास एवं आत्म सम्मान के साथ ही साथ मानसिक स्थिति को पुनःस्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

आधुनिक युग में पुनर्स्थापन को उपचार की अतिरिक्त क्रिया नहीं माना जाता वरन् यह प्रयास किया जाता है कि सेवार्थी (रोगी) को अपना जीवन-यापन और कार्य करने में सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग करने हेतु पुनर्स्थापित किया जा सके। इस प्रकार चिकित्सकीय उपचार प्रक्रिया के प्रारम्भ से ही पुनर्स्थापन सम्बन्धी क्रियाकलाप आरम्भ हो जाते हैं।

6. **स्वास्थ्य शिक्षा** : गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों ही प्रकार की स्वास्थ्य शिक्षा प्रदान करना सर्वमान्य है। मुख्य रूप से पारिवारिक जीवन शिक्षा, सामुदायिक स्वास्थ्य शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा, आदि के माध्यक से मानव स्वास्थ्य विकास की दिशा में आवश्यक ज्ञान प्रदान किया जाता है।

7. **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग** : स्वास्थ्य सेवाओं से सम्बन्धित कार्यक्रमों के नियोजन व कार्यान्वयन में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इसके अन्तर्गत् ज्ञान, अनुभव व निपुणता का विश्व स्तर पर आदान-प्रदान होता है जिससे सम्पूर्ण मानव जाति के स्वास्थ्य की रक्षा, निवारण एवं स्वास्थ्य वर्धन हो। इन आधारों पर कहा जा सकता है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य वास्तव में एक दलीय कार्य हैं और इस उपचार-दल का नेतृत्व चिकित्सक के हाथ में होता है जो वस्तुतः एक सामुदायिक चिकित्सक होता है।

निवारक चिकित्सा :

निवारक चिकित्सा आयुर्विज्ञान की एक शाखा है जो रोगों की आवृत्ति को अवरूद्ध करने से सम्बन्धित है। सार्वजनिक स्वास्थ्य को पारिभाषित करते हुए विनस्लोव ने स्पष्ट किया है कि चिकित्सकीय अभ्यास के अन्तर्गत् रोग निवारण की क्षमता का विकास किया जाता है ताकि रोग-ग्रस्तता से समुचित बचाव हो सके। क्लार्क के अनुसार निवारक चिकित्सा रोग निवारण की एक कला एवं विज्ञान है जिससे जीवन की अवधि में वृद्धि तथा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य वर्धन और क्षमता में वृद्धि की जाती है।

निवारक चिकित्सा के अन्तर्गत् केन्द्र व्यक्ति होता है साथ ही अधिकतम शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य अर्जित करने और समुचित सामाजिक प्राणी होने के लिये व्यक्ति के उत्तरदायित्व तथा स्वैच्छिक सहयोग पर विशेष बल दिया जाता है; जबकि सार्वजनिक स्वास्थ्य में विशेष ध्यान व्यक्तियों के ऐसे समूहों पर दिया जाता है जो स्वास्थ्य सम्बन्धी सामान्य समस्याओं से ग्रस्त होते हैं व जिनके निराकरण के लिये संगठित सामुदायिक प्रयास अनिवार्य होता है।

निवारक चिकित्सा के क्षेत्र में तीव्र गति से विकास हो रहा है, और अब इसका क्षेत्र केवल टीकाकरण तथा व्यक्तिगत स्वच्छता तक ही सीमित नहीं रह गया है वरन् इसके अभ्यास क्षेत्र की शाखाएँ रोग-नियंत्रण, जनसंख्या नियंत्रण, जैवकीय परामर्श, चिर रोग निवारण तक फैल चुकी हैं। आयुर्विज्ञान के विकास के बाद भी निवारक चिकित्सा की आवश्यकता व उपयोगिता से इन्कार नहीं

किया जा सकता वरन् आयुर्विज्ञान की प्रगति के साथ ही साथ निवारक चिकित्सा के अभ्यास पर और अधिक बल दिया जाने लगा है। फिर भी उक्त विवरण के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि निवारक चिकित्सा एवं आधुनिक सार्वजनिक स्वास्थ्य के उद्देश्य एक समान हैं। परन्तु इन पक्षों की सामान्य अवधारणाओं पर विचार करने के पश्चात् इन्हें और अधिक स्पष्ट करने की दिशा में कुछ विद्वानों का मत है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य के स्थान पर सामुदायिक स्वास्थ्य तथा निवारक एवं समाज मूलक चिकित्सा के स्थान पर सामुदायिक चिकित्सा शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिये और अनेक विद्वानों द्वारा इन शब्दों का उपयोग भी किया जाने लगा है।

निवारक एवं समाज मूलक चिकित्सा में अन्तर्सम्बद्धता

निवारक एवं समाज मूलक चिकित्सा एक दूसरे की पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं। इसलिये न तो समाज मूलक चिकित्सा को निवारक चिकित्सा के अन्तर्गत और न ही निवारक चिकित्सा को समाज मूलक चिकित्सा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसलिये चिकित्सा की इस विशिष्ट शाखा को सम्मिलित रूप से निवारक एवं समाज मूलक चिकित्सा की संज्ञा देना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। यह धारणा न केवल भारत वरन् इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में इसी रूप में प्रचलित व मान्य है। समाज मूलक चिकित्सा के अन्तर्गत उद्धृत सात स्तरों या क्षेत्रों में निवारक व समाज मूलक दोनों का सम्मिलित समावेश स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आयुर्विज्ञान की विशिष्ट शाखा के रूप में निवारक एवं समाज मूलक चिकित्सा, चिकित्सा से सम्बन्धित निवारक एवं सामाजिक पक्षों व कारकों का समुचित अध्ययन करना चाहती है। इस चिकित्सा शाखा की एक अवधारणा रोग निवारण एवं स्वास्थ्य वर्धन के सन्दर्भ में अध्ययन करना है। जीवाणु विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि के साथ ही साथ निवारक चिकित्सा की मान्यता में वृद्धि हुई है। लगभग एक शताब्दी पूर्व ही विलियम पर्र ने लिखा था कि निराकरण की अपेक्षा रोग का निवारण अधिक सरल है, रोगों के निवारण की दिशा में रोग के कारणों की खोज करना प्रथम चरण है।

निवारक चिकित्सा मात्र रोगों का निवारण ही नहीं है वरन् इसके अन्तर्गत् स्वास्थ्य-वर्धन की धारणा निहित है। इसकी दो स्पष्ट प्रावस्थाएँ होती हैं: (i) व्यक्ति का स्वास्थ्य संरक्षण तथा (ii) समुदाय का स्वास्थ्य संरक्षण।

रोगो की चिकित्सकीय देखरेख तथा रोग निवारण के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। यह ज्ञान की कोई एकमात्र इकाई नहीं है। निवारक चिकित्सा किसी व्यक्ति विशेष को किसी रोग के खतरे से बचाने का

कार्य करता है जिसकी दिशा पर्यावरण से अनापेक्षित तत्त्वों को दूर करने की ओर होती है और कभी-कभी इसके क्रिया-कलाप शैक्षणिक प्रक्रिया के रूप में होते हैं अर्थात् निवारक एवं समाज मूलक चिकित्सा का साथ-साथ अभ्यास किया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि निवारक चिकित्सा व समाज मूलक चिकित्सा एक दूसरे की पूरक हैं और एक के बिना दूसरे के उद्देश्य की प्राप्ति कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। यही कारण है कि आधुनिक चिकित्सा के अन्तर्गत् निवारक व समाज मूलक चिकित्सा को एक समेकित इकाई तथा आयुर्विज्ञान की महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में स्वीकार किया जाता है।

निवारक चरण

रोगों के निवारण के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों के अनेक मतों का उल्लेख किया जा चुका है। पार्क महोदय ने निवारण के तीन प्रमुख चरणों का निम्नलिखित रूप से वर्णन किया है :—

(1) **प्राथमिक निवारण** : सार्वजनिक स्वास्थ्य की पदावली के अन्तर्गत् प्राथमिक निवारण से तात्पर्य उन क्रियाओं से है जो रोग प्रारम्भ होने की स्थिति के पूर्व बचाव की दृष्टि से की जाती है जिससे रोग होने की सम्भावनाएँ दूर की जा सकें। इसी प्रकार स्वास्थ्यवर्धन से तात्पर्य उन प्रयासों से है जो उत्तम स्वास्थ्य जीवनयापन की दिशा में किया जाता है जबकि विशिष्ट संरक्षण विशिष्ट रोगों के निवारण की विधियों को सन्दर्भित करता है।

अनेक संक्रामक रोग जैसे यक्ष्मा, खसरा, मियादी-ज्वर, डिफ्थीरिया आदि रोगों से बचाव एवं संरक्षण में टीकाकरण, व्यक्तिगत स्वच्छता के प्रति चेतना, पर्यावरण की स्वच्छता, व्यावसायिक विषम परिस्थितियों एवं दुर्घटनाओं से संरक्षण हेतु प्रयास किये जाते हैं। स्वास्थ्यवर्धन के लिये प्राथमिक निवारण के अन्तर्गत् स्वास्थ्य शिक्षा, सन्तुलित आहार तथा व्यक्तित्व के प्रति चेतना, उचित आवास व विश्राम, पेयजल, मनोरंजन, वैवाहिक-उपबोधन, यौन-शिक्षा, परिवार कल्याण नियोजन आदि के सन्दर्भ में वैज्ञानिक ज्ञान एवं सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

रोग निवारण की सफलता रोगों के कारणों सम्बन्धी ज्ञान, रोग से प्रभावित होने वाले सम्भावित समूहों की पहचान, रोग की खोज के साधनों की उपलब्धता और इन साधनों का उपयोग करने वाले संगठन, इनसे लाभान्वित होने वाले व्यक्तियों व समूहों की स्थिति, समुचित वातावरण, स्वास्थ्य सम्बन्धी सामाजिक नीति आदि पर निर्भर होती है।

प्राथमिक निवारण का उद्देश्य केवल मृत्यु दर में कमी एवं जीवन अवधि में वृद्धि ही करना नहीं हं वरन् अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व उपयुक्त रूप से समायोजिन एवं जीवन को उपयोगी बनाने में सहायता प्रदान करना है। प्राथमिक निवारण में रोग के उपचार द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा करने पर बल नहीं दिया जाता। यह मुख्य रूप से परिवार से सम्बन्धित होता है। क्योंकि परिवार के सभी सदस्य एक साथ निवास करते हैं और चिर रोगों के स्रोत व्यक्ति की आदतों एवं जीवनयापन की विधियों में निहित होते हैं अतः निवारण के क्रियाकलाप परिवार एवं समुदाय के अन्तर्गत विस्तृत रूप से इस प्रकार किये जाते हैं कि सम्पूर्ण समुदाय रोग रहित, स्वस्थ एवं समायोजित रहकर अपना जीवनयापन सुखी रूप से कर सके।

2. द्वितीयक निवारण :

द्वितीयक निवारण के अन्तर्गत् शीघ्र निदान और तुरन्त उपचार की धारणा पर बल दिया जाता है। पार्क के अनुसार वे क्रियायें जो रोग की प्रगति को आरम्भ में ही अवरुद्ध कर देती हैं तथा निवारण सम्बन्धी जटिलताओं को कम करती हैं उन्हें हम द्वितीयक निवारण की संज्ञा देते हैं। निवारण की इस प्रक्रिया में पीड़ा कम करने, रोगों का शीघ्र उपाचार करने, अशक्तता तथा मृत्यु से संरक्षण किया जाता है। समुदाय में द्वितीयक निवारण द्वारा रोगों के विकास को भी अवरुद्ध करने का प्रयास किया जाता है। कई रोगों का नियन्त्रण अब भी द्वितीयक निवारण पर निर्भर होता है। सरकार द्वारा प्रारम्भ किये गये स्वास्थ्य कार्यक्रम सामान्यतः द्वितीयक निवारण स्तर की समस्याओं के कारण संचालित किये जाते हैं। आधुनिक युग में औद्योगिक देशों में विशेष ध्यान द्वितीयक निवारण पर दिया जाता है जिसमें 'संकट रक्षा' पर आर्थिक दृष्टि से अधिक बल दिया जाता है।

द्वितीयक निवारण संक्रमित होने वाले रोगों के नियन्त्रण के लिये सन्तोषजनक माध्यम नहीं हैं क्योंकि कभी-कभी यह अत्यधिक महँगा और कम प्रभावी सिद्ध होता है जबकि मानव स्वास्थ्य, सुख एवं उपयोगिता की दृष्टि से दीर्घ अवधि के लिये प्राथमिक निवारण अधिक प्रभावकारी तथा कम खर्चीला होता है।

द्वितीयक निवारण उस स्थिति में अधिक सक्रिय व उपयोगी होता है जब कोई समुदाय किसी संक्रामक रोग से आंशिक रूप से ग्रस्त हो जाता है क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य शीघ्र निदान व तुरन्त उपचार की धारणा पर आधारित होता है। इसके द्वारा समुदाय में पीड़ित सदस्यों का निदान करके तुरन्त उपचार किया जाता है तथा समुदाय के अन्य स्वस्थ सदस्यों की इस प्रकार सहायता की जाती है कि वे रोगग्रस्त न हो पायें। इसी के साथ यह भी प्रयास

किया जाता है कि अशक्तता का विस्तार न हो और अधिक से अधिक सदस्य सशक्त रहते हुए अपनी सम्पूर्ण क्षमता का समुचित रूप से उपयोग करके सुखी जीवन व्यतीत कर सकें।

उपर्युक्त विवरण के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि द्वितीयक निवारण प्राथमिक निवारण के बिना अपूर्ण व अपर्याप्त है अतः प्राथमिक निवारण के क्रियाकलापों के साथ ही द्वितीयक निवारण की गतिविधियाँ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

3. तृतीयक निवारण :

तृतीयक निवारण से तात्पर्य केवल रोगों के निवारण से ही नहीं है वरन् रोग के कारण उत्पन्न अशक्तता व अक्षमता से संरक्षण इस स्तर के निवारण का मुख्य उद्देश्य है। आँकड़ों से ज्ञात होता है कि विश्व की 10 प्रतिशत अशक्तताग्रस्त जनसंख्या मुख्य रूप से कुपोषण, संक्रामक रोग तथा दुर्घटनाओं का फल है। विकसित देशों में चिरमनोदैहिक रोग, मनोविकार तथा दुर्घटनायें अशक्तता के प्रमुख कारण के रूप में देखी जा सकती हैं। 'सभी के लिये स्वास्थ्य' की अवधारणा के सन्दर्भ ने तृतीयक निवारण सम्पूर्ण विश्व के स्वास्थ्य वर्धन के सम्बन्ध में एक विशिष्ट विधि के समेकित अंग स्वरूप मान्य एवं प्रचलित है जिसका उद्देश्य संसार के सभी लोगों को स्वास्थ्य के उस स्तर तक पहुँचाना है जहाँ वे सामाजिक व आर्थिक उत्पादक जीवन व्यतीत करने में पूरी तरह सक्षम व सशक्त हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तृतीयक निवारण का मुख्य उद्देश्य सामुदायिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में इस प्रकार के क्रियाकलापों व विधियों का उपयोग करना है कि व्यक्ति रुग्णता, कुपोषण, दुर्घटना या अन्य कारणों से सफलता व अक्षमता से ग्रस्त होकर असमायोजित व आर्थिक कठिनाइयों से समस्याग्रस्त न हो सके। तृतीयक निवारण के अन्तर्गत् किसी कारण से सम्भावित अशक्तता का निवारण तथा ऐसे सेवार्थियों का मनोसामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक एवं शारीरिक पुर्नस्थापन किया जाता है।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका :

निवारक एवं समाज मूलक चिकित्सा के विकास एवं स्वास्थ्य की आधुनिक परिभाषा की मान्यता के फलस्वरूप समाज कार्य की उपयोगिता, महत्व तथा आवश्यकता पर अधिक बल दिया जाने लगा है। आधुनिक ज्ञान के विकास से शारीरिक रोगों के अनेक मनोसामाजिक कारणों की खोज भी की जा चुकी है जिससे स्पष्ट है कि आर्थिक कठिनाइयाँ, निर्धनता, रोगों व उनके आधुनिक

उपचारों के सम्बन्ध में अज्ञानता, कुपोषणता, व्यक्तिगत् व पर्यावरणीय अस्वच्छता, असुरक्षा की भावना, उचित आदर-स्तर न पाना, अनेक सांस्कृतिक कारण, धार्मिक प्रतिबन्ध, प्रसाद व चरणामृत, रोग को देबी देवता का प्रकोप मानते, परम्परागत उपचार, भोजन एवं आहार, जीवनयापन के तरीके, आपसी सामाजिक सम्बन्धों में विषमताएँ, चिन्ता, कुण्ठा आदि अनेक शारीरिक व मनोदैहिक रोगों को जन्म देते हैं। रोग निवारण, निदान, उपचार एवं स्वास्थ्यवर्धन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा संवेगात्मक पक्षों के अध्ययन तथा सुधार की आवश्यकता होती है। इस क्षेत्र में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण व उपयोगी है। विशेषकर सामाजिक कार्यकर्ता निवारक एवं समाजमूलक चिकित्सा के क्षेत्र में निम्नलिखित भूमिका निष्पादित करता है :—

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता उपचार दल का एक नैदानिक कार्यकर्ता होता है जो वृत्तिक समाज कार्य, विशेषकर वैयक्तिक सेवा कार्य के माध्यम से मानव सम्बन्धों, व्यवहारों एवं साक्षात्कार की कला में प्रशिक्षित एवं निपुण होता है। चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता अपनी संस्था तथा समुदाय के बीच स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करता है। कार्यकर्ता रोगियों व उनके सम्बन्धियों से चिकित्सालय तथा उनके निवास पर वृत्तिक व विश्वसनीय सम्बन्ध स्थापित करके व्यक्तिगत, पारिवारिक, आर्थिक, संवेगात्मक व स्वास्थ्य सम्बन्धी तथ्यों का संकलन करता है जिससे चिकित्सकीय अपेक्षाओं की पूर्ति होती है। इसके साथ ही कार्यकर्ता यह भी प्रयास करता है कि समुदाय में उपलब्ध साधनों का समुचित और अधिकतम उपयोग सेवार्थी द्वारा किया जा सके। कार्यकर्ता अपने वृत्तिक ज्ञान का उपयोग करके समुदाय को संक्रामक एवं चिर रोगों से संरक्षित करने में निवारक एवं समाजमूलक चिकित्सा के सिद्धान्तों व प्रविधियों का उपयोग करता है। आधुनिक युग में सामाजिक कार्यकर्ता चिकित्सकीय दल का एक अनिवार्य व उपयोगी वृत्तिक सदस्य स्वीकार किया जाता है जो सामाजिक व वृत्तिक पक्षों का विश्लेषण व परिमार्जन करने का विशेषज्ञ होता है। वह उपचार दल को सामाजिक व संवेगात्मक सूचनाएँ उपलब्ध कराता है जिनका अन्तिम निदान करने के लिये आधारभूत तथ्य के रूप में उपयोग होता है और उपचार प्रक्रिया में महत्वपूर्ण होता है। सामाजिक कार्यकर्ता समाज मूलक चिकित्सा को प्रभावशाली बनाने के लिये सामाजिक उपचार प्रविधि का क्रमबद्ध रूप से प्रयोग करता है।

सामाजिक कार्यकर्ता सामुदायिक स्वास्थ्य व स्वास्थ्य शिक्षा में सक्रिय

योगदान देकर जनसाधारण में स्वास्थ्य व रोग सम्बन्धी तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करता है।

सामाजिक कार्यकर्ता उपचार के उपरान्त रोगी के सामाजिक, आर्थिक, संवेगात्मक एवं व्यावसायिक पुनर्स्थापन में समाज कार्य की वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करता है। साथ ही कार्यकर्ता कल्याणकारी सेवाओं को प्रदान करने के उद्देश्य से सेवार्थी की इस प्रकार सहायता करता है कि वह समुदाय से भलीभाति सामंजस्य स्थापित कर सके जो आधुनिक चिकित्सा के क्षेत्र का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किया जाता है।

सामाजिक कार्यकर्ता न केवल स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करता है वरन् समाज से मानव को अपेक्षित लाभ प्राप्त करने में भी सहायता करता है क्योंकि इनकी सन्तुष्टि न होने पर स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है। वह अधोलिखित कार्य करता है :—

जीवन एवं सम्पत्ति के संरक्षण में सहायता,

प्राकृतिक सम्पत्ति के संरक्षण में सहायता,

सम्पत्ति के उचित उत्पादन व वितरण में सहयोग,

शिक्षा एवं व्यावसायिक निर्देशन,

धार्मिक विश्वासों एवं संस्कृति के सन्दर्भ में स्वास्थ्य सम्बन्धी तथ्यात्मक जानकारी प्रदान करना,

रुग्णता, वृद्धावस्था एवं नौकरी के सन्दर्भ में सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना,

खाली समय के मनोरंजनात्मक सदुपयोग हेतु निर्देशन व

निर्धनों, वृद्धजनों तथा विकलांगों को सहायता प्रदान करना।

उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त सामाजिक कार्यकर्ता पर्यावरण के तीनों पक्षों–भौतिक, जैवकीय तथा सामाजिक में सुधार व परिमार्जन करने के सन्दर्भ में प्रकाश, जलवायु, जल, भोजन, वस्त्र, आवास, दुर्घटना, पशु, कीटाणु, जीवाणु, कीटों, बैक्टीरिया, तथा निर्धनता, अज्ञानता, पूर्वाग्रह, अन्धविश्वास, रीतियों, सुरक्षा की भावना, चिन्ता, कुण्ठा, कार्य स्थल, परिवार व समुदाय में कुसमायोजन आदि का रोग निवारण, संरक्षण, निदान व उपचार तथा स्वास्थ्य वर्धन हेतु सक्रिय भूमिका निभाता है।

रुग्णता एवं सामाजिक प्रकार्यात्मकता

प्राचीन काल में रुग्णता की अवधारणा पूर्णतया जैवकीय अर्थात् मानव शरीर में जैविकीय कुसमंजन पर आधारित थी। परन्तु आयुर्विज्ञान की प्रगति

के साथ ही प्राचीन अवधारणा में भी परिवर्तन आता गया; यहाँ तक कि आज रोग का सम्बन्ध मात्र जैवकीय स्थितियों एवं शरीर विज्ञान तक ही सीमित नहीं रह गया है वरन् सामाजिक पर्यावरण, सामाजिक सम्बन्ध व संगठन, सांस्कृतिक परिवेश तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियों से भी इसे जोड़ा जाने लगा है।

डी० मैकेनिक ने स्पष्ट किया है कि रोग से तात्पर्य साधारणतः सामान्य प्रकार्यों से विचलनशीलता है जो अपनेआप में अवांछनीय निष्कर्ष है क्योंकि इससे व्यक्तिगत् अशान्ति या व्यक्ति के भावी स्वास्थ्य स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

रोग की प्रक्रिया में व्यक्ति अनेक प्रकार के कष्टों से पीड़ित होता है और इन्हीं कष्टों के आधार पर रोग के नैदानिक माध्यमों की परिस्थितियों में सुधार किया जाता है जिनसे कभी-कभी व्यक्तिगत अशान्ति भी उत्पन्न होने पर; निदानात्मक तथ्यों का बोध होता है; जैसे कैंसर, कुष्ठ रोग, यक्ष्मा, रति रोग आदि में; परन्तु जब इस अवधारणा का बोध आत्महत्या, अपराध, राजनैतिक विचलनशीलता आदि में होता है तो इसका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।

अनेक भौतिक (शारीरिक) रोग जिन्हें चिकित्सकीय दृष्टिकोण से सामान्य प्रकार से विचलन की संज्ञा दी जाती है, व्याधि के अन्तर्गत् स्वीकार किये जाते हैं। रोग एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है; कारणों की भिन्नता के फलस्वरूप इसके क्षेत्र भी अलग-अलग होते हैं जिनमें से एक सामाजिक पर्यावरण भी है। औषधि एवं आयुर्विज्ञान के आधुनिक ज्ञान के अनुसार विशिष्ट जैवकीय कारण, शारीरिक परिवर्तन अथवा अंगभंगिता आदि के कारण रोग उत्पन्न होते हैं परन्तु इनका ज्ञान तभी होता है जब सम्बन्धित व्यक्ति अस्वस्थता का आभास करता है जिसका उपचार चिकित्सक द्वारा सम्भव होता है।

रोग से तात्पर्य उस वस्तुनिष्ठ घटना से है जिसको जैविकीय शरीर की परिवर्तित प्रकार्यात्मकता के सन्दर्भ में देखा जा सकता है; अर्थात् रोग एक प्रक्रिया है जिसे अवलोकनीय लक्षणों के आधार पर समझा जा सकता है जो मानव शरीर सम्बन्धी ज्ञान पर निर्भर होता है, जबकि एक विषयनिष्ठ घटना है जिसमें स्वयं व्यक्ति यह प्रत्यक्षीकरण करता है कि वह इस सीमा तक ठीक नहीं है कि अपना सामान्य व्यवहार निष्पादित कर सके। रोग एवं व्याधि के बीच अन्तर समाज कार्य के लिये इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इसके अन्तर्गत् अस्वस्थ व्यक्तियों के व्यवहार का विश्लेषण किया जाता है। अस्वस्थ व्यक्तियों के अतिरिक्त उनके पर्यावरण और समुदाय के

सदस्यों के अवलोकन व ज्ञान का ही नहीं वरन् अन्तर्क्रियाओं का भी विश्लेषण किया जाता है। व्याधि एक ऐसी घटना है जिसे व्यक्ति आत्मअवलोकन की परिवर्तित स्थिति के सन्दर्भ में देखता है। व्यक्ति व्याधि की स्थिति में अपने को अस्वस्थ तथा सामान्य अपेक्षित स्थिति से भिन्न मानता है क्योंकि इसके अन्तर्गत् सामान्य बात यह है कि कुछ ऐसे स्वरूप के शारीरिक विकार जिन्हें आयुर्वैज्ञानिक रोग की अवधारणा के सन्दर्भ में समझते और प्रतिक्रिया करते हैं, अस्वस्थता की भावनाओं से सम्बद्ध होते हैं। यह कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति बिना अस्वस्थता की भावना के प्रति जागरूकता तथा बिना अन्य व्यक्तियों द्वारा उसे सामान्य से समझने की स्थिति के रोगग्रस्त हो सकता है।

रोगों का वर्गीकरण :

पार्क एवं पार्क ने इतर रोगों को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है :—

1. **संक्रामक रोग** : आयुर्विज्ञान सम्बन्धो ज्ञान की आधुनिक स्थिति से स्पष्ट होता है कि अधिकांश संक्रामक रोग विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवों के कारण होते हैं क्योंकि ये सूक्ष्म जीव मानव शरीर पर परजीवी बन जाते हैं, जैसे—जीवाणु, फंगस, विषाणु, ऊतकवरिकेट्स आदि।
2. **चिर रोग** : चिर रोगों के विरुद्ध बचाव करने में संक्रामक रोगों की अपेक्षा भिन्न तथा कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अनेक चिर रोगों, जैसे यक्ष्मा, कुष्ठ रोग, आदि में ऊतक का पतन तथा जीव सम्बन्धी अंगों की प्रकार्यात्मकता की शक्ति का ह्रास होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मुख्य रूप से ये वृद्धावस्था के रोग हैं।
3. **मानसिक रोग** : रोग के वर्गीकरण में अन्तिम व तीसरे प्रकार का रोग मानसिक असामान्यता से सम्बन्धित है। संक्रामक व चिर पतनात्मक रोगों की तुलना में मानसिक रोगों की गति के सन्दर्भ में अभी कम ज्ञान है। मानसिक रोगों के जैवकीय या प्रकार्यात्मक आधार होते हैं।

तीव्र व्याधि

रोगों के उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त पार्क ने तीव्र व्याधि पर प्रकाश डालते हुए विवेचित किया है कि तीव्र व्याधि में रोगी की असामान्य दैहिक स्थिति प्राय: केन्द्रीय तन्त्रिका पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है जिससे व्यक्ति में उत्तेजित व्यवहार लक्षित होता है। शारीरिक स्थिति में परिवर्तन के कारण व्यावहारिक परिवर्तन से स्पष्ट होता है कि समस्त रोगों में मनोदैहिकता का भी महत्त्व होता

है। ये अप्रत्यक्ष प्रभाव रोगी के व्यवहार में परिवर्तन के आधार होते हैं जो पुन-र्स्वास्थ्य में वृद्धि या ह्रास उत्पन्न करते हैं।

जब कोई व्यक्ति व्याधिग्रस्त होता है और उसका वह स्वयं आभासकरता है तो उसे पुनः स्वस्थ होने की प्रक्रिया में निदान एवं उपचार के क्रियाकलापों से गुजरना पड़ता है। व्याधि की स्थिति से पुनः स्वस्थता की दिशा में प्रक्रिया से परिस्थितियों की गतिशीलता में परिवर्तन होता है; फलस्वरूप रोगी के व्यवहार में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है अर्थात् व्याधिग्रस्तता से रोगी के व्यवहार में परिवर्तन तो होता ही है साथ ही निदान व उपचार की प्रतिरोधक शक्तियों तथा रोग से मुक्ति पाने की रोगी की क्षमता पर आधारित संघर्ष की स्थिति होती है।

जब कोई व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार कर लेता है कि वह अस्वस्थ है तो उसकी मूलभूत मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाता है जिसे वस्तु-स्थिति का सामना करने की क्षमता के ह्रास, अहम् केन्द्रीकरण, व्यवहार के प्रमुख निर्धारकों की आन्तरिक स्थितिकरण, अवदमित व्यवहार के अन्तर्गत् रोगी की रुचियों में अपेक्षाकृत संकीर्णता एवं सहनशीलता में कमी व स्वार्थी प्रवृत्ति में वृद्धि के रूप में देखा जा सकता है।

पारिस्थितिक दृष्टिकोण के अनुसार रोग से तात्पर्य मानव जीवों का पर्यावरण के साथ कुसमायोजन की स्थिति से है जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत् रोग को एक सामाजिक घटना की संज्ञा दी जाती है जो समस्त समाजों में होती है तथा समाज में विद्यमान विशिष्ट सांस्कृतिक शक्तियों के सन्दर्भ में पारिभाषित करते हुए उनसे जूझने का प्रयास किया जाता है अर्थात् रोग एक सार्वभौमिक तथ्य है तथा सभी समाजों में घटने के कारण यह सामाजिक सम्बन्धों के प्रारूप को प्रभावित करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रोग, व्याधि तथा अस्वस्थता एक ही अर्थ में उपयोग किये जाने वाले विभिन्न शब्द हैं जो अलग-अलग परिस्थितियों एवं घटनाओं की विभिन्नता के आधार पर प्रयुक्त किये जाते हैं। रोग, व्याधि या अस्वस्थता तीनों शब्दों के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती है। ये सभी शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं तथा तीनों में एक दूसरे के अर्थ निहित हैं; इस कारण इन्हें एक दूसरे के अर्थ में उपयोग किया जाता है।

व्यक्ति की प्रकार्यात्मकता पर रोग का प्रभाव :

रोगग्रस्तता की स्थिति में व्यक्ति की कार्यक्षमता, स्फूर्ति एवं शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है जिसके कारण वह अपने सामान्य क्रियाकलापों एवं

गतिविधियों का निर्वाह करने में पूर्ण अथवा आंशिक रूप से असमर्थ हो जाता है; फलस्वरूप वह समुदाय व परिवार के अन्य सदस्यों के साथ सहयोग करने के बजाय स्वयं उनसे सक्रिय सहयोग को अपेक्षा करता है। परिवार द्वारा उसे अपने उत्तरदायित्व से वंचित कर दिया जाता है या वह अपनी रुग्णता व क्षीणता के कारण अपनी प्रस्थिति के अनुरूप अपनी भूमिका के निष्पादन के योग्य नहीं रह जाता; इस सन्दर्भ में रोगी की स्थिति उसकी सामयिक आवश्यकता की तीव्रता, अशक्तता की गम्भीरता, रोग की प्रकृति, मृत्यु की आशंका, स्थायी विकलांगता का भय आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सहायता की आवश्यकता की प्रकृति रोगी की संस्कृति-विशेष एवं शीघ्र स्वस्थ होने की उसकी अभिलाषा एवं विश्वास से प्रभावित होती है। इस प्रकार रोग के कारण रोगी की मनोसामाजिक, जैवकीय एवं सांवेगिक स्थिति प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है जिसके फलस्वरूप उसको सामाजिक प्रकार्यात्मकता का स्पष्ट रूप से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

केवल इतना ही नहीं वरन् कुछ रोगी समुचित उपचार प्राप्त करने के उपरान्त भी अपनी स्थिति में सुधार का अभ्यास नहीं करते क्योंकि रोगग्रस्तता अन्य लोगों के ध्यानाकर्षण एवं सहानुभूति-प्राप्ति का माध्यम होती है। कुछ रोगियों की पारिवारिक व आर्थिक चिन्ता उपचार को अवरुद्ध करती है और रोगी उपचार की निरन्तर आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती है। अलग-अलग रोगियों की अलग-अलग पृष्ठभूमि या रुग्णता की भिन्नता के अनुरूप इनके उपचार विभिन्न रूप से प्रभावित होते हैं और वे अपनी प्रस्थिति के अनुसार अपनी भूमिका, सामाजिक उत्तरदायित्व एवं क्रिया-कलाप के उचित निर्वाह में असमर्थ होते हैं। शारीरिक बाधिता, विकलांगता अथवा अशक्तता के कारण उनके समक्ष सामाजिक समायोजन की समस्या उत्पन्न हो जाती है जिससे अन्तःक्रियायें व अन्तर्सम्बन्ध सम्बन्धी विलक्षणताएँ उन्हें इस रूप में प्रभावित करती हैं कि सामान्य सामाजिक प्रकार्यात्मकता का निर्वहन करने में वेअसमर्थ रहते हैं।

रुग्णता की स्थिति रोगी व उसके निकट सम्बन्धियों को सांवेगिक समस्या से ग्रस्त कर देती है। रोग की गम्भीरता के कारण रोगी अपने सामान्य जीवन की आकांक्षाओं के प्रति निराशा का आभास करता है और सामान्य आनन्द की अनुभूतियों से वंचित हो जाता है; साथ ही सांवेगिक सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति से उसे मानसिक कष्ट होता है, भविष्य के लिये वह कोई निश्चित विकल्प नहीं खोज पाता तथा निराशाओं के फलस्वरूप निम्नलिखित दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है :—

1. प्रतिक्रिया जो 'सांवेगिक आघात' स्वरूप होती है,
2. प्रतिक्रिया जो 'भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता' से सम्बन्धित होती है।

रोगी अपने रोगग्रस्त होने का सही अनुमान नहीं लगा सकते परन्तु शीघ्र पुनः स्वस्थ होने का अनुमान लगा लेते हैं। हमारे भारतीय परिवेश में रुग्णता को छिपाते हैं और चिकित्सालय में उपचार कराना, परिवार के सदस्य अशुभ मानते हैं इस कारण रोगी अपनी यथार्थ स्थिति का मूल्यांकन नहीं कर पाता।

गम्भीर रोगों के परिणामस्वरूप रोगी के व्यवहार में विचलन होता है। मृत्यु के भय से रोगी सांवेगिक समस्याओं से ग्रस्त हो जाता है, रोगी में अतार्किक विश्वासों एवं व्यवहारों का विकास हो जाता है। आयुर्विज्ञान के आधुनिक विकास के बाद भी रोगों के प्रति अज्ञानता, अन्धविश्वास और गलत धारणायें व्याप्त हैं जिनके कारण रोगी अपनी सामाजिक प्रकार्यात्मकता से विचलित हो जाता है। रुग्णता का प्रभाव रोगी की प्रकार्यात्मकता, उसकी अवस्था, यौन, सामाजिक पृष्ठभूमि जैसे बाल रोगी, किशोर रोगी, वयस्क रोगी, वृद्ध रोगी, महिला रोगी, निर्धन रोगी, परिवार का मुखिया रोगी आदि के सन्दर्भ में अलग-अलग पड़ता है।

रोगग्रस्त व्यक्ति के दो अधिकार व कर्त्तव्य होते हैं—प्रथम, सामान्य सामाजिक उत्तरदायित्व से छूट, द्वितीय—रोगी को अपनी वर्तमान दशा के प्रति दोषारोपण न करने की मान्यता। रोगी शीघ्र ठीक होने की इच्छा व अभिलाषा व्यक्त करता है; अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्राविधिक रूप से दक्ष चिकित्सकीय सहायता प्राप्त करने के लिये वह उत्सुक रहता है। इस प्रकार के व्यवहार एवं अधिकार के कारण ही परिवार व चिकित्सालय के बीच द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। रोगी की सम्पूर्ण मनोसामाजिक स्थिति इस प्रकार प्रभावित होती है कि वह अपनी सामान्य सामाजिक प्रकार्यात्मकता के निर्वाह में असमर्थ हो जाता है, फलस्वरूप उसका सामाजिक समायोजन बिगड़ जाता है जिससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

परिवार की प्रकार्यात्मकता पर रुग्णता का प्रभाव :

जब परिवार का कोई सामान्य सदस्य रोगग्रस्त हो जाता है तो परिवार के समस्त सदस्य प्रभावित होते हैं तथा उनकी मानसिक व सांवेगिक स्थिति में व्यापक परिवर्तन आ जाता है। पारसन्स एवं फॉक्स के अनुसार—'समाज में चिकित्सकीय प्राविधिकी का ही विकास की दृष्टि से ही महत्त्व नहीं है वरन् एकाकी परिवार में रोगी की दशा में असुरक्षा की भावना को भी यह विकसित करती है। एकाकी परिवार में रोग के पोषण, निदान व

आश्रितों के अनुशासनात्मक पक्ष में सन्तुलन स्थापित करना बड़ा कठिन कार्य है। गम्भीर रोगग्रस्तता की स्थिति में पारिवारिक तनाव की उपर्युक्त स्थिति को परिवार से बाहर (चिकित्सालय में) रोगी के उपचार द्वारा कम किया जा सकता है। गम्भीर रोग से ग्रस्त रोगी के घर पर आधुनिक प्राविधिक सुविधाओं की उपलब्धि होने पर भी चिकित्सक की अनिच्छा तथा परिवार के सदस्यों की तर्क रहित अभिलाषा निदान को प्रभावित करती है। रोगी एवं परिवार के सदस्यों के बीच सम्बन्धों की मनोसामाजिक व्याख्या के लिये सदस्यों की भूमिका-निर्धारण तथा भूमिका के अर्थ को परिवार में स्पष्ट करना आवश्यक है; इसके लिए परिवार का सामाजिक स्तर, नातेदारी समूह, कार्यसत्ता, सांवेगिक सहयोग की स्थिति, निर्णय की प्रक्रिया, स्नेह एवं सम्बन्ध आदि क्षेत्रों पर रोग का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप परिवार की प्रकार्यात्मकता शिथिल होती है तथा सदस्यों की कार्य क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

व्यवसाय अथवा कार्य पारिवारिक जीवन को वर्ग-संरचना के क्षेत्र में प्रभावित करता है क्योंकि पारिवारिक जीवन वृत्ति या जीविका एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता से युक्त होती है; विशेषकर व्यावसायिक क्षेत्र या इस क्षेत्र के सन्दर्भ में पारिवारिक जीवन को आवश्यकतानुसार ढालना पड़ता है। व्यावसायिक अवरोध या व्यवधान जीविका को प्रभावित करता है। रुग्णता की आवृत्ति, गम्भीरता, रोग की सामयिक वृद्धि आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं जो परिवार के व्यवसाय, स्तर, आपसी सम्बन्धी, सदस्यों की भूमिका आदि को प्रभावित करते हैं जिससे परिवार की प्रकार्यात्मकता में अवरोध उत्पन्न होता है।

परिवार की सत्ता एवं उत्तरदायित्व के सन्दर्भ में भी रुग्णता परिवार की प्रकार्यात्मकता को प्रभावित करती है। यह सर्वमान्य है परिवार की परम्परागत् पृष्ठभूमि, पारिवारिक संरचना, जातीय विश्वास व व्यवहार, रुग्णता के प्रति मनोवृत्ति व उपचार के लिये निर्णय की क्षमता आदि ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जिनमें परिवार के सदस्यों की निर्णय प्रक्रिया का दायित्व, अधिकार, क्षमता और मनोवृत्ति आदि महत्वपूर्ण भूमिका निष्पादित करती हैं जिनके फलस्वरूप प्रकार्य सकारात्मक या नकारात्मक रूप से स्वभावतः प्रभावित होता है।

परिवार में रोगी के सांवेगिक सम्बन्ध एवं सहयोग का स्वरूप, परिवार के सदस्यों के भूमिका, निर्धारण तथा उनमें सामयिक परिवर्तन भी पारिवारिक प्रकार्यात्मकता को प्रभावित करते हैं। पत्नी का सांवेगिक सहयोग जीविका में लगे पति के लिये विशेष रूप से अपेक्षित होता है परन्तु पत्नी या माता के रोग-ग्रस्त होने पर परिवार के स्नेह व सांवेगिक सहयोग का ढाँचा सामयिक रूप से

विस्तृत हो जाता है जिससे परिवार के अन्य सदस्यों को अपनी भूमिका के निर्वाह में कठिनाई का आभास होता है और प्रकार्यात्मकता प्रभावित होती है।

रोग के कारण उत्पन्न चिन्ता का स्वरूप रोगी की पारिवारिक स्थिति व उत्तरदायित्व पर निर्भर होता है। रोगी की चिन्ता में वृद्धि अथवा ह्रास उसके रोग की स्थिति, उपचार की प्रक्रिया, संसाधन एवं सम्बन्धियों की रोग के प्रति धारणा, मनोवृत्ति व देखरेख सम्बन्धी क्रियाकलापों पर निर्भर होता है। इस प्रकार रोग के प्रतिधारणा रोगी व उसके निकट सम्बन्धियों के बीच वार्तालाप, संचार एवं सांवेगिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है जिससे सामाजिक व पारिवारिक भूमिका, उसके प्रति आकांक्षाएँ एवं अपेक्षाएँ भी प्रभावित होती हैं तथा सम्पूर्ण पारिवारिक उत्तरदायित्व और प्रकार्यात्मकता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रुग्णता एक ऐसी दशा व स्थिति है जिसके कारण परिवार के सदस्यों की भूमिका, अपेक्षा, व्यावसायिक स्वरूप, सांवेगिक सम्बन्धी व्यावहारिक आकांक्षाएँ, पारिवारिक स्तर, क्रियाकलाप, परिवार के सदस्यों के बीच अर्न्तसम्बन्ध व सहयोग आदि प्रभावित होते हैं फलस्वरूप परिवार की सर्वांगीण स्थिति व प्रकार्यात्मकता शिथिलता की ओर अग्रसर होती हैं।

शारीरिक रोग एवं मनोसामाजिक समस्यायें

रुग्णता एवं स्वास्थ्य के सन्दर्भ में पूर्व विवेचनाओं से स्पष्ट हो चुका है कि स्वास्थ्य के मुख्य रूप से तीन पक्ष होते हैं और स्वस्थ व्यक्ति उसी को कहा जा सकता है जो शारीरिक रूप से हृष्ट-पुष्ट एवं निरोग हो तथा मानसिक रूप से सन्तुलित व सामाजिक रूप से समायोजित हो। इससे ज्ञात होता है कि स्वस्थता की दिशा में रोग के निवारण, निदान व उपचार तथा रोगियों के पुनर्स्थापन के लिये न केवल चिकित्सकीय सहायता की आवश्यकता होती है वरन् चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता का योगदान सर्वांगीण स्वास्थ्य सेवा का एक आवश्यक अंग है।

आर्युविज्ञान एवं सामाजिक विज्ञानों के विकास एवं अनुसन्धानों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जब कोई व्यक्ति किसी शारीरिक रोग से ग्रस्त होता है तो उसका मानसिक एवं सामाजिक पक्ष भी प्रभावित होता है। इसी प्रकार मानसिक व सामाजिक पक्ष शारीरिक स्थिति को प्रभावित करते हैं अर्थात् स्वास्थ्य के शारीरिक, मानसिक व सामाजिक पक्ष एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और समय व स्थिति में परिवर्तन के अनुसार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

यह प्रभाव दीर्घकालीन व गम्भीर शारीरिक रुग्णता की स्थिति में अधिक स्पष्ट रूप से मनोसामाजिक समस्या के रूप में दिखाई देता है। यदि कोई व्यक्ति यक्ष्मा, कुष्ठ अथवा रति (यौन) जैसे संक्रामक व दीर्घकालीन गम्भीर शारीरिक रोग से ग्रस्त होता है तो इसके फलस्वरूप मानसिक व सामाजिक समस्याओं से वह ग्रस्त हो जाता है जिसके समाधान की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी कि शारीरिक रोग के निराकरण की आवश्यकता। यह कहना भी अनुचित न होगा कि शारीरिक रोगों से पूर्ण मुक्ति तभी सम्भव हो सकती है जब उसके फलस्वरूप उत्पन्न मनोसामाजिक समस्याओं का भी वैज्ञानिक रूप से समाधान कर दिया जाये।

उपर्युक्त तथ्यात्मक विवरण को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ हम किसी दीर्घकालिक व संक्रामक रोग में उसके स्वरूप, कारण आदि में उपचार व सामाजिक कार्यकर्ता के योगदान का उदाहरण स्वरूप उल्लेख करें।

यक्ष्मा रोग का स्वरूप एवं कारण :

यक्ष्मा—माइक्रोबैक्टीरियम के कारण उत्पन्न एक विशिष्ट संक्रामक रोग है। यह फुफ्फुसी तथा अफुफ्फुसी दोनों प्रकार के ऊतकों को प्रभावित करता है। यह रोग तीव्र या चिर तथा स्थानीय या सामान्य रूपों में हो सकता है जो कहीं भी पाया जा सकता है।

भारत में यक्ष्मा रोग एक प्रमुख सार्वजनिक स्वास्थ्य समस्या है। इस समय लगभग एक करोड़ व्यक्ति इस रोग से पीड़ित हैं तथा प्रति वर्ष 5 लाख से अधिक लोगों की मृत्यु यक्ष्मा रोग से होती है। लगभग 35 लाख यक्ष्मा पीड़ितों को सक्रिय उपचार की आवश्यकता है। यदि इसका सक्रिय उपचार नहीं होता तो रोगी सैकड़ों व हजारों स्वस्थ व्यक्तियों को रोग संक्रमित करते हैं। अखिल भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद् ने 50 लाख फुफ्फुस यक्ष्मा रोगियों के एक देशव्यापी सर्वेक्षण में पाया कि लगभग एक तिहाई रोगी संक्रामक अवस्था में होते हैं।

यक्ष्मा एक अत्यन्त प्राचीन रोग है और कोई नहींजानता कि इस रोग का प्रथम शिकार कौन था। यक्ष्मा रोग 5000 वर्ष ईसा पूर्व मिश्र देश की ममियों (ताबूतों) में भी उपस्थित पाया गया है। उक्त काल से संबन्धित उल्लेखों में इस गम्भीर रोग के वर्णन से ज्ञात होता है कि भारत में भी यक्ष्मा रोग उस समय विद्यमान था। आधुनिक आयुर्विज्ञान के जन्मदाता हिप्पोक्रेट्स (460-377 ईसा पूर्व) का विचार था कि इस दिशा में प्रयास करना मात्र

समय नष्ट करना है तथा यक्ष्मा रोगी राज्य पर बोझ समान हैं। अरस्तू ने इस रुग्णता को दुर्भाग्यपूर्ण बताया। कुछ लोगों का कथन है कि ईसा मसीह यक्ष्मा रोग से पीड़ित थे। प्रमुख भारतीय प्राचीन आर्युविज्ञानी चरक एवं सुश्रुत ने यक्ष्मा रोग का उपचार कठिन बताया था। कुछ विद्वानों ने यक्ष्मा रोग को जैविकी रोग की संज्ञा दी और इसके प्रति अनेक सामाजिक लांछनों का वर्णन किया गया है। समुद्री आवास, घुड़सवारी, पशुओं का मांस आदि इस रोग के उपचार स्वरूप स्वीकार किये गये थे। इस रूप में हजारों वर्ष मानव जाति यक्ष्मा रोग से पीड़ित रही !

19वीं शताब्दी के अन्त तक विश्व के वैज्ञानिक इसके कारणों की खोज में लगे थे। अन्ततोगत्वा 1882 में जर्मन चिकित्सक राबर्ट काक् ने अपने सफल अनुसन्धानों से सिद्ध कर दिया कि इसका कारण ट्यूबरसिल बैसिली है। इसके पश्चात् अनुसन्धान का दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ कि किस प्रकार मानव जाति को इस भयानक रोग से बचाने के लिये ट्यूबरसिल बैसिली को नष्ट या प्रभावहीन बनाया जा सके। डॉ० काक् 1886 में अपनी खोज के तारतम्य में भारत आये परन्तु इस खोज के सफल परिणाम के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गयी।

फ्रांस के डा० कैल्मेट तथा डा० ग्युरिन ने यक्ष्मा के प्रतिरक्षक टीके को खोज निकाला जिसका नाम बी० सी० जी० (बैसिलस कैल्मेट ग्युरिन) दिया गया। इसके अन्तर्गत् ट्यूबरसिल बैसिली को इस प्रकार बी० सी० जी० में परिर्वतित कर दिया जाता है कि जिससे रोग उत्पन्न करने की क्षमता क्षीण हो जाती है और प्रतिपिण्ड उत्पन्न करने की क्षमता विकसित होती है जो यक्ष्मा रोग से प्रतिरक्षा करती है। बी० सी० जी० का टीका नवजात शिशु को लगाया जाता है जो यक्ष्मा रोग का निवारण है न कि निराकरण। यक्ष्मा रोग के उपचार की खोज की दिशा में प्रयोग चलता रहा और बी० सी० जी० टीका, सैनीटोरियम उपचार एवं चिकित्सालयों में भर्ती के माध्यमों से रोग निराकरण का प्रयास जारी रहा। 1947 के पूर्व सैनीटोरिया या चिकित्सालय में भर्ती, उत्तम आहार और स्वस्थ पर्यावरण के अतिरिक्त यक्ष्मा का कोई विशिष्ट उपचार उपलब्ध नहीं था। अन्ततोगत्वा 60 वर्ष की लम्बी अवधि के बाद 1947 में यक्ष्मा के सफल उपचार के लिये स्ट्रेप्टोमाइसिन औषधि की खोज कर ली गई जिसमें ट्यूबरसिल बैसिली को नष्ट करने की पूरी क्षमता थी और रोगी के शरीर पर इसका कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता था। इसके पश्चात् कुछ अन्य रासायनिक चिकित्सा भी खोजी गयी जिनसे यक्ष्मा-रोगी के उपचार की अवधि एवं रोगियों की मृत्यु में काफी कमी आई। अब तक यक्ष्मा के उपचार के लिये एक दर्जन से अधिक औषधियों का उत्पादन किया जा चुका है जिनमें अधिकांश

औषधियाँ सस्ती हैं परन्तु रिफमपोसीन जैसी औषधि मँहगी है मगर यह उपचार की अवधि मात्र 6 माह तक कर देती है। यक्ष्मा रोग निर्धन देशों की स्वास्थ्य सम्बन्धी एक गम्भीर सार्वजनिक समस्या है।

यक्ष्मा के कारक :

1. **पदार्थ कारक** : माइक्रोबैक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस बेलन के आकार का परमाणुरूपी जीव यक्ष्मा का अभिकर्त्ता संवाहक होता है। ट्यूबरसिल वैसिली के मनुष्य में तीव्र या कम प्रभावशाली मिश्रित समूह होते हैं अर्थात् कुछ तीव्र गुणनशील होते हैं व कुछ कम गुणनशील होते हैं। धीमी गति से गुणनशील परजीवी मनुष्य के शरीर में कई वर्ष जीवित रह सकते हैं और भविष्य में अनुकूल परिस्थिति होने या तीव्र गतिशील हो जाते हैं। भारतीय ट्यूबरसिल वैसिलस यूरोपीय की अपेक्षा कम प्रचण्ड व प्रभावकारी होते हैं।

1959 में रूनयान ने इन्हें चार समूहों में वर्गीकृत किया है : (1) फोटोक्रोमोजन (2) स्कोटो क्रोमोजन (3) नान-फोटो क्रोमोजन (4) सैप्रोफाइटिक (रैपिड ग्रोवर)।

पार्क एवं पार्क[1] के अनुसार यक्ष्मा के संक्रमण के दो माध्यम हैं :-

1. पार्क, जे० ई० एवं पार्क, के—प्रिवेन्टिव ऐण्ड सोशल मेडिसिन, पृ० 296.

(अ) **मानव साधन** : सूक्ष्म जीवों के संचरण स्थिति रोग संक्रमण रोग में प्रमुख भूमिका निभाती है। रोगी द्वारा की गई गन्दगी व थूक आदि से संक्रमण होता है। यक्ष्मा नियन्त्रक कार्यक्रम की सफलता के लिये रोगी की संक्रामक स्थिति की सकारात्मकता को प्रारम्भ में ही खोजने की आवश्यकता होती है।

(आ) **गो-साधन** : भारत में गाय से संक्रमित होने वाला यक्ष्मा रोग समस्या के रूप में विस्तृत नहीं हुआ है क्योंकि गाय के दूध का सेवन उबालने के बाद किया जाता है।

संक्रमी पदार्थ :

फुफ्फुसी यक्ष्मा से ग्रस्त रोगी का थूक ही मुख्य रूप से ट्यूबरसिल वैसिली का स्रोत होता है। ये सूक्ष्म जीव पीप (मवाद), फुफ्फुस व आंतों से स्रवित द्रव, व मल-मूत्र में पाये जाते हैं। गाय के दूध से बने पदार्थ, उसके मांस तथा मुँह के झाग व थूक द्वारा भी यह रोग संक्रमित होता है। इसके अतिरिक्त दूषित खाद्यान्न, भोज्य पदार्थ, रोगी से प्रत्यक्ष सम्पर्क आदि से भी रोग का संक्रमण होता है।

संक्रमण की प्रक्रिया :

सूक्ष्म जीव रोगाणुओं के किसी भी माध्यम से शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर इन रोगाणुओं द्वारा नई ग्रन्थियाँ बनती हैं, जिधर ये ग्रन्थियाँ विकसित होती हैं उधर खिचाव होता है तथा सूजन आ जाती है। 5 वर्ष तक के बच्चों व 35 से 50 वर्ष की अवस्था के बीच यक्ष्मा रोगी के मरने की संख्या सर्वाधिक है।

संक्रामकता की अवधि :

मानव शरीर में रोगाणुओं के प्रवेश के समय से लेकर रोग के लक्षण के स्पष्ट होने के बीच की अवधि को ही संक्रमण-अवधि की संज्ञा दी जाती है। यक्ष्मा रोग में यह अवधि कुछ महीनों से लेकर कुछ वर्षों तक होती है।

2. पोषक कारक :

(अ) **आयु :** यक्ष्मा रोग सामान्यतः किसी भी आयु वर्ग के व्यक्ति को हो सकता है परन्तु भारत तथा विकसित देशों में हुए सर्वेक्षणों से स्पष्ट होता है कि यह रोग युवकों की अपेक्षा वृद्धों में अधिक होता है। यह अधिकतर असामाजिक मस्तिष्क के शराबी, अधिक समय तक घर से बाहर रहने वाले, अधिक परिश्रम और कम विश्राम करने वाले व्यक्तियों में पाया जाता है।

(आ) **यौन** : भारत में यक्ष्मा रोग 45 वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों और 35 वर्ष से कम आयु की स्त्रियों में अधिक पाया जाता है।

(इ) **प्रजाति** : यह रोग किसी भी जाति प्रजाति व वर्ग के व्यक्तियों में पाया जाता है, मगर इसकी संख्या पिछड़े, निर्धन वर्ग व निम्न जाति के लोगों में अधिक होती है।

(ई) **अनुवांशिकता** : यक्ष्मा अनुवांशिक रोग नहीं है परन्तु पारिवारिक व नीति शास्त्रीय अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि इस रोग पर अंशतः वंशानुगत् प्रभाव एवं नियंत्रण होता है।

(उ) **पोषणता** : ट्यूबर कुलोसिस केमोथेरैपी सेन्टर, मद्रास, ने स्पष्ट किया है कि भोजन व आहार के आधिक्य द्वारा रोगी की प्रतिरोधक क्षमता को न तो बढ़ाया जा सकता है न ही उसके शरीर भार के ह्रास को रोका जा सकता है। शक्तिवर्धक केमोथिरैप्यूटिक औषधियों के सन्दर्भ में हुए अध्ययनों से ज्ञात होता है कि मात्र आहार से स्वास्थ्य लाभ असम्भव है।

(ऊ) **प्रतिरक्षा** : मनुष्य में यक्ष्मा से छुटकारा पाने के लिये जन्मजात कोई तत्त्व नहीं होता।

3. **सामाजिक कारक** : यक्ष्मा केवल चिकित्सकीय या शारीरिक रोग नहीं है वरन् एक सामाजिक रोग भी है। भारत में यक्ष्मा के निम्नलिखित सामाजिक कारकों पर प्रकाश डाला गया है :—

(अ) **जीवन स्तर** : मानव के जीवन स्तर से रोग ग्रस्तता एवं यक्ष्मा का नियंत्रण व उपचार सम्बन्धित होता है।

(आ) **आवास** : आवास व्यक्तियों के जीवन स्तर को प्रभावित व प्रदर्शित करता है। आवासी भवन में हवा, पानी, प्रकाश व धूप आदि यक्ष्मा के संक्रमण के नियन्त्रण एवं निवारण को प्रभावित करते हैं।

(इ) **निर्धनता** : निर्धनता यक्ष्मा का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। यह रोग धनी व्यक्तियों की तुलना में निर्धन व पिछड़े वर्ग में अधिक पाया जाता है।

(ई) **शिक्षा** : अशिक्षा व निरक्षरता के कारण स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अज्ञानता व उदासीनता होती है। रोग के निवारण, उपचार व उपचार स्थलों आदि के बारे में जानकारी की कमी के कारण रोग की आवृत्ति में वृद्धि होती है।

(उ) सामाजिक रीति-रिवाज एवं आदतें : हमारी भारतीय संस्कृति में कुछ प्रथायें एवं आदतें यक्ष्मा रोग को फैलाने के कारक स्वरूप हैं। इधर-उधर थूकना, बीड़ी, सिगरेट, हुक्के आदि का नियमित सेवन, बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि रोग में वृद्धि के कारक हैं। इनके अतिरिक्त कार्यस्थल, व्यावसायिक दशायें, बड़े संयुक्त परिवार, नगरीकरण, औद्योगीकरण, मानसिक तनाव, चिन्ता, शारीरिक परिश्रम, विश्राम की कमी, अशुद्ध भोजन आदि भी इसके कारक हैं।

यक्ष्मा रोगी एवं उसकी समस्यायें

यक्ष्मा रोगग्रस्त व्यक्ति जहाँ एक ओर शारीरिक दुर्बलता, क्षीणता, शारीरिक हीनता जैसी समस्याओं से ग्रस्त होता है वहीं सम्बन्धियों से तिरस्कृत और परिवार पर बोझ समझा जाने लगता है। नौकरी या व्यापार से अलग कर दिये जाने के कारण वह आर्थिक कठिनाइयों से पीड़ित हो जाता है जिसके फलस्वरूप मानसिक, सामाजिक व सांवेगिक समस्याओं से ग्रस्त हो जाता है। इन्हें निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(अ) मनोवैज्ञानिक एवं सांवेगिक समस्याएँ :

1. चिन्ता : यक्ष्मा ग्रस्त रोगी को यह शंका और चिन्ता होती है कि उसका रोग ठीक होगा या नहीं। ऐसी चिन्ता उसके उपचार को भी कुण्ठित करती है।

2. असुरक्षा : यक्ष्मा रोग की दीर्घकालिक प्रकृति और इससे उत्पन्न अक्षमता, शारीरिक क्षीणता एवं गिरते हुए शारीरिक स्वास्थ्य के कारण रोगी में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो जाती है और वह अपनी स्थिति के प्रति संदिग्ध हो जाता है।

3. उपेक्षा : परिवार के सदस्य रोगी की उपेक्षा करते हैं, उसे परिवार के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों से वंचित कर देते हैं, पारिवारिक क्रियाकलापों में भाग नहीं लेने देते जिससे रोगी अपने आपको उपेक्षित समझने लगता है और निराशाग्रस्त हो जाता है।

4. अनुपयोगिता : पारिवारिक व सामाजिक क्रियाकलापों से वंचित तथा सम्बन्धियों के दुरावपूर्ण व्यवहार के कारण रोगी अपने आपको अक्षम और अनुपयोगी समझने लगता है तथा उसके मन में यह विचार बैठ जाता है कि उसका जीवन निरर्थक है।

5. हीनता एवं पापी होने की भावना : समाज व परिवार के सदस्यों के दुरावपूर्ण व्यवहार से रोगी अपने को समाज पर बोझ समझने लगता है। इसे वह पिछले जन्म के कुकर्मों का पाप मानता है और अपने को हीन व पापी समझने लगता है।

6. आत्म उपेक्षा : रोगी अपने आप को पापी, अपराधी और तिरस्कृत समझ कर अपने आप को उपेक्षित करता है, फलस्वरूप आत्मपीड़न और आत्म अवहेलना जैसी समस्याओं से ग्रस्त रहता है।

7. पृथक्करण : पारिवारिक व सामाजिक तिरस्कार, पाप व अपराध की भावना, आत्म अवहेलना आदि के कारण यक्ष्मा का रोगी अपने को समाज की मूलधारा से पृथक कर लेता है तथा एकान्तप्रिय होकर निराशा पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगता है। उसे अपने जीवन से मोह कम हो जाता है।

8. सामाजिक उपेक्षा : अपनी पारिवारिक व सामाजिक रूप से उपेक्षित स्थिति व शारीरिक क्षीणता, आर्थिक कठिनाई व निराशा के कारण वह सामाजिक क्रिया-कलापों की दिशा में निष्क्रिय हो जाता है और अपने आप को समस्त क्रिया-कलापों से दूर कर लेता है।

9. व्यक्तिगत जीवन के प्रति उपेक्षा : रोगी अपने आपको समाज पर बोझ मानकर जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है, फलस्वरूप अपनी देख-रेख और रख-रखाव एवं आवश्यकताओं के प्रति उदासीन हो जाता है।

(आ) पारिवारिक समस्याएं :

यक्ष्मा रोग के लम्बी अवधि, चलने तक उपचार के व्यय तथा संक्रामक प्रकृति के होने के कारण रोगी के पारिवारिक सम्बन्धों में कटुता एवं अविश्वास उत्पन्न हो जाता है जिससे निम्नलिखित समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं :—

1. पारिवारिक सम्बन्धों में कटुता : रोग के अत्यधिक गम्भीर स्वरूप, महँगा एवं दीर्घकालिक उपचार तथा यक्ष्म के प्रति जनसाधारण की गलत धारणा और इसकी संक्रामक प्रकृति के फलस्वरूप परिवार के सदस्यों की धारणा रोगी के प्रति बदल जाती है और सम्बन्धों में कटुता आ जाती है ।

2. **परिवार पर आर्थिक बोझ** : रोग की दीर्घकालिक उपचार-प्रक्रिया और महंगी औषधियों के कारण परिवार के ऊपर आर्थिक बोझ बढ़ जाता है, साथ ही रोग के कारण उत्पन्न शारीरिक क्षीणता के फलस्वरूप रोगी अपने कार्य में शिथिल हो जाता है या नौकरी से निकाल दिया जाता है जिससे परिवार की आर्थिक कठिनाई बढ़ जाती है।

3. **यक्ष्मा रोग के प्रति गलत धारणा** : अशिक्षा, अज्ञानता एवं पिछड़ेपन के कारण अधिकांश लोगों में रोग के कारण, लक्षण, उपचार, उपचार की संस्थाओं आदि के सम्बन्ध में सही जानकारी न होने के कारण वे इसे असाध्य रोग मानकर जीवन से निराश हो जाते हैं जिससे अनेक समस्याएँ सामने आती हैं ।

4. **संक्रामक प्रकृति के कारण तनाव तथा आपसी दूरी** : यक्ष्मा एक संक्रामक रोग है, जन साधारण इतना तो जानते हैं परन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि सभी यक्ष्मा रोगी पूरी अवधि तक संक्रामक नहीं रहते । दूसरे यह कि उपचार के उपरान्त भी घर के सदस्य संक्रमण के भय के कारण रोगी से दूर रहते हैं । यहाँ तक कि पत्नी, बच्चे और रोगी के बर्तन आदि भी अलग रखे जाते हैं तथा रोगी को भी घर के किसी कोने में स्थान दिया जाता है जिससे मानसिक तनाव, निराशा तथा आपसी कलह उत्पन्न हो जाता है ।

5. **पारिवारिक विघटन** : कभी कभी गलत धारणाओं के कारण पति-पत्नी के सम्बन्ध विघटन की सीमा तक विच्छिन्न हो जाते हैं । वैवाहिक विच्छेद, परित्याग और बच्चों व घर के सदस्यों से रोगी की सामाजिक दूरी होने से पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(इ) आर्थिक समस्यायें

दीर्घकालीन एवं महंगे यक्ष्मा रोग उपचार, कार्य क्षमता में ह्रास, नौकरी या व्यवसाय का छूट जाना, रोगोपचार के सम्बन्ध में अस्पताल में भर्ती या बार बार चिकित्सकों से सम्पर्क, उत्तम आहार के सेवन, सम्बन्धियों के आवागमन, आदि में अधिक व्यय के कारण परिवार के सामने आर्थिक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, फलस्वरूप अनेक मनोसामाजिक समस्याएँ भी जन्म लेती हैं।

नौकरी या व्यावसायिक क्षेत्र में कार्यरत् रोगियों के सामने अन्य सहकर्मियों के साथ समायोजन की समस्या भी उत्पन्न हो जाती है क्योंकि यह ज्ञात होने पर कि रोगी क्षय रोग या यक्ष्मा रोग से पीड़ित है सहकर्मी उससे दूर हो जाते हैं तथा बार-बार लम्बी अवधि की छुट्टी लेकर उपचार व विश्राम करने के कारण अनेक प्रशासनिक व व्यवसायगत् समस्यायें सामने आती हैं जिनके फलस्वरूप रोगी व उसका परिवार पूरी तरह प्रभावित होता है और अनेक आर्थिक समस्यायें व कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(ई) सामाजिक समस्यायें :

यक्ष्मा रोग के प्रति जन साधारण में एक गलत धारणा व्याप्त है। इसके दीर्घकालिक व संक्रामक होने के कारण विभिन्न रूपों में रोगी व उसके परिवार पर सामाजिक कुदृष्टिपात किया जाता है। गलत पूर्वाग्रह के कारण रोगी व उसके परिवार की प्रतिष्ठा गिर जाती है, समाज उसे हेय दृष्टि से देखने लगता है और सम्पूर्ण परिवार का आदर-सम्मान कम हो जाता है, लोग मेल-जोल बन्द कर देते हैं और सामाजिक दूरी बढ़ जाती है।

केवल इतना ही नहीं, समाज रोगी परिवार से किसी भी रूप में सामाजिक व वैवाहिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करते और कभी-कभी पहले से स्थापित वैवाहिक सम्बन्धों का परित्याग, तलाक द्वारा तोड़ दिया जाता है। यक्ष्मा रोगी व उसके परिवार से अन्य सम्बन्धी एवं पड़ोसी सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और सामाजिक दूरी बना लेते हैं जिसके कारण अन्य अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं।

(उ) उपचार सम्बन्धी समस्याएँ :

यक्ष्मा रोग के कारण, निदान, निवारण, निराकरण तथा पुनर्स्थापन के सम्बन्ध में अज्ञानता के कारण गलत धारणा विद्यमान होने के कारण रोगी को उपचार के सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परिवार के उत्तरदायी सदस्य भी समझते हैं कि यक्ष्मा का आज भी कोई उपचार उपलब्ध नहीं है और यह रोग ठीक नहीं होगा, फलस्वरूप वे उपचार पर किसी

भी रूप में अपना धन व्यय नहीं करना चाहते। कभी-कभी स्वयं रोगी भी यह समझता है कि अब उसका उपचार सफल नहीं होगा इसलिए वह नियमित व उचित रूप से औषधियों व आहार का सेवन नहीं करता।

इसके अतिरिक्त यक्ष्मा का उपचार ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों और सभी प्रखण्ड व जिला स्तर के चिकित्सालयों में उपलब्ध नहीं होता इस कारण लम्बी दूरी के कारण उपयुक्त चिकित्सालयों में जाकर वह उपचार नहीं करा पाता। समय पर सही निदान न होने और महँगी औषधियों के कारण भी उपचार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ सामने आती हैं। राजकीय चिकित्सालयों में लापरवाही, पक्ष-पात और रिश्वत आदि का प्रचलन इतना अधिक बढ़ गया है कि सामान्य यक्ष्मा रोगी अपना समुचित उपचार कराने में कठिनाई का आभास करता है।

(ऊ) पुनर्स्थापन सम्बन्धी समस्या :

उपचार पूर्ण हो जाने के पश्चात् टूटे हुए सम्बन्धों, सामाजिक दूरी, मान-मर्यादा और पारिवारिक प्रतिष्ठा, नौकरी या व्यवसाय में समायोजन आदि के पुनः स्थापित होने, आर्थिक स्थिति में सुधार लाने आदि से सम्बन्धित सहायता कम सुलभ है। परिवार, पड़ोस व समुदाय के सदस्य रोगी का उपचार हो जाने के बाद भी उसे पूर्ववत सामाजिक आदर व स्तर नहीं प्रदान करते जिसके कारण समायोजन की समस्या बनी रहती है।

यक्ष्मा रोग में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका

(अ) रोगी के साथ कार्य :

1. चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता यक्ष्मा रोगी को रोग के कारण, लक्षण, निदान, उपचार, प्रभाव आदि के सम्बन्ध में तथ्यात्मक जानकारी प्रदान करता है। यदि रोगी के मन में रोग की प्रकृति, स्वरूप एवं उपचार आदि के बारे में गलत धारणा होती है तो वह उसे दूर करने का प्रयास करता है।
2. रोगी को वास्तविकता से अवगत कराते हुए उपचार प्रक्रिया में विश्वास करने और चिकित्सकीय परामर्श का पालन करने हेतु प्रेरित करता है।
3. कार्यकर्ता, गलत धारणाओं व अज्ञानता के कारण या रोग के फलस्वरूप रोगी में उत्पन्न सांवेगिक व मानसिक तनाव, चिन्ता, निराशा, जीवन के प्रति उदासीनता, असुरक्षा, पाप की भावना आदि को समाप्त करने में सहायता करता है।
4. सामाजिक कार्यकर्ता उपचार के महत्त्व और औषधि के सेवन की आवश्य-कता को स्पष्ट करते हुए रोगी को नियमित उपचार एवं चिकित्सकीय परामर्श के अनुरूप आहार लेने के लिये निर्देशित व प्रेरित करता है।

5. उपयुक्त आहार व औषधि के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार विश्राम तथा नियमित जीवनयापन के सम्बन्ध में भी सामाजिक कार्यकर्ता रोगी को सचेत करता है।
6. सामाजिक कार्यकर्ता समुचित उपचार के लिये चिकित्सालय में भर्ती होने के लिये रोगी को प्रेरित करता है तथा चिकित्सालयी समस्याओं के निराकरण में रोगी व उसके सम्बन्धियों की सहायता करता है। कभी-कभी भय व शंका के कारण रोगी सामान्य चिकित्सालय या सैनीटोरियम में भर्ती नहीं होना चाहता या भर्ती होने पर जब चिकित्सालय में उसे समायोजन की कठिनाई होती है तो कार्यकर्ता रोगी व उसके सम्बन्धियों की सहायता करता है। कार्यकर्ता रोगी व चिकित्सक के बीच मध्यस्थता का भी कार्य करता है तथा रोगी की इस प्रकार सहायता करता है कि वह चिकित्सालय द्वारा प्रदत्त समस्त सुविधाओं को प्राप्त कर सके। निदान व उपयुक्त उपचार के लिये सामाजिक कार्यकर्ता रोगी व उसके परिवार सम्बन्धी आवश्यक तथ्यों का संकलन करके चिकित्सक को सहायता प्रदान करते हुए उपचार की दिशा में अपना योगदान करता है। कभी-कभी रोगी आर्थिक कठिनाइयों के कारण उपयुक्त एवं निरन्तर उपचार लेने में असमर्थ हो जाता है तो कार्यकर्ता अतिरिक्त सामुदायिक साधनों के माध्यम से रोगी की सहायता करता है।

(आ) परिवार के साथ कार्य :

रोगी के साथ-ही-साथ सामाजिक कार्यकर्तारोगी के अन्य सम्बन्धियों को भी रोग की प्रकृति, कारण, संक्रमण, संक्रमण निवारण के उपाय एवं सम्पूर्ण उपचार प्रक्रिया और समुचित आहार आदि के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी प्रदान करता है। उचित निदान और चिकित्सकीय परामर्श के अनुसार निरन्तर रोगी को उपचार दिलाने के सन्दर्भ में कार्यकर्ता रोगी के निकट सम्बन्धियों को प्रेरित करता है। उपचार के साथ रोगी के आहार, विश्राम, देखरेख की आवश्यकता के सम्बन्ध में सम्बन्धियों को सचेत करता है। कार्य कर्ता समय-समय पर रोग के संक्रमण के माध्यमों, सम्भावनाओं और उसके निवारणके सन्दर्भ में भी समुचित ज्ञान प्रदान करता है तथा इससे सम्बन्धित उसकी गलताओं व साधारण रोगी के साथ व्यवहार का मार्ग भी निर्देशित करता है।

केवल इतना ही नहीं वरन् सामाजिक कार्यकर्ता रोगी के परिवार के सदस्यों को रोगी की शारीरिक व सांवेगिक स्थिति, मानसिक तनाव एवं चिन्ता, शंका एवं भ्रम आदि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक आधारों पर स्थिति स्पष्ट करता है; इस

प्रकार रोगी के प्रति सम्बन्धियों की गलत धारणाओं में परिमार्जन करता है। रोग के कारण उत्पन्न आपसी कटुता, दुराव एवं कलह को समाप्त करने में व्यावसायिक ढंग और प्रविधियों द्वारा सहायता प्रदान करता है। उन्हें इस बात के लिये भी प्रेरित करता है कि समय-समय पर परिवार के सदस्य अपना स्वास्थ्य परीक्षण कराते रहें ताकि निरोधात्मक क्रिया-कलाप का प्रयोग किया जा सके।

(इ) समुदाय एवं समाज के साथ कार्य : चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता पड़ोस, समुदाय एवं समाज में यक्ष्मा रोग के सम्बन्ध में स्वास्थ्य शिक्षा के माध्यम से आवश्यक जानकारी प्रदान करते हुए रोग व उसके उपचार व संक्रमण के बारे में विद्यमान गलत धारणाओं को दूर करता है ताकि रोगी का अपने समुदाय में पुनर्स्थापन हो सके और उपचार पूर्ण होने के पश्चात् वह फिर से समाज में अपना मान-सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। कार्यकर्ता रोगी की क्षमता और शारीरिक स्थिति के अनुरूप उपयुक्त कार्य व व्यवसाय प्रारम्भ करने में सहायता प्रदान करता है और सहकर्मियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में अपना योगदान देता है।

(ई) कार्य-स्थिति के सन्दर्भ में सहायता : कार्यकर्ता रोगी के नियोजक, अधिकारी, सहकर्मी आदि की भावनाओं व रोगी के प्रति धारणा का अध्ययन करके आवश्यकतानुसार उनमें सुधार लाने का प्रयास करता है ताकि रोगी के साथ उनकी सामाजिक दूरी समाप्त हो सके और अपनी वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करते हुए वह अपने कार्य व व्यवसाय में पुनः समायोजित हो सके। कार्यकर्ता रोगी की शारीरिक क्षमता और स्वास्थ्य की स्थिति का मूल्यांकन करके उसके अनुरूप कार्य व व्यवसाय करने की दिशा में निर्देशन और साधनों के बारे में जानकारी देता है।

(उ) निवारक सेवा : चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता, समुदाय को स्वास्थ्य एवं स्वच्छता तथा रोग के कारण और संक्रमण के माध्यमों के बारे में शिक्षा प्रदान करता है। वह जन-साधारण को स्वास्थ्य परीक्षण, बच्चों के निवारक टीकाकरण आदि के लिये अभिप्रेरित करता है व टीकाकरण की उपलब्ध सेवाओं और सामुदायिक संसाधनों की आवश्यकता व महत्व को स्पष्ट करता है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में जनजागरण करने के उद्देश्य से अनेक प्रचार-माध्यमों जैसे प्रदर्शनी, स्वास्थ्यपरीक्षण शिविरों के द्वारा निरोधक टीकाकरण, गोष्ठियों का आयोजन, पत्र-पत्रिकाओं में स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन, रेडियो, टेली-

विजन, नाट्यकला, कौव्वाली, संगीत आदि द्वारा स्वास्थ्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करता है।

(ऊ) राष्ट्रय स्वास्थ्य कार्यक्रमों में सहयोग : चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता राजकीय कार्यक्रमों के संचालन में सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से यक्ष्मा तथा अन्य रोगों के सन्दर्भ में अनुसन्धान द्वारा तथ्यों के आधार पर सुझाव प्रस्तुत करके स्वास्थ्य संस्थानों व सरकार का मार्गदर्शन करता है।

यक्ष्मा सम्बन्धी सेवाओं को 20 सूत्रीय कार्यक्रम में सम्मिलित करने के पश्चात् यक्ष्मा निवारण व उन्मूलन सम्बन्धी अधिक विस्तृत कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। 1982-83 से अज्ञात यक्ष्मा पीड़ितों की खोज का अभियान चलाया जा रहा है। 1982-83 में 1081000 यक्ष्मा रोगियों की खोज की गई जबकि लक्ष्य केवल 10 लाख था। 1985-86 में 15 लाख रोगियों की खोजना लक्ष्य था जबकि 1358000 यक्ष्मा रोगियों का पता लगाया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में थूक-परीक्षण की व्यवस्था की गई। 1985-86 में 20 लाख 33 हजार रोगियों के थूक का परीक्षण किया गया।

उपर्युक्त विवरण द्वारा यक्ष्मा रोगियों के सन्दर्भ में समाज कार्य के योगदान की विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इसी प्रकार चिकित्सकीय समाज कार्य के क्षेत्रान्तर्गत् कैंसर, कुष्ठ, यौन संक्रमित (रति) रोग तथा अन्य गम्भीर रोगों के कारण उत्पन्न मनोसामाजिक, सांवेगिक एवं आर्थिक समस्याओं के समाधान तथा रोगों के निवारण, उन्मूलन व उपचार के सन्दर्भ में समाज कार्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पुनर्स्थापन

पुनर्स्थापन किसी रोगी, अशक्त, विकलांग या बाधित व्यक्ति की विद्यमान योग्यता व क्षमता को उपयोग करने की दिशा में इस प्रकार विकसित करने को प्रक्रिया है जिससे वह अपनी योग्यता का अधिकतम उपयोग अपेक्षित कार्यों के निष्पादन में कर सके। ऐसा देखा जाता है कि अशक्त या विकलांग व्यक्ति के प्रति माता-पिता तथा समाज के अन्य सदस्यों की मनोवृत्ति निराशावादी होती है जिसके कारण उनमें अनेक मनोवैज्ञानिक समस्यायें भी उत्पन्न हो जाती हैं। अयोग्यता के कारण कुछ निश्चित आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के सन्दर्भ में व्यावसायिक कठिनाई भी उत्पन्न होती हैं।

शारीरिक रूप से बाधितों के स्तर का निर्धारण समाज के अनेक कारकों पर निर्भर होता है। बाधितों के प्रति सामाजिक मनोवृत्ति सांस्कृतिक मूल्यों पर

आधारित होती है। भारत जैसे विकासशील देशों में शारीरिक रूप से बाधिता की आवृत्ति अशिक्षा, अज्ञानता, महामारी, कुपोषण व सुरक्षात्मक व्यवस्था की कमी आदि पर आधारित होती है। शारीरिक बाधितों के सामाजिक-आर्थिक स्तर में उन्नति को पुनर्स्थापन की संज्ञा दी जा सकती है। बाधिता केवल शारीरिक क्षेत्र में ही नहीं होती वरन् मानसिक व सामाजिक क्षेत्रों भी होती है। बाधिता को निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(i) शारीरिक बाधिता
(ii) मानसिक बाधिता
(iii) सामाजिक बाधिता एवं
(iv) आर्थिक बाधिता।

चिकित्सकीय समाज कार्य के अन्तर्गत् उक्त समस्त प्रकार के बाधितों की पुनःस्थापना का प्रयास किया जाता है। चिकित्सा के क्षेत्र में मुख्य रूप से शारीरिक बाधितों की समस्याओं के समाधान में सहायता करते हुए कार्यकर्ता विकलांगता या बाधिता के उपरान्त शेषक्षमताओं का इस प्रकार उपयोग करने के लिये प्रेरित व मार्गदर्शन करता है कि बाधित व्यक्ति अपने क्रियाकलापों व व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों का अधिकतम प्रतिपादन कर सके तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके आत्मनिर्भर बन सके।

शारीरिक बाधितों के प्रति समुदाय व परिवार के अन्य सदस्यों की भावनाएँ कैसी होती हैं—इस बात का अध्ययन करके उनमें परिवर्तन लाने की प्रक्रिया में कार्यकर्ता समुदाय के लोगों की बाधित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति विकास व क्रोध या घृणा की भावना को दूर करने का प्रयास करता है। कार्यकर्ता यह भी देखने का प्रयास करता है कि समुदाय के सदस्यों की भावनाएँ किन दृष्टिकोणों से प्रेरित होती हैं। इस दिशा में सामान्य रूप से जन साधारण की भावनाओं को प्रेरित करने वाले कारकों, जैसे—मानवता, दया, श्राप या भय, बाधित को पापी या अपराधी समझने की धारणा अथवा धर्म समझ कर बाधित की सहायता सम्बन्धी दृष्टिकोणों में परिमार्जन लाने का वह प्रयास करता है।

सामाजिक कार्यकर्ता को यह भी देखता पड़ता है कि वह बाधित की सहायता इस प्रकार करें कि उसमें आत्महीनता, लज्जा, उपेक्षा, उदासीनता, एकाकीपन, भाग्यवादिता आदि जैसे मनोवैज्ञानिक अवरोधों को उत्पत्ति न होने पाये। इसी प्रकार कार्यकर्ता को सम्पूर्ण सेवा की प्रक्रिया के दौरान सचेत रहना पड़ता है कि बाधिता के कारण सम्बन्धित सेवार्थी का सामाजिक अथवा आर्थिक पक्ष भी प्रभावित न होने पाये।

बाधितों की प्रमुख समस्यायें व आवश्यकतायें

बाधित व्यक्ति चाहता है कि उसे समाज से पृथक न किया जाए वरन् उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाये जैसा कि समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ किया जाता है। बाधित व्यक्ति अपनी उपयोगिता व महत्त्व बनाये रखना चाहता है, उसमें स्नेह व प्यार पाने की अभिलाषा होती है। वह अपेक्षा करता है कि समाज में उसकी सुरक्षा बनी रहे तथा उसे मनोरंजन, शिक्षा तथा कार्य करने का समान अवसर प्राप्त होता रहे तथा जीवन की समस्त परिस्थितियों से उसका समुचित रूप से सामंजस्य बना रहे।

बाधितों की पुनर्स्थापन में विशेषज्ञों का दल :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी बाधित, विकलांग; अशक्त अथवा दीर्घकालीन रोग या दुर्घटना के कारण उत्पन्न अक्षमता से ग्रस्त व्यक्ति न केवल शारीरिक अयोग्यता या बाधिता के क्षेत्र में पुनर्स्थापन सम्बन्धी सहायता पाने का पात्र होता है वरन् सामाजिक व मनोवैज्ञानिक, संवेगात्मक तथा आर्थिक क्षेत्रों में भी उससे पुनर्स्थापन व समायोजन की आवश्यकता होती है। अतः किसी भी ऐसे व्यक्ति के पुनर्स्थापन में विशेषज्ञों के एक दल की आवश्यकता होती है जिनमें सामान्यतः निम्नलिखित विशेषज्ञ प्रमुख भूमिका निभाते हैं :—

1–चिकित्सक 2–चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता 3–मनोवैज्ञानिक 4–भौतिक उपचारक 5–वृत्तिक उपचारक 6–परिचारिका 7–वृत्तिक निर्देशन कर्ता व प्रशिक्षक आदि।

सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका :

विशेषज्ञों के उपर्युक्त दल में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति के पुनर्स्थापन में अधोलिखित भूमिका का निर्वाह करता है :—

1. शारीरिक बाधित व्यक्तियों के साथ चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका : बाधित व्यक्ति की अनेक सामाजिक, संवेगात्मक एवं आर्थिक समस्यायें होती हैं जिनके समाधान तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के सन्दर्भ में कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति और उसकी समस्याओं के सन्दर्भ में विस्तृत जानकारी प्राप्त करके मनोसामाजिक निदान करता है जिसके आधार पर वृत्तिक समाज कार्य की उपयुक्त प्रणाली, प्रविधि व सिद्धान्त का प्रयोग करके इस प्रकार सहायता प्रदान करता है कि वह पुनः समायोजित व पुनर्स्थापित होने की दिशा में अपनी शेष क्षमता का उपयोग करके सुखी व प्रतिष्ठित जीवन यापन करने में सफल हो सके। सामाजिक कार्य-

कर्ता अपने इस प्रयास में रोगी की प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में सहायता प्रदान करता है ।

प्रत्यक्ष सेवा :—शारीरिक रूप से बाधित रोगी के उपचार एवं पुनर्स्थापन के सन्दर्भ में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता समुदाय में उपलब्ध संस्थागत तथा असंस्थागत् साधनों को एकत्र करके उनके उपयोग के लिये रोगी को प्रेरित व निर्देशित करता है, साथ ही आवश्यकतानुसार सेवार्थी को उपयुक्त संस्था में सन्दर्भित करके विशिष्ट सेवा प्राप्त करने के लिये मात्र निर्दिष्ट ही नहीं करता वरन् समस्त सम्भावित वृत्तिक सेवा प्रदान करता है। इतना ही नहीं वरद् आर्थिक पुनर्स्थापन के लिये अक्षमता या बाधिता को दृष्टिगत् रखते हुए यदि सेवार्थी को किसी विशिष्ट व्यावसायिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है तो वह उसे प्राप्त कराने में सहायता प्रदान करता है और ऐसे संगठनों, संस्थाओं व संसाधनों से सहायता-प्राप्ति की दिशा में भी अपना योगदान देता है जिससे सेवार्थी को वित्तीय व आर्थिक सहायता व सहयोग प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त सेवार्थी की प्रत्यक्ष सेवा के सन्दर्भ में कार्यकर्ता उसकी भावनाओं के क्षेत्र में वैज्ञानिक व वृत्तिक रूप से सहायता करता है। बाधित व्यक्तियों में सामान्यतः उत्पन्न हीनता की भावना, भय, निराशा व उदासीनता आदि की भावनाओं को दूर करने तथा उनमें आत्मविश्वास एवं बाधिता को स्वीकार करते हुए शेष क्षमता व शक्ति के आधार पर मनोबल विकसित करने में सहायता करता है। कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति की अहम्शक्ति व सहनशीलता में स्वस्थवृद्धि करने की दिशा में वैयक्तिक सेवा कार्य प्रणाली की अनेक विधियों व प्रविधियों का उपयोग करता है तथा इस प्रकार सहायता प्रदान करता है कि सेवार्थी का अन्तर्सम्बन्ध और सामंजस्य पुनः सन्तुलित व विकसित हो सके ताकि उसे परिवार, समुदाय, अपने कार्यस्थल तथा समाज में उचित मान, मर्यादा और कार्य मिल सके।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति को उसकी शेष क्षमता एवं योग्यता के बारे में स्पष्ट जानकारी प्रदान करता है और उसी सन्दर्भ में विभिन्न आयामों व कार्यक्षेत्रों से अवगत कराते हुए सेवार्थी को विश्वास दिलाता है कि बाधिता उसका भाग्य नहीं है और न ही जीवनयापन व आर्थिक क्षेत्र में विकास के लिये कोई अवरोध है वरन् बाधिता के बाद भी वह अनेक सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में सफल हो सकता है। वह सेवार्थी की समस्याओं का सामान्यीकरण व सार्वभौमीकरण करते हुए इस प्रकार व्याख्या करता है कि सेवार्थी यह भली भाँति समझ ले कि सामान्य व्यक्ति भी अनेक समस्याओं से ग्रस्त होता है और बाधिता उसके लिए कोई अभिशाप नहीं है।

2. बाधित के परिवार के साथ कार्यकर्ता की भूमिका :

बाधित व्यक्ति अपंगता, विकलांगता अथवा अशक्तता के कारण स्वयं तो अनेक मनोसामाजिक समस्याओं से पीड़ित होता ही है साथ ही उसके परिवार के सामने भी आर्थिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा अन्तर्सम्बन्ध सम्बन्धी विभिन्न स्वरूपों में समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। सामाजिक कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति के परिवार का गम्भीरतापूर्वक मनोसामाजिक अध्ययन करके उसकी समस्याओं का इस प्रकार समाधान करता है कि बाधिता के कारण उत्पन्न पारिवारिक समस्याओं का निराकरण तो हो ही जाये साथ ही उसका यह भी प्रयास व उद्देश्य होता है कि बाधित व्यक्ति को परिवार में पूर्ववत् मान-सम्मान व प्रतिष्ठा एवं स्तर प्राप्त हो सके तथा आपसी सम्बन्धों में किसी भी प्रकार की कटुता व दुराव न रह जाये और सभी सदस्य बाधित व्यक्ति तथा उसकी व्यक्तिगत् समस्याओं के निराकरण व समुचित समायोजन में रुचि लें।

3. पुनर्स्थापनदल के सदस्यों के साथ कार्यकर्ता की भूमिका :

चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता शारीरिक रूप से बाधित व्यक्ति के सर्वांगीण समायोजन के सन्दर्भ में केवल बाधित व उसके परिवार के साथ ही सेवा कार्य नहीं करता वरन् पुनर्स्थापन दल के अन्य सदस्यों के साथ भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस दिशा में वह बाधित व्यक्ति के पुनर्स्थापन सम्बन्धी योजना व नीतियों के क्रियान्वयन में अपने वृत्तिक, व्यावहारिक व समाज कार्य के ज्ञान तथा निपुणता का प्रयोग करके दल के समस्त सदस्यों को लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में योगदान देता है। कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति के सन्दर्भ में संकलित सामाजिक, आर्थिक व मनोवैज्ञानिक तथ्यों से अन्य सदस्यों को भलीभाँति अवगत कराता है; साथ ही अन्य विशेषज्ञों के क्षेत्र की आवश्यक जानकारी प्राप्त करके बाधित व्यक्ति की सहायता करता है। कार्यकर्ता दल के सदस्यों के बीच आपसी सम्बन्धों को भी वृत्तिक परिधि में उत्तम बनाने में सहायता प्रदान करता है तथा एक दूसरे की विशिष्टताओं की उपयोगिता एवं महत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। वह यह भी प्रयास करता है कि सदस्यगण एक दूसरे को महत्व देते हुए वाधित व्यक्ति के सर्वांगीण समायोजन की दिशा में योगदान के लिए प्रेरित हों।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति के सर्वांगीण पुनर्स्थापन की दिशा में अन्य विशेषज्ञों के सहयोग से सक्रिय भूमिका निभाता है। सामान्यतः किसी शारीरिक रूप से बाधित

व्यक्ति के पुनर्स्थापन के विभिन्न आयामों में सुधार व परिमार्जन में दल के अन्य विशेषज्ञों के साथ कार्य करता है। ये आयाम निम्नलिखित हैं :—

(i) शारीरिक व भौतिक पुनर्स्थापन—इस आयाम में सुधार व परिमार्जन करने का प्रमुख दायित्व चिकित्सक का होता है।

(ii) मनोवैज्ञानिक व सांवेगिक पुनर्स्थापन—इस आयाम का प्रमुख विशेषज्ञ मनोवैज्ञानिक होता है परन्तु इससे सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण में चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता का योगदान भी आवश्यक होता है।

(iii) सामाजिक पुनर्स्थापन—पुनर्स्थापन के सामाजिक आयाम का दायित्व चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता का होता है और वह इस क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(iv) आर्थिक पुनर्स्थापन—शारीरिक रूप से बाधित व्यक्ति के आर्थिक पुनर्स्थापन से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण व पुनर्स्थापन का उत्तरदायित्व चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता के सहयोग सहित वृत्तिक निदेशक व उपचारक का होता है।

4. बाधित व्यक्ति के पुनर्स्थापन के सन्दर्भ में समुदाय के साथ कार्यकर्ता की भूमिका : चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता बाधित व्यक्ति के पुनर्स्थापन के लिये समुदाय के संसाधनों एवं योगदान को उपलब्ध बनाने में समुदाय के साथ कार्य करता है। वह सामुदायिक सेवाओं तथा बाधित व्यक्ति की शेष क्षमताओं का मूल्यांकन व स्पष्टीकरण समुदाय के सम्मुख प्रस्तुत करता है और समुदाय को बाधित व्यक्ति में निहित क्षमताओं का विश्वास दिलाता है। वह समुदाय के सामने बाधित व्यक्तियों की आवश्यकताओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा बाधितों के प्रति समुदाय में विद्यमान पूर्वाग्रह एवं गलत धारणाओं को समाप्त कर वास्तविकता पर आधारित सम्बन्धस्थापन का प्रयास करता है। कार्यकर्ता अपने महत्वपूर्ण योगदान द्वारा समुदाय को प्रेरित करता है कि वह बाधित व्यक्तियों को हेय दृष्टि से न देखें तथा उन्हें पूर्ववत् आदर, मान, प्रतिष्ठा और स्तर प्रदान करते हुए सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए अवसर प्रदान करें।

●

अध्याय—5

नगरीय कल्याण

आनुपातिक रूप में ग्रामीण जनसंख्या में लगातार कमी तथा नगरीय जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। नगरीकरण की तीव्र प्रक्रिया ने हमारी सामाजिक-आर्थिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था को इस सीमा तक प्रभावित किया है कि हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आयाम ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक मूल्य भी परिवर्तित हो गये हैं। नगरीकरण की प्रक्रिया ने जहाँ एक ओर परम्परागत् संकीर्ण मूल्यों, व्यवहारों व मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर जीवन को आधुनिक सुख-सुविधायुक्त व आरामपूर्ण बनाया है वहीं दूसरी ओर समस्याओं की एक लम्बी कतार खड़ी कर दी है। भूमि तथा आवास की कमी, जन-सुविधाओं, पीने के पानी, स्वच्छता व सफाई सेवायें, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ, स्थानीय परिवहन आदि पर भारी दबाव, गन्दी व मलिन बस्तियों में बढ़ोत्तरी, मनोरंजन स्थलों का अभाव, व्यक्तित्व व पारिवारिक विघटन, गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी मानसिक तनाव व चिन्ता, प्रदूषण आदि न जाने कितनी ही ऐसी समस्याओं को इसने जन्म दिया है जिनसे आज का नगरीय समुदाय जूझ रहा है। यदि बड़े पैमाने पर देखा जाये तो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास, राष्ट्रीय धन का असमान वितरण, आर्थिक संकट, भ्रष्टाचार, जमाखोरी, संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा, औद्योगिक झगड़े, हिंसा, गतिशीलता में वृद्धि, धर्म-महत्वहीनता, सामुदायिकविघटन आदि समस्याओं का मूल नगरीय संस्कृति तथा संस्कारों में छिपा है। इन समस्याओं से निपटने के लिये ज्ञान की विभिन्न शाखायें व संस्थायें अपनी-अपनी सीमाओं में अपने-अपने तरीकों से प्रयास कर रही हैं। वृत्तिक समाज कार्य भी नगरीय समुदायों के लिए कल्याणकारी व विकासात्मक सेवाओं का संयोजन करता है। नगरीय कल्याण से तात्पर्य सामाजिक सेवाओं के उस संगठित स्वरूप से हैं जो व्यक्तिगत् एवं समूहों को सामान्य सन्तोषप्रद जीवन स्तर, स्वास्थ्य तथा योग्यताओं के विकास के अवसर प्रदान करता है। नगरीय कल्याण का उद्देश्य प्रत्येक नगरवासी की आर्थिक जरूरतों की पूर्ति, उत्तम स्वास्थ्य, सन्तोषप्रद जीवन निर्वाह स्तर के अतिरिक्त सहनागरिकों के साथ सामाजिक सामंजस्य, उचित पर्यावरण, उपयुक्त जन सुविधाओं तथा मनोरंजन युक्त जीवन के अवसर प्रदान करना है।

नगर एक ऐसा जन समुदाय है जिसकी अपनी कुछ सामाजिक विशेषताएँ होती हैं जैसे घनी आबादी, व्यापार, उद्योग, द्वितीयक सम्बन्ध एवं नियंत्रण, अवैयक्तिक सम्बन्ध आदि। नगरीकरण की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है और यह एक ऐसी क्रमिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक ग्रामीण समुदाय के जीवन में नगरीय विशेषताओं का विकास शनैः-शनैः होता है। वर्गेल ने अपनी पुस्तक 'अर्बन सोशियोलॉजी में गाँव के शहरी क्षेत्र में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया को नगरीकरण कहा है। एन० एन० श्रीनिवासन् के अनुसार नगरीकरण से अभिप्राय मात्र अधिक जनसंख्या से नहीं अपितु सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन से भी है। एण्डरसन् के अनुसार नगरों की संख्या बढ़ना ही नगरीकरण नहीं है बल्कि निवासियों के विचारों, मनोवृत्तियों, व्यवहारों तथा मूल्यों में होने वाला परिवर्तन भी नगरीकरण में सम्मिलित रहता है। नगरीकरण से प्रायः तात्पर्य नगरीय वृद्धि या नगरीय विकास से लगा लिया जाता है जबकि वास्तव में इनके अर्थ भिन्न हैं। नगरीकरण नगरीय क्षेत्रों में रहने वाली जनसंख्या, देश की कुल जनसंख्या का कुछ प्रतिशत या भाग है जिसका अर्थ है कि नगरीय जनसंख्या में वृद्धि तो ग्रामीण जनसंख्या में समानुपातिक कमी। नगरीकरण औद्योगीकरण का परिणाम व कारण दोनों ही है। इस रूप में भी ग्रामीण कृषि क्षेत्रों से ओद्योगिक क्षेत्रों में जाकर बस जाना नगरीकरण है जबकि नगरीय वृद्धि से तात्पर्य नगरीय जनसंख्या के पूर्ण आकार में होने वाली प्रतिशत वृद्धि से होता है।

पूरे विश्व की 37 प्रतिशत जनसंख्या शहरी है[1]। विकसित देशों में 69 प्रतिशत तथा विकासशील देशों में 39 प्रतिशत जनसंख्या नगरीय है[2]। तालिका 1 से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में 1951 में नगरीय जनसंख्या 17.3 प्रतिशत थी जो कि 1981 की जनगणना के अनुसार 23.30 प्रतिशत हो गयी। यदि ग्रामों से नगरों में आने वाली जनसंख्या वृद्धि वर्तमान दो प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़नी जारी रही तो 2000 में देश की अनुमानित आबादी 1000 मिलि-

---

1. शर्मा, अरुण कुमार, अर्बनाइजेशन पैटर्न इन द वर्ल्ड : रेयर इम्प्लिकेशन्स फार इण्डिया, जर्नल आफ सोशल ऐण्ड इकोनामिक स्टडीज, भाग–1, 2, 1982।
2. जैन, एम० के०, ग्रोथ आफ सिटीज ऐण्ड अर्बन एग्लोमरेशन इन इण्डिया, 1971–81 ए सेन्सस एनालिसिस, शोध पत्र प्रस्तुति—ए०एस०वी०य० सम्मेलन 1982।

यन में से एक तिहाई (30-40 प्रतिशत) जनसंख्या शहरों में रहने के लिये आ जायेगी ।[1]

तालिका—1

जनसंख्या वृद्धि (1951–2001)

वर्ष	जनसंख्या (मि०)			नगरीय जनसंख्या का अनुपात	
	नगरीय	ग्रामीण	कुल		शहरों की संख्या
1951	62.4	298.5	360.9	17.30	—
1961	79.1	360.1	439.2	18.00	2700
1971	108.9	438.3	547.2	19.70	2971
1981	159.7	525.5	685.2	23.30	3245
2000	315.4	684.5	1000.0	30 से 40	4654

जनगणना 1971–81

यह भी एक कटु सत्य है कि इस आबादी का लगभग तीन चौथाई (60-80 प्रतिशत) भाग गरीबी की रेखा के नीचे होगा और इसमें से अधिकांश आबादी महानगरों तथा प्रथम श्रेणी के शहरों में बढ़ेगी। 1971 व 1981 की जनसंख्या के आँकड़े दर्शाते हैं कि इस मध्य शहरों की संख्या 2531 से बढ़कर 3245 हो गयी। 1971 में प्रथम श्रेणी के 145 शहरों में कुल शहरी जनसंख्या की 56.2 प्रतिशत जनसंख्या रहती थी जो कि 1981 में 60.4 प्रतिशत हो गयी और यह प्रथम श्रेणी के 216 शहरों में फैल गई।[2] बड़े शहरों की ओर जनसंख्या का बढ़ता हुआ सैलाब गन्दी बस्तियों में रहने को बाध्य होगा तथा पीने के पानी, स्वास्थ्य, बेरोजगारी, सड़क, परिवहन, जन सुविधाओं, शिक्षा आदि की समस्याओं से ग्रसित रहेगा।

यह निर्विवाद सत्य है कि बड़े शहरों की आबादी छोटे शहरों की तुलना में तेजी से बढ़ रही है। 9971 में तृतीय से चतुर्थ श्रेणी तक के शहरों में कुल

1. प्रतिवेदन, दि नेशनल कमीशन आन अर्बनाइजेशन, वाल्यूम–1, अगस्त 1988।
2. अशोक कुमार, एन० व लक्ष्मी पथी, वी०, हाउसिंग इन इण्डिया : प्राब्लेम्स एण्ड पालिसीज़, नगरलोक, खण्ड–20, भाग 2, अप्रैल–जून 1988।

शहरी जनसंख्या का 32.0 प्रतिशत भाग का जो कि 1981 में घटकर 28.0 प्रतिशत रह गया। स्पष्ट है कि शहरी जनसंख्या में अधिकांश वृद्धि (67.4 प्रतिशत से 72.0 प्रतिशत) प्रथम व द्वितीय श्रेणी के 486 शहरों में ही हुई है। हमारे नगरों की दशा अत्यन्त दयनीय है। नगर धीरे-धीरे अनियन्त्रित वृद्धि के कारण भरते जा रहे हैं। गन्दे शहर नगरीय जीवन में गिरावट का प्रतीक हैं लेकिन बम्बई और कलकत्ता जैसे शहर एक बड़ी मलिन बस्ती से कम नहीं हैं। लोगों की बढ़ती हुई आबादी और मूलभूत जन-सुविधाओं के अभाव ने नगरीय जीवन को नारकीय जीवन बना दिया है और भरने योग्य परिस्थितियों को पैदा कर दिया है। यह सब पिछले दशक में हुए अन्धाधुन्ध नगरीकरण का परिणाम है। नगरीय प्रशासन की कार्यक्षमता और नैतिक मापदण्डों में भारी गिरावट आई है। स्थानीय निकायों के पास नगरीय निर्माण के लिए आवश्यक पर्याप्त धन तथा स्रोत भी नहीं है।[1]

नगरीय विकास के कार्यक्रमों का वर्णन करने से पूर्व नगरीय समुदायों की प्रमुख समस्याओं का आँकलन आँकड़ों के आइनों में उचित होगा।

(1) शहरी गरीबी :

शहरी गरीबी आज के नगरों की प्रमुख समस्या है। शहरी जनसंख्या का एक तिहाई भाग गरीबी रेखा के नीचे है। सातवें वित्त आयोग (1978) के प्रतिवेदन के अनुसार भारत की 52 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे रह रही है। योजना आयोग की छठीं पंचवर्षीय योजना के प्रपत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि गरीबी रेखा से तात्पर्य ग्रामीण क्षेत्रों में 2400 कैलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में 2100 कैलोरी प्रति व्यक्ति भोजन की न्यूनतम आवश्यकता के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों में रुपये 75 प्रति व्यक्ति प्रति माह तथा शहरी क्षेत्रों में रुपये 88 प्रति व्यक्ति प्रति माह (1979-80 के मूल्यों के अनुरूप) खर्च करने से है।[2] 1983-84 में राष्ट्रीय मानक सर्वेक्षण संगठन के 38वें चक्र (1983-84) की गणना के अनुसार यह स्तर रुपये 122 प्रति व्यक्ति प्रति माह आंका गया है।[3] इस रेखा के आधार पर 1987-88 में किये गये आँकलन के अनुसार 27.7 प्रतिशत नगरीय जनसंख्या अर्थात् 57 मिलियन लोग गरीबी

---

1. ग्रामीण नगरीय सम्बन्ध समिति का प्रतिवेदन, 1966, स्वास्थ्य, परिवार मन्त्रालय, भारत सरकार, खण्ड–1।
2. छठीं पंचवर्षीय योजना (1980-85), खण्ड–2, योजना आयोग, भारत सरकार, 1965, पृ० 262।
3. राष्ट्रीय मानक सर्वेक्षण संगठन, 38वां चक्र।

रेखा के नीचे हैं। भारत की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है इसलिये ग्रामीण निर्धनों की संख्या और भी अधिक है। ग्रामीण क्षेत्रों की निर्धन आबादी की शहरों की ओर स्थानान्तरण की प्रक्रिया शहरी निर्धनों को जन्म देती है। वास्तव मे यह जनसंख्या गाँवों से रोजगार की तलाश में पलायन करती है तथा यह पलायन कई कारणों से होता है—जैसे ग्रामीण-सामाजिक-आर्थिक संरचना, भूमिहीन कृषक मजदूरों की बेरोजगारी, ग्रामोद्योग तथा प्रचलित व्यवसायों में परिवर्तन, बाढ़ व सूखा जैसी प्राकृतिक विपदायें आदि। ग्रामीण व शहरी निर्धनता आपस में जुड़ी हुई अवधारणायें हैं। यदि विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा खाद्य कृषि संगठन (एफ० ए० ओ०) द्वारा निर्धारित किये गये भोजन के न्यूनतम कैलोरीय मानकों को आधार बनाया जाये तो नगरीय निर्धनता की व्यापकता और बढ़ जाती है। निर्धनता की परिभाषा केवल आय, व्यय या उपभोग के सन्दर्भ में भलीभाँति नहीं की जा सकती क्योंकि निर्धनता के पर्यावरणीय, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक जैसे अन्य पहलू भी होते हैं इसलिये निर्धनता के मापन व आकलन में जीवन की गुणवत्ता से सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों को भी जोड़ा जाना चाहिये। देश के विकासात्मक कार्यक्रमों में निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रमों (गरीबी हटाओ) का समावेश पाँचवीं पंचवर्षीय योजना से शुरू हुआ, तब ग्रामीण व शहरी निर्धनता जैसी अलग-अलग अवधारणायें नहीं थीं। छठीं पंचवर्षीय योजना में 61 लाख लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर लाने के लिये अतिरिक्त लाभ कार्यक्रम तथा स्वास्थ्य व मौलिक सेवाओं में समान वितरण के कार्यक्रमों को महत्व दिया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना में तो शहरी निर्धनों की समस्या के लिये सीधी दुहरी नीति अपनायी गयी जिसका उद्देश्य एक ओर तो बढ़ती हुई गरीबी को रोकना था तथा दूसरी ओर रोजगार मूलक तथा उत्पादक व्यवसायों के कार्यक्रमों को चलाना इसमें सम्मिलित था।[1]

(2) मलिन बस्तियां :

गन्दी या मलिन बस्तियाँ विश्व मे लगभग अधिकांश शहरों में किसी न किसी रूप में पायी जाती हैं। गन्दी बस्तियाँ जहाँ विकासशील देशों में अनियोजित या आंशिक नियोजित विकास को दर्शाती हैं वहीं विकसित देशों में वहाँ के जीवन-स्तर में गिरावट की ओर इंगित करती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ (1952) ने गन्दी बस्तियों को अस्थाई, अनियोजित मकानों का एक समूह या कोई क्षेत्र या कोई ऐसा भाग माना है जहाँ काफी लोगों की भीड़ रहती हो और जन

---

1. सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) योजना आयोग, भारत सरकार, 1986।

स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा नैतिकता को खतरा उत्पन्न करता हो।[1] विभिन्न समाज वैज्ञानिकों तथा सरकारी आयोगों ने गन्दी बस्तियों को विभिन्न आधारों, विशेषताओं पर पारिभाषित करने का प्रयास किया है। अधिकांश परिभाषाओं में भौगोलिक तथा भौतिक स्थितियों को ही प्रमुखता दी गई है। ठाकुर व धादवे ने लिखा है कि गन्दी बस्तियाँ सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक ऐसी दशाओं के फलस्वरूप पैदा होती हैं जो वहाँ के निवासियों के भौतिक, मानसिक, नैतिक तथा सामाजिक विकास में बाधा पैदा करती हैं। इन बस्तियों में लोग घुटन, भीड़ भरी, तंग तथा बेतरतोब ढंग से बनाई गई झोपड़ियों में रहते हैं और स्वास्थ्य, सफाई, शौचालय, पीने का पानी आदि सुविधाओं के अभाव के अतिरिक्त निवासियों का जीवन-स्तर इतना निम्न होता है कि वे स्वयं वैयक्तिक विकास व सामुदायिक जीवन में भाग लेने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं।[2]

इन बस्तियों के विकास का मुख्य कारण आर्थिक है। इन बस्तियों के जीवन को वास्तव में नारकीय जीवन कहना अधिक उचित होगा। स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन के स्थान, खेलने के मैदान (पार्क) की बात तो दूर ,इन बस्तियों में पीने का पानी, हवा, प्रकाश, शौचालय, गन्दे पानी के निकास आदि आधारभूत आवश्यकताओं की भी व्यवस्था नहीं होती है। आस-पास का वातावरण दुर्गन्ध युक्त तथा प्रदूषित होता है। फलस्वरूप तपेदिक, दमा, पेट की बीमारियाँ व सहायक रोग, पेचिस जैसे गम्भीर रोग पनपते हैं। वास्तव में ये रोगों, अनैतिकता तथा अपराधों के केन्द्र होते हैं। नशा, जुआ, शराबखोरी, वेश्यावृत्ति, बाल अपराध, भिक्षावृद्धि, आदि सामाजिक बुराइयाँ भी इन बस्तियों में पलतो हैं।

योजना आयोग के एक कार्यदल के अनुसार 1981 में 40 प्रतिशत शहरी देश के विभिन्न शहरों व क़स्बों की गन्दी बस्तियों में रहते थे और अनुमान है कि 2001 में यह आबादी 78 मिलियन हो जायेगी। बम्बई की चाल, कलकत्ता की खोली, दिल्ली की झुग्गी-झोपड़ी तथा मद्रास की चरिया में 15.66 मिलियन (38 प्रतिशत) लोग रहते हैं। बम्बई में 37.02 लाख, कलकत्ता में 36.7 लाख, दिल्ली में 38.6 लाख, मद्रास में 14.9 लाख, कानपुर से 7.6 लाख

---

1. यूनेस्को प्रतिवेदन, इन अर्बन कम्युनिटी, फ्रॉम अर्बन लैण्ड पालिसीज, नेल्स एण्डरसन, न्यूयार्क प्रेस 1952, पृष्ठ 410।
2. आर० एन० ठाकुर एवं एम० एस० धादवे, स्लम्स ऐण्ड सोशल सिस्टम, आ० पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1987, पृ० 22।

तथा बंगलोर से 7.3 लाख लोग मलिन बस्तियों में रहते हैं।[1]

3. आवास समस्या :

आवास की समस्या एक गम्भीर राष्ट्रीय समस्या है। जनगणना के आंकड़ों के अनुसार मकानों की कमी लगातार बढ़ती जा रही है। केवल शहरी क्षेत्रों में 1961 में 18 लाख, 1071 में 29 लाख तथा 1981 में 48 लाख मकानों की कमी थी। राष्ट्रीय आवास संगठन, (नेशनल विल्डिग आर्गनाइजेशन) (एन० बी० ओ०) ने मकानों की कमी के बारे में अपेक्षित अनुमान लगाये हैं जिनके अनुसार 1991 में कम से कम 274 लाख मकानों की और आवश्यकता होगी और शताब्दी के अन्त तक 391 लाख मकानों की जरूरत होगी। यद्यपि यह कमी गाँवों में अधिक होगी लेकिन फिर भी शहरी क्षेत्रों में क्रमशः 73 लाख और 93 लाख की कमी आंकी गयी है।[1] समाजशास्त्रियों का यह कथन उपयुक्त है कि व्यक्ति मकान बनाता है लेकिन मकान व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाता है; मकान व्यक्ति की मौलिक आवश्यकता है। दुर्भाग्य का विषय है कि एक ओर तो शहरी जनसंख्या मकानों की कमी से पीड़ित है वहीं दूसरी ओर मकानों की जर्जर अवस्था, सघनता, बनावट, संरचना और बनावट का स्तर और भी प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। एक मकान में 5.5 व्यक्ति रहते हैं जो कि विश्व में कई देशों की तुलना में बहुत अधिक है। यदि प्रति व्यक्ति रहने के स्थान का औसत लिया जाये तो हमारे देश में यह औसत 2.8 व्यक्ति प्रति कमरा है जबकि ऑस्ट्रेलिया, स्वीडन, न्यूजीलैण्ड, कनाडा तथा अमेरिका जैसे विकसित देशों में मात्र 0.6 व्यक्ति प्रति कमरा है। महानगरों में यह दर और भी अधिक है। बम्बई में 3.99, कलकत्ता में 3.34 तथा दिल्ली में 2.30 व्यक्ति प्रति कमरा है।

4. जन-सुविधायें :

मानवों के किसी भी समुदाय के स्वस्थ जोवन यापन के लिए रोटी, कपड़ा, मकान की ही नहीं बल्कि शुद्ध-स्वच्छ एवं स्वस्थ पर्यावरण का होना भी आवश्यक है। किसी भी शहर या कस्बे में पीने के पानी, शौचालय, गन्दे पानी के बहाव की व्यवस्था (ड्रेनेज सिस्टम), बिजली, प्रकाश, खेलने के पार्क, कूड़ा-करकट के निस्तारण आदि की उचित व्यवस्था वांछनीय होती है। जनोपयोगी जन-सुविधाओं को प्रदान किया जाना तथा प्रबन्ध नगरीय प्रशासनिक संस्थाओं के माध्यम से होता है। स्वच्छता, सफाई सेवाओं, पर्यावरणीय परिस्थितियों

---

1. स्लम पॉपुलेशन टु टच 78 मिलियन, हिन्दुस्तान टाइम्स, अगस्त 30, 1989, पृ० 6।

तथा आधारभूत सेवाओं की स्थिति देश में सन्तोषजनक नहीं है। केवल 56 प्रतिशत नगरीय जनसंख्या को जल संस्थानों द्वारा (39 प्रतिशत सीधे मकानों में तथा 17 प्रतिशत सार्वजनिक नलों के माध्यम से) पीने का पानी उपलब्ध होता है। ग्रामीण क्षेत्रों की 6 प्रतिशत आबादी को जोड़कर देश की 16 प्रतिशत जनसंख्या को पीने का पानी उपलब्ध है। जल निस्तारण व्यवस्था भी केवल 18 प्रतिशत नगरीय जनसंख्या को प्राप्त है।[1] यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाये कि नगरों की लगभग 40 प्रतिशत आबादी गन्दी बस्तियों में रहती है जहाँ इन जन-सुविधाओं का पूर्णतः अभाव है तो समस्या की गम्भीरता और बढ़ जाती है। बिजली, पानी, शौचालय, सीवरेज-व्यवस्था अत्यन्त दयनीय है। 1981 की जनगणना के अनुसार 6.22 मिलियन आबादी वाली, देश की राजधानी दिल्ली शहर में 25 प्रतिशत मकानों में विद्युत-प्रकाश व्यवस्था, 32 प्रतिशत मकानों में शौचालय तथा 49 प्रतिशत जनसंख्या को नल का पानी पीने के लिये प्राप्त नहीं है।[2] जन सुविधाओं की समस्या मकानों की पुरानी संरचना तथा इनका निम्न स्तर होने के कारण और गम्भीर होती जा रही है। इसके अतिरिक्त मुहल्ले तथा कॉलोनियों में सड़कें, नालियां, तथा गलियों में प्रकाश व्यवस्था की समस्या है। सार्वजनिक शौचालय, स्नानागार, खेलकूद के लिये पार्क, आवागमन के लिए खुली सड़कें तथा रास्ते, सार्वजनिक यातायात व्यवस्था तथा उच्च सार्वजनिक सुविधाओं का अभाव महानगरों से लेकर छोटी श्रेणी के शहरों में सामान्य बात है।

5. अशिक्षा, अज्ञानता तथा अस्वस्थता :

शहरों में रहने वाली जनसंख्या को आर्थिक रूप से दो भिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—आर्थिक रूप से सम्पन्न, सन्तुष्ट तथा आर्थिक रूप से विपन्न। आर्थिक रूप से विपन्न जनसंख्या अशिक्षित तथा अज्ञानता के जाल में जकड़ी हुई है। नगरों की आबादी में अकुशल श्रमिक (चौकीदार, चपरासी, घरेलू नौकर, वेन्डर, स्वीपर, धोबी, खोमचे वाले, रिक्शा चालक आदि), महिला मजदूरों तथा बाल श्रमिकों की संख्या तकनीकी या कुशल श्रमिकों की तुलना में बहुत अधिक होती है। नगरीय आबादी में पुरुषों की तुलना में औरतों में निरक्षरता और भी ज्यादा होती है। गन्दी बस्तियों में तो यह प्रतिशत अत्यधिक है। अशिक्षा व अज्ञानता का जाल अस्वस्थता के साथ

---

1. यूनाइटेड नेशन्स कम्पेंडियम आफ सोशल स्टैटिस्टिक्स, 1977।
2. पुरी, आर० के०, हाउसिंग इन दिल्ली, दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 16, 1990, पृष्ठ 11।

ही एक ऐसे चक्रव्यूह को जन्म देता है जिससे निकलना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य होता है ।

6. व्यक्तिगत् व पारिवारिक विघटन :

व्यक्तिगत् व पारिवारिक विघटन नगरीय जीवन की पर्याय है । शहरों के आकर्षण व चकाचौंध से प्रभावित होकर रोजगार की तलाश में प्रतिदिन हजारों व्यक्ति गाँवों से शहरों की ओर आते हैं । केवल दिल्ली शहर में ही 17 लाख लोग वर्ष 1981-91 के मध्य बाहर से आकर बसे स्थानान्तरण की यह दर 1971-81 में 53 प्रतिशत थी और अनुमान है कि 1981-91 में 54.5 प्रतिशत तथा 1991-2001 में 59 00 प्रतिशत हो जायेगी ।[1] आबादी में से अधिकांश नगरीय जोवन के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते फलस्वरूप तनाव, चिन्ता, कुण्ठा से घिर जाते हैं और मद्यपान, नशीली दवाओं का सेवन, आत्महत्या आदि आपराधिक प्रवृत्तियों की ओर झुक जाते हैं । नगरीकरण ने संयुक्त परिवार व्यवस्था को विघटित करके व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद तथा अनौपचारिकता में वृद्धि की है । परिणामस्वरूप दाम्पत्य जीवन में कलह, तलाक, बच्चों के लालन-पालन में उपेक्षा, पश्चिमी संस्कृति की ग्राह्यता बढ़ती जा रही है जो अन्य समस्याओं को जन्म देती है ।

7. नगरोय कल्याण कार्यक्रम :

नगरोय सामुदायिक कल्याण सेवाओं का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है । देश के विभाजन के साथ ही कल्याण सेवाओं की आवश्यकता महसूस की गयी । पाकिस्तान से भारी संख्या में विस्थापित लोगों को पुनर्वासित करने की समस्या बड़ी गम्भीर थी । वर्तमान शहर इस आबादी को अपने में समेटने में असमर्थ थे इसलिये नये शहरों के विकास की आवश्यकता पड़ी । 1948 में नरियल वाला समिति ने सिफारिश की कि विस्थापितों का पुनर्वास वर्तमान शहर के किसी एक भाग को विकसित करके या ग्रामीण क्षेत्रों से जुड़े हुए कस्बों को विकसित करके या फिर नये शहरों को बसा करके किया जाये । शहरी क्षेत्रों का प्राथमिक उद्देश्य विस्थापितों को आवास व आर्थिक पुनर्वास के अवसर प्रदान करना, उन्हें नये वातावरण के साथ समायोजन करने में सहायता प्रदान करना तथा भौतिक सुविधाओं को नियोजित व विकसित करने के अतिरिक्त समुदाय के कल्याण के लिए कल्याणकारी सुविधायें प्रदान करना

1. पुरी, आर० के०, हाउसिंग प्राब्लेम्स इन दिल्ली, दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 16, 1990, पृ० 11 ।

था। नीलोखेड़ी तथा फरीदाबाद पंजाब में (वर्तमान हरियाणा में) ऐसे ही ग्रामीण क्षेत्र थे, जिन्हें विस्थापितों के पुनर्वास के लिये विकसित किया गया था। पानीपत, जालन्धर, कर्नाल, जगाधरी, लुधियाना, होशियारपुर, रोहतक, गुड़गांव आदि कई ऐसे पुराने शहर थे जहाँ पर विस्थापितों को बसाया गया। अन्य राज्यों में भी कुछ ऐसे नगरीय क्षेत्र विकसित किये गये जैसे उत्तर प्रदेश में नैनी व मोदी नगर, मध्य प्रदेश में बैरागढ़, बम्बई में उल्हास नगर, गुजरात में कुबेर नगर आदि। इन सभी क्षेत्रों में विस्थापितों के आर्थिक विकास के लिये प्रावधान किये गये। बड़े औद्योगिक शहरों में लघु उद्योग ईकाइयों को विकसित करने पर बल दिया गया। तकनीकी प्रशिक्षण के लिए कार्यक्रम प्रशिक्षण केन्द्र खाले गये। नये शहर जैसे राजपुरा (हरियाणा), गान्धी नगर (गुजरात) में जन-सुविधाओं को क्रमबद्ध रूप से विकसित गया। सड़क, नालियाँ, विद्युत व्यवस्था, ड्रेनेज, बाजार तथा मनोरंजन स्थलों के विकास के साथ ही विभिन्न आय-वर्गों के व्यक्तियों के लिये भिन्न प्रकार के मकान तथा मकान बनाने के योग्य भूमि भी दी गयी। इसके साथ द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजना में 300 औद्योगिक क्षेत्रों को विकसित किया गया और इन क्षेत्रों में उद्योगों के विकास के लिये उचित सुविधायें जैसे, गैस, पानी, बिजली, यातायात प्रदान की गयी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामुदायिक कल्याण कार्यक्रमों की शुरूआत विस्थापितों के पुनर्वास तथा आवासीय योजना के साथ हुई। यद्यपि 1920-30 के दशक में सरकार द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के रहने के लिये कम आय वर्ग के मकान बनाने की योजनायें शुरू की गयी थीं लेकिन इन प्रयासों में तीव्रता स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तब आई जब केन्द्र सरकार तथा कई राज्य सरकारों ने आवासीय निगमों द्वारा विस्थापितों के लिये भारी संख्या में मकान बनाये। विस्थापितों के लिये निर्मित आवासों से एक फायदा यह हुआ कि समस्त विशेषताओं वाले समूहों की कॉलोनियों का विकास हुआ। नगरीय सामुदायिक कल्याण कार्यक्रमों के विकास में दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम पिछड़े क्षेत्रों में सामुदायिक केन्द्रों की स्थापना तथा कल्याण कार्यक्रमों की शुरूआत रही है। औद्योगिक श्रमिकों की बस्तियों में सामुदायिक मनोरंजन, सामाजिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य एवं शिशु कल्याण कार्यक्रमों के द्वारा सामुदायिक कल्याण को प्रोत्साहित किया गया। बालकों, महिलाओं, युवाओं तथा विकलांगों के लिये विभिन्न कल्याणकारी कार्यक्रमों की शुरूआत की गई। स्कूल व शिशु-सदन के अतिरिक्त, अनाथालय, विधवा गृह, यूथ क्लब, वृद्ध तथा अशक्तों के लिये आश्रम, बाल अपराधियों के लिये गृह, उत्तर-रक्षा गृह आदि स्थापित किये गये। केन्द्रीय समाज कल्याण

परिषद् ने 100 कल्याण प्रसार योजनायें (वेलफेयर एक्सटेंशन प्रोजेक्ट्स) स्वैच्छिक समाज सेवी संगठनों के माध्यम से. बड़े औद्योगिक शहरों की भीड़ भरी सघन तथा गन्दी बस्तियों में प्रारम्भ किए। इन परियोजनाओं में प्रौढ़ शिक्षा, महिलाओं के लिये कढ़ाई एवं सिलाई शिक्षा, कम खर्चीला मनोरंजन, शैक्षिक व मानसिक विकास की सुविधायें, चल चित्रों द्वारा शिक्षा, परिवार नियोजन आदि जैसी अनेक गतिविधियाँ सम्मिलित थीं। बाद में ये परियोजनायें नगरीय सामुदायिक कल्याण केन्द्र के रूप में कार्य करने लगीं। एक कल्याण केन्द्र के अन्तर्गत् 500 परिवार आते थे, इस प्रकार एक केन्द्र लगभग 2500 लोगों की जरूरतों को पूरा करता था लेकिन 1969 में 65 परियोजनाओं के मूल्यांकन के परिणाम ज्यादा सुखद नहीं हुए। कई परियोजनाओं के असफल क्रियान्वयन में स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं या स्वतन्त्र संस्थाओं के सहयोग का अभाव मुख्य कारण पाया गया, साथ ही, धीरे-धीरे कल्याण कार्यक्रमों से अधिक विकास कार्यक्रमों की ओर झुकाव होने लगा। 1958 में फोर्ड फाउन्डेशन के आर्थिक सहयोग से दिल्ली में चलायी गयी नगरीय सामुदायिक विकास परियोजना के परिणामों ने कार्यक्रमों को विस्तृत किये जाने पर बल दिया। इस परियोजना के द्वारा (1) सिटिजन डेवलपमेन्ट काउन्सिल या विकास मण्डल, (2) नेबरहुड काउन्सिल की स्थापना, (3) स्थानीय बाजारों में सुधार, (4) स्वैच्छिक समाज सेवी समूहों की कार्यशैली में सुधार, (5) स्वास्थ्य एवं कल्याण परिषद् तथा कम्यूनिटी चेस्ट का गठन, (6) विभिन्न नागरिक प्रचार अभियानों को बढ़ावा देना आदि सम्भव हो सका। इस परियोजना का उद्देश्य सामुदायिक जीवन का विकास, नगरीय जीवन में सुधार व स्वयं सहायता कार्यक्रमों में नागरिकों की भागीदारी में वृद्धि करना था।

शनैः शनैः सामुदायिक कल्याण योजनायें सामुदायिक विकास की योजनाओं के रूप में प रिवर्तित होती गयीं। ग्रामीण-नगरो सम्बन्धों पर गठित समिति ने अपने प्रतिवेदन (1966) में ठीक ही लिखा कि लोगों के लिये किये जाने वाले कल्याणकारी कार्य लोगों में पहल या उत्सुकता जागृत नहीं करते जबकि सामुदायिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया को दर्शाता है जिसमें व्यक्तियों के प्रयास सरकारी प्रयासों के साथ मिलकर समुदाय की अधिक, सामाजिक व आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक दशाओं में सुधार लाते हैं। समिति ने लिखा कि यद्यपि यह अवधारणा ग्रामीण सामुदायिक विकास परियोजनाओं के अनुभवों पर आधा-आधारित है फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शहरों तथा कस्बों की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का समाधान करने के लिये भी सामुदायिक विकास की पहुँच का प्रयोग बखूबी किया जा सकता है।

नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रम :

नगरीय सामुदायिक विकास का जन्म नगरीय समस्याओं के समाधान की एक सम्भावित विधि के रूप में हुआ था जिसका आधार लोगों की समस्याओं का समाधान स्वयं उनके प्रयासों तथा भागीदारी से किया जाना था। उसमें नगरीय नियोजन तथा विकास के लिये जनसंख्या नीति, देशान्तरण नियंत्रण पद्धति, क्षेत्रीय विकास सत्ता विकेन्द्रीकरण जैसी कई विधियों को स्थान दिया गया, लेकिन नगरीय सामुदायिक विकास की विधि नगरीय समस्याओं के समाधान में अपनी विशेषताओं के कारण सर्वोत्तम व सर्वोपरि है। इस विधि की दो मौलिक मान्यतायें हैं : पहली नगरीय जीवन के सन्दर्भ में प्रभावशाली सामुदायिक भावना का विकास तथा दूसरी सामुदायिक एकता व परिवर्तन के लिये स्वयं सहायता व नागरिक भागीदारी की अवधारणा का उपयोग। रॉस ने ठीक ही कहा है कि इन प्रयासों का उद्देश्य ऐसे उपयोगी, अर्थपूर्ण कार्यात्मक समुदायों को विकसित करना है जिनमें एक ओर तो प्रत्येक नागरिक में 'हम' की भावना समुदाय के सदस्य होने की भावना तथा दूसरी ओर महानगरों में पड़ोस की अवधारणा को नगरीय परिषद् (सिटिजन्सकॉउन्सिल) जैसी पड़ोस उन्मुख संगठनों के माध्यम से पुनर्जीवन प्रदान करना है।[1]

भारतवर्ष में नगरीय सामुदायिक विकास की पहली योजना फोर्ड फाउन्डेशन की सहायता से वर्ष 1958 में दिल्ली शहर में प्रारम्भ की गयी थी, इसके बाद अहमदाबाद 1962 बड़ौदा 1965, कलकत्ता 1966 में भी ऐसी ही प्रारम्भिक परियोजनायें शुरू की गईं। तृतीय पंचवर्षीय योजना के योजनाविदों का ध्यान तीव्र गति से बढ़ती हुई नगरीय जनसंख्या के सामाजिक व आर्थिक दुष्परिणामों की ओर आकृष्ट हुआ है और उन्होंने नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के माध्यम से नगरीय समुदायों में सामाजिक, आर्थिक तथा पर्यावरणीय परिवर्तन लाने की प्रबल सम्भावनाओं पर जोर दिया। ग्रामीण-नगरी संबंधों के अध्ययन हेतु गठित समिति (1966) ने तो अपने प्रतिवेदन में नगरीय विकास कार्यक्रमों की आवश्यकता, महत्ता पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया और कार्यक्रम को राष्ट्रीय स्तर पर चलाये जाने के बारे में संस्तुतियाँ कीं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में नगरीय समस्याओं से निपटने के लिये तीन दिशाओं में पहल की गयी। पहली, आर्थिक विकास, औद्योगीकरण तथा नगरीकरण को ध्यान में रखते हुए आवास-समस्या का हल ढूँढ़ने के प्रयास तथा

---

1. रॉस, एम० जी०, कम्युनिटी ऑर्गेनाइजेशन : थ्योरी ऐण्ड प्रिंसिपुल्स, हार्पर ऐण्ड रो पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1955, पृ० 5।

दूसरे नगर-नियोजन की समस्या को क्षेत्रीय विकास के एक पक्ष के रूप में समझा गया तथा अधिकांश नगरों, विशेषत: एक लाख या अधिक आबादी वाले शहरों को नियोजित विकास की योजना के अन्तर्गत् लाने का प्रयास तथा उनके अपने ही श्रोतों द्वारा नागरिकों के लिये उत्तम सुविधाएँ देने, सहायता प्रदान करने और तीसरे सामाजिक-आर्थिक तथा पर्यावरणीय परिवर्तन लाने के लिये नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की आवश्यकता तथा महत्ता पर बल दिया गया। इस दिशा में परियोजनाओं को चलाने के लिये 50 लाख रुपये की धनराशि भी आबंटित की गई थी। तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तिम काल में (1966), भारत सरकार ने ग्रामीण विकास कार्यक्रयों के अनुभमों को दृष्टिगत् रखते हुये उन्हीं आधारों पर नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की 40 परियोजनाएँ एक लाख या अधिक आबादी के शहरों में प्रयोगात्मक तौर पर प्रारम्भं की। वास्तव में सामुदायिक विकास कार्यक्रम (ग्रामीण व नगरीय) दोनों ही, एक जैसी सैद्धान्तिक अवधारणा पर आधारित थे। जिनमें सामुदायिक सम्बन्धों का महत्त्व, स्वयं सहायता, नागरिकों की भागीदारी तथा सहकारी आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता प्रमुख थे। वास्तव में नगरीय सामुदायिक विकास योजना ग्रामीण-नगरी सम्बन्धों की समिति द्वारा की गयी संस्तुतियों के आधार पर स्वास्थ्य, परिवार नियोजन तथा नगरीय विकास मंत्रालय द्वारा तैयार की गई थी जिसे योजना आयोग ने स्वीकृत कर लिया था। इस योजना के अन्तर्गत् किये जाने वाले कार्यक्रमों के माध्यम से सामाजिक बदलाव की ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ करनी थी जिसके द्वारा लोगों को समुदायों में संगठित किया जा सके, उन्हें उनकी परिस्थितियों तथा समस्याओं के बारे में जागरूक बनाया जा सके तथा सीमित सरकारी साधनों का प्रयोग करते हुए विकास के कार्यक्रम आयोजित किये जा सकें। इन कार्यक्रमों की भूमिका विकास की प्रक्रिया में उत्प्रेरक की भाँति थी और समुदाय एक केन्द्र-विन्दु के रूप में स्थानीय प्रशासन से मिल कर कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते थे। सरकार की भूमिका मात्र एक प्रायोजक तथा पर्यवेक्षक तक सीमित रखी गयी। इन परियोजनाओं की प्रमुख विशेषताएँ[1] निम्नलिखित थीं :—

---

1. अर्बन कम्युनिटी डेवलपमेन्ट, ए ब्रीफ आउटलाइन आफ दि स्कीम, गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया, मिनिस्ट्री आफ हेल्थ, फैमिली प्लानिंग ऐण्ड अर्बन डेवलपमेन्ट; अर्बन कम्यूनिटी डेवलप्मेन्ट प्रोग्राम इन इण्डिया, सुभाष चन्द्रा एवं एस० पी० पुनालेकर, एन० आई पी० सी० सो० डी०, नई दिल्ली, 1975, पृ० 78-90।

कार्यक्रम :

नगरीय सामुदायिक विकास की इस केन्द्रीय योजना में कार्यक्रमों के नियोजन से लेकर क्रियान्वयन तक के सभी स्तरों पर लोगों की भागीदारी की आवश्यकता पर बल दिया गया था। इस योजना में लोगों को प्रेरित करने व स्वयं पहल करने की आवश्यकता पर बल दिया गया था ताकि लोग अपनी जरूरतों तथा समस्याओं के अनुसार कार्यक्रम बना सकें। इन परियोजनाओं में उस क्षेत्र की आवश्यकताओं तथा दशाओं को ध्यान में रखते हुए ही कार्यक्रमों को चलाये जाने की बात कही गयी। साथ ही यह भी कहा गया कि यदि प्रयासों को कुछ उन्हीं कार्यक्रमों पर केन्द्रित किया जाये जिनका प्रभाव ज्यादा हो तो अधिक उपयुक्त होगा। योजना में विभिन्न गतिविधियों—कार्यक्रमों को छः श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया : (1) भौतिक सुधार तथा नागरिक सुविधायें (2) स्वास्थ्य एवं सफाई (3) शैक्षणिक कार्यक्रम (4) सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मनोरंजनात्मक कार्यक्रम (5) आर्थिक कार्यक्रम तथा (6) मिश्रित-विविध कार्यक्रम।

इन श्रेणियों के अन्तर्गत् किये जाने वाले विभिन्न क्रिया-कलाप या कार्यक्रम इस प्रकार थे :—

1. भौतिक संरचनात्मक सुधार तथा नागरिक सुविधायें : पीने के लिये पानी की उपलब्धता, शौचालय व मूत्रालयों का निर्माण व रखरखाव, प्रकाश व्यवस्था, जल निकास तथा कूड़ा-करकट के निस्तारण की व्यवस्था, मकानों की मरम्मत तथा सुधार, पथ तथा गलियों का निर्माण व रख-रखाव।
2. स्वास्थ्य एवं सफाई : (अ) प्रतिरक्षीकरण-शिशु-जन्म से पहले तथा शिशु जन्म के बाद परामर्श सेवाएँ, स्वास्थ्य की जाँच, गृह पर्यावरण, व्यक्तिगत् सफाई; (आ) स्वास्थ्य शिक्षा तथा विद्यालय स्वास्थ्य शिक्षा कार्यक्रम, पोषाहार, मातृ कल्याण सेवायें, परिवार नियोजन, प्राथमिक चिकित्सा; (इ) पर्यावरण सुधार, सफाई, कूड़ादान, कूड़ा एकत्रीकरण, डी० डी० टी० का छिड़काव, मक्खी नियन्त्रण तथा रोकथाम, नालियों की सफाई तथा संक्रामक रोगों की रोकथाम।
3. शैक्षिक कार्यक्रम : साक्षरता अभियान, चलचित्र प्रदर्शन, पुस्तकालय तथा वाचनालय, सामुदायिक रेडियो, दीवाल प्रचार, पोस्टर, बुलेटिन।
4. सामाजिक, शैक्षिक तथा मनोरंजन कार्यक्रम : इन-डोर तथा आउटडोर गेम्स, संगीत नृत्य, नाटक, पिकनिक, हाईकिंग, मेले तथा त्योहार, रुचि कक्षाएँ, क्लब, युवा क्लब, स्काउट ऐण्ड गाइड, पर्यटन-यात्रा।

5. आर्थिक कार्यक्रम : सिलाई, बुनाई व कढ़ाई कक्षाएँ; कुटीर उद्योग, साबुन बनाना, अचार तथा मुरब्बे बनाना, व्यावसायिक निर्देशन सेवाएँ, ग्राहक सहकारी स्टोर, गृह विज्ञान, लघु बचतें।

6. विविध : नागरिक सुरक्षा, स्वैच्छिक सेवा दल, आपात स्थिति सहायता, बागवानी तथा फूल पौधों व क्षेत्र सौन्दर्यीकरण, पथ-प्रदर्शक मानचित्र, नागरिक सलाहकार परिषद्। इन क्रियाकलापों—गतिविधियों के अतिरिक्त ऐसी गतिविधि भी काम में लायी जा सकती थी जो उस क्षेत्र, समुदाय के सदस्यों की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। यह आवश्यक नहीं था कि परियोजना के सदस्य सभी गतिविधियों को चलायें।

3. संगठनात्मक ढांचा :

नगरीय सामुदायिक विकास की इन परियोजनाओं को नगरपालिका या नगर-निगमों जैसी स्वायत्त सेवी संस्थाओं के माध्यम से लागू किया गया। नगरपालिका या नगर-निगम को परियोजना की प्रशासकीय संस्था इसलिये बनाया गया था क्योंकि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को लागू किया जाना नगरपालिका या नगर-निगम के विभिन्न विभागों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं था। एक परियोजना में 50,000 से 60,000 तक की जनसंख्या, जिसमें—6000 जनसंख्या की 8 से 10 मोहल्ला या वार्ड इकाइयाँ सम्मिलित होती थीं। परियोजना को चलाये जाने के लिए एक निदेशक, एक परियोजना अधिकारी तथा 8 सामुदायिक संगठनकर्त्ता की भर्ती का उत्तरदायित्व राज्य सरकार या स्थानीय निकायों को सौंपा गया। एक परियोजना के लिए 50,000 रुपये की राशि केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा 15,000 रुपये की राशि स्थानीय निकाय को तुल्य अनुदान के रूप में गतिविधियों को चलाये जाने के लिये देना स्वीकृत हुआ था। केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा स्थानीय निकायों के मध्य परियोजना का वित्तीय भार 50 : 25 25 के अनुपात में वहन करना तय हुआ था। लेकिन 1969 से केन्द्रीय सरकार ने जब अपना हाथ खींच लिया तब इस वित्तीय भार को राज्य सरकार तथा स्थानीय प्रशासन को ही वहन करना था। स्थानीय निकाय के अध्यक्ष, सभासद्, प्रमुख स्थानीय नेताओं व सामाजिक कार्यकर्ताओं को लेकर एक परियोजना सलाहकार समिति के गठन की व्यवस्था भी की गयी थी। इसके अतिरिक्त स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं को समुदाय के लोगों में जानकारी देने तथा प्रेरित करने के लिये आंशिक भुगतान पर भी रखा गया।

4. प्रशिक्षण, अनुसन्धान तथा मूल्यांकन :

परियोजना के कर्मचारियों के प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व उस क्षेत्र के समाज कार्य विभाग, विद्यालयों को दिया गया। परियोजना अधिकारियों, सामुदायिक संगठनों तथा स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं को नियमित तौर पर प्रशिक्षण तथा निर्देशन देने की व्यवस्था भी की गई थी। अनुसंधान तथा मूल्यांकन के लिये मंत्रालय में एक अलग एकांश खोला गया जिसका कार्य इन प्रारम्भिक परियोजनाओं की सफलताओं और विफलताओं के कारणों की विवेचना तथा उपयुक्त विधियों व प्रविधियों को खोजना था जिससे प्रशिक्षण व मूल्यांकन को अधिक प्रभावी बनाया जा सके। मूल्यांकन को प्रभावी बनाने के दृष्टिकोण से समाज कार्य के विद्यालयों को भी इसमें सम्मिलित किया गया।

वर्ष 1966 में 14 परियोजनाओं को प्रारम्भ किया गया। इन परियोजनाओं के आबंटन में मूल विचारधारा यह थी कि प्रत्येक राज्य में कम से कम एक परियोजना चलाई जाये, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। पश्चिम बंगाल (कलकत्ता-सल्किया और यैलीगंज), गुजरात (भावनगर तथा राजकोट), उत्तर प्रदेश (कानपुर तथा झांसी) दिल्ली (दक्षिण दिल्ली तथा जमुना पार कालोनी) में दो-दो परियोजनायें तथा महाराष्ट्र (औरंगाबाद), राजस्थान (अजमेर), मणिपुर (इम्फाल), त्रिपुरा (अगरतला), गोवा (पणजी) तथा पंजाब (लुधियाना) में एक-एक परियोजना चलाई गई। दुर्भाग्यवश राज्य सरकारों ने नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की इन परियोजनाओं के प्रति उत्साह नहीं दिखाया। कई राज्यों में परियोजना विलम्ब से प्रारम्भ हुई और कई राज्यों में वित्तीय कठिनाइयों के कारण इनका क्रियान्वयन सम्भव न हो सका। राज्य सरकारों से परियोजनायें स्थानान्तरित की जाने के फलस्वरूप 1969 में पश्चिम बंगाल, राजस्थान तथा गोवा में ये परियोजनायें बन्द हो गई। उत्तर प्रदेश के झांसी शहर की परियोजना मूल्यांकन समिति के प्रतिवेदन पर बन्द कर दी गई फिर भी गुजरात में बड़ौदा, सूरत तथा जामनगर, आन्ध्रप्रदेश में हैदराबाद, केरल में क्विलोन तथा आसाम में गोहाटी में 6 अन्य परियोजनायें स्वीकृत की गयीं।

1973 में नगरपालिकाओं के नवें सम्मेलन ने नगरीय समुदाय विकास के अन्तर्गत् गन्दी बस्तियों के सुधार के लिये इस पर न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (एम० एन० पी० फॉर स्लम इम्प्रूवमेन्ट) के रूप में विचार करने पर जोर दिया तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों से सम्मेलन की संस्तुतियों को लागू करने को कहा गया। 1978 में आवास एवं शहरी विकास मंत्रियों के सम्मेलन में एक

समिति के गठन को सिफारिश को गयी जो गन्दी बस्तियों की समस्या से निपटने के लिए समन्वित दृष्टिकोण तथा छठीं पंचवर्षीय योजना में भी गन्दी बस्तियों के पर्यावरण में सुधार की योजना व नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के एकीकरण पर बल देता था। यह सुझाव भारत सरकार ने राज्य सरकारों को 1980 में पुनः दिया। धीरे-धीरे यह महसूस किया जाने लगा कि गन्दी बस्तियों के संरचनात्मक सुधार की योजना तथा शिक्षा, मातृ व शिशु कल्याण जैसे सामाजिक प्रभाव वाले कार्यक्रम तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकते जब तक आर्थिक कार्यक्रमों के साथ प्रतिबद्धता न हो।[1] आर्थिक विकास प्राथमिक तौर पर आवश्यक है क्योंकि इसके बिना सामाजिक कार्यक्रम प्रभावहीन हो जाते हैं, इसीलिए नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में समयानुसार परिवर्तन किये जाते रहे। इससे पूर्व नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की प्रभावोत्पादकता स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ सफल परियोजनाओं का भी वर्णन किया जाये। नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रम की हैदराबाद परियोजना सबसे सफल परियोजना मानी जाती है।

हैदराबाद परियोजना :

हैदराबाद-सिकन्दराबाद की सम्मिलित आबादी 23 लाख है जिसकी लगभग 5 लाख आबादी तो 470 (1973 की नगरपालिका के सर्वेक्षण के अनुसार) गन्दी बस्तियों में रहती है। नगरोय सामुदायिक विकास की परियोजना हैदराबाद में दिसम्बर 1967 में प्रारम्भ की गई थी। शीघ्र 1970-74 के मध्य हैदराबाद से चुने हुए शहर सिकन्दराबाद, मुर्शिदाबाद के कुछ अन्य वार्डों को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् लाया गया। यद्यपि परियोजना का केन्द्र बिन्दु गरीब तथा गन्दी बस्तियों में रहने वाले व्यक्ति थे लेकिन फिर भी शहर की सामान्य रहने की दशाओं में सुधार तथा जन सुविधाओं की ओर इस परियोजना में ध्यान दिया गया। शीघ्र ही दो अन्य परियोजनायें चलायी गयीं और इन परियोजनाओं के क्रियान्वयन की प्रशासनिक संस्था शहर की नगरपालिका थी। नगरपालिका वित्तीय भार, राज्य सरकार के साथ 50 : 50 के अनुपात में वहन करती है। नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रम बहुत ही उपयोगी तथा लोकप्रिय सिद्ध हुआ और जनता ने इसके विस्तार की मांग की लेकिन राज्य सरकार ने धनाभाव के कारण अपनी असमर्थता व्यक्त की। शीघ्र

1. अभिताभ कुण्डू, अर्बन कम्यूनिटी डेवलप्मेन्ट, इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल वर्क, भारत सरकार, समाज कल्याण मंत्रालय, खण्ड 3, पृष्ठ 248-252।

ही 'यूनिसेफ़' ने तीन वर्ष के लिए 1980 तक इन परियोजनाओं के विस्तार के लिये आर्थिक सहायता प्रदान की। स्वयं सहायता कार्यक्रमों में भागीदारी के अतिरिक्त, उत्तम जीवन स्तर तथा जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण को लाने के उद्देश्य से शैक्षिक कार्यक्रमों पर जोर दिया गया। 'हैबिटेन्ट हैदराबाद' परियोजना के तहत गन्दी बस्तियों के पर्यावरण में सुधार तथा कम लागत के मकान बनाने का कार्यक्रम चलाया गया। योजना के तहत मलिन बस्ती निवासियों को भूमि का पट्टा तथा 75 प्रतिशत बैंक ऋण (अनुसूचित जाति व जनजाति के लिये 4 प्रतिशत व्याज पर तथा अन्य को 11 प्रतिशत व्याज पर) दिलाया गया (इस योजना में 25 प्रतिशत धन या धन के स्थान पर श्रम स्वयं लाभार्थी को देना था) तथा विकास शुल्क, ड्रेनेज लिंक, नक्शा, परमिट फीस आदि से उन्हें मुक्त रखा गया। ऐसी पहली कॉलोनी बनजारा जाति के लिये नायक नगर में बनी जिसमें 250 मकान बनाये गये। प्रत्येक मकान में एक-एक बहुउद्देश्यीय कमरा, रसोई घर, स्नान घर तथा शौचालय का निर्माण, 70-75 वर्ग गज भूमि में किया गया। अन्य सुविधाओं के अतिरिक्त उनके आर्थिक विकास के लिये रोजगार में वृद्धि के साधन भी प्रदान किए गये। ऑटो रिक्शा के लिये कर्ज, सिलाई-कढ़ाई केन्द्र, बालवाड़ी, स्कूलों व विद्यालयों में प्राथमिकता के आधार पर प्रवेश, एक रुपया प्रतिदिन बचत की योजना, सामुदायिक टी० वी० सेट आदि अन्य सुविधाएँ भी नगरीय विकास की इन परियोजनाओं के तहत प्रदान की गयीं। इतना ही नहीं आन्ध्र प्रदेश सरकार ने नगरीय सामुदायिक विकास की गतिविधियों को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक अलग विभाग की स्थापना की। इस विभाग में अभियांत्रिकी तथा शहरी नियोजन शाखा भी खोली गयी जो गन्दी बस्तियों के रहने वाले लोगों के लिए कम लागत के पर्यावरणीय दृष्टिकोण से उपयुक्त तथा उचित आवासों के निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। नगर निगम द्वारा चलाए जा रहे हैदराबाद मलिन बस्ती सुधार कार्यक्रम (एच० एस० आई० पी०) में स्वास्थ्य सेवाओं को प्रमुखता प्रदान की गई है। 20 चिकित्सकीय दलों द्वारा प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएँ हैदराबाद की गन्दी बस्तियों में प्रदान की जा रही है।[1] हैदराबाद स्लम इम्प्रूवमेन्ट परियोजना को ओवरसीज डेवलप्मेन्ट एजेन्सी, यू० के० तथा भारत सरकार ने वित्तीय सहायता प्रदान की। इस परियोजना के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं : (1) गन्दी बस्तियों का सुधार, (2) सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम तथा (3) स्वास्थ्य सेवायें।

1. सरस्वती, टी०—अर्बन कम्यूनिटी डेवलप्मेन्ट, हैदराबाद सोशल वेलफेयर, खण्ड-21, संख्या 11, फरवरी 1985।

नगरीय विकास कार्यक्रम :

नगरीय कल्याण कार्यक्रमों की व्यापकता उपयोगिता के सन्दर्भ में विकासोन्मुख होती गई। नगरों में आबादी के केन्द्रीकरण से विभिन्न प्रकार की बढ़ती हुई समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना कल्याणकारी राज्य का उत्तरदायित्व तथा कार्यक्षेत्र रहा है। सरकार ने समय-समय पर निर्धनों तथा कमजोर वर्गों के लिये निर्धनता उन्मूलक एवं विभिन्न कल्याणकारी विकास योजनायें लागू की हैं तथा साथ ही शहरी निर्धनों की जीवन-दशाओं में सुधार के प्रयास किये हैं। इन कार्यक्रमों में आवास निर्माण, गन्दी बस्तियों के सुधार, पीने के पानी की व्यवस्था, गंदले पानी का विकास, सामुदायिक शौचालय व मूत्रालयों का निर्माण व रखरखाव, जन स्वास्थ्य सेवायें, परिवार कल्याण, मातृ व शिशु विकास सेवायें, प्राथमिक, प्रौढ़ व अनौपचारिक शिक्षा आदि सम्मिलित हैं। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (एम० एन० पी०) नगरीय मौलिक सेवायें कार्यक्रम (यू० पी० एस० प्रोग्राम), छोटे तथा मझले शहरों के समन्वित विकास की योजना (आई० डो० एस० एम० टी०) शहरी निर्धनों के लिये रोजगार कार्यक्रम (एस० एफ० पी० यू० जी०) समन्वित बाल विकास योजना (आई० सी० डी० एस०) तथा राष्ट्रीय प्रतिरक्षीकरण कार्यक्रम वे प्रमुख कार्यक्रम हैं जो शहरी निर्धनों, गन्दी बस्तियों में रहने वाले लोगों के लिए भारत सरकार द्वारा चलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त, विश्व बैंक, ओवरसीज डेवलपमेन्ट अथारिटी, विश्व स्वास्थ्य संगठन, संयुक्त राष्ट्र बाल कोष (यूनीसेफ) अन्तर्राष्ट्रीय विकास की नार्वेजियन संस्था (एन० ओ० आर० ए० डी०), एड० एन० ऐक्शन आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं जो नगरीय विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा दे रही हैं।

(अ) नगरीय आवास कार्यक्रम (अर्बन हाउसिंग प्रोग्राम) :

1901 की जनगणना के अनुसार शहरी क्षेत्रों ने 58 लाख परिवारों के लिये 26 लाख मकान उपलब्ध थे अतः दो लाख लोगों के लिये मकान की समस्या थी। लेकिन 1981 में यह कमी बढ़कर 4 8 लाख हो गयी। राष्ट्रीय भवन संगठन (एन० बी० ओ०) के एक अनुमान के अनुसार इस शताब्दी के अन्त तक शहरी क्षेत्रों में आवासों की कमी लगभग 9.3 लाख हो जायेगी।[2] प्रथम

---

1. गिरीश के० मिश्रा, डेवलप्मेन्ट प्रोग्राम फॉर अर्बन पुअर, आई० आई० पी० ए०, नई दिल्ली, 1989।
2- एन० अशोक कुमार ऐण्ड बी० लक्ष्मीपंधी, वही, पृ० 14।

पंचवर्षीय योजना में निम्न कमजोर वर्गों के लिये मकान उपलब्ध कराने का प्रावधान था फलस्वरूप औद्योगिक श्रमिकों के लिये सस्ती आवास योजना (1952) व निम्न आय समूह मकान योजना (1954) शुरू की गई। सातवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय मकान नीति के तत्त्वों को पुनः विस्तारपूर्वक पारिभाषित किया गया। स्वयं कमान बनाने को प्रोन्नति, भूमिहीन मजदूरों को स्थान तथा आर्थिक सहायता, मकान की लागत मूल्य का उपभोक्ता की सीमा के तहत निर्धारण, मकान सम्बन्धी कानूनों में संशोधन, कम लागत के मकानों का निर्माण, मकान के निर्माण की लागत कम करना, विज्ञान व प्राविधिक ज्ञान का उपयोग, स्थानीय उपलब्ध भवन निर्माण सामग्री का उपयोग, गन्दी बस्तिओं को बढ़ोत्तरी रोकना, गन्दी बस्तियों में सुधार, निजी तथा सहकारी समिति को बढ़ावा आदि कुछ ऐसे बहुआयामी प्रयासों को महत्त्व तथा प्राथमिकता दी गयी है। हुडक, एच० एफ० डी० सी०, राज्य सहकारी आवास समितियों के साथ बीमा निगम, साधारण बीमा जैसी वित्तीय संस्थाओं को आवास निर्माण के कार्यक्रम में सम्मिलित किया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना में आवास तथा नगरीय सामुदायिक विकास के क्षेत्र में 4259.50 करोड़ रुपये में से 2458.21 करोड़ रुपये केवल आवासीय विकास के ऊपर खर्च करने के लिये रखे गये। शहरी विकास मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट (1988-89) के अनुसार सरकार ने राष्ट्रीय आवास नीति पुनः संशोधित करने का निश्चय किया है ताकि यह नीति ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में विभिन्न आय समूहों विशेषतः आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की आवश्यकताओं के अनुरूप बन सके। मंत्रालय के आवास एवं शहरी विकास निगम (हुडको) ने वर्ष 1988-89 में 651 करोड़ रुपये के ऋण वितरण की संतुति की जो कि निगम की निर्धारित लक्ष्य सीमा से 226 करोड़ रुपये अधिक थी तथा 325 करोड़ की लक्ष्य सीमा के विपरीत 438 करोड़ रुपये के ऋण वितरित किये गये। हुडको के प्रबन्ध निदेशक तथा अध्यक्ष श्री एस० के० शर्मा के अनुसार अपने 20 साल (25 अप्रैल 1970 को गठित) के दौरान हुडको ने 6763 करोड़ रुपये मूल्य की 6700 परियोजनाओं में 4265 करोड़ रुपये लगाये। हुडको द्वारा 850 शहरों में 38 लाख परिवारों को आवासीय सुविधा उपलब्ध करायी गयी। आठवीं योजना की

यह धारणा निर्मूल नहीं है कि ग्रामीण तथा शहरी लोगों के सम्बन्धों में समानता, उनमें रहन-सहन के स्तर में दूरी को कम करने के अतिरिक्त रोजगार, स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा के उद्देश्यों को आवास की दशायें अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में आवासीय समस्या को हल करने में सार्वजनिक क्षेत्र तथा उसकी विभिन्न संस्थाओं की भूमिका को तीन दिशाओं में गति प्रदान की गयी। पहली, पर्याप्त मात्रा में आवासीय सुविधाओं के लिये आवश्यक स्रोतों को गतिशीलता प्रदान करने का उत्तरदायित्व वित्तीय संस्थाओं के ऊपर छोड़ा गया; दूसरा, आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिये कम लागत तथा इमदादी आवासों के निर्माण का काम हुडको जैसी संस्थाओं के माध्यम से कराये जाने की नीति तथा तीसरा, आवासीय परिषदों व स्थानीय संस्थाओं को भूमि अधिग्रहण तथा उसके विकास का उत्तरदायित्व। आवासीय नीति में यह परिवर्तन पुराने अनुभवों के अतिरिक्त इस विचारधारा पर आधारित था कि आवासीय निर्माण निजी या सहकारी क्षेत्रों के द्वारा हो और सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका एक उत्प्रेरक की रहे। यह सर्वविदित है कि व्यक्तिगत् स्तर पर आवास निर्माण में वित्तीय संसाधनों की कमी सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीय कृषि तथा ग्रामीण विकास बैंक (एन० एच० बी०) की 50 करोड़ की धनराशि से स्थापना तथा 35 करोड़ रुपये की लागत से नगरीय आधार संरचना विकास वित्तीय निगम (अर्बन इन्फ्रास्ट्रक्चरल डेवलप्मेन्ट फाइनेन्स कारपोरेशन (यू० आई० डी० एफ० सी०) का गठन सातवीं पंचवर्षी योजना में आवास समस्या को दूर करने की दिशा में सराहनीय प्रयान हैं।

(आ) गन्दी बस्तियों के पर्यावरणीय सुधार के कार्यक्रम : (इन्ववायर्मेन्टल इम्प्रूवमेन्ट आफ अर्बन स्लम्स—ई० आई यू० एस०) :

आजादी के बाद से सरकार ने गन्दी बस्तियों में रहने वाले लोगों के पुनर्वास के लिये विभिन्न योजनायें लागू कीं ताकि उन्हें रहने के लिये अच्छा सामाजिक वातावरण उपलब्ध कराया जा सके। गन्दी बस्तियों के उन्मूलन तथा पुनर्वास की कई दोषपूर्ण योजनाओं के बाद गन्दी बस्तियों के सुधार के प्रयासों में वृद्धि की गई। एक विशेष कार्यक्रम के अन्तर्गत् गन्दी बस्तियों में रहने वाले व्यक्तियों को आवासीय सुरक्षा प्रदान करने के प्रयास किये गये ताकि वे अपने रहने के वातावरण में सुधार कर सकें तथा उन्हें सुरक्षित रख सकें। 1972 में प्रारम्भ की गई इस ई० आई० यू० एस० कार्यक्रम में छठीं पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक 15.6 मिलियन लाभार्थी थे तथा अनुमान है कि 17.5 मिलियन लोगों को इस योजना के अन्तर्गत् लाया जाना अभी शेष है जिसके लिये सातवीं योजना में 269.55 करोड़ रु० का प्रावधान किया गया था। गन्दी बस्तियों के सुधार के इस कार्यक्रम में कई सेवायें प्रदान की जाती हैं। इसमें 150 लोगों के लिये एक सार्वजनिक जल, सीवर, नालियाँ, सामाजिक स्नान गृह (20-25

लोगों के लिये एक), वर्तमान गलियों तथा पटरियों को चौड़ा करना, सामुदायिक शौचालय (20-50 लोगों के लिये), 30 मीटर की दूरी पर विद्युत प्रकाश व्यवस्था आदि सुविधाएँ एक साथ प्रदान की जाती हैं। इन सुविधाओं को प्रदान करने की प्रति व्यक्ति लागत लगभग 300 रुपये आती है। 1972 में यह कार्यक्रम शत्-प्रतिशत केन्द्रीय सहायता से प्रारम्भ किया गया था लेकिन 1974 में राज्य सरकारों को स्थानान्तरित कर दिया गया था तथा इस कार्यक्रम को न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम का अभिन्न अंग मान लिया गया। 1982 में संशोधित 20 सूत्रीय कार्यक्रम में ई० आई० यू० एस० कार्यक्रम को भी सम्मिलित किया गया।[1]

(इ) लघु तथा मध्यम शहरों के समन्वित विकास का कार्यक्रम : (इन्टीग्रेटेड डेवलप्मेन्ट आफ स्माल ऐण्ड मीडियम टाउन स्कीम–आई० डी० एस० एम० टी०)।

छठीं पंचवर्षीय योजना काल में बड़े शहरों की वृद्धि को रोकने तथा नगरीय जनसंख्या के सन्तुलित वितरण को ध्यान में रखते हुए केन्द्र सरकार ने लघु तथा मध्यम आकार के शहरों के समन्वित विकास के लिये कार्यक्रम प्रारम्भ किया था। यह कार्यक्रम उन शहरों में लागू किया गया था जिनकी आबादी एक लाख से कम थी। छठीं पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के तहत 60 करोड़ रुपये का प्राविधान 200 शहरों के विकास के लिये किया गया था लेकिन 238 शहरों के लिये 61 करोड़ रुपये खर्च किये गये। सातवीं पंचवर्षीय योजना में यह धनराशि बढ़कर 88 करोड़ रुपये कर दी गई और तीन लाख से कम आबादी वाले शहर इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् लाये गये। इस कार्यक्रम के द्वारा शहरों के समन्वित विकास की धारणा थी और राज्य सरकारों को क्षेत्रीय महत्त्व को ध्यान में रखकर योजना बनाने का दिशा निर्देशन किया गया था लेकिन यह कार्यक्रम अधिक सफल नहीं हो सका। पंचवर्षीय योजनाओं की नीतियों तथा कार्यक्रमों की विवेचना करने के उद्देश्य से गठित आवास एवं नगरीय विकास मंत्रालय के एक कार्य दल ने लिखा है कि यह कार्यक्रम बहुत ही लचीले ढंग से बिना अधिक महत्त्व दिये क्रियान्वित किया गया तथा यह दुःख का विषय है कि आई० डी० एस० एम० टी० लघु तथा मध्यम शहरों की अर्थव्यवस्था को मजबूत करने की एक सक्रिय रणनीति नहीं बन सकी और मात्र एक सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तु बन कर रह गयी।

---

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, अगस्त 30, 1989, पृ० 6।

(ई) नगरीय बुनियादी सेवा कार्यक्रम : (अर्बन बेसिक सर्विसेज प्रोग्राम-यू० बी० एस० पी०) :

"यूनीसेफ" द्वारा प्रायोजित नगरीय विकास के तीन कार्यक्रम—नगरीय सामुदायिक विकास, लघु व मध्यम शहरों के विकास के कार्यक्रम तथा स्वास्थ्य सफाई सेवायें—जैसे कम लागत की शौचालय व्यवस्था, को जनवरी 85 से एक ही जगह इकट्ठा करके नगरीय बुनियादी सेवा कार्यक्रम (यू० बी० एस० पी०) के नाम से प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य शहरी गरीबों विशेषतः महिलाओं और बच्चों के जीवन स्तर में सुधार लाना था। इस कार्यक्रम की मूल अवधारणा सामुदायिक सेवाओं के समन्वय के अतिरिक्त सामुदायिक प्रयासों को सरकारी प्रयासों के साथ धीरे-धीरे जोड़ने से सम्बन्धित थी। इस कार्यक्रम में तीन स्तरों पर कार्यकर्ता कार्य करते हैं; सामुदायिक स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं को सहायक वृत्तिक कार्यकर्ता और सहायक वृत्तिक कार्यकर्ताओं को उच्च प्रशिक्षित कार्यकर्ता दिशा निर्देशन देते हैं, इस प्रकार वृत्तिक कार्यकर्ता नियमित कार्यक्रमों के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं। इस कार्यक्रम में पानी, सफाई व शौचालय सुविधाएँ, शिशु देखभाल, स्वास्थ्य सेवाएँ प्रतिरक्षीकरण, स्वास्थ्य शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, विद्यालय पूर्व शिशु सदन, महिलाओं के लिये आय वृद्धि आदि के कार्यक्रम सम्मिलित हैं।

भारत जैसे विकासशील देश जहाँ कि शिशु मृत्यु दर बहुत अधिक है और यह दर गन्दी बस्तियों में और भी ज्यादा है व इनमें अतिसार, जल की कमी आदि से मरने वाले शिशुओं की संख्या 5 लाख प्रति वर्ष से अधिक है। अधिकांश शिशु कुपोषण, स्वास्थ्य शिक्षा के अभाव, गन्दगी आदि से मर जाते हैं। बच्चे या तो स्कूल जाते ही नहीं या जो जाते हैं उनमें स्कूल छोड़ने वालों की दर बहुत अधिक है। ऐसी परिस्थितियों में मूलभूत सेवाओं को समन्वित रूप में दिया जाना अति आवश्यक है। वास्तव में यह कार्यक्रम तो गन्दी बस्तियों में जन जागृति तथा उनकी मौलिक सेवाओं तक पहुँच बढ़ाने का कार्यक्रम है जिसमें उनकी भागीदारी आवश्यक है। यह समुदाय की आवश्यकताओं पर आधारित कार्यक्रम है जिसमें कम आय वर्ग के लोगों को भी अपनी जरूरतों के अनुसार स्वेच्छापूर्वक भाग लेने की छूट है। यह कार्यक्रम 23 राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में चल रहा है तथा आशा है कि शीघ्र ही सभी शहरों में चलाया जायेगा। इस राष्ट्रीय कार्यक्रम की वित्तीय व्यवस्था राज्य सरकारें, केन्द्रीय सरकार तथा 'यूनीसेफ' 20 : 40 : 40 के अनुपात में करती हैं। यह कार्यक्रम अपनी दो विशेषताओं—सामुदायिक भागीदारी तथा सेवाओं की

पहुँच के कारण बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। हैदराबाद में स्वयं सेवी संगठनों द्वारा 180 स्वपोषित विद्यालय तथा स्वयं सहायता के आधार पर 2000 मकानों का निर्माण इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् हुआ है।

(उ) शहरी निर्धनों के लिए स्व-रोजगार कार्यक्रम (सेल्फ इम्प्लॉयमेन्ट प्रोग्राम आफ अर्बन पुअर–एस० ई० पी० यू० पी०) :

1986 में केन्द्र सरकार ने 200 करोड़ रुपये की लागत से शहरी निर्धनों को स्व-रोजगार प्रदान करने के उद्देश्य से यह कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् गरीबी रेखा के नीचे रह रहे परिवारों को बैंक ऋण तथा इमदाद देकर स्वरोजगार दिलाने के प्रयास किये जाने का प्रावधान है। 6000 रुपये से कम प्रतिवर्ष आय वाले किसी भी परिवार के व्यक्ति को 5000 रुपये तक की सहायता-रिक्शा क्रय हेतु, बढ़ईगिरी, टायर रिपेयरिंग सिलाई, अगरबत्ती निर्माण जिल्दसाजी, फल-सब्जी की दूकान जैसे कार्यों के लिये दी जाती है। इस ऋण का 25 प्रतिशत भाग इमदाद के रूप में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक को दे दिया जाता है। यह कार्यक्रम महानगरों तथा एक लाख आबादी वाले शहरों में सार्वजनिक क्षेत्र की कुछ चुनी हुई बैंक शाखाओं द्वारा क्रियान्वित किया गया है। ऋण की राशि पर 10 प्रतिशत का व्याज लिया जाता है तथा ऋण 36 किस्तों में देय होता है। यह कार्यक्रम भी बहुत ज्यादा सफल नहीं रहा क्योंकि यह कार्यक्रम क्षेत्रीय समायोजन की शर्तों को पूरा नहीं करता है।

समाज कार्य व नगरीय विकास सेवायें :

समाज कार्य एक ऐसी वृत्तिक सेवा है जो व्यक्तियों, समूहों तथा समुदायों की अपूर्ण आवश्यकताओं, उनसे उत्पन्न होने वाली समस्याओं के कुप्रभावों से होने वाले असमायोजन से सम्बन्धित है। समाज कार्य का उद्देश्य व्यक्ति, परिवार एवं व्यक्तियों के समूहों को सामाजिक सम्बन्धों में सहायता प्रदान करना ही नहीं है बल्कि समाज कार्य स्वास्थ्य एवं आर्थिक स्तरों को बढ़ाकर अच्छे आवास और अच्छी कार्य दशाएँ प्रदान करके और रचनात्मक सामाजिक विधाओं द्वारा सामान्य सामाजिक स्थितियों-दशाओं के सृजन में रुचि रखता है। ब्राउन ने समाज कार्य की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट किया है : उनके अनुसार इसका ध्येय (1) उन व्यक्तियों को भौतिक सहायता प्रदान करना है जो गम्भीर आर्थिक संकट में हों या पराश्रित हों (2) व्यक्तियों को उनके आर्थिक एवं सामाजिक पर्यावरण के साथ समायोजन स्थापित करने में सहायता देना (3) सेवार्थियों की मानसिक समस्याओं के समाधान में सहायता देना भले ही इन समस्याओं का

कार्यकारण सम्बन्ध निर्धनता बीमारी या अपराध से हो या यह स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई हो, (4) आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों के लिये मनोविनोद, सांस्कृतिक कार्यक्रम के अच्छे अवसर, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं अन्य सुविधाओं को उपलब्ध कराना है जो एक अच्छे जीवन स्तर के लिये अनिवार्य होती हैं।[1] यदि नगरीय जीवन की समस्याओं के सन्दर्भ में देखा जाये तो समाज कार्य की उपयोगिता और भी ज्यादा व्यापक हो जाती है। नगरों में सामुदायिक जीवन का गिरता स्तर तथा सम्बन्धों में आने वाले परिवर्तनों के कारण नगरीय सामुदायिक विकास समाज कार्य का प्रमुख क्षेत्र बन गया है।

नगरीय जीवन की विशेषताओं, मुख्यतः आर्थिक असमानता व गरीबी, शैक्षिक विषमता, गन्दी बस्तियों का बाहुल्य, निम्न जीवन स्तर, प्रदूषण, व्यक्तिगत् एवं सामाजिक विघटन की समस्याओं के सन्दर्भ में समाज कार्य सेवाओं की भूमिका स्वतः स्पष्ट हो जाती है। नगरीकरण की प्रक्रिया ने नगरों में रहने वाले व्यक्तियों को अपने परिवार के अतिरिक्त अन्य कई संस्थाओं पर अधिक निर्भर बना दिया है। साथ ही, शहरों की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति के स्वयं एवं पड़ोस पर निर्भरता के स्वरूप में परिवर्तन होता जा रहा है और व्यक्ति आत्म केन्द्रित, संकुचित, असुरक्षित तथा सामाजिक रूप से अर्थहीन व उद्देश्यहीन होता जा रहा है। इन मौलिक परिवर्तनों के कारण ही विभिन्न समस्यायें उठ रही हैं।

सामुदायिक समस्याओं व आवश्यकताओं के लिये प्रयुक्त की जाने वाली समाज कार्य की सामुदायिक संगठन प्रणाली की उपयोगिता सर्वाधिक है जिसे फ्रीडलैण्डर ने समाज कल्याण के लिये प्रयुक्त की जाने वाली ऐसी प्रक्रिया बताया है जो कि भौगोलिक क्षेत्र के अन्दर समाज कल्याण-आवश्यकताओं तथा समाज कल्याण साधनों के बीच प्रगतिशील एवं अधिक प्रभावी समायोजन लाती है।[2] सामुदायिक संगठन, सामुदायिक विकास, सामुदायिक कल्याण तथा समाज कल्याण नियोजन आदि शब्दों का प्रयोग यद्यपि समान अर्थों में कर लिया जाता है जबकि ये अलग-अलग अवधारणाएँ हैं। संयुक्त राष्ट्र ने सामुदायिक विकास को आर्थिक रूप से कम विकसित क्षेत्रों के सन्दर्भ में पारिभाषित किया है जहाँ समुदाय के मौलिक रहन-सहन की दशाओं के सुधार के जिसमें कुछ अभौतिक

---

1. ब्राउन, ई० एल०, सोशल वर्क ऐज ए प्रोफेशन, रसेल फाउन्डेशन, 1942, पृ० 27।
2. फ्रीडलैण्डर, डब्ल्यू० ए०—इन्ट्रोडक्शन टु सोशल वैलफेयर, न्यूयार्क : प्रेन्टिस हाल, 1955, पृ० 187।

आवश्यकताओं की सन्तुष्टि भी सम्मिलित है, क्रियाकलापों पर अधिक बल दिया जाता है ।

पश्चिम देशों में नगरीय समस्याओं से जूझने के लिये कई उपागमों का प्रयोग किया गया । आदर्श शहरों, नये कस्बों का विकास, क्षेत्रीय नियोजन, स्थानान्तरण सम्बन्धी जनसंख्या नीति, नगरीय अधिनियमों का कठोर क्रियान्वयन तथा अधिनियमों में सुधार गन्दी बस्तियों का सुधार, मनोरंजन स्थल व सेवाओं का विकास, नगरीय सामुदायिक विकास योजनाओं का क्रियान्वयन, स्वैच्छिक प्रयासों का नियमितीकरण आदि अनेक ऐसे उपागम थे जिनका प्रयोग नगरीय समस्याओं के समाधान के लिये किया गया । इन उपागमों में कुछ ऐसे भी हैं जिनके प्रयोग में समाज कार्य वृत्ति की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । नियोजन के क्षेत्र में सामाजिक कार्यकर्ता सामाजिक अनुसंधान व अन्य विधियों के द्वारा वास्तविक आवश्यकताओं, सांस्कृतिक व क्षेत्रीय विशेषताओं एवं लोगों की प्राथमिकताओं का पता लगा सकता है । यह जानकारी न केवल नियोजन के क्षेत्र में ही लाभप्रद होगी बल्कि कार्यक्रम के लिये प्रभावोत्पादक भी सिद्ध होगी। कई बार ऐसा देखा गया कि आवासीय संस्थाओं द्वारा निर्मित आवासों का सदुपयोग इसलिये नहीं हो पाता कि उनमें रहने के लिए आने वाले लोगों के जीवन-यापन के तरीके, सांस्कृतिक रीति-रिवाजों तथा मकान की संरचना में विरोधाभास होता है, जैसे कई आवासीय संरचनाओं में स्नानगृह तथा पश्चिमी शैली का शौचालय साथ-साथ बने होने की वजह से उसमें एक का ही उपयोग होता है, लोगों के सांस्कृतिक मूल्य एवं जीवन शैली उनके उपयोग में बाधक बन जाती है । ऐसी परिस्थितियों में सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका मनोवृत्ति परिवर्तन के सम्बन्ध में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है ।

गन्दी बस्तियों का उन्मूलन तथा उत्थान दोनों प्रकार के उपागमों में समाज कार्य सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है । गन्दी बस्तियों के उन्मूलन के पहले होने वाले विरोध को सही दिशा देने के लिए और होने के बाद विस्थापितों के पुनर्वास व नये वातावरण के साथ सामंजस्य में सामाजिक कार्यकर्ता उपयोगी सिद्ध होता है । दूसरी ओर गन्दी बस्तियों के उत्थान या सुधार कार्यक्रमों में मानसिक परिवर्तन से लेकर ग्रामीण मलिन बस्ती निवासियों को नगरीय सभ्य नागरिक बनाने तक की अहम् जिम्मेदारी सामाजिक कार्यकर्ता पर आती है । नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में स्वास्थ्य, शिक्षा, आर्थिक कल्याण के कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन के अतिरिक्त वैयक्तिक तथा सामाजिक विघटन की कई समस्याओं जैसे मद्यपान, नशाखोरी, बाल अपराध, जुआ, चोरी आदि

से निपटना भी इसका कार्यक्षेत्र है। अतः समूह-सहयोग तथा सम्बन्धों को विकसित करना, लोगों में पड़ोस की भावना का विकास तथा उत्तरदायी नागरिकता का विकास करना, स्वस्थ तथा लाभप्रद मनोरंजन जैसे उद्देश्यों को प्राप्त करने में समाज कार्य की सामूहिक सेवा कार्य तथा सामुदायिक संगठन की विधियाँ बहुत प्रभावी सिद्ध हुई हैं। अनुभवों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि सामुदायिक संगठन की विधि नगरीय समुदाय की आवश्यकताओं एवं समस्याओं से व्यापक पैमाने पर निपटने की एक सस्ती व सरल विधि है। सामुदायिक चेतना जागृत करने से लेकर सामुदायिक जीवन में भागीदारी पैदा करने तक, कल्याणकारी कार्यक्रमों के आयोजन से लेकर विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन तक में सामुदायिक संगठन की विधि अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुयी है।

अध्याय—6

परिवार समाज कार्य

अनादिकाल से मानव समाज में समस्यायें रही हैं जिनसे मनुष्य का स्वाभाविक विकास अवरूद्ध होता रहा है। समस्यायें सर्वथा व्यक्ति-जनित ही नहीं होती वरन् इनके लिये सामाजिक समूह व सामाजिक शक्तियाँ भी उत्तरदायी होती हैं। सामाजिक व्यवस्थायें इन समस्याओं को सुलझाने के लिये सर्वथा प्रयत्नशील रही हैं तथा व्यक्ति को सामूहिक सन्दर्भ में सामंजस्य स्थापित करने के लिये अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराती रही हैं। समाजकार्य ऐसी ही एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में अस्तित्व में आया और सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन, तर्कपूर्ण निदान व औचित्यपूर्ण उपचार में सहायक बना। प्रारम्भ में व्यक्ति स्वकेन्द्रित हस्तक्षेप का प्रादुर्भाव हुआ तत्पश्चात् समूह को एक इकाई के रूप में लेकर समाजकार्य की सेवा दी जाने लगी। शनैः शनैः इसका कार्य क्षेत्र मात्र समूह तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण समुदाय तक विस्तृत हो गया।

कई दशकों तक समाज कार्य व्यक्ति में स्वकेन्द्रित रहने के पश्चात् इसने समाज की एक अनिवार्य इकाई, जिसे परिवार के नाम से जाना जाता है, को अपनी सेवाओं का क्षेत्र बनाया जिसके अनुसार परिवार को उसकी सम्पूर्णता में समाजकार्य के सेवार्थी के रूप में देखा जाने लगा। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक परिवार का सदस्य रहता है तथा परिवार में उसका अनुकूलन व सामंजस्य परिवार के सदस्यों के साथ उसके सम्बन्धों पर निर्भर करता है। परिवार की विभिन्न स्थितियाँ तथा अवस्थायें व्यक्ति को अत्यधिक प्रभावित करती हैं और इन बातों का अनुकूल होना व्यक्ति के विकास की प्रथम शर्त होती है। अतः परिवार के विघटन का प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है और इससे सामाजिक विघटन को बढ़ावा मिलता है। समाज कार्य समाज की उन्नति व उसके कल्याण के लिए प्रतिबद्ध होने के कारण परिवार को बल प्रदान करना, परिवार में शान्ति व सहिष्णुता स्थापित करना तथा परिवार के सदस्यों के सम्बन्धों को मजबूत करना व परिवार को उत्तम जीवन स्तर बनाये रखने के लिये प्रेरित करना, अपना कर्तव्य समझता है। इससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास सुचारु रूप से कर पाता है। परिवार समाज कार्य के अन्तर्गत् सम्पूर्ण परिवार के हित को प्राथमिकता दी जाती है जिससे व्यक्ति का विकास सुचारु रूप से हो सके। परिवार समाज कार्य के अन्तर्गत् सम्पूर्ण परिवार के हित को प्राथमिकता दी जाती है तथा व्यक्ति का स्थान तथा हित गौण हो जाता है। अन्तर्निहित भावना यह है कि परिवार के हित में ही व्यक्ति का विकास

सम्भव है । अतः परिवार व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है; जब व्यक्ति की मनोवृत्तियां, मूल्य आकांक्षायें तथा आवश्यकतायें परिवार की आवश्यकताओं, मूल्यों आकांक्षाओं व उद्देश्यों से मेल नहीं खातीं तो एक तरफ जहाँ व्यक्ति का समायोजन प्रभावित होता है वहीं दूसरी ओर परिवार का सन्तुलन व एकोकरण बिगड़ता है । परिणाम यह होता है कि न तो व्यक्ति ही प्रसन्न होता है और न परिवार ही सुखमय रह पाता है । इस कुसमायोजन के लिये वाह्य सामाजिक व आर्थिक स्थितियाँ, परिवार का समाज के अन्य समूहों से तालमेल, प्राकृतिक विपदायें, रोग, परिवार के सदस्यों का व्यवहार व आदतें भी उत्तरदायी होती हैं । व्यक्ति की मानसिकता भी इन्हीं सामाजिक स्थितियों पर निर्भर करती है जिससे उसकी अन्तर्क्रिया, अन्तर्सम्बन्ध व व्यवहार निर्धारित होते हैं । जब कभी व्यक्ति का यह व्यवहार के अन्तर्क्रिया का स्वरूप अथवा मानसिकता पारिवारिक आकांक्षाओं से मेल नहीं खाती तो भी परिवार में विघटन की स्थिति जन्म ले लेती हैं अतः परिवार समाज कार्य की परिधि के अन्तर्गत् न केवल पारिवारिक सदस्यों के सम्बन्धों में अनुकूलता लाने का प्रयास किया जाता है वरन् इसके अन्तर्गत् परिवार की सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक स्थिति का सुधार करने व परिवार का समाज के अन्य समूहों के साथ तादात्म्य सुस्थापित करने हेतु प्रयास किया जाता है ।

परिवार समाज कार्य के सन्दर्भ में अनगिनत संज्ञायें प्रचलित हैं जैसे पारिवारिक उपचार, कुटुम्ब-उपचार, परिवार समूह परामर्श, परिवार समूह उपचार, पारिवारिक वैयक्तिक सेवाकार्य, समेकित परिवार उपचार और कुटुम्ब परामश इत्यादि । वस्तुतः कोई भी एक संज्ञा परिवार समाज कार्य के वास्तविक स्वरूप को प्रगट करने में असमर्थ रही है अतः इसे सम्पूर्णता में समझने का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में किया गया है ।

परिवार समाज कार्य का विकास :

यद्यपि समाजकार्य के विकास को कुटुम्ब संस्था से भिन्न परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना असम्भव है क्योंकि प्रारम्भ से ही कुटुम्ब व इसके सदस्य समाज कार्य की पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण रहे हैं । जिस तरह से व्यक्ति को परिवार से अलग नहीं किया जा सकता है उसी तरह परिवार समाजकार्य से अलग नहीं किया जा सकता । चैरिटी ऑर्गनाइजेशन सोसाइटी ने सर्वप्रथम फैमिली विजिटर की अवधारणा विकसित की जिसके अन्तर्गत् परिवार की स्थिति का अध्ययन करके परिवार के सदस्यों को आवश्यक सहयोग प्रदान किया जाता था । इससे पूर्व एलिजाबेथ ने पूअर ला 1601 के अन्तर्गत् भी "ओवर-

सिअर्स आफ पुअर'' नियुक्त किये थे जो गरीब परिवारों से प्राप्त प्रार्थना पत्रों पर आवश्यक जाँच करते थे। इसके अन्तर्गत् प्रत्येक समस्याग्रस्त परिवार की स्थिति का परीक्षण किया जाता था। समस्या का कारण निर्धारित किया जाता था और परिवार की सहायता इस दृष्टिकोण से की जाती थी कि परिवार स्वयं अपनी सहायता कर सके। यदि आत्म सहायता सम्भव न हो तो सम्बन्धियों, मित्रों व पड़ोसियों को सहायता के लिए प्रेरित किया जाता था। इस तरह से एक वैज्ञानिक प्रक्रिया के तहत परिवार को सहायता देने का क्रम प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् सामाजिक सुरक्षा व समाज कल्याण के विभिन्न कार्यक्रमों के तहत परिवार को सहायता की एक इकाई मानकर कार्य किया जाने लगा तथा गरीब परिवारों को कुछ भत्ता भी दिया जाने लगा।

यद्यपि धार्मिक संस्थायें गिरजाघर व मिशनरीज व्यक्तिगत् असमानताओं के आधार पर निर्धनों, अपंगों, रोगियों विधवाओं इत्यादि को सहायता देती थी; इन धार्मिक संस्थाओं के तत्त्वावधान में अनाथालय व शरणालयों की भी व्यवस्था की जाती थी किन्तु सोलहवीं शताब्दी में चर्च व राज्य के बीच संघर्ष बढ़ जाने के कारण धार्मिक संस्थाओं के सहायतामूलक कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व राज्य ने ले लिया। तत्पश्चात् निर्धन परिवारों को दशाओं की छानबीन करने व सहायता प्रदान करने के लिये जन सहायता आयुक्त नियुक्त किये गये। इन आयुक्तों का कार्य निर्धन परिवारों से साक्षात्कार करना, उनके स्वास्थ्य, आय और नैतिकता के विषय में जानकारी लेना व प्रत्येक परिवार की व्यक्तिगत् आवश्यकताओं को निर्धारित करना था। ये कार्यक्रम हैम्बर्ग में 1788 में ऐच्छिक दान व करों द्वारा चलाया जाता था। फ्रान्स में धनी परिवारों की महिलाओं को प्रोत्साहित करके निर्धन परिवारों की सहायता हेतु 'दानशील महिलायें' (लेडीज ऑफ चैरिटी) नामक संगठन का गठन किया गया जिसके अन्तर्गत् निर्धन परिवारों में खाद्य सामग्री व वस्त्र वितरण किया जाता था। इस संगठन के पदचिन्हों पर ही 'दानशील पुत्रियाँ' (डॉटर्स ऑफ चैरिटी) नामक संगठन अस्तित्व में आया जिससे अधिकांश युवा महिलाएं थी। इस संस्था ने भी निर्धन परिवारों का सहायता में एक अग्रणी भूमिका निभाई। इंगलैंड में बेवरिज रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर अनेक सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये जिनके सफल संचालन हेतु अनेक कुटुम्ब सेवी संस्थाओं ने जन्म लिया। ये संस्थायें सार्वजनिक क्षेत्र व स्वैच्छिक क्षेत्र, दोनों ही क्षेत्रों में खोली गई तथा लोगों को समस्या मुक्त बनाने तथा सामाजिक बीमा योजना लागू करवाने में इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त पारिवारिक विघटन तीव्र गति से बढ़ा।

बेरोजगारी, भुखमरी तथा अन्य मनोसामाजिक समस्याओं ने परिवार नामक संस्था को तहस-नहस कर दिया। पारिवारिक संबंधों में बिखराव, रोजगार की तलाश में परिवार के सदस्यों का स्थानान्तरण, भावनात्मक सहयोग का अभाव, एकाकीपन आदि के कारण व्यक्ति भावनात्मक, आर्थिक व सामाजिक रूप से अपने को परिवार व समाज से अलग महसूस करने लगा। इन मनोसामाजिक, सामाजिक-आर्थिक, वैयक्तिक तथा कौटुम्बिक समस्याओं को दूर करने लिए बिखरती हुई कुटुम्ब नाम की सामाजिक संस्था को मजबूत व एकीकृत करने व एक सूत्र में पिरोने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी परिप्रेक्ष्य में 1950 के दशक में वृत्तिक समाजकार्य ने परिवार की समस्याओं को दूर करने व उसके कल्याण को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया तथा इन सेवाओं में बच्चों, वृद्धों, किशोरों, युवाओं तथा महिलाओं का कल्याण सम्मिलित किया गया। अमेरिका में 1971 में कुटुम्ब सेवा संघ (फेमिली सर्विस एसोसियेशन) की स्थापना हुई जिसमें 300 सदस्य थे। इस संघ ने एक पत्रिका "दि फैमिली" के नाम से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया जिसका नाम बाद में सोशल केस वर्क रखा गया।

मेरीरिचमण्ड ने 1915 में सामाजिक निदान (सोशल डाइगनोसिस) व 1922 में 'सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य क्या है' (व्हाट इज सोशल केस वर्क) प्रकाशित की जिससे मानवीय समस्याओं का वैयक्तिक स्तर पर निदान व उपचार करने का सूत्रपात हुआ। फ्रॉयड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ने मानव व्यवहार को समझने में मदद की तथा व्यक्ति सहायता प्रक्रिया के केन्द्र में आ गया। व्यक्ति को ही उसकी सम्पूर्ण समस्याओं का कारण मानकर उपचार की प्रक्रिया निर्धारित की जाने लगी। संवेगतः क्षुब्ध व्यक्तियों की सहायता के लिये फ्रॉयड, युंग, एडलर और अन्य मनोविश्लेषकों की प्रणालियों का प्रयोग किया जाने लगा। 1936 में ओटोरेन्क ने वैयक्तिक सेवाकार्य के प्रकार्यात्मक सम्प्रदाय (फन्क्शनल स्कूल ऑफ केस वर्क) प्रतिपादित किया जिसके अन्तर्गत् व्यक्ति के अतिरिक्त उसके पर्यावरण, जिसमें परिवार का विशेष स्थान है, को भी उत्तरदायी माना गया। इस सम्प्रदाय के प्रभाव के फलस्वरूप अमेरिका व ब्रिटेन में बड़ी संख्या में कुटुम्ब कल्याण संस्थायें खोली गयीं तथा व्यक्ति के बजाय सम्पूर्ण परिवार को सेवा की एक इकाई मान कर कार्य किया जाने लगा। बड़ी संख्या में पारिवारिक वैयक्तिक कार्यकर्ताओं (फेमीली केसवर्कर) की नियुक्ति की गयी जिन्होंने परिवार व उसकी समस्याओं का वैज्ञानिक तरीके से विश्लेषण व विशेष उपचार प्रदान करना प्रारम्भ किया। कुटुम्ब वैयक्तिक सेवाकार्य का उद्देश्य सेवार्थी व्यक्ति व परिवार के अन्य सदस्यों के मध्य

सामन्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये सहायता करना है। हाल के वर्षों में शिक्षा को परिवार-जनो के मध्य सम्बन्ध मजबूत करने की प्रक्रिया के रूप में प्रयोग किये जाने पर जोर दिया जा रहा है। ऐसी ही कुछ प्रक्रियाओं को पारिवारिक जीवन शिक्षा (फेमिली लाइफ एजुकेशन) का नाम दिया गया है जिन्हें कुटुम्ब सेवी संस्थाओं में सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा दिया जाता है। आजकल पारिवारिक सेवा कार्य बढ़ते व्यक्तिवाद, भौतिकता, शहरीकरण व औद्योगिकीकरण इत्यादि के दुष्परिणामों के परिप्रेक्ष में बहुत महत्वपूर्ण हो गया है तथा व्यक्तिनिहित समाज कार्य परिवार निष्ठ समाजकार्य में परिर्वतित होता प्रतीत हो रहा है।

मेरी रिचमन्ड का कहना था कि परिवार स्वयं में एक बहुत ही महत्वपूर्ण संस्था है जो मानव लक्ष्यों के चारों तरफ घूमती रहती है। उसने सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य का एक प्रतिरूप विकसित किया और सामाजिक अध्ययन, सामाजिक निदान व सामाजिक उपचार, जिसकी इकाई परिवार थी, नामक समाज कार्य अभ्यास के सोपान विकसित किये। परिवार संस्था पर यह प्रभाव स्व के विकसित सिद्धान्त के दर्शन पर आधारित था।[1] इसका तात्पर्य यह था कि लोग अपने सामाजिक वातावरण से प्रभावित होते हैं और उससे बहुत गहन रूप से सम्बन्धित होते हैं; एक व्यक्ति अपनी संगति से जाना जाता है; इतना ही नहीं उसे उसके पूर्वजों की संगति से भी पहचानने में मदद मिलती है। अपने चिरस्मरणीय ग्रन्थ 'सामाजिक निदान' जो कि 1917 में प्रकाशित हुआ था, मेरी रिचमन्ड द्वारा उद्धृत ये विचार ही व्यक्ति से परिवार की तरफ समाज कार्य के प्रभाव को जोड़ने में सफल रहे। सन् 1908 में 'नेशनल कान्फ्रेन्स ऑफ चेरिटीज ऐण्ड करेक्शन्स' को सम्बोधित करते हुये मेरी रिचमन्ड ने समाज कार्य मेंपरिवार के महत्व पर बल देते हुये कहा था।' हममें से सभी लोगों ने जो यहाँ उपस्थित हैं अपने महान रचनात्मक प्रभाव व प्रक्रियायें, जिनके द्वारा हम इस महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करने के योग्य हुये हैं, अधिकांशतः अपने घरों में सीखा है। जिस तरह से आप सभी ने इस गिरजाघर में प्रवेश किया तथा इससे बाहर जायेंगे, जिस तरह से आपकी भावनायें इस स्थान व संगठन से जुड़ी हैं, थोड़ी या बहुत सद्भावना जिसके साथ आप मेरी बातें सुन रहे हैं तथा जो आप इसके बाद सोचेंगे तथा करेंगे, ये

---

1. मेरी रिचमन्ड 'सोशल डॉयग्नोसिस' न्यूयॉर्क, रसेल सेज फाउन्डेशन 1917।

सारी बातें आपने अपने परिवार से ही, जिसमें आप पैदा हुए हैं तथा बड़े हुए हैं, सीखी हैं।[1]

इस प्रकार मेरी रिचमन्ड ने समाज कार्य अभ्यास में परिवार के महत्व के प्रति अपना दृढ़ विश्वास प्रकट किया और इसी दर्शन को कार्य रूप में परिणित करने की भरसक कोशिश की। उन्होंने सदैव ही व्यक्ति को परिवार के रूप में पारिभाषित किया और चेतावनी दी कि 'वैयक्तिक उपचार के अच्छे परिणाम नष्ट हो जायेंगे यदि वैयक्तिक कार्यकर्ता अपने अभ्यास में परिवार को स्थान देने में असफल रहते हैं।[2]

सौदार्ट नें सामाजिक कार्यकर्ताओं के चिरपरिचित मनोचिकित्सकीय प्रतिरूप को नकारते हुये परिवार को सामाजिक जाँच की मुख्य इकाई के रूप में प्रतिस्थापित करने पर बल दिया,[3] तत्पश्चात् मेरी जैरेट ने सौदार्ट के इस विचार की 1919 में अपने एक ओजपूर्ण भाषण में पुष्टि की। वर्ष 1930 के आसपास कुछ विद्वानों ने परिवार समाजकार्य अभ्यास की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाना प्रारम्भ किया। 1920 का मानसिक स्वास्थ्य आन्दोलन और उस पर फ्रॉयड के दर्शन का प्रभाव एक दशक बाद पुनः समाजकार्य पर मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा का आधिपत्य स्थापित करने में सक्षम हुआ। वर्ष 1930 में ही प्रकाशित वर्जिनिया रॉबिन्सन की पुस्तक 'ए चेंजिंग सॉइकोलॉज़ी ऑफ सोशल केस वर्क' पहला प्रमुख अभ्यास था जिसमें इस नई विचारधारा को प्रतिपादित किया गया। रॉबिन्सन ने इस पुस्तक में समाजशास्त्रीय तथ्य से मनोवैज्ञानिक तथ्य की तरफ और पर्यावरणीय परिस्थितियों से उनके मूल्यों व अनुभवों पर अधिक बल दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि अध्ययन की इकाई परिवार से व्यक्ति की ओर उन्मुख हो चुकी है। इतना ही नहीं कुटुम्ब कल्याण संस्थाओं ने भी जो पहले कुटुम्ब को एक व्यक्ति के रूप में पारिभाषित करती थीं उनका लक्ष्य अभ्यास में व्यक्ति की तरफ हो गया। आंशिक रूप से परिवार समाज कार्य के कार्यकर्ता अपने वृत्तिक मूल को भूलने की कोशिश करने लगे तथा स्वयं को अपने प्रत्यक्ष पूर्वजों, मित्रवत् आगन्तुकों व परामर्शदाताओं से अलग करने का प्रयास करने लगे। 1938 में हरबर्ट एब्टेकर ने कुटुम्ब संस्था के कार्यों का पुनरावलोकन करते हुये सम्पूर्ण परिवार को ध्यान आकर्षण की

---

1. मेरी रिचमन्ड 'दि लॉग व्यू' रसेल सेज फाउन्डेशन, न्यूयार्क 1930।
2. उपर्युक्त—1, पृष्ठ 134।
3. सौदार्ट, 'दि किंगडम ऑव इविल', ऐडवांटेजेज ऑफ ऐन ऑर्डर्ली ऐप्रोच इन सोशल केस एनालिसिस, ने० कॉ० आ० सो० व० 1918।

एक इकाई न मानने के विचार का खण्डन किया और तत्पश्चात् कार्यकर्ता कुटुम्ब के सदस्यों के साथ कार्य करने लगे। एब्टेकर का विचार था कि एक व्यक्ति में परिवर्तन सम्पूर्ण परिवार में परिवर्तन ला सकता है। इस प्रकार मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का प्रभाव सामाजिक कार्यकर्ताओं पर इतना पड़ा कि वे समस्या का विश्लेषण और उपचार दोनों ही मनोविश्लेषण के सिद्धान्त के अनुकूल करने लगे। फ्लोरेन्स हॉलिस के लेखों ने भी मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को कुटुम्ब की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये अति उपयुक्त माना। 1940 में प्रकाशित अपनी एक पुस्तक 'विमेन इन मैरीटल कांफ्लिक्ट' में दम्पतियों के व्यक्तित्व दोष को वैवाहिक संघर्षों का प्रमुख कारण बताया।

पचास के दशक में कुटुम्ब को समाजकार्य अभ्यास को ध्यानाकर्षण की एक इकाई के रूप में पुनः देखे जाने का क्रम प्रारम्भ हुआ। वर्ष 1953 में समाजकार्य की राष्ट्रीय कॉन्फ्रेन्स में फ्रान्सिस शर्ज द्वारा प्रस्तुत किये गये एक शोध पत्र में जिसका शीर्षक 'व्हॉट इज फेमिली सेन्टर्ड केस वर्क' था, में कुटुम्ब संस्था में बढ़ती हुई समाज कार्य वृत्ति की रुचि को प्रतिबिम्बित किया गया तथा मनोचिकित्सा पद्धति के वैयक्तिक सेवाकार्य में प्रवेश के कारण परिवार समाजकार्य की उपेक्षा होने पर खेद व्यक्त किया गया। तत्पश्चात् शर्ज ने कुटुम्ब की गत्यात्मकता विषय पर ज्ञान वर्धन करने व व्यक्ति की स्थिति में कुटुम्ब को देखने पर जोर दिया।

परन्तु कुटुम्ब पर उपचार का प्रभाव, कुटुम्ब की समस्याओं का आंकलन इत्यादि तथ्यों के उत्तर पाने के लिये कुटुम्ब निदान सिद्धान्त (फेमिली डायग्नोसिस थ्योरी) का प्रतिपादन किया गया तथा अधिकाधिक साहित्य इस विषय पर केन्द्रित प्रयासों को लेकर छापा जाने लगा। पचास के सम्पूर्ण दशक में परिवार समाज कार्य पर साहित्य विकसित करने के प्रयास जारी रहे। इस कार्य में मुख्य मुश्किल यह थी कि परिवार व व्यक्ति से सम्बन्धित तथ्य उपलब्ध नहीं थे। अतः कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं किया जा सका तथा कुटुम्ब व उसकी समस्याओं को मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के आधार पर समझने के प्रयास प्रारम्भ किये गये। इस सन्दर्भ में मुख्य रूप से दो प्रकार से मनोविश्लेषण सिद्धान्त का प्रयोग किया गया, प्रथम स्वतन्त्र साहचर्य पद्धति द्वारा परिवार के सदस्यों का निदान, द्वितीय व्यक्तिगत् निदानों को जोड़कर या एक दूसरे से सम्बन्धित करके और इस प्रकार से परिवार के सदस्यों के मध्य असंतुलन की व्याख्या करके।

कुछ लोगों ने कुटुम्ब को उसकी सम्पूर्णता में ही मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के द्वारा समझने का प्रयास किया। ये प्रयास व्याख्यावाद की दिशा में अभि-

प्रेरित थे । जॉसलीन इरीन ने 1953 में प्रकाशित अपने एक लेख में जिसका शीर्षक 'कुटुम्ब एक मनोवैज्ञानिक इकाई के रूप में' था, लिखा था कि 'कुटुम्ब को उसके व्यक्तिगत् भागों का अध्ययन करके विश्लेषित किया जा सकता है बशर्ते कि निष्कर्षों को एक इकाई के रूप में समझने के पूर्व ही संश्लेषित किया जाना चाहिये । यदि कुटुम्ब एक नराकृति होती तो इसके यौन व कामाभाव के अन्तर्तोष प्रेम व आक्रामकता को और मनोताप व तन्त्रिकाताप का अच्छी तरह से अध्ययन किया जा सकता था ।[1]

वियोला वीस व रसेल मोनरो (1959) ने कुटुम्ब को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिये एक योगज प्रतिरूप का विकास किया जिसमें परिवार के बारे में अधिक-से-अधिक सूचनायें एकत्र करने उन सूचनाओं को संगठित करने व उनको अभ्यास-प्रक्रियाओं में लाने पर बल दिया गया था तथा परिवार से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की विवेचना की गयी थी ।[2] वास्तव में इस प्रतिरूप से परिवार समाज कार्य को कोई दिशा नहीं मिली । सम्पूर्ण दशक की उपलब्धियों का पुनरावलोकन करते हुये रॉबर्ट गम्बर्न ने 1958 में लिखा कि कोई ऐसी निदानात्मक व अवधारणात्मक व्यवस्था विकसित नहीं की जा सकी जिससे पारिवारिक संरचना को समझने नई उसकी विवेचना करने व उसे वर्गीकृत करने में कोई मदद मिलती, फिर भी परिवार समाज कार्य की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता, यदि हम चाहते हैं कि व्यक्ति का निदान शून्य में न होकर ऐसे सामाजिक व भावनात्मक संदर्भ में हो जिसमें वह रहता है, सामन्जस्य स्थापित करता है, कठिनाइयों का अनुभव करता है तथा असफलतायें प्राप्त करता है ।[3]

साठ के दशक के अन्त तक आधारभूत ज्ञान का विकास कुटुम्ब समाजकार्य क्षेत्र में तब हो पाया जब कुछ संबंधित अवधारणायें समाज कार्य के साहित्य में अवतरित हुईं । कुटुम्ब उपचार प्रणाली जो चालीस व पचास के दशकों में अंकुरित होना प्रारम्भ हुई थीं, अब विकास के नये दौर में प्रविष्ट हो पायी थी । कुटुम्ब

---

1. जॉसलीन इरीन एम० 'दि फेमिली ऐज ए साइकोलॉजिकल युनिट' सोशल केसवर्क, उदयपुर, अक्टूबर (1953) 336-343
2. वियोला बीस व रसेल मोनरो 'ए फ्रेमवर्क फॉर अन्डरस्टैंडिंग फेमिली डॉयग्नॉसिस भाग 1 व 2, सोशल केस वर्क 40, जनवरी-फरवरी 1959 3–9
3. रॉबर्ट गॅम्बर्न फेमिली डायगनोसिस-ट्रेण्ड्स इन थ्योरी ऐण्ड प्रेक्टिस, सोशल केस वर्क 39, फरवरी 1958, 3–10

उपचार आन्दोलन के प्रणेता नाथन एकर मैन, मुरे बावेन, जॉन एल्डरकिनबेल, ग्रेगोरी बैटसन, जे. हेली, डा. जैम्सन आदि सम्पूर्ण कुटुम्ब सेवा शास्त्र को विकसित करने के लिये अनुसंधान उपचार व अध्ययन में जुटे हुये थे। किन्तु व्यक्ति व परिवार के प्रतिकूल कार्य को उत्पन्न करने वाले अत्यन्त गूढ़ व्यवहार को समझने के तरीकों की खोज करने में उन्हें अवधारणात्मक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था जो न तो तत्कालीन व्यक्ति केन्द्रित मनोविज्ञान और न ही सामाजिक व्यवस्था उन्मुख समाजशास्त्र से सुलझाये जा सके।

समाजशास्त्री कार्लफ्रड ब्रोडरिक ने 1971 में लिखा था कि इन मनोचिकित्सकों को या तो समाजशास्त्र का बिल्कुल ही ज्ञान नहीं था या अल्पज्ञान था। अनावश्यक रूप से उन्होंने कुटुम्ब अन्तःक्रिया के समाजशास्त्र को बिन किसी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर विकसित किया। 1978 में बावेन व उनके अनुयायियों ने मनोचिकित्सात्मक अथवा मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त का खण्डन करते हुए परिवार समाज कार्य को एक नवीन आयाम देने का प्रयत्न किया। समाज कार्य के साहित्य के कुटुम्ब केन्द्रित आलेख अधिकांशतः सैन्फोर्ड शेरमन, होप लिचर, शीलमिटचे फ्रान्सिस बीट्समैन इत्यादि के हैं जो एक कुटुम्ब सेवी संस्था से हुए थे। इसी संस्था से जुड़े एक महान व्यक्ति राबर्ट गोम्बर्ग ने कुटुम्ब सेवा सिद्धान्त व वैयक्तिक सेवा कार्य को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। वर्जीनिया सतीर ने कुटुम्ब सेवा आन्दोलन को जन्म दिया। इतना ही नहीं सत्तर के दशक में मेडिकल कॉलेजों में भी विभिन्न रोगों पर कुटुम्ब का प्रभाव व उपचार प्रणाली में कुटुम्ब की सार्थकता विषय पर शोध प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पारिवारिक सेवा कार्य एक अन्तःशास्त्रीय रुचि के विषय के रूप में विकसित होने लगा। ज्यादा-से-ज्यादा सामाजिक कार्यकर्ता कुटुम्ब सेवा प्रशिक्षण केन्द्रों पर प्रशिक्षण लेने हेतु आने लगे तथा कुटुम्ब सेवा कार्य सिद्धान्त व अभ्यास के विकास का दायित्व व नेतृत्व सामाजिक कार्यकर्ताओं ने निभाना प्रारम्भ कर दिया। दुर्भाग्य उन सामाजिक कार्यकर्ताओं का जिन्होंने कुटुम्ब उपचार विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, उन्हें सामाजिक कार्यकर्ता के बजाय कुटुम्ब उपचारकर्ता के रूप में मान्यता प्राप्त होने लगी और उनके लेख व विचार समाज कार्य की पत्रिकाओं के बजाय अन्य प्रकाशनों में प्रकाशित होने प्रारम्भ हुए। पचास के दशक में जो संघर्ष मनोचिकित्सा व सामाजिक अभिगमों के मध्य प्रारम्भ हुआ था उसे सुलझा कर परिवार समाज कार्य में दोनों अभिगमों को समाहित करके एक समेकित मनोसामाजिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। अस्सी के दशक में समाज कार्य शिक्षा संस्थाओं में कुटुम्ब समाज कार्य का प्रशिक्षण दिया जाने लगा तथा इसके

साथ ही बाल कल्याण के क्षेत्र को भी समायोजित कर दिया गया क्योंकि बाल सेवा को कुटुम्ब के अभाव में प्रदान करना अव्यावहारिक माना गया और इस प्रकार परिवार समाज कार्य व बाल कल्याण को एक विशिष्ट पाठ्यक्रम के रूप में समाज कार्य संस्थाओं में मान्यता दी गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार समाज कार्य का इतिहास एक दोलन पर लटकी सूई की भाँति हिलता-डुलता रहा। कभी व्यक्ति-निहित तो कभी यह सूई समाज में होते सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तनों के साथ हिलती-डुलती रही; कभी-कभी यह सूई समाजकार्य की वृत्तिक पहचान व एकता को चुनौती देती हुई प्रतीत हुई। यह वृत्तिक विभाजन पूर्व वर्णित अवधारणात्मक कठिनाइयों तथा किसी समेकित अवधारणा के चरों व संरचनात्मक ढाँचे के अभाव व अनुपलब्धता को प्रतिबिम्बित करता है। फिर भी समाजकार्य अभ्यास व कुटुम्ब के सम्बन्धों का पुनरावलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह संबंध कोई नया नहीं है वरन् ये दोनों प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रारम्भ से ही जुड़े रहे हैं। सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास का सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि कभी-कभी परिवार समाज कार्य, समाजकार्य के क्षितिज पर सूर्य की भाँति प्रकाशित हुआ है तो कभी उस पर ग्रहण सा लगा प्रतीत होता है।

भारत में परिवार समाज कार्य का अभ्युदय :

प्राचीन काल से ही भारतीय परिवार पूर्णता की अद्वितीय मिसाल रहा है, इसका हर सदस्य इसके सम्पूर्ण से जुड़ा रहता है तथा यह परिवार बदले में हर सदस्य को किसी-न-किसी प्रकार की दैहिक व आत्मिक कठिनाई से रक्षक अक्षय कवच प्रदान करता आया है। शहरीकरण व औद्योगीकरण के बढ़ने के साथ-साथ यह रक्षा कवच सिकुड़ता चला गया तथा फिर यह प्रत्येक सदस्य के लिये अपर्याप्त हो गया। परिणामस्वरूप परिवार बिखरने लगा और इसे समेटने का कार्य समाजकार्य ने अपने कन्धों पर लिया।

वैसे तो परिवार संस्था को और अधिक उदार बनाने व महिलाओं व बच्चों का विकास करने का कार्य अंग्रेजी मिशनरियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ कर दिया था लेकिन यह कार्य अधिकतर परिवार-संस्था के बाहर केन्द्रित था तथा यह परम्परागत परिवार से अलग हटकर था। प्रारम्भ में अनाथ निराश्रित व परित्यक्त बच्चों व महिलाओं को सहायता देने का क्रम उनकी तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने तथा सामाजिक अपंगता को दूर करने के परिप्रेक्ष्य में शुरू हुआ, जिसमें भोजन, वस्त्र व आश्रय प्रमुख थे। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान महात्मा गाँधी का रचनात्मक कार्यक्रम परिवार की आर्थिक

दशा सुधारने तथा महिलाओं व बच्चों के कल्याण का पर्यायवाची बन गया। चरखे के माध्यम से परिवार को आत्मनिर्भर बनाने का कार्य प्रारम्भ हुआ जिसका उद्देश्य हर हाथ को काम उपलब्ध कराना था जिससे कि शहरों की ओर ग्रामीण लोगों का पलायन रुक सके। आश्रमों के माध्यम से कोढ़ी, अपाहिज अपंग लोगों के पुनर्वास का कार्य भी शुरू हुआ।

इन आश्रमों का उद्देश्य व्यक्ति को आत्म निर्भर बनाना था जिसमें 'करो व सीखो' के सिद्धान्त के अन्तर्गत् विपन्न लोगों का आर्थिक पुनर्वास किया जाता था। इन आश्रमों से टूटे हुए परिवारों को एक सम्बल प्राप्त हुआ तथा वैज्ञानिक समाज कार्य को भी इससे अत्यधिक प्रेरणा मिली।

समाज कार्य के प्रथम विद्यालय ने, जो कि 1936 में बम्बई में स्थापित किया गया था, परिवार समाजकार्य को एक विशिष्ट अध्यवसाय के रूप में विकसित करने की आवश्यकता महसूस की। उस समय तक यह कार्य स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा अप्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की मदद से किया जाता था। मूल उद्देश्य यह था कि परिवार संस्था की खोई हुई गरिमा भी वापस आ जाय तथा उसके स्वरूप को भी ठेस न लगे। इसके लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस सन्दर्भ में सर दोराब जी टाटा समाजविज्ञान संस्थान ने परिवार व बालक—उनकी प्रकृति व विकास, सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य संस्थाओं में बच्चे, समाजकार्य व विद्यालय, घरेलू स्वच्छता इत्यादि पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये। 1948 में जब प्रशिक्षण कार्यक्रम का पुनर्गठन किया गया तो परिवार व बाल समाज कार्य को एक विशेषीकृत क्षेत्र के रूप में प्रतिपादित किया गया जिसके अन्तर्गत्, बच्चों के लिये फॉस्टर केयर, उन्नत बाल मनोपचार, बाल अपराध व उसका उपचार, बच्चे व राज्य, कुटुम्ब का समाजशास्त्र, विवाह व कुटुम्ब की समस्यायें, बच्चों व किशोरों की आवकतायें इत्यादि पाठ्यतत्व सम्मिलित थे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् समाजकार्य की संस्थायें व इसके क्षेत्र, दोनों में विकास होना प्रारम्भ हुआ। संस्थाओं ने परिवार समाजकार्य का विशेष पाठ्यक्रम शुरू किया। वर्ष 1957 में सभी समाजकार्य संस्थाओं के निदेशकों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें यह निर्णय लिया गया कि कुटुम्ब व बाल कल्याण को समाजकार्य के पाठ्यक्रम में आधारभूत पाठ्यक्रमों की सूची में शामिल किया जाय। इस निर्णय का महत्त्व तब और बढ़ गया जब यह देखा गया कि सरकार भी अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से महिला व बाल कल्याण के कार्यक्रमों को प्राथमिकता दे रही है तथा इन कार्यक्रमों को कल्याण

मंत्रालय केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, स्वास्थ्य मंत्रालय तथा सामुदायिक विकास मंत्रालयों के द्वारा संचालित किया जा रहा है। इन कार्यक्रमों में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की बढ़ती माँग को देखते हुए परास्नातक स्तर पर पाठ्यक्रम को इन कार्यक्रमों की आवश्यकतानुसार संवर्धित करने के प्रयास निरन्तर किये जाते रहे। इन पाठ्यक्रमों में केवल उपचारात्मक सेवाओं को ही सम्मिलित नहीं किया गया वरन् कुटुम्ब संस्था के शक्तिदायक तरीकों, निवारणात्मक व संवर्धनात्मक पहलुओं को भी इसमें सम्मिलित किया गया।

वर्ष 1959 में समाजकल्याण व पिछड़ा-वर्ग कल्याण हेतु स्थापित अध्ययन दलों ने संस्तुति की कि महिलाओं व बच्चों को सेवायें प्रदान करने के लिये कुटुम्ब को आधार माना जाय। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में भी इस बात पर बल दिया गया कि समस्त समाज कल्याण सेवाओं को परिवार केन्द्रित करके दिया जाना चाहिए। इन संस्तुतियों को ध्यान में रखते हुये समस्त सेवायें परिवार को शक्ति प्रदान करने व उसे समाज की एक अनिवार्य इकाई के रूप में सुस्थापित करने हेतु निवारणात्मक पहलू पर जोर देने के लिये संचालित की जाने लगीं जिससे परिवार समाजकार्य का स्वरूप भी विकासोन्मुख हो गया। वर्ष 1966 में इसी परिप्रेक्ष्य में एक संगोष्ठी का आयोजन एसोसियेशन ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क की तरफ से किया गया जिसमें यह सिफारिश की गयी कि परिवार समाज कार्य के अन्तर्गत् पारिवारिक जीवन शिक्षा भी शामिल किया जाना चाहिए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्थापित द्वितीय समाजकार्य शिक्षण पुनरावलोकन समिति 1980 की रिपोर्ट के अनुसार 12 समाजकार्य संस्थाओं में परिवार व बाल कल्याण पाठ्यक्रम चल रहे हैं।

परिवार समाज कार्य का अर्थ व परिभाषा :

परिवार समाजकार्य, समाजकार्य का एक क्षेत्र है जिसके अन्तर्गत् कुटुम्ब को सेवार्थी के रूप में स्वीकार करके सामाजिक कार्यकर्ता अन्तःकौटुम्बिक तथा सामाजिक कुसमायोजन को दूर करने का प्रयास करता है। जैसा कि सर्वविदित है, समाजकार्य एक वृत्तिक सेवा है जिसके अन्तर्गत् व्यक्ति को अकेले अथवा समूह में सहायता प्रदान की जाती है जिससे कि वह आत्म निर्भर होकर अपनी सहायता स्वयं कर सके। वर्ष 1950 के बाद समाज कार्य सेवाओं का केन्द्र व्यक्ति व समूह से हटकर कुटुम्ब व समुदाय के रूप में देखा जाने लगा। आधुनिक समाज में अधिकांशत समस्यायें कुटुम्ब के विभाजन, कौटुम्बिक कुसमायोजन तथा कुटुम्ब के सदस्यों में वैमनस्य के कारण जन्म लेती हैं, अतः व्यक्ति की सम्पूर्ण रूप से सहायता करने के लिए उसके परिवार को भी ध्यान में रखना

होगा अन्यथा वह व्यक्ति सेवा प्राप्त करने के उपरान्त भी परिवार से सामंजस्य नहीं स्थापित कर पायेगा ।

यद्यपि परिवार समाजकार्य पर उपलब्ध साहित्य अत्यन्त सीमित है फिर भी कुछ विद्वानों ने इसे परिभाषा के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है, इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

''गरमेन 1968 : कुटुम्ब केन्द्रित अभ्यास समाज कार्य का एक मॉडल है जो कुटुम्ब को अपने कार्य क्षेत्र में केन्द्रीय स्थिति में रखता है ।''[1]

हार्टमेन व लेयर्ड के अनुसार, 'व्यवस्था के मूल ढाँचे पर आधारित, सहायता का अभिगम जो अपने परम्परागत मूल स्थान से अलग हटकर इस बात पर बल देता है कि मनुष्य को केवल उसके अभिन्न व शक्तिशाली मानवी व्यवस्थाओं जिसका कि वह एक हिस्सा है, समझा जा सकता है व सहायता की जा सकती है । इन शक्तिशाली व्यवस्थाओं में एक तो परिवार है जिसमें कि वह पैदा हुआ और बड़ा हुआ है और जिसका उसके सदस्यों पर दूरगामी प्रभाव होता है और दूसरी वर्तमान परिवार व्यवस्था है जिसमें अभिन्न रिश्तों का एक जाल समाहित है और जो अधिकांश लोगों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है ।''[2]

शर्ज फ्रांसिस : 'कुटुम्ब केन्द्रित सेवा कार्य एक ऐसा अभ्यास है जो कुटुम्ब की भौतिक, सामाजिक व भावनात्मक आवश्यकताओं पर आधारित होता है, कुटुम्ब केन्द्रित सेवाकार्य में कुटुम्ब की सामाजिक क्रियाशीलता को कुटुम्ब-सदस्यों के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष उपचार के द्वारा सुधारा जाता है जिससे सम्पूर्ण समूह का लाभ हो सके ।'[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परिवार समाज कार्य अभ्यास का एक प्रतिरूप है; इसमें सम्पूर्ण परिवार को सेवा की एक इकाई मान कर ध्यान दिया जाता है; इसके अन्तर्गत् कुटुम्ब के सदस्यों के आपसी व बाह्य सम्बन्धों को सुधारने पर बल दिया जाता है; व्यक्ति की समस्याओं को सम्पूर्ण परिवार के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न किया जाता है; परिवार को समाज की एक

---

1. गरमेन, कैरेल बी, सोशल स्टडी : पास्ट ऐण्ड फ्यूचर, सोशल केस वर्क, 49 जुलाई 1968, 403-409.
2. हार्टमैन एन० व लेयर्ड जोन, फेमिली सेन्टर्ड सोशल वर्क प्रैक्टिस, फ्री प्रेस न्यूयार्क व लंदन 1983, पृष्ठ 4.
3. शर्ज फ्रांसिस, व्हाट इज फैमिली सेन्टर्ड केस वर्क ? सोशल केस वर्क 34, अंक 8 अक्तूबर 1954 343-348 ।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यवस्था मान कर उसे मजबूत व आत्मनिर्भर बनाने के प्रयास किए जाते हैं जिससे कि वह अपनी समस्याओं को समझ सके व उन्हें दूर करने के लिए पहल कर सके; परिवार समाज कार्य के अंतर्गत् कुटुम्ब व इसके सदस्यों, दोनों की ही समस्याओं का निदान व उपचार किया जाता है। इन समस्याओं का स्वरूप सामाजिक, आर्थिक, संवेगात्मक, मनोवैज्ञानिक अथवा सामंजस्य से सम्बन्धित हो सकता है।

परिवार केन्द्रित सामाजिक कार्यकर्ता परिवार की विशेष आवश्यकताओं को जानकर विभिन्न प्रकार की सेवायें प्रदान करता है जो पारिवारिक जीवन को मजबूत व पूर्ण बनाने में सहायक होती हैं। परिवार निर्माण व गृह स्वास्थ्य सहायता सेवायें, परिवार की दैनिक देखभाल, सचल भोजन सेवायें, बाल पुस्थपिन व परामर्श आदि ऐसी ही सेवाएँ हैं जो परिवार को उसकी आवश्यकतानुसार दी जा सकती हैं। ऐसे परिवारों में जिनके सदस्यों की अनुकूलन क्षमता पूर्णरूप से समाप्त हो चुकी होती हैं, परिवार समाज कार्य पुनर्वास सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करता है। उदाहरण के लिए ऐसे परिवार जिनमें मानसिक रूप से मन्दित सदस्य होते हैं, ऐसे परिवार जहाँ बच्चों का शारीरिक व नैतिक शोषण किया जाता है अथवा ऐसे परिवार जो मदिरापान या मादक द्रव्य लेने के आदी हो चुके होते हैं।

वास्तव में ऐसी समस्याओं का कोई एक कारण नहीं होता, अतः ऐसे व्यक्ति या परिवार सेवाओं की किसी एक श्रेणी में नहीं आते जैसे कि किसी को निवारणात्मक सेवा की आवश्यकता है, पुनर्वास सेवा की आवश्यकता है या फिर किसी उपबन्धीय सेवा की। यह भी सत्य है कि किसी एक प्रकार का हस्तक्षेप ऐसी समस्याओं के हल के लिए लाभप्रद नहीं होता, अतः ऐसी समस्याओं के लिए समाजकार्य को समेकित पद्धति का उपयोग लाभप्रद होता है।

परिवार–एक व्यवस्था के रूप में

व्यवस्था का अर्थ विभिन्न प्रकार के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न होता है। प्रकृति वैज्ञानिक सौर्यमण्डल को, शरीर-शास्त्री रक्त संचार को, राजनीति शास्त्री पूँजीवाद समाजवाद को व्यवस्था मानते हैं। आजकल संगणक वैज्ञानिक मुख्य रूप से "व्यवस्था" शब्द का प्रयोग संगणक की गूढ़ मशीनी प्रक्रियाओं को प्रकट करने के लिए करते हैं। यह अवधारणा समाजकार्य के दृष्टिकोण से भी उपयोगी है क्योंकि इसके द्वारा देश व काल और घटनाओं व विचारों के मध्य सम्बन्धों को जानने में सुविधा होती है। इतना ही नहीं व्यवस्था से व्यक्ति, उसकी स्थिति व भूमिका के बारे में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी एकत्रित

की जाती है। व्यवस्था का तात्पर्य एक संरचना के अन्तर्गत् कुछ तत्त्वों का इस प्रकार सम्बद्ध रहना है जिससे वे कार्यात्मक रूप में एक दूसरे की उपयोगिता को बनाए रखें। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी जीवित या कार्यशील वस्तुएँ अपने अस्तित्व में एक व्यवस्था का बोध कराती हैं। मानव शरीर, शासन तन्त्र, सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक पहलू या कोई अन्य जैसे विश्वविद्यालय, समुदाय, राष्ट्र इत्यादि भी एक व्यवस्था का बोध कराते हैं।

किसी भी व्यवस्था को प्रकट करने के लिये निम्नलिखित तत्व आवश्यक होते हैं :

1. उपव्यवस्थाओं का एक जाल,
2. उपव्यवस्थाओं के मध्य अन्तर्व्यवस्था,
3. उपव्यवस्थाओं व अंतर्व्यवस्थाओं के मध्य सामंजस्य की स्थिति,
4. प्रत्येक उपव्यवस्था की निश्चित सीमाओं का निर्धारण,
5. अपनी-अपनी सीमाओं में कार्य करते हुए सम्पूर्ण व्यवस्था के विकास के लिए कार्य।

संक्षेप में व्यवस्था का सम्बन्ध एक संगठित संरचना से होता है। व्यवस्था कुछ उपव्यवस्थाओं द्वारा एक निश्चित नियम व क्रम के तहत जुड़ी रहती हैं व कार्यात्मक रूप से सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी होती हैं। अतः व्यवस्था एक ऐसी स्थिति का बोध कराती है जो अनेकता में एकता के सिद्धान्त के तहत विभिन्न तत्त्वों को जोड़कर उन्हें कार्यात्मक रूप से उपयोगी बनाती है।

परिवार का अर्थ शारीरिक या कानूनी रूप से अथवा रक्त सम्बन्धों के आधार पर जुड़े हुए ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो एक छत के नीचे कुछ निश्चित भावात्मक बंधनों के आधार पर एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। परिवार समाज की एक कार्यात्मक इकाई है जो समाज को एक निश्चित आकार व संरचना प्रदान करती है। यह इकाई समाज के विकास व उन्नति के लिए आवश्यक आधार प्रदान करती है। अतः परिवार केवल कुछ व्यक्तियों का एक समूह ही नहीं है वरन् यह एक सत्यनिष्ठा पर आधारित गत्यात्मक अस्तित्व वाला लघु समूह है जो स्वयं में एक संस्था है जिसकी एक निश्चित संरचना है तथा जिसका एक विशेष प्रकार का जीवन है। यह एक ऐसा समूह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के कार्य सम्पूर्ण परिवार को प्रभावित करते हैं चाहे वह सकारात्मक या नकारात्मक हो।

कुटुम्ब की इस अवधारणा के अनुसार यह एक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्तियों का एक निश्चित संरचना के अन्दर मनोसामाजिक एकीकरण होता है तथा सदस्य

व्यक्तियों का एक दूसरे से तथा सम्पूर्ण कुटुम्ब से निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है। यह उपकल्पना कि व्यक्ति में कार्य की स्थिति परिवार के कार्य से सम्बन्धित है, कुटुम्ब को समाज कार्य के अभ्यास क्षेत्र में लाती है जिससे कि सामाजिक कार्यशीलता को सुधारा जा सके। दो प्रकार की अवधारणायें पारिवारिक सहायता प्रक्रिया को दिशा प्रदान करती हैं। प्रथम अवधारणा परिवार में व्यक्ति को केन्द्र मानकर तथा परिवार को व्यक्तियों का एक समूह मानकर उनकी आवश्यकताओं व समस्याओं पर बल देती है। इसके अन्तर्गत् परिवार-समूह के साक्षात्कार की आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि इसका केन्द्र व्यक्ति को मानकर इस बात पर बल दिया जाता है कि परिवार के एक व्यक्ति-सदस्य का व्यवहार तब तक अर्थपूर्ण नहीं होता जब तक उसे सम्पूर्ण परिवार के अर्थ में व परिवार के हित के सन्दर्भ में न समझा जाये। इसके अतिरिक्त भी व्यक्तिगत् सदस्य का व्यवहार कुटुम्ब व्यवस्था की अन्तर्क्रिया व अन्तर्सम्बन्धों के अनुकूल होना चाहिये। इसके अन्तर्गत् उपचार व्यक्ति का नहीं, व्यवस्था का किया जाना चाहिये क्योंकि व्यक्ति व्यवस्था की ही उपज है। अधिकाधिक महिलाओं का श्रमशक्ति के रूप में उभरकर सामने आना मुख्य रूप से परिवार व्यवस्था के आर्थिक पहलू को परिलक्षित करता है। केवल गौण रूप से यह स्थिति महिला मुक्ति आन्दोलन की तरफ इशारा करती है। रोजगार के अवसरों में समानता अभी भी एक मृगमरीचिका दिखाई पड़ती है। उत्पादन के बदलते साधनों के परिणामस्वरूप महिलाओं व पुरुषों के परम्परागत सम्बन्धों में बदलाव आया है और इसके कारण परम्परागत परिवार की संरचना भी प्रभावित हुई है। इस सन्दर्भ में यदि हमें पति-पत्नी के सम्बन्ध या पारिवारिक कुसमायोजन की समस्या को लेकर समाज कार्य की सेवाएँ प्रदान करनी हों तो हमें समस्याग्रस्त व्यक्तियों तक ही अपने उपचार को सीमित नहीं रखना होगा वरन् उसे सम्पूर्ण कुटुम्ब-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में समझना व उपचार करना होगा क्योंकि समस्या व्यवस्था जनित प्रतीत होती है।

चूँकि परिवार के सम्पूर्ण सदस्य एक दूसरे से व्यक्तिगत् एवं सामूहिक रूप से जुड़े रहते हैं और एक के कार्य एवं स्थिति का प्रभाव दूसरे सदस्यों व सम्पूर्ण परिवार पर पड़ता है, अतः यह कुटुम्ब-संस्था निश्चित रूप से एक व्यवस्था है। परिवार के एक सदस्य का स्वास्थ्य सम्पूर्ण परिवार को आर्थिक व मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार कुटुम्ब व्यवस्था का जीता-जागता उदाहरण है जिसमें एक उपव्यवस्था में परिवर्तन सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन ला देता है और सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन सभी उपव्यवस्थाओं में परिवर्तन ला देती है। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कुटुम्ब में

सदैव परिवर्तन की प्रक्रिया में विद्यमान रहती है और इस बदलते परिवेश से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास निरन्तर जारी रहता है। जो सदस्य यह सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ रहते हैं वे स्वयं को व सम्पूर्ण परिवार को समस्याग्रस्त बना देते हैं।

परिवार समाज कार्य के विभिन्न अभिगम :

यह निर्धारित होने के बाद कि सेवा की इकाई परिवार है मूल प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार से सर्वोत्तम सेवा प्रदान की जा सकती है। वर्ष 1969 में वाशिंगटन विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ सोशल वर्क के अन्तर्गत् कार्य करने वाले क्षेत्रीय पुनर्वास संस्थान ने एक अनुसंधान प्रतिवेदन जो 'कुटुम्ब अध्ययन व उपचार की एक इकाई के रूप में' विषय पर आधारित था, प्रकाशित किया। परिवार उपचार पर साहित्य के इस अन्वेषण में परिवार समाज कार्य के तीन अभिगम प्रस्तुत किये गये जो निम्नलिखित हैं :—

1. मनोविश्लेषणात्मक अभिगम :

परिवार उपचारकर्त्ता मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा पर उसी तरह निर्भर रहते हैं जिस तरह निदानात्मक वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता फ्रॉयड के मनोविज्ञान पर निर्भर रहते हैं। वे अचेतन मानसिक जीवन पर अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता पर अधिक बल देते हैं और निदान की प्रक्रिया व्यक्ति के प्रारम्भिक अवस्था के अनुभवों व विकार की प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति पूर्वनिर्धारित अवस्थायें जैसे मुखकामावस्था, गुदकामावस्था, तिरोहितकामावस्था, किशोरावस्था व प्रौढ़ावस्था से होकर गुजरता है। मुखकामावस्था में बच्चा अपने मुँह द्वारा अपनी काम व आक्रामक आवश्यकतायें पूरी करता है। बच्चा चीखता है, चूसता है, कभी-कभी किलकारियाँ मारता है और इस तरह से अपनी काम से सम्बन्धित आवश्यकतायें पूरा करता है। गुदकामावस्था में बच्चा मल उत्सर्जन के द्वारा काम भावना की पूर्ति करता है तथा इस प्रक्रिया में वह माँ का ध्यान ज्यादा से ज्यादा अपनी ओर आकर्षित करता है। तिरोहित कामावस्था में बच्चा माता-पिता की स्थिति को आत्मसात् करने का प्रयास करता हैजिनमें बच्चा अपने से विपरीत यौन की ओर आकर्षित होता है। फ्रॉयड के अनुसार इस अवस्था तक बच्चा अपनी स्थिति को समझने लगता है और अपने मूल अन्तर्नादों व जन इच्छाओं के मध्य भेद करना सीख जाता है। वह अपनी कामभावना की आक्रामकता की इच्छा को माता-पिता के द्वारा प्रस्तुत वास्तविकताओं से सामंजस्य स्थापित करके सीख जाता है। जब कामलिप्सा व परा-अहं के मध्य संघर्ष किसी भी विकास की अवस्था में दूर नहीं होती तो व्यक्ति

तन्त्रिकाताप का शिकार हो जाता है। यदि ये संघर्ष सफलतापूर्वक दूर हो जाते हैं तो अहं की क्रियाशीलता की क्षमता बढ़ जाती है। यही मनोविश्लेषणात्मक उपचार का उद्‌देश्य होता है। चूँकि तन्त्रिकाताप की जड़ें प्रायः बाल्यकाल में स्थित होती हैं, मनोविश्लेषण के अन्तर्गत् उन बातों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है जिनका बाल्यकाल में दमन किया गया हो और जो अब व्यक्ति के अचेतन का भाग बन चुकी हैं। सेवार्थी अपने भूतकाल की याददाश्त स्वप्नों व मुक्त साहचर्य में खोजता है और मनोविश्लेषक उन संघर्षों पर विजय पाकर सामान्य स्थिति में आने में उसकी मदद करता है। तन्त्रिकाताप का कारण संघर्ष नहीं बल्कि संघर्षों का दूर न होना है।

परिवार और विशेष रूप से माँ का विकास के प्रत्येक चरण में बच्चे पर विशेष प्रभाव रहता है और इसीलिए परिवार को मनोविश्लेषण-उपचार को प्रारम्भ करने का प्रमुख स्थान माना जाता है। परन्तु उपचार में परिवार के बजाय बच्चे के अचेतन मस्तिष्क की अपूर्ण कल्पनाओं पर अधिक बल दिया जाता है। मनोविश्लेषणात्मक उपचार के दो मुख्य मानने वाले विद्वान इवान बोसजोरमेनी नेगी और जेम्स एल फ्रेमोते ने "इन्टेन्सिव फैमिली थिरैपी" नामक अपनी पुस्तक में इस बात पर बल दिया कि सघन उपचार व सहायक उपचार में विभेद किया जाना चाहिए। उनका बल मुख्य रूप से सघन उपचार पद्धति पर था जिनमें विभिन्न क्षेत्रों के लोग परिवार को पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिये प्रयास करते हैं। उन्होंने व्यक्ति के तन्त्रिकाताप और भूतकाल में उसकी जड़ों को समझने पर बल दिया। मनोविश्लेषण पद्धति के अभ्यासकर्ता अपने तरीकों में एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं। कुछ लोग व्यक्तिगत् साक्षात्कार पर अधिक बल देते हैं, कुछ लोग कुटुम्ब साक्षात्कार को उपचार का माध्यम बनाते हैं और कुछ एक ही प्रकार की तन्त्रिकाताप वाले असम्बद्ध व्यक्तियों के समूह को उपचार की प्रक्रिया में सम्मिलित करते हैं। विशेष बात यह है कि इन सभी का लक्ष्य यही होता है कि परिवार की समस्याओं को प्रत्येक व्यक्ति के साथ मनोवैज्ञानिक तौर पर संघर्ष कार्य के माध्यम से सुलझाया जाये।

2. समाकलनात्मक अभिगम :

समाकलनात्मक अभिगम परिवार के निदान और उपचार का ऐसा प्रयास है जिसमें कुटुम्ब व व्यक्ति दोनों को ही सम्मिलित किया जाता है। इसकी मुख्य अवधारणा भूमिका पर निर्भर करती है। प्रत्येक परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न भूमिकायें निभाते हैं। कुछ स्पष्ट भूमिकाओं के अतिरिक्त हर कुटुम्ब यह निर्धारित करता है कि उसका कौन सा सदस्य संघर्षात्मक व

पूरक भूमिका निभायेगा। पर्लमैन ने भूमिका की विवेचना करते हुए लिखा है कि "भूमिका सामाजिक कार्यात्मकता प्रदान करती है जो लोगों को अन्तर्क्रिया करने में मदद करती है। भूमिका इस बात की अनुमति नहीं देती कि हम अपने व्यक्तित्व में ही खो जायें। अधिकांश व्यक्ति अपना आंकलन अपनी भूमिकाओं के अनुसार करते हैं।[1]" ओटोपोलक, जो एक विख्यात समाजशास्त्री थे, ने भूमिका के सिद्धान्त के बारे में लिखा है कि "परिवार के सदस्य को एक दूसरे की आवश्यकताओं के पूरक के रूप में जाना जाता है"। उनके अनुसार परिवार व्यक्ति व गूढ़ सामाजिक संगठन के मध्य स्थित होता है।"[2] नाथन एक्रमैन ने, जो एक मनोचिकित्सक था, व्यक्ति व समूह की अन्तर्क्रिया के तीन स्तर बताये हैं :

1. पर्यावरण की संरचना 2. अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध 3. व्यक्तित्व का अन्तः संगठन। उसके अनुसार सामाजिक भूमिका की अवधारणा अंतः मानसिक जीवन व सामाजिक सहभागिता की प्रक्रियाओं के मध्य एक सेतु का कार्य करती है। उसके अनुसार कुटुम्ब का उद्देश्य अपने सदस्यों की सुरक्षा, अनुपालन, काम-वासना की पूर्ति, बाल एवं वृद्धों की देखभाल, प्रेम व सहानुभूति, एक पहचान और सामाजिक सहभागिता के लिये प्रशिक्षण सुनिश्चित करना होता है। एक्रमैन ने उपचार की प्रक्रिया में कुटुम्ब-इकाई को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है और व्यक्ति व उसकी मनोस्थिति को गौण स्थान प्रदान किया है।

एक्रमैन व उसके अनुयायियों ने कुटुम्ब के सदस्यों में एकाकी परिवार के समस्त सदस्यों को सम्मिलित करने पर बल दिया जिनमें दादा-दादी व अन्य निकट सम्बन्धी भी हों जिससे उसकी कार्यप्रणाली में लचीलापन व नवीनता आ सके। परन्तु इसमें एक कठिनाई यह है कि उपचारकर्ता का प्रशिक्षण मुश्किल हो जाता है। उपचारकर्ता को नवप्रवर्तक भी होना चाहिए जिससे वह नवीन परिस्थितियों में उचित निर्णय ले सके। उपचारकर्ता में नवीन मूल्यों, मानसिक स्वास्थ्य व मानव विकास से सम्बन्धित सिद्धान्तों को अभ्यास में अपनाने की भी क्षमता होनी चाहिए। एक प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता आर्थर लीडर ने लिखा है कि उपचार कर्ता का हस्तक्षेप सक्रिय व प्रबल होना चाहिए न कि मनो-

---

1. हेलेन एच पर्लमैन 'दि रोल कॉन्फ्लिक्ट ऐण्ड सोशल वर्क—सम एक्सप्लोरेशन्स' सोशल सर्विस रिव्यू, 25 दिसम्बर 1969, 371-81.
2. ओटोपोलक ए फेमिलो डॉयग्नोसिस मॉडल सोशल सर्विस रिव्यू 34, मार्च 1960, 19-31.

विश्लेषणात्मक पद्धति की भाँति अन्तर्भाविता की कमी व अलग-अलग दिखने वाला ।

2. समाकलनात्मक अभिगम के अभ्यास कर्ताओं में वस्तुज्ञान, उच्च श्रेणी की कुशलता और दृढ़ व निश्चित मूल्यों की आवश्यकता होती है क्योंकि व्यक्ति की भाँति ही कुटुम्ब को भी कार्यकर्ता की कुशलता, अनुभव समझदारी व सहयोग की आवश्यकता होती है । विलियम स्वाट्र्ज ने इस सन्दर्भ में समाजकार्य के पाँच प्रकार्य बताये हैं :[1]

1. सेवार्थी की आवश्यकताओं व समाज की आकांक्षाओं के मध्य समान तत्त्वों की खोज ।

2. उन बाधाओं को दूर करना जो समान तत्त्वों व व्यक्ति के अनुकूलन के प्रयास को रोकती हैं ।

3. सेवार्थी को आवश्यक विचार तथ्य व मूल्यगत् अवधारणाओं से अवगत कराना ताकि वह सामाजिक वास्तविकताओं से सामंजस्य स्थापित कर सके ।

4. सेवार्थी को अन्तर्दृष्टि प्रदान करना जिसमें कार्यकर्ता की सेवार्थी के प्रति सदाकांक्षा व उसका हित व सामाजिक कल्याण दोनों ही सम्मिलित होते हैं ।

5. कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्धों के आधार पर स्थिति की सीमायें व आवश्यकतायें पारिभाषित करना जिनसे कार्य-संविदा के अन्तर्गत् सारे कार्य अनुशासित होते हैं ।

3. अभिव्यक्तिशील अन्तर्क्रियात्मक अभिगम :

संयुक्त परिवार उपचार अभिव्यक्तिशील अन्तर्क्रियात्मक अभिगम का उत्कृष्ट उदाहरण है । इस उपचार माध्यम का मूलाधार यह है कि एक ही समय में प्रतिपादित समस्त कुटुम्ब-संचार के अनेक संदेश होते हैं । अतः उपचारकर्ता कुटुम्ब की संचार प्रणाली का अध्ययन करके उसकी आवश्यकताओं का पता लगाते हैं । इसके अनुसार समस्त कुटुम्ब विपदायें संचार प्रणाली में आये दोषों से उत्पन्न होती हैं । डान जैक्सन व विरजीनिया सतीर के अनुसार बच्चे माता-पिता को अपने संचार का प्रतिरूप मानते हैं । यदि माता-पिता के संचार का तरीका दोषपूर्ण है तो बच्चों में भी वह दोष देखा जा सकता है । अतः माता-पिता का दोषपूर्ण संचार सम्पूर्ण कुटुम्ब में संचार-समस्या उत्पन्न कर देता है ।

---

1. विलियम स्वाट्र्ज—दि सोशल वर्कर इन दि ग्रुप, सोशल वेलफेयर फ़ोरम 1961, 157

अतएव उपचार की यह पद्धति अभिव्यक्ति के स्तर में सुधार करके कौटुम्बिक अन्तर्क्रिया को फलदायी व उपयोगी बनाती है।

उपचार के इस अभिगम में दूसरी महत्वपूर्ण अवधारणा 'कुटुम्ब सम-स्थिति' की है जिसका तात्पर्य कुटुम्ब में समूह सन्तुलन की स्थिति का वर्तमान होना है। जब कभी व्यवस्था के एक भाग में कोई परिवर्तन होता है तो इसके परिणामस्वरूप व्यवस्था के दूसरे भागों में भी परिवर्तन अपरिहार्य हो जाता है। यदि एक व्यक्ति उपचार के परिणामस्वरूप परिवर्तित हो जाता है जो सम्पूर्ण परिवार का दृष्टिकोण बदलता है। परिवर्तन सदैव सुधार ही नहीं होता। इस प्रकार कुटुम्ब में खोया हुआ सन्तुलन केवल समस्थिति द्वारा ही सम्भव है। चूँकि यह सिद्धान्त सम्पूर्ण प्रतिकार्यों का कारण दोषपूर्ण अभिव्यवित को मानता है अतः उपचारकर्ता स्वयं को अभिव्यक्ति के आदर्श प्रतिरूप की भाँति प्रस्तुत करता है। कार्यकर्ता बड़ी दृढ़ता के साथ कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य की सूचनायें एकत्रित करता है जिससे वह कुटुम्ब में अर्न्तक्रिया को समझकर उसमें परिवर्तन की सलाह दे सके।

परिवार उपचार का यह सर्वाधिक सरल अभिगम है जो समाजकार्यकर्ताओं, मनोवैज्ञानिकों, संचार विश्लेषकों, चिकित्सकों के द्वारा तत्परता से सीखा जाता है। परिवार उपचार तुलनात्मक रूप से ज्ञान की एक नवीन शाखा है जिससे कुटुम्ब के माध्यम से व्यक्ति की सहायता की जाती है। इसका ज्ञानाधार सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य से भिन्न नहीं है। समाजकार्य का मूलज्ञान, मूल्य व कुशलतायें परिवार-उपचार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वैयक्तिक सेवाकार्य में परिवार-उपचार व परिवार-उपचार में वैयक्तिक सेवा कार्य का प्रयोग समान रूप से लाभप्रद होता है।

परिवार समाजकार्य के विभिन्न चरण :

परिवार समाजकार्य सहायता की एक प्रक्रिया है जिसमें हस्तक्षेप के विभिन्न चरणों के उपरान्त निश्चित लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। सम्पूर्ण अवधि में सहायता की क्रम-माला एक निश्चित नियमित ढंग से अभ्यास में लाई जाती है। परिवार समाजकार्य कोई परिणाम नहीं है बरन् सहायता के वैज्ञानिक व नियमबद्ध प्रयासों की एक श्रृंखला है जिसका उद्देश्य कुटुम्ब को एक व्यवस्था के रूप में मजबूत बनाना है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में निम्नलिखित चरण होते हैं :—

संदर्भ अवस्था : सामान्य रूप से परिवार का कोई सदस्य अपनी समस्या के संदर्भ में सामाजिक संस्था से सम्पर्क स्थापित करता है अथवा कोई सामाजिक

कार्यकर्ता उस व्यक्ति को किसी कुटुम्ब कल्याण संस्था का संदर्भ देकर भेजता है। संस्था में उपस्थित प्रतिनिधि सेवार्थी की बात को सहानुभूतिपूर्वक सुनता है और यह जानने का प्रयास करता है कि समस्या की प्रकृति कैसी है, समस्या कितनी अवधि से अस्तित्व में है, क्या कोई अन्य संस्था उस समस्या के समाधान के लिए कार्यरत् है अथवा सेवार्थी ने उस समस्या के संदर्भ में पहले से कोई सेवा प्राप्त की है। इस स्तर पर कुटुम्ब कार्यकर्ता यह भी जानने का प्रयास करता है कि यदि पूर्व उपलब्ध सेवाओं से कुटुम्ब की समस्या का हल नहीं निकला तो उसके क्या कारण थे ? वर्तमान में समस्या की स्थिति क्या है तथा क्या संस्था इस समस्या को सुधारने की स्थिति में है ? कार्यकर्ता यह भी जानकारी प्राप्त करता है कि क्या पूर्व में प्राप्त सेवाओं के द्वारा परिवार की स्थिति में कुछ सुधार हुआ था अथवा नहीं, इत्यादि।

इस स्तर पर प्राप्त सूचनाओं का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करके अग्रिम चरणों में आने वाली तमाम कठिनाईयों से बचा जा सकता है। कार्यकर्ता इसी स्तर पर संस्था व स्वयं की भूमिका को समझने का प्रयास करता है और कुटुम्ब को 'जहाँ है जैसे है' कि स्थिति में स्वीकार करता है। कार्यकर्ता सहायता कार्य को आगे बढ़ाने से पूर्व संदर्भित करने वाले अभिकर्ता से भी सम्पर्क करता है क्योंकि अधिकांश मामलों में यह अभिकर्ता कोई वृत्तिक कार्यकर्ता, अच्छा पड़ोसी या कोई निकट सम्बन्धी ही होता है जो समस्याग्रस्त कुटुम्ब और संस्था दोनों के बारे में विशेष जानकारी रखता है। इस अभिकर्ता को यह जानकारी होती है कि संस्था उस समस्याग्रस्त परिवार के बारे में क्या-क्या सुविधाएँ प्रदान कर सकती है और परिवार की इस संस्था के प्रति क्या आशाएँ हैं। अतः संदर्भित करने वाले अभिकर्ताओं से साक्षात्कार करके सहायता के सम्पूर्ण क्रम को निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूचनाएँ विभिन्न स्रोतों से एकत्रित करने के उपरान्त कार्यकर्ता उनका विश्लेषण करता है।

परिवार समाजकार्य की सेवाओं को प्रदान करने के लिए कसौटी :

परिवार के बारे में प्रारम्भिक सूचना और इसकी समस्या का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त कार्यकर्ता यह निर्धारित करता है कि सेवार्थी का किस प्रकार से निर्धारण हो। यद्यपि यह कार्य अत्यन्त कठिन है और इसके निर्धारण के लिए कोई आधारभूत नियम नहीं बनाये जा सकते तथापि निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर उसका निर्धारण आसान बना सकते हैं :—

1. क्या सेवार्थी परिवार समूह का सदस्य है :

यदि सेवार्थी अकेला है या परिवार से अलग है तो उसे व्यक्तिगत् कार्य-

प्रणाली व उसके विकास के लिए वैयक्तिक सेवा पद्धति का प्रयोग किया जायेगा। कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं का मानना है कि किशोरावस्था के सेवार्थी जो अपनी अस्मिता को परिवार के साथ समायोजित नहीं कर पाता, के लिये वैयक्तिक सेवाकार्य व परिवार सेवाकार्य और कभी-कभी सामूहिक सेवाकार्य प्रणालियों का मिला-जुला स्वरूप सफल होता है।

2. क्या समस्या संस्था के क्षेत्राधिकार में आती है :

यद्यपि किसी भी सामाजिक संस्था का संदर्भ-क्षेत्र काफी व्यापक होता है तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि हर सामाजिक समस्या प्रत्येक सामाजिक संस्था में हल की जा सकती है। सभी संस्थाओं को अपने संदर्भ क्षेत्र में आने वाली समस्याओं व उनकी प्राथमिकताओं के बारे में सुस्पष्ट होना चाहिए।

3. क्या परिवार के सदस्य समस्या से सम्बन्धित महसूस करते हैं :

परिवार सामाजिक कार्यकर्ता को इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि वर्तमान समस्या परिवार के सदस्यों को किस प्रकार व किस स्तर तक प्रभावित करती है। कभी-कभी समस्या के परिणामस्वरूप सभी सदस्य कष्ट महसूस करते हैं, अतः समस्या स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण परिवार की समस्या होती है। उदाहरणार्थ जब परिवार में कोई मानसिक रोग से ग्रसित हो जाता है और जिसके कारण सम्पूर्ण परिवार उसकी देखभाल, सुरक्षा, उपचार इत्यादि में व्यस्त हो जाता है।

4. क्या इस प्रकार के कोई संकेत हैं कि परिवार के सदस्य समस्याओं को किसी अन्य प्रकार से सुलझा सकते हैं :

इसके अन्तर्गत् परिवार की क्षमताओं का पता लगाया जाता है कि भूतकाल में आई हुई समस्याओं को परिवार ने किस प्रकार दूर किया। कभी-कभी कुटुम्ब के सदस्यों में ऐसी विशेषतायें, कुशलतायें व गुण पाये जाते हैं जिनसे परिवार स्वयं में अनभिज्ञ रहता है; ऐसी दशा में कार्यकर्ता कुटुम्ब को उसकी क्षमताओं से अवगत् कराता है।

5. क्या कुटुम्ब समाजकार्य की सेवायें इस परिवार ने पहले भी ली हैं, यदि हाँ तो उनका प्रभाव :

यदि परिवार ने परिवार-सेवाकार्य की सेवायें पहले भी प्राप्त की हैं और ऐसे प्रयास असफल रहे हैं तो कार्यकर्ता पहले की त्रुटियों से सीख ले सकता है और उनको दूर करने की योजना पहले से ही बना सकता है।

6. क्या परिवार सामाजिक कार्यकर्ता परिवार-समाजकार्य-अभ्यास के सभी स्तरों पर आने वाली कठिनाईयों का सामना करने के लिए तैयार है :

कभी-कभी सम्भावित कठिनाईयों को ध्यान में रखते हुए संदर्भ अवस्था में ही कुछ समस्याओं को स्वीकार नहीं किया जाता किन्तु यदि संस्था के सभी कार्यकर्ता अभ्यास में आने वाली विशेष कठिनाईयों को दूर करने के लिए तैयार होते हैं तो ऐसी समस्या नहीं आती।

क्षेत्र-संसाधन :

परिवार-सामाजिक कार्यकर्ता को कुटुम्ब की सेवा के लिए स्वीकार करने से पूर्व ही विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान रहते हैं जो परिवार को एक आधार प्रदान करते हैं। ये तत्व परिवार को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। ये प्रभाव सकारात्मक होकर कुटुम्ब को परिवर्तन की प्रक्रिया से समायोजन करने में मदद पहुँचाते हैं अथवा नकारात्मक होकर कुटुम्ब में परिवर्तन की प्रक्रिया को बाधित करते हैं। अतः सामाजिक कार्यकर्ता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अभ्यास-क्षेत्र के बारे में सम्पूर्ण जानकारी एकत्रित करे कि वहाँ कौन-कौन से तत्त्व पहले से प्रभावी हैं तथा उनमें से किनकी सहायता परिवार के हित में ली जा सकती है और किनको परिवार से दूर रखने के अथवा परिवार को उनसे दूर रखने के प्रयास करने चाहिए।

प्रवेश अवस्था :

इस चरण में सामान्य रूप से परिवार के साथ प्रथम साक्षात्कार होता है। इसके अंतर्गत् परिवार के व्यवहार का विश्लेषण किया जाता है और प्रथम साक्षात्कार के उपरान्त कार्यकर्ता का हस्तक्षेप निर्धारित किया जाता है। इस स्तर पर कार्यकर्ता मुख्य रूप से चार लक्ष्यों से प्रभावित होता है जैसे संचार के लिए मार्गदर्शन, समस्त सदस्यों का विकेन्द्रीकरण, परिवार के सदस्यों का एक-दूसरे के प्रति व्यवहार का अध्ययन तथा कार्यात्मक सम्बन्ध स्थापित करना और परिवार के साथ किये जाने वाले कार्य हेतु समझौता करना।

इस चरण में परिवार के सदस्यों में संचार व्यवस्था को सुधारने पर बल दिया जाता है। कार्यकर्ता प्रत्येक सदस्य से स्वयं बातचीत करता है और उनसे जानकारी प्राप्त करता है। परिवार के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि हर सदस्य अपने बारे में विवरण देगा। साधारणत माता-पिता बच्चों के बारे में जानकारी देते हैं; लेकिन परिवार-समाज कार्य के अन्तर्गत् उनके द्वारा

दी गई जानकारी पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। अतः परिवार-सामाजिक कार्यकर्ता प्रत्येक व्यक्ति से अलग-अलग साक्षात्कार करके उन्हें अपने बारे में जानकारी देने के लिए प्रेरित करता है। कुटुम्ब के सदस्यों को भावनायें व्यक्त करने का नहीं वरन् व्यवहार द्वारा अभिव्यक्ति का सुझाव दिया जाता है। कार्यकर्ता को सामान्यीकरण के बजाय विशेषीकरण पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए क्योंकि अभ्यास में सामान्यीकरण-व्यवहार पर निर्भर नहीं रहा जा सकता।

उत्साहवर्धन अवस्था :

परिवार में परिवर्तन एक ही बार में नहीं लाया जा सकता, उसके उत्साहवर्धन की आवश्यकता होती है। यद्यपि कुटुम्बी परिवर्तन की इच्छा प्रकट करते हैं, किन्तु अक्सर वे परिवर्तन से भयभीत होते हैं; अतः अभ्यास में परिवर्तन का विरोध करते हैं। सबसे पहले उन्हें इस बात का विश्वास दिलाने की आवश्यकता होती है कि वे परिवर्तन करने में समर्थ हैं। यह परिवर्तन चाहे छोटा ही हो, उन्हें तुरन्त लाभ पहुँचाता है। फिर उन्हें इस बात का भी विश्वास दिलाना चाहिए कि परिवर्तन की प्रक्रिया में होने वाले कष्ट को सहन करना उनके सामर्थ्य के बाहर नहीं है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही बड़ी सावधानीपूर्वक कार्य करना होता है। प्रथम साक्षात्कार के दौरान सदस्यों की आकांक्षाओं व उनके आपस में अभिव्यक्ति के तरीकों को जानकर, उनमें सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। द्वितीय साक्षात्कार में कार्यकर्ता का ध्यान उत्साहवर्धन पर होता है जो एक ओर सदस्यों की आकांक्षाओं को पूरा करता है, और दूसरी ओर प्रभावशाली संचार को गतिशील करता है। उत्साहवर्धन को अक्सर कुटुम्ब का एक कार्य माना जाता है परन्तु कार्यकर्ता साक्षात्कार की प्रक्रिया के दौरान इस कार्य में कुटुम्ब की सहायता कर सकता है।

उत्साहवर्धन का मुख्य उद्देश्य कुटुम्ब के सदस्यों में आपसी अभिव्यक्ति का स्तर सुधारना है; उनके मध्य अच्छे सम्बन्ध व अच्छा व्यवहार सुनिश्चित करने के भी प्रयास किये जाते हैं। इस चरण में कार्य योजना बनाते समय कार्यकर्ता को निम्नलिखित सिद्धान्त ध्यान में रखने चाहिये :—

1. उद्देश्य पूर्णता :

कार्यकर्ता के लिये यह आवश्यक है कि वह सहायता की संविदा में वर्णित कार्य उद्देश्यों के अनुसार ही अपने सारे कार्य करें। एक स्पष्ट व निश्चित उद्देश्य कार्यकर्ता के लिये पथ प्रदर्शक का कार्य करते हैं।

2. कुटुम्ब की इच्छानुसार कार्य करना :

कार्यकर्ता परिवार को एक दूसरे की बात ध्यानपूर्वक सुनने की सलाह देता है। कार्यकर्ता के लिये यह आवश्यक है कि वह स्वयं यह सलाह देने के पूर्व परिवार के लोगों को ध्यानपूर्वक सुने और उनकी इच्छाओं, आवश्यकताओं व कमियों की जानकारी प्राप्त करे। कार्यकर्ता अपनी कार्य-योजना में कुटुम्ब की इच्छाओं को स्थान देता है।

3. सम्पूर्ण कुटुम्ब के साथ कार्य करना :

कार्यकर्ता को ऐसी कार्य-योजना बनानी चाहिये जिसे परिवार के सभी सदस्य अपनाने के लिए तत्पर हों क्योंकि कार्यकर्ता का उद्देश्य सम्पूर्ण परिवार-व्यवस्था में परिवर्तन लाना होता है। इसका तात्पर्य है कि कुटुम्ब के सभी सदस्यों की भूमिका कार्य-योजना में सुनिश्चित होनी चाहिये।

4. लघु प्राप्य कदम :

कार्यकर्ता को ऐसी योजना नहीं बनानी चाहिए जो कुटुम्ब के लिये प्राप्य न हो। उसे छोटे-छोटे परिवर्तनों द्वारा ही सम्पूर्ण कुटुम्ब में परिवर्तन लाना चाहिये। अच्छा होगा यदि कार्य वितरित करते समय कार्यकर्ता कुटुम्ब के सदस्यों से भी पूछते कि क्या वे उसे पूरा कर सकेंगे ? कार्य वितरण के समय सदस्यों की रुचि का भी ध्यान रखा जाता है जिससे वे कार्यकर्ता के प्रयासों से स्वयं को जुड़ा महसूस कर सकें।

5. कार्यकर्ता की भूमिका :

कार्यकर्ता को भी यह देखना चाहिए कि कार्य उसकी रुचियों व निपुणताओं के अनुकूल हो, क्या वह कार्य को बोझ तो नहीं मान रहा है, क्या वह इस कार्य में आनन्द का अनुभव करेगा ? कार्यकर्ता की सहायता के लिए संस्था में सहयोग प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए। कार्यकर्ता को स्वयं के लिये भी ऐसी कार्य पद्धति को चुनना चाहिये जो परिवार के सदस्यों को अपील करती हो।

6. यथार्थवादो होना :

कार्यकर्ता को सदैव यथार्थवादी होना चाहिये तथा कुटुम्ब की वास्तविक स्थिति, उसकी क्षमताओं व दुर्बलताओं का उचित आंकलन करना चाहिए। कुटुम्ब कभी-कभी कार्यकर्ता द्वारा सुझाये गये कार्यों को करने में स्वयं को असमर्थ पाता है, अतः ऐसी स्थिति को घटित होने से बचाना चाहिये।

कुटुम्ब संसाधन :

उत्साहवर्धन अवस्था में कार्यकर्ता को परिवार के संसाधनों की भी जान-

कारी होनी चाहिए क्योंकि इन संसाधनों से कुटुम्ब के आत्म-सम्मान व आत्मबल का स्तर उठता है जिसका उपचार प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। ये संसाधन कुटुम्ब की क्षमता व उसकी आशाओं का भी निर्माण करते हैं। ये संसाधन निम्नलिखित होते हैं :—

(अ) वाह्य कारक :

आवासीय दशायें, परिस्थितियाँ, आर्थिक स्थिति, कार्य के घंटे, बच्चों की शिक्षा आदि।

(आ) प्रजातोय एवं सांस्कृतिक कारक :

सांस्कृतिक, प्रजातीय व जातीय कारक परिवार के विश्वास, मूल्य, मान्यताओं, व्यवहार के तरीकों इत्यादि का निर्धारण करते हैं, अतः ये महत्त्वपूर्ण हैं। महिलाओं की स्थिति इत्यादि भी संस्कृति से ही निर्धारित होती है।

(इ) संस्था से प्रत्यक्षीकरण :

संस्था कुटुम्ब के बारे में क्या धारणा बनाती है इसका भी उत्साहवर्धन-प्रक्रिया में अत्यन्त महत्त्व है।

(ई) प्रतिकूल प्रत्याशा करना :

कुटुम्ब स्तर की योजना बनाते समय अनेक प्रतिकूल सम्भावनाओं को पहले से ही सोचना श्रेयस्कर होता है जिससे कि उनसे निपटने के उपाय प्रारम्भ से ही सोचे जा सकें। ऐसा करने से कार्यकर्ता अपने मन की व्यर्थ की आशंका दूर कर सकता है।

संकट पर केन्द्रित होने की अवस्था :

परिवार का परिवर्तन की सीमा तक उत्साहवर्धन करने के पश्चात् कार्यकर्ता संकट पर केन्द्रित होने की योजना बनाता है। यह संकट की अवस्था दो रूपों में कार्यकर्ता के समक्ष आती है। पहली तब जब वह प्रत्यक्ष रूप से परिवार के सम्पर्क में आता है। दूसरी तब जब वह परिवार को यह बताता है कि अभी तीन या चार साक्षात्कार आवश्यक है। बाद की स्थिति हम अधोगणना कहते हैं। संकट पर केन्द्रित होने के चरण में कुटुम्ब के सदस्य पूर्ण रूप से मुख्य समस्या की जड़ पर प्रहार करने के लिए उद्यत होते हैं और वे यह समझने लगते हैं कि ऐसा कुछ नहीं है जो उनकी पहुँच से बाहर हो। यद्यपि इस चरण में ज्यादा कष्ट व कठिनाईयाँ सामने आती हैं परन्तु कुटुम्ब के सदस्य अत्यन्त दृढ़ता के साथ उन कष्टों को सहने एवं समस्याओं का समाधान करने के लिए कटिबद्ध होते हैं।

द्वितीय साक्षात्कार के उपरान्त कुटुम्ब के सदस्यों के मध्य संचार में सुधार होता है और वे आपसी सहयोग से समस्या के केन्द्र की ओर बढ़ते हैं। कार्यकर्ता भी इस स्तर पर यह समझने में सफल होता है कि वास्तव में कुटुम्ब के सदस्यों के व्यवहार के किस भाग में परिवर्तन की आवश्यकता है; अतः इस भाग में कार्यकर्ता सम्पूर्ण परिवार की बजाय इसके मात्र एक भाग से.ही सम्बन्धित हो सकता है कभी-कभी परिवार के सदस्य सुधार की सम्पूर्ण जिम्मेदारी कार्यकर्ता पर ही डाल देते हैं और स्वयं कोई प्रयास नहीं करना चाहते, जैसे धन की माँग करना, कार्यकर्ता को दोषी ठहराना या घर में न मिलना इत्यादि। ऐसी घटनायें निश्चित रूप से सेवा प्रयासों में बाधा पहुँचाती हैं। लेकिन फिर भी संस्था वैधानिक उत्तरदायित्व से बँधी होती हैं। ऐसी स्थिति में कुछ अन्य प्रयास या विकल्प एक आवश्यकता बन जाते हैं क्योंकि ऐसी अप्रत्याशित घटनायें परिवार समाज कार्य में अक्सर आ जाती हैं।

परिवर्तनों को संगठित करने की अवस्था :

परिवार में आये हुये परिवर्तन तब तक लाभप्रद नहीं होते जब तक उन्हें व्यावहारिकता के योग्य न बनाया जाये। परिवर्तनों से कुटुम्ब को कुछ नये तरह की परेशानियाँ हो सकती हैं, कुछ नये अनुभव हो सकते हैं अतः इन अनुभवों व परेशानियों से सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक होता है जिसके अन्तर्गत् परिवर्तन कुटुम्ब के सभी सदस्यों के व्यवहार में आना चाहिए और परिवार को परिवर्तित व्यवहार के तरीकों, संचार के ढंग व सम्बन्धों के साथ तालमेल स्थापित करने की आदत विकसित करनी चाहिए। कार्यकर्ता को परिवार में इस प्रकार का वातावरण स्थापित करना चाहिये जिससे वह परिवर्तनपूर्ण व्यवहार का अधिक अच्छा अनुभव कर सके।

परिवार समाजकार्य का यह चरण पाँचवें व छठें सत्र का काल होता है जिसके अन्तर्गत् कुटुम्ब के सदस्यों में नयी सम्बन्ध-संविदा करने का प्रयास किया जाता है व व्यक्तियों की भूमिका में भी परिवर्तन अपेक्षित होता है। इसको सम्भव बनाने के लिये कार्यकर्ता को निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—

1. वर्तमान सेवा-संविदा को आगे बढ़ाना,
2. एक नयी सेवा-संविदा सम्पन्न करना,
3. कुटुम्ब को पुनर्संरचना के बारे में बताना,
4. पहले की सेवाओं को जारी रखना व
5. विश्लेषण व संदेश देना।

अनुरक्षण व समापन :

परिवार सेवा कार्य का सघन कार्यक्रम संगठन के चरण में ही समाप्त हो जाता है। फिर भी जीवन के तूफानी दौर में बदले हुए व्यवहार के ढंग शीघ्र ही प्रभावित हो जाते हैं जिनको ठीक करने के लिये अनुवर्ती साक्षात्कार आवश्यक होता है जो चार या छः सप्ताह के अन्दर सम्पादित किया जाना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो द्वितीय अनुवर्ती साक्षात्कार इतने ही अन्तराल के बाद करना चाहिये। इसी के दौरान कार्यकर्ता यह भी जानकारी प्राप्त करता है कि नये व्यवहार का अनुरक्षण व सम्पादन परिवार के सदस्य किस सीमा तक कर रहे हैं तथा अब उनमें आपसी सामंजस्य कैसा है। अनुवर्ती साक्षात्कारों के दौरान इन सभी बातों पर पूर्ण विचार किया जाता है तथा यदि आवश्यक होता है तो पुनः परिवर्तन का परामर्श दिया जाता है। समस्या का समापन किस प्रकार किया जायेगा, यह अनुवर्ती बातचीत व अनुभवों पर निर्भर करता है।

समापन में समस्यायें :

यद्यपि ज्यादातर परिवार कार्यक्रम आकस्मिक रूप से समाप्त हो जाते हैं तथापि कुछ ऐसे होते हैं जिनमें समाप्ति के समय समस्या हो जाती हैं। अतः सामाजिक कार्यकर्ता के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह ऐसी स्थितियों का प्रबन्ध प्रारम्भसे ही करे। व्यवहार रूप में अधिकांश परिवार सेवाकार्यकर्ता समापन की समस्याओं से निपटने में हिचकते हैं। मुख्य समस्यायें अलगाव, स्वतन्त्रता व बचे हुये कार्यों को लेकर होती हैं। समापन के चरण की मुख्य समस्यायें निम्नलिखित हैं :—

1. कार्यकर्ता की चितायें :

कार्यकर्ता की चिंता होती है कि समस्या के समापन के उपरान्त उसे विस्तार से प्रशासनिक व आर्थिक पहलुओं पर प्रतिवेदन देना होगा। इसी डर से अक्सर कार्यकर्ता समस्या को ज्यादा समय तक खींचते रहते हैं। सामाजिक कार्यकर्ताओं के मतानुसार समापन सर्वाधिक कष्टसाध्य व कठिन प्रक्रिया है, इसमें भावनात्मक व मानसिक तनाव भी होता है।

2. परिवार की चितायें :

परिवार के कुछ सदस्य समापन के उपरान्त पुनः वही असमता विकसित कर सकते हैं जिनका शिकार वे पहले थे। जैसे-जैसे समापन की तारीख निकट आती जाती है परिवार में चिंता व तनाव बढ़ता जाता है और वे उनसे पुराने व्यवहार के तरीकों से सामंजस्य स्थापित करना प्रारम्भ कर सकते हैं। कार्यकर्ता को ऐसी कष्टपूर्ण प्रक्रियाओं के बारे में पहले से तैयार रहना चाहिये।

मुख्य सुविधा :

कभी-कभी सभी प्रयासों के बावजूद समापन के समय सेवा-संविदा में वर्णित उद्देश्य प्राप्त नहीं हो पाते। कुटुम्ब यह अच्छी तरह से विचार करें कि कार्य क्यों नहीं पूर्ण हो पाया तथा उसके पश्चात् ही कोई अग्रिम कार्यवाही सुनिश्चित करनी चाहिये।

समापन के लिये सुझाव :

1. यदि सम्भव हो तो कुटुम्ब को प्रारम्भ से ही इस बात के लिये तैयार करना चाहिये कि समापन लगभग कब या कितने समय बाद होगा।

2. समापन के विषय में समय से कुटुम्ब के सदस्यों के साथ विचार-विमर्श करना चाहिये जिससे वे चिन्ताजनक कार्यों को पूरा कर सकें।

3. कार्यकर्ता को समापन की बात पर परिवार द्वारा व्यक्त प्रतिक्रियाओं का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना चाहिये और कष्टपूर्ण प्रतिक्रियाओं को दूर करने का प्रयास समय से करना चाहिये।

4. कुटुम्ब की समस्याओं का सामना करने की क्षमता का आंकलन करना और कुटुम्ब को नई समस्याओं से निपटने के लिये युक्तिपूर्ण सुझाव देना चाहिये।

5. प्रत्येक सदस्य से उसकी उपलब्धियों एवं क्षमताओं के बारे में बात करना।

6. कार्यकर्ता को परिवार के उत्थान में स्वयं के सहयोग को ज्यादा अहमियत नहीं देनी चाहिये और कुटुम्ब की क्षमताओं व प्रयासों को इसके लिये श्रेय देना चाहिये।

7. कुटुम्ब को विश्वास दिलाना चाहिये कि भविष्य में जब कभी उसे आवश्यकता हो तो संस्था के द्वार उसके लिये खुले हैं।

8. यदि कुटुम्ब का वातावरण अच्छा है तो कार्यकर्ता को परिवार के साथ कुछ वक्त बिताना चाहिये।

9. अन्त में प्रत्येक सदस्य से प्यार सहित बिदा लेनी चाहिये।

●

अध्याय—7

बाल कल्याण

देश के बच्चे ही उसकी सबसे बड़ी पूँजी होते हैं। किसी भी देश का भावी कल्याण उसके बच्चों के स्वास्थ्य एवं कल्याण पर निर्भर करता है तथा इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें अपने विकास के कैसे अवसर उपलब्ध हैं। विश्वभर में इस बात की चेतना जागृत हो चुकी है कि बच्चे ही प्रगति और समृद्धि के स्तम्भ हैं तथा भौतिक विकास पर पूँजी लगाने के साथ-साथ मानव संसाधनों के विकास पर भी पूँजी लगाने की आवश्यकता है। मानव संसाधनों के विकास में सबसे पहले माँ और शिशु का स्थान आता है। इसलिये विकास-वादी योजनाओं और उन पर आधारित कार्यक्रमों का लाभ यदि बच्चों और माताओं को नहीं पहुँचेगा तो मानव संसाधन विकास के उद्देश्य पूरे नहीं हो सकते। इसीलिए भारतवर्ष में प्रथम योजना से ही बाल कल्याण एवं बाल विकास पर बल दिया गया तथा अनेकानेक योजनायें समयबद्ध तरीके से कार्यान्वित की गयीं। लेकिन इन प्रयासों के बावजूद भी बाल विकास के क्षेत्र में अनेक विकट समस्यायें अभी भी विद्यमान हैं।

भारत की जनसंख्या में बच्चों का प्रतिशत 40 है। 1981 की जनगणना में 0-14 वर्ष के आयु समूह में बच्चों की जनसंख्या 29.2 करोड़ है। बच्चों की इस जनसंख्या में लगभग 1/3 सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से निर्बल तथा शोषित हैं। 1986 में शिशु मृत्यु दर (प्रति हजार जीवित जन्म में) 96 थी। 1987 में एक वर्ष के नीचे शिशु मृत्यु दर 100 थी, 5 वर्ष से नीचे मृत्यु दर 152 थी तथा प्रतिवर्ष जन्म की संख्या 26783000 तथा 0-4 वर्ष के आयु समूह में शिशु एवं बाल मृत्यु की संख्या 4080000 थी (यूनिसेफ 1989)। भारत में 1984 में 0-4, 5-9 तथा 10-14 वर्ष के आयु समूहों में पाये जाने वाले बच्चों में मृत्युदर कमश: 41.2, 4.1 तथा 1.8 थी। 1984 में 0-4, 5-9 तथा 10-14 वर्ष के आयु समूहों में बालिका मृत्यु दर क्रमशः 43.0, 4.6 तथा 2.0 थी जबकि बालक मृत्यु दर क्रमशः 39.5, 3.5 तथा 1.6 थी।

बच्चों को विशेष रूप से होने वाली कुछ बीमारियों के कारण होने वाली बाल मृत्यु का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि 1982 से लेकर 1986

तक के विभिन्न वर्षों में सबसे अधिक बाल मृत्यु अपरिपक्वता के कारण हुई हैं। नवजात शिशु को सांस लेने में कठिनाई थी, अतिसार तथा कुपोषण भी बाल मृत्यु के उल्लेखनीय कारण रहे हैं।

यद्यपि बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयासों के परिणामस्वरूप पर्याप्त एवं अनवरत प्रगति हुई है फिर भी 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की संवैधानिक वचनबद्धता को अब तक पूरा नहीं किया जा सका है। खराब आर्थिक स्थिति के कारण बच्चों का एक बहुत बड़ा भाग बाल श्रमिक के रूप में कार्य कर रहा है। यह बड़े दुःख की बात है कि अनेक अधिनियमों के अन्तर्गत् बच्चों के शोषण के सम्बन्ध में विशेष प्राविधान किये जाने के बावजूद भी बच्चों का शोषण एवं दुरुपयोग हो रहा है। आज भी अनेक बच्चे उद्योगों, व्यवसायों तथा घरेलू कार्यों मे बहुत ही कम मजदूरी पर काफी लम्बी अवधि तक खतरनाक कार्यों सहित अनेक प्रकार के कार्यों में लगे हुये हैं। भारतीय विधि संस्थान के अनुसार भारत में 250 से अधिक संघ तथा राज्यों के विधान हैं जो बच्चों के कल्याण के लिये कार्यरत् हैं लेकिन भारतीय बाल कल्याण परिषद् का मत है कि इनमें से अधिकांश विधान कार्यान्वयन के स्तर पर असफल हैं। लाखों बच्चे गरीबी, भुखमरी, शोषण तथा अन्याय के शिकार हैं। घर की आर्थिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने से उन्हें कठिन परिस्थितियों में काम करने के लिये बाध्य किया जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत में 165 से 175 मिलियन बच्चे विभिन्न संगठनों में कार्यरत् हैं। इसके अतिरिक्त 4 मिलियन बच्चे संगठित क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं।

बाल कल्याण का अर्थ एवं परिभाषा :

बाल कल्याण की अवधारणा में दो प्रकार की विचारधारायें हैं। एक विचारधारा के अनुसार बाल कल्याण का तात्पर्य उन बालकों के कल्याण के लिए सेवाओं के आयोजन से है जो अपनी व्यक्तिगत् कठिनाइयों, समस्याओं, परिस्थितियों तथा घटनाओं के कारण अपना समुचित विकास नहीं कर सकते हैं। असहाय, उपेक्षित, निर्धन, बीमार, विकलांग, मन्दित, अपराधी आदि बच्चों के लिए जो सेवायें प्रदान की जाती हैं वे बाल कल्याण सेवायें हैं। दूसरी विचारधारा के अनुसार बाल कल्याण न केवल उन बालकों को सहायता और विकास के अवसर उपलब्ध कराता है जो असामान्य तथा असमायोजित हैं बल्कि उन बच्चों को भी सम्पूर्ण विकास के साधन एवं सेवायें उपलब्ध कराता है जो सामान्य हैं। बाल कल्याण की यह विचारधारा ही सर्वमान्य है।

फ्रेडरिक्सन के अनुसार

बाल कल्याण में एक 'अकार्डियन' (एक प्रकार का वाद्य) के समान गुण हैं। कुछ लोगों के लिये इसका अर्थ एक संकुचित क्षेत्र वाली क्रिया से है : जैसे बाल स्वास्थ्य। लेकिन इस क्षेत्र में कार्यरत् कार्यकर्ताओं के लिये इसका अर्थ बाल जीवन का कोई भी पक्ष जो उसकी वृद्धि और उचित विकास से सम्बन्धित है, बाल कल्याण से सम्बन्धित है। इसका तात्पर्य बालक के शारीरिक स्वास्थ्य, उसके सामाजिक, बौद्धिक तथा सांवेगिक विकास से है।

डेविड फैन्शेल के अनुसार विस्तृत रूप में 'बाल कल्याण' शब्द विभिन्न प्रकार के राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तर पर प्रयत्नों को सन्दर्भित करता है जो बच्चों के स्वास्थ्य विकास के लिये संरचित किये जाते हैं।

फ्रेडडेल्ली क्वाडरी के अनुसार बाल कल्याण का तात्पर्य उन क्रियाओं से है जो सार्वजनिक अथवा वैयक्तिक संस्थाओं के माध्यम से आलम्बनात्मक, संरक्षणात्मक तथा पूरक सहायता तन्त्रों एवं सेवाओं द्वारा राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तर पर बालकों तथा युवकों की भलाई का वर्धन करती हैं।

भारतीय योजना आयोग ने बाल कल्याण का अर्थ बालक के सम्पूर्ण कल्याण से लगाया है। इसके अन्तर्गत् वे सम्पूर्ण आर्थिक, प्रशासनिक, प्राविधिक, शैक्षिक और सामाजिक प्रयत्न आते हैं जिनका उद्देश्य प्रत्येक बालक को विकास एवं वृद्धि के समान अवसर प्रदान करना है।

बाल कल्याण के उद्देश्य :

बाल कल्याण के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(अ) बालकों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा उनके विकास के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध कराना;

(आ) शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक, शैक्षिक एवं व्यावहारिक विकास के लिये सेवाओं का आयोजन करना;

(इ) कमजोर एवं पिछड़े बालकों को सुरक्षा प्रदान करना जिससे उनका विकास अवरुद्ध न हो और वे स्वस्थ व्यक्तित्व विकसित कर सकें;

(ई) ऐसे बच्चों के लिये जो अपनी व्यक्तिगत् परिस्थितियों के साथ सामंजस्य में कठिनाई अनुभव कर रहे हैं, विशेष प्रकार की सेवायें आयोजित करना;

(उ) शारीरिक, संवेगात्मक, मानसिक तथा सामाजिक रूप से बाधिक बच्चों की चिकित्सा व्यवस्था एवं पुनर्वास का प्रबन्ध करना;

(ऊ) रोगों से बचाव करना तथा स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध कराना तथा

(ए) आत्मनिर्भरता विकसित करना ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बाल कल्याण का उद्देश्य उन सेवाओं को उपलब्ध कराना है जिनसे सामान्य बच्चों तथा समस्याग्रस्त बच्चों विशेष रूप से पिछड़े एवं कमजोर वर्ग के बच्चों का समुचित विकास हो सके तथा विकलांग एवं उपेक्षित बच्चों का पुनर्वास सम्भव हो सके ।

बाल कल्याण का क्षेत्र :

बाल कल्याण के 5 बृहद् क्षेत्र हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की सेवाओं का आयोजन किया जाता है :

(1) उपचारात्मक सेवायें
(2) सुधारात्मक सेवायें
(3) पुनर्वास सम्बन्धी सेवायें
(4) निरोधात्मक सेवायें
(5) विकासात्मक सेवायें ।

चिकित्सात्मक क्षेत्र में चिकित्सा सम्बन्धी सेवायें, जैसे अस्पताल, डिस्पेन्सरी, क्लीनिक, बाल मार्गदर्शन केन्द्र, मनोसामाजिक एवं मानसिक रोग से सम्बन्धित सेवायें, अपंग एवं निर्योग्य व्यक्तियों के लिये चिकित्सा सेवायें, उपलब्ध करायी जाती हैं । अपराधी एवं उपेक्षित बालकों के लिये सुधारात्मक सेवायें जैसे शिशु गृह, बाल गृह, विशेष गृह, सम्प्रेक्षण गृह आदि संस्थागत् सुविधायें प्रदान की जाती हैं । शारीरिक दृष्टि से विकलांग, दृष्टि विहीन, मानसिक रूप से मंदित, बधिर तथा मूक बच्चों को पुनर्वास सेवायें प्रदान की जाती हैं । बच्चों का शोषण एवं दुरुपयोग न हो, इसके लिये अनेक कानून एवं अधिनियम बनाये गये हैं जिनका पालन करना व्यक्तियों के लिये आवश्यक है । इसके अतिरिक्त शिक्षा सेवायें, प्रशिक्षण सेवायें, रोग निरोधक सेवायें प्रदान की जाती हैं । गरीब बच्चों को अपने पूर्ण विकास के लिये विशेष सहायता, पोषण सुविधा या गोद लेने की सेवाओं का आयोजन किया जाता है । समाज में रहने वाले प्रत्येक बच्चों को उसके सामान्य विकास की दृष्टि से शिक्षा सम्बन्धी सेवायें, स्वास्थ्य सेवायें, मनोरंजन, खेलकूद, आदि कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं और सेवायें प्रदान की जाती हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि सामान्य तथा सामाजिक आर्थिक रूप से पिछड़े व विकलांग सभी प्रकार के बच्चों को सेवायें प्रदान करने का प्रावधान किया गया है ।

भारत में बाल कल्याण सेवाओं का विकास :

परम्परागत रूप से बच्चों के भरण-पोषण, देख-रेख एवं संरक्षण का उत्तरदायित्व परिवार का रहा है। उनकी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में परिवार की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है क्योंकि वह प्रेम और सद्भावना का स्रोत है। परिवार की संरचना और पृष्ठभूमि में उसका पालन-पोषण, सांस्कृतिक संरक्षण और विकास की आधारशिला रखी जाती है। परन्तु आधुनिक समय में सामाजिक परिवर्तन, औद्योगीकरण और नगरीकरण ने जटिल सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया है और परिवार की संरचना और भूमिका को परिवर्तित कर दिया है। आज ऐसे व्यवस्थित प्रयासों की अत्यन्त आवश्यकता है जो बालकों के सर्वांगीण विकास में योगदान कर सकें। बाल कल्याण इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामाजिक सुधार आन्दोलनों का बोलबाला रहा। इन आन्दोलनों के साथ-साथ बाल कल्याण के लिये स्वैच्छिक संस्थाओं का भी उदय हुआ। इन बाल कल्याण संस्थाओं में 'बालकन-जी-बारी' संस्था की आधारशिला 1926 में रखी गयी। सन् 1927 में 'चिल्ड्रेन एड सोसाइटी' स्थापित की गयी। बिहार में 1942 में 'किशोर दल' तथा उत्तर प्रदेश में 1946 में 'नन्हीं दुनियाँ' संगठन बने। बच्चों के लिये वैधानिक प्रयत्नों में 1850 में एपरेन्टिसेस ऐक्ट तथा 1876 में रिफारमेटरी स्कूल ऐक्ट बनाया गया जिसका संशोधन 1897 में किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बच्चों के अधिकारों को सुरक्षित रखने तथा कल्याणकारी कार्यों के लिये संविधान में प्राविधान किये गये तथा नये कार्यक्रमों को लागू किया गया। पंचवर्षीय योजनाओं में बाल कल्याण को प्राथमिकता दी गयी।

बच्चों के संरक्षण का संवैधानिक प्राविधान :

भारतीय संविधान में बच्चों के अधिकार और कल्याण को विशेष मान्यता एवं महत्त्व प्रदान किया गया है। बच्चों के सन्दर्भ में भारतीय संविधान में दी गयी धाराओं का संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है :—

1. संविधान के अनुच्छेद 15(3) में कहा गया है कि राज्य को महिलाओं और बच्चों के लिये विशेष प्राविधान बनाने का अधिकार है।
2. अनुच्छेद 17 के अन्तर्गत् अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है तथा किसी भी प्रकार से इसका अभ्यास वर्जित है।

3. अनुच्छेद 24 के अनुसार 14 वर्ष की आयु से कम की आयु के बच्चों को किसी कारखाने अथवा खान अथवा जोखिम वाले कार्य में लगाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है ।

4. संविधान के चौथे भाग के नीति-निर्देशक तत्त्वों के अन्तर्गत् अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि राज्य अपने उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों और महिलाओं के स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान देगा तथा दृष्टि रखेगा कि कम आयु के बच्चों का दुरुपयोग न हो। राज्य यह भी देखेगा कि व्यक्तियों को आर्थिक कठिनाइयों के कारण ऐसे उद्योग या काम न करने पड़ें जो व्यक्तियों की शक्ति व आयु के उपयुक्त न हों ।

5. अनुच्छेद 39 (एफ) जिसे 42वें संशोधन अधिनियम 1976 के फलस्वरूप जोड़ा गया है, में भी बच्चों को स्वस्थ एवं मुक्त वातावरण में अपने विकास के अवसर प्रदान करने की बात कही गयी है। राज्य पर यह भी देखने का उत्तरदायित्व है कि बच्चों और युवकों का शोषण न हो रहा हो और वे किसी प्रकार के भौतिक या नैतिक विपदाओं में न हों ।

6. अनुच्छेद 45 के अनुसार इस संविधान के लागू होने के 10 वर्ष के अन्दर राज्य 14 वर्ष तक की आयु तक के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने का प्रबन्ध करेगा ।

7. अनुच्छेद 42, 46, 47 में राज्य को निर्देश दिया गया है कि वह मातृत्व सहायता और कमजोर वर्गों के लोगों को शैक्षिक एवं आर्थिक उन्नति के अवसर प्रदान करे ।

बच्चों के कल्याण के सम्बन्ध में विधान :

बच्चों के कल्याण से सम्बन्धित 250 से भी अधिक कानून हैं जो बाल कल्याण के विभिन्न क्षेत्रों जैसे शिक्षा, श्रम, रोजगार, शारीरिक एवं मानसिक शोषण और कानूनी सुरक्षा आदि से सम्बन्धित हैं। इन सभी कानूनों को 5 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(1) बच्चों के सेवायोजन सम्बन्धी कानून,
(2) बाल कल्याण सम्बन्धी कानून,
(3) आपराधिक कानून,
(4) पारिवारिक कानून,
(5) संविदा तथा टार्ट ।

बच्चों का सेवायोजन :

बच्चों को सेवायोजन से रोकने के लिये कई अधिनियम पारित किये गये हैं क्योंकि बच्चों की शारीरिक एवं मानसिक दशायें कमजोर होती हैं, उन्हें उन क्रियाओं में लगाना आवश्यक होता है जिससे उनके व्यक्तित्व का विकास हो तथा उनकी शैक्षिक एवं बौद्धिक उन्नति हो। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों ने निश्चित आयु से नीचे के बच्चों को कार्य में लगाने के विरुद्ध कानून पारित किये हैं। ये कानून विशेष रूप से दूकानों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों, जल-पान गृहों, होटलों, कारखानों, आवागमन के कार्यों से सम्बन्धित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की संस्तुतियां बाल सेवायोजन के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से की गयी है। भारतीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन कन्वेन्शन मुख्य रूप से चार पक्षों पर अपना ध्यान देते हैं : (1) न्यूनतम आयु के बच्चों के सेवायोजन के लिये, (2) बच्चों का चिकित्सकीय परीक्षण, (3) कार्य के अधिकतम घण्टे, (4) बच्चों को रात्रि में काम करने पर निषेध।

कारखाना अधिनियम, 1948; खान अधिनियम, 1952; बच्चों का सेवायोजन अधिनियम, 1938; बच्चों के खतरनाक एवं संकटमय व्यवसायों में सेवायोजन से सम्बन्धित हैं। कारखाना अधिनियम के अनुसार 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को रोजगार में नहीं लगाया जा सकता है। उनसे साढ़े चार घण्टे से अधिक कार्य नहीं लिया जा सकता। काम के घण्टों के मध्य बाल श्रमिकों को एक घण्टे का अवकाश देने का अनिवार्य नियम है। बच्चे को 15 दिन कार्य करने के पश्चात् एक दिन के सवेतन अवकाश की व्यवस्था की गयी है। रात्रि पालियों में भी बाल श्रमिकों को कार्य में नहीं लगाया जा सकता है। खान अधिनियम के द्वारा बच्चों को खानों में काम करने के लिये नहीं लगाया जा सकता है। बाल सेवायोजन अधिनियम के अनुसार रेलवे यातायात तथा बन्दरगाह में सामान चढ़ाने-उतारने के काम में 15 से कम आयु के बच्चों को नहीं लगाया जा सकता है। इसी प्रकार बीड़ी, कालीन, सीमेन्ट, चमड़ा इत्यादि उद्योगों में 12 वर्ष से कम आयु वाले बालकों को रोजगार में नहीं लगाया जा सकता है। इन अधिनियमों के अतिरिक्त मरचैन्ट शिपिंग ऐक्ट, 1958, मोटर ट्रान्सपोर्ट वर्कर्स ऐक्ट, 1951, प्लान्टेशन्स लेबर ऐक्ट, 1951, बीड़ी तथा सिगार वर्कर्स ऐक्ट, 1966 तथा दूकान एवं वाणिज्य संस्थान ऐक्ट प्रमुख हैं जो बच्चों के सेवायोजन सम्बन्धी नियमों का उल्लेख करते हैं।

बाल कल्याण सम्बन्धी विधान :

विस्तृत अर्थ में बाल कल्याण का तात्पर्य उन सभी तरीकों से है जिससे

बच्चों का उचित एवं सामान्य शारीरिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक विकास सम्भव होता है। बहुत-सी कल्याण सेवाओं, जैसे पोषण कार्यक्रम तथा बाल विकास सेवाओं के लिये कानून की आवश्यकता नहीं होती है। कानून की आवश्यकता वहाँ होती है जब प्रशासन को बच्चों के हित के लिये विशेष कार्य करने होते हैं। बाल कल्याण के क्षेत्र में विधान मुख्य रूप से उपेक्षित, बाधित, शोषित, अपराधी बच्चों के सुधार तथा उपचार एवं शिक्षा तथा स्वास्थ्य से सम्बन्धित हैं।

उपेक्षित बाल अपचारी बच्चों की देख-रेख, सुरक्षा, कल्याण, प्रशिक्षण, शिक्षा तथा पुनर्वास के लिये सन् 1960 में केन्द्रीय बाल अधिनियम बनाया गया जिसमें कुछ परिवर्तन कर सन् 1986 में बाल न्याय अधिनियम नाम दिया गया। यह अधिनियम भारत के सभी प्रान्तों में, जम्मू व कश्मीर के अतिरिक्त, लागू है। इस अधिनियम में उपेक्षित तथा अपचारी बच्चे में स्पष्ट अन्तर किया गया है। 'उपेक्षित बच्चा' वह है जो भीख माँगते पाया जाता है अथवा जिसके बारे में यह पाया जाता है कि उसका कोई घर या निश्चित निवास स्थान या जीवन-निर्वाह के दृश्यमान साधन नहीं हैं या जो निराश्रित पाया जाता है, चाहे वह अनाथ हो या नहीं अथवा जिसके माता-पिता या संरक्षक अयोग्य हैं या बच्चे की उचित देखरेख नहीं करते हैं और नियंत्रण नहीं रखते हैं अथवा वेश्यागृह में या वेश्या के साथ रहते हैं या बहुधा ऐसे स्थान पर जाते हैं जिसका वेश्यावृत्ति के लिये उपयोग किया जाता है या जिनके बारे में यह पाया जाता है कि वे वेश्या का या किसी अन्य व्यक्ति का संग करते हैं जो अनैतिक या दुराचारी जीवन व्यतीत करता है या जो अनैतिक व गैर कानूनी कार्यों के लिये शोषित किये जाते हैं। अधिनियम में बाल कल्याण बोर्ड की व्यवस्था की गयी है। इस बोर्ड में कम से कम एक महिला अवश्य होगी। यदि किसी पुलिस अफसर की या अन्य ऐसे व्यक्ति की जो प्रशासन के साधारण या विशेष आदेश द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किया गया हो, यह राय हो कि कोई दृश्यमानतः उपेक्षित बच्चा है तो ऐसा पुलिस अफसर या अन्य व्यक्ति बोर्ड के समक्ष उसे लाने के लिये अपने अधिकार में ले सकता है। अधीन लिया गया हर बच्चा उस स्थान से जहाँ उसको लिया गया हो, बोर्ड तक यात्रा के लिये आवश्यक समय को छोड़कर, 24 घन्टे की कालावधि में बोर्ड के समक्ष लाया जायेगा। अधीन लिया गया हर बच्चा, तब के सिवाय जब वह अपने माता-पिता या संरक्षक के साथ रखा जाये, सम्प्रेक्षण गृह में तब तक के लिये भेजा जायेगा जब तक वह बोर्ड के समक्ष न लाया जा सके।

बाल अपराधियों के लिये बाल न्यायालयों की व्यवस्था इस अधिनियम के अन्तगत् की गयी है जो बच्चों से सम्बन्धित अपराधों पर विचार करती है। बाल अपराधियों को विशेष गृहों में भेज दिया जाता है। उत्तर रक्षा सेवाओं का भी प्राविधान किया गया है। इस प्राविधान में उपेक्षित तथा अपचारी बच्चों को पृथक-पृथक रखने तथा उनसे निपटने की व्यवस्था की गयी है, पुलिस के हस्तक्षेप को कम किया गया है, बच्चे को जेल में नहीं रखा जा सकता है, साथ-ही-साथ पुनर्वासिन पर भी बल दिया गया है।

स्त्रियों तथा बालिकाओं के अनैतिक व्यापार को रोकने के लिये सन् 1923 में कलकत्ता अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम और बम्बई अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम पारित किये गये। उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मैसूर में क्रमशः 1923, 1925 तथा 1936 में ऐसे अधिनियम पारित किये गये। सन् 1956 में केन्द्र ने महिलाओं तथा बालिकाओं के अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम को पारित किया। सन् 1987 में इसे पुनः नये रूप में पारित किया गया। इस अधिनियम में इस व्यापार में लगे व्यक्तियों तथा उनसे सम्बन्धित लोगों को कड़ी सजा देने की व्यवस्था है। साथ ही साथ इन महिलाओं व बालिकाओं के पुनर्वासिन की व्यवस्था भी की गयी है। भिक्षावृत्ति को रोकने के लिये जिसमें बालक भी सम्मिलित हैं, प्रत्येक राज्य में भिक्षावृत्ति प्रतिरोध अधिनियम पारित किये गये हैं। उत्तर प्रदेश में 1975 में भिक्षावृत्ति प्रतिरोध अधिनियम पारित किया गया था। बच्चों में स्वास्थ्य सुधार के लिये टीकाकरण अनिवार्य कर दिया गया है। सन् 1980 में केन्द्रीय टीकाकरण अधिनियम पारित किया गया। धूम्रपान पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है।

आपराधिक कानून :

बच्चों के अपचारों से निपटने से सम्बन्धित पृथक रूप से व्यवस्था की गयी। भारतीय दण्ड संहिता तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता एवं बाल अधिनियम 1960 तथा बाल न्याय अधिनियम 1986 में विशेष रूप से इसकी व्यवस्था की गयी है। अनैतिक व्यापार निषेधक अधिनियम 1956 तथा 1987 में भी वैधानिक प्राविधान रखे गये हैं। भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार यदि कोई 7 वर्ष से कम आयु का बालक कोई आपराधिक कृत्य करता है तो उसे अपराध नहीं कहा जा सकता है। कोड के अनुसार 7 से 12 वर्ष की आयु के बच्चे, यदि उसमें परिपक्वता कम हो तो, के कृत्य को अपराध नहीं माना जायेगा। अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम के अनुसार कोई व्यक्ति यदि वेश्यालय चलाता है या उसमें सहायता करता है तो वह कठोर दण्ड का भागी है। भारतीय दण्ड संहिता के उपभाग 375 में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति 16 वर्ष से कम

आयु की बालिका से उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करता है तो वह बलात्कार करने का दोषी है ।

सन् 1929 में बाल विवाह निषेधक अधिनियम पारित किया गया जिसे 1978 में संशोधित किया गया । इस अधिनियम के अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष होनी चाहिये । इससे कम आयु पर विवाह करने पर दण्ड की व्यवस्था की गयी है । सी० आर० पी० सी० 1973 के सेक्शन 27 में कहा गया कि कोई व्यक्ति जिसकी आयु 16 वर्ष से कम है और जिसने ऐसा अपराध नहीं किया है जिसमें मृत्यु दण्ड या आजीवन कारावास हो, वह बाल न्यायालय में ही बाल अधिनियम के अन्तर्गत लाया जायेगा । इस प्रकार 16 वर्ष से कम आयु के अपराधी की बाल न्यायालयों में मुकदमे की सुनवाई होगी ।

अपचारी बच्चों की जमानत के सम्बन्ध में भी सहज नियम हैं । बाल न्याय अधिनियम 1987 की धारा 18 में कहा गया है कि अपचारी बच्चे को आवश्यक रूप से चाहे वह जमानत पर छोड़ने योग्य हो या न हो, जमानत पर रिहा कर दिया जायेगा । किन्तु इस प्रकार उसे तब छोड़ा जायेगा जब यह विश्वास करने के आधार तर्कयुक्त हों कि उसके छोड़े जाने से यह सम्भाव्य नहीं है कि उसका संग किसी कुख्यात अपराधी से होगा या वह नैतिक खतरे के लिये प्रच्छन्न होगा या उसके छोड़े जाने से न्याय के उद्देश्य विफल होंगे । जब तक उसे जमानत पर न छोड़ा जाये तब तक उसे पुलिस थाने तथा जेल में न रखने के स्थान पर प्रेक्षा-गृह में रखा जायेगा । बाल अपचारी को जेल की सजा नहीं दी जा सकती । उसे विशेष गृहों में भेजा जा सकता है, परिवीक्षा अधिकारी की निगरानी में रखा जा सकता है, माता-पिता या संरक्षक के संरक्षण में परिवीक्षा पर रखा जा सकता है, आर्थिक दण्ड दिया जा सकता है तथा किसी सुरक्षित स्थान पर रखा जा सकता है । 'युवा व्यक्ति हानिकारक प्रकाशन अधिनियम 1956' में उन 'प्रकाशनों पर प्रतिबन्ध लगाया गया है जिससे बच्चों को नैतिक या अन्य किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना है । बाल न्याय अधिनियम के अन्तर्गत् बच्चों के प्रति क्रूरता को अपराध माना गया है; उनका शोषण करना वर्जित है तथा भिक्षावृत्ति करवाना दण्डनीय अपराध है ।

परिवार कानून :

सन् 1955 में हिन्दू विवाह अधिनियम पारित किया गया । इसमें विवाह के समय लड़की की आयु 15 वर्ष तथा लड़के की आयु 18 वर्ष रखी गयी । अब इसमें शारदा अधिनियम (1929) जिसे 1978 में संशोधित किया गया

उसके अनुसार विवाह के समय लड़की की आयु 18 वर्ष तथा लड़के की आयु 21 वर्ष अवश्य हो। पारसी, क्रिश्चियन तथा मुस्लिम समुदायों में भी विवाह सम्बन्धी विधि का निर्माण किया गया। मुस्लिम विवाह अधिनियम 1938, भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम 1872, पारसी विवाह तथा तलाक अधिनियम 1936 में पारित किये गये। ये सभी अधिनियम बच्चों के विवाह, वैधता, संरक्षण, दत्तक तथा रख-रखाव से सम्बन्धित हैं। सभी अधिनियम बाल विवाहों को हतोत्साहित करते हैं। सन् 1954 में विशेष विवाह अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार किसी भी समुदाय से सम्बन्धित विवाह पक्ष परस्पर विवाह कर सकते हैं यदि लड़के की आयू 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष है।

बाल वैधता से सम्बन्धित प्रावधानों को सभी अधिनियमों में रखा गया है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 जो सभी समुदाय पर समान रूप से लागू होता है, बच्चे की वैधता स्पष्ट करता है। इस अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार वैधता का आधार गर्भधारण न होकर जन्म से है। इस अधिनियम में कहा गया है कि यदि कोई बालक वैध विवाह के पश्चात् पैदा हुआ है या विवाह विच्छेद के 280 दिनों के अन्दर पैदा हुआ है तथा माँ बिना विवाह के है तो वह बालक उसी व्यक्ति का समझा जायेगा जिसके साथ उसकी माँ का विवाह हुआ था। लेकिन ऐसा साक्ष्य है कि यदि पति-पत्नी में कोई शारीरिक सम्बन्ध नहीं हुआ है तो यह प्रावधान नहीं लागू होगा। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के अनुसार वे सभी बच्चे वैध हैं जो विवाह के पश्चात् हुए हैं; विवाह चाहे न्यायालय में दर्ज हो या न हो। हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार वैध बच्चे अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। अवैध बालक हिन्दू तथामुस्लिम दोनों कानूनों में केवल माता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है, पिता का नहीं। भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 1925, जो क्रिश्चियन तथा ज्यूस तथा विशेष विवाह अधिनियम 1954 के अन्तर्गत् आने वाले सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है, के अनुसार अवैध बालक को अपने माता-पिता के उत्तराधिकार का कोई अधिकार नहीं है। हिन्दू दत्तक एवं रख-रखाव अधिनियम 1956 में पारित किया गया। इसके साथ ही साथ नाबालिगी तथा अभिभावकता अधिनियम पारित किया गया। इसके अनुसार बालक की रक्षा का भार माता-पिता दोनों पर है।

भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 के अनुसार नाबालिग द्वारा किया गया समझौता या संविदा अमान्य है। लेकिन यदि वह आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में रख-रखाव के सम्बन्ध में किया गया है तो वह मान्य होगा। इस अधि-

नियम के अनुसार सेवा सम्बन्धी किया गया संविदा चाहे वह उसके लिए लाभदायक ही क्यों न हो, अमान्य हैं।

बच्चों की आवश्यकतायें :

किसी भी देश का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह देश बच्चों के विकास के क्या उपाय कर रहा है। हमारा यह परम् कर्तव्य है कि हम बच्चों के समुचित एवं स्वस्थ विकास हेतु वह सब कुछ समर्पित कर दें जो हमारे पास उपलब्ध है क्योंकि बच्चों की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति पर निवेश विकास का एक लाभ नहीं बल्कि स्वयं विकास का साध्य तथा साधन होगा। बच्चों की विभिन्न आवश्यकताओं को विस्तृत रूप में चार वर्गों में बाँटा जा सकता है : शारीरिक विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें (स्वास्थ्य एवं पोषण), मानसिक विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें (शिक्षा, मनोरंजन), संवेगात्मक विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें (निर्देशन, पर्यावरण) तथा पुनर्वासन सम्बन्धी आवश्यकतायें ।

1. शारीरिक विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें :

बच्चों की जीवन रक्षा और उनके शारीरिक विकास के लिये अधोलिखित कार्यों का किया जाना अति आवश्यक है : (1) उचित एवं पौष्टिक भोजन, (2) बीमारियों से रोकथाम, विशेषकर टीकाकरण, (3) अतिसार की रोकथाम व बचाव, (4) पेयजल की व्यवस्था, (5) स्वच्छ वातावरण। सामान्य बच्चों का पहले वर्ष विकास बहुत तेजी से होता है लेकिन आवश्यक पोषक तत्वों की कमी से साधारणतः यह विकास अवरुद्ध हो जाता है जिसका नमूना भारत के बच्चों को देखने से मिलता है। बड़े खेद की बात है कि भारत के मात्र आधे से भी कम बच्चोंको ही आवश्यक न्यूनतम पोषण और चिकित्सकीय सुविधायें प्राप्त हैं। बाल मृत्यु दर बच्चों के स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण संकेतक हैं। बाल मृत्यु दर का राष्ट्रीय औसत 122 प्रति हजार है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह संख्या कहीं अधिक है। उत्तर प्रदेश में बालिका शिशु मृत्यु दर 194 तथा बालकों की मृत्यु दर 161 है। प्रायः आँकड़ों से ज्ञात होता है कि बालिका शिशु की देख-रेख में माता-पिता उदासीन रहते हैं। अतः जहाँ एक ओर पुष्ट भोजन प्राप्त हो वहीं दूसरी ओर आवश्यक है कि बालक-बालिका में लालन-पालन की दृष्टि से अन्तर भी न हो। स्वस्थ रखने के लिये बच्चों को छः जानलेवा बीमारियों से बचाना जरूरी है। प्रतिरक्षण (टीकाकरण) इसका एकमात्र उपाय है। पोलियो, तपेदिक, डिप्थीरिया, काली खाँसी, खसरा, टिटेनस से बचाव के लिये एक साल का होने के पूर्व ही सब टीके लगवाना आवश्यक है।

अतिसार और दस्त एक अन्य जानलेवा बीमारी हैं। अनुमान है कि एक से चार वर्ष तक के बच्चों में 30.5 प्रतिशत मौतें आँतों की गड़बड़ी के कारण होती हैं। 0 से 3 वर्ष की आयु वाले 10000 शिशुओं में से 500 शिशु दस्त से पीड़ित रहते हैं। अनुमान है कि 5 वर्ष से कम आयु के 1.5 लाख बच्चे प्रतिवर्ष दस्त के कारण शरीर का पानी सूखने से मर जाते हैं। विटामिन 'ए' की कमी से 30,000 बच्चे प्रतिवर्ष अन्धे हो जाते हैं। अतः आवश्यक है कि सरकारी स्तर पर ऐसे प्रयास किये जायें जिनसे बच्चों का सामान्य विकास सम्भव हो सके।

2. मानसिक विकास सम्बन्धी सेवायें :

बच्चों का मानसिक विकास शिक्षा पर निर्भर है लेकिन अनेक प्रयासों के होने पर भी ऐसा अनुमान किया गया है कि हमारे देश में प्रति 100 बच्चों में से, जो पहली कक्षा में भर्ती होते हैं, केवल 23 बच्चे ही आठवीं कक्षा तक पहुँच पाते हैं। शेष बच्चे तो नाम को थोड़ा बहुत पढ़ लेते हैं या फिर देश की अनपढ़ों की संख्या में वृद्धि करते हैं। विश्व बैंक के अनुमान के अनुसार सन् 2000 ई० तक विश्व की अनपढ़ आबादी की सर्वाधिक भीड़ भारत में होगी। उस वर्ष 15 से 19 आयु वर्ग में विश्व की कुल अनपढ़ आबादी का 54.8 प्रतिशत भाग भारत में होगा। 1981 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता की दर क्रमशः 21.38 और 16.35 प्रतिशत है और गैर अनुसूचित आबादी में यह अनुपात 41.20 प्रतिशत है। स्त्रियों की साक्षरता की दर क्रमशः 10.93, 8.04 और 29.43 प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त विकलांग, उपेक्षित, मानसिक रूप से मंदित बच्चों के लिये बहुत ही कम सुविधायें उपलब्ध हैं। मनोरंजनात्मक सेवाओं का भी विकास आवश्यकता के अनुरूप नहीं हो पाया है जिसके कारण वे कुसंगति का शिकार हो रहे हैं।

3. संवेगात्मक विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें :

एक क्रियाशील और समायोजित व्यक्ति बनने के लिये आवश्यक है कि बच्चे स्वस्थ एवं सुखी जीवन व्यतीत करें। जिस प्रकार स्वस्थ शारीरिक विकास के लिये प्रोटीन और विटामिन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बच्चों के स्वस्थ सांवेगिक विकास के लिये अच्छे बाल-अभिभावक सम्बन्धों की आवश्यकता होती है, खराब बाल-अभिभावक सम्बन्ध उस समय उत्पन्न होते हैं जब अभिभावक के द्वारा बच्चों की उपेक्षा की जाती है या उन्हें तिरस्कृत किया जाता है। इन कारणों से बच्चे सांवेगिक रूप से परिपक्व नहीं हो पाते हैं। बच्चे के

उचित सांवेगिक विकास के लिये आवश्यक है कि उसकी देखभाल करने वाले जानकार लोग हों। उदाहरण के लिये यदि बच्चों से कोई बातचीत करने वाला नहीं होगा तो वह अपने संवेगों को व्यक्त करना नहीं सीख सकेगा। यह वैयक्तीकरण की स्थिति उसे उसके सम्पर्क में रखने वाले माता-पिता, परिवारजन, सम्बन्धी, साथी एवं गुरुजनों से प्राप्त होती है।

4. संरक्षण एवं पुनर्वासन सम्बन्धी आवश्यकतायें :

बच्चों के शोषण एवं दुरुपयोग की समस्या वर्तमान औद्योगिक समाज में विकराल रूप धारण कर रही है। अनेक विधानों एवं प्रावधानों का उल्लंघन करके खेतों, होटलों, जलपान गृहों, दुकानों, सिनेमाघरों तथा अन्य संगठनों में बहुत कठिन परिस्थितियों में काम करने के लिये उन्हें बाध्य किया जाता है। इसके भयंकर परिणाम होते हैं। डेविड गिल ने अपने अध्ययन में पाया कि 30 से 40 प्रतिशत बाल दुरुपयोग के मामलों में किसी-न-किसी प्रकार की शारीरिक या सांवेगिक निर्योग्यता उत्पन्न हो जाती है।[1] एलिजाबेथ ने अपने अध्ययन में पाया कि राज्य संस्थाओं द्वारा मूल्यांकन किये गये दुरुप्रयुक्त बच्चों में से 15 प्रतिशत बच्चे 4 वर्ष के भीतर ही मर गये तथा शेष बच्चों में स्थायी हानि देखने को मिली।[2] सायमण्ड्स ने उपेक्षित बालकों के अध्ययन में पाया कि ये बालक सांवेगिक रूप से अस्थिर, बेचैन, कठिनाई उत्पन्न करने वाले तथा सत्ता का विरोध करने वाले होते हैं; इसके अतिरिक्त वे मानसिक रोगों का भी शिकार हो जाते हैं अतः इनके उचित पुनर्वासन की अत्यन्त आवश्यकता है।[3]

बच्चों के लिये सामाजिक सेवायें :

1. शिक्षा सेवायें :

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45 में यह व्यवस्था की गयी है कि 10 वर्ष के अन्तर्गत् राज्य 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिये अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेंगे। संविधान के अनुच्छेद 46 में यह व्यवस्था की गयी है कि राज्य समाज के कमजोर वर्गों, विशेषकर अनुसूचित

1. गिल डेविड, वायलेन्स अगेन्स्ट चिल्ड्रेन, हॉर्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1970, पृ० 204।
2. एलिजाबेथ ई०, चिल्ड्रेन इन जीयोपार्डी, यूनिवर्सिटी ऑफ पिट्सबर्ग, पिट्सबर्ग, 1967।
3. सायमण्ड पी०, दि साइकोलॉजी ऑफ पैरेन्ट-चाइल्ड रिलेशनशिप, एटलेटन, सेन्चुरी क्राफ्ट्स, न्यूयार्क, 1939, पृ० 217।

जाति व अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक एवं शैक्षिक हितों की उन्नति के लिए विशेष ध्यान देगा।

प्रारम्भिक शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने के लिये राष्ट्रीय अभियान पहली बार 1982 के दौरान प्रारम्भ किया गया। इस अभियान का उद्देश्य स्कूल प्रवेश के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना, स्कूलों में उपस्थिति पर नजर रखना, शिक्षकों की रिक्तियों को भरना तथा अनौपचारिक शिक्षा को लोकप्रिय बनाना था। बीच में ही स्कूल छोड़ देने वालों की दरों को कम करने पर विशेष बल दिया गया।

नि:शुल्क शिक्षा :

अनुच्छेद 45 में दिये गये संवैधानिक निर्देशों के अनुसार अधिकांश राज्यों तथा संघ शासित क्षेत्रों में सभी स्कूलों में चाहे वे सरकारी स्थानीय निकायों द्वारा चलाये जा रहे हों अथवा सहायता प्राप्त हों, प्राथमिक तथा मिडिल स्तर पर शिक्षा नि:शुल्क है। कुछ राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों ने ऐसे कानून बनाये हैं जिनके द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा नि:शुल्क तथा अनिवार्य हो गयी है, तथापि विद्यमान सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में ऐसे कानूनों की दण्ड विषयक धारायें अप्रभावी रही हैं।

प्रारम्भिक आयु के बच्चों के लिये औपचारिक अंशकालिक शिक्षा :

उन बच्चों को शैक्षिक सुविधायें प्रदान करने के लिये जो स्कूल नहीं जा सकते अथवा जिन्होंने किसी कारण स्कूल जाना छोड़ दिया है, यह कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

केवल लड़कियों के लिये अनौपचारिक केन्द्र :

लड़कियों के बारे में असन्तोषजनक स्थिति को देखते हुए नामांकन बढ़ाने के उद्देश्य से अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों की स्थापना की गयी है जहाँ केवल लड़कियों का नामांकन किया जाता है।

महिला शिक्षकों की नियुक्ति :

शैक्षिक रूप से पिछड़े राज्यों के ग्रामोण/पिछड़े/जनजातीय क्षेत्रों में प्राथमिक स्कूलों में महिला शिक्षकों की नियुक्ति का कार्य तेजी से किया जा रहा है।

विद्यालय पूर्व शिक्षा :

बीच में ही अध्ययन छोड़ देने वाले बच्चों की दर को कम करने तथा बच्चों को स्कूल में रखने में सुधार लाने के लिये एवं विशिष्ट नीति के

रूप में छठीं योजना में ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में स्कूल पूर्व शिक्षा कार्यक्रम चलाया जा रहा है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य बच्चों को प्राथमिक स्कूलों में प्रवेश के लिये तैयार करने हेतु उनकी सम्प्रेषण (भाषा) तथा ज्ञानात्मक (सामाजिक, भावात्मक, बौद्धिक एवं वैयक्तिक विकास) आदि दक्षताओं में सुधार करना है।

शिक्षकों के लिये राष्ट्रीय पुरस्कार :

शिक्षकों को राष्ट्रीय पुरस्कार देने की यह योजना, शिक्षकों की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा प्राथमिक, मिडिल, उच्च व उच्चतर स्कूलों में कार्यरत्, उत्कृष्ट शिक्षकों को उनकी प्रशंसनीय सेवाओं के लिये सार्वजनिक मान्यता प्रदान करने के उद्देश्य से चलायी जा रही है।

शैक्षिक प्रौद्योगिकी कार्यक्रम :

शैक्षिक प्रौद्योगिकी कार्यक्रम का उद्देश्य, शिक्षा में गुणात्मक सुधार करना तथा सभी शैक्षिक प्रौद्योगिकी के समेकित उपयोग द्वारा, जिसमें आकाशवाणी तथा दूरदर्शन भी सम्मिलित हैं, शिक्षा तथा उसकी व्यापक पहुँच को सुनिश्चित करना है।

स्कूलों में संगणक शिक्षा :

सभी राज्यों में सगणक शिक्षा के प्रसार का प्रयास किया जा रहा है।

नैतिक शिक्षा पर बल :

नैतिक मूल्यों में आयी गिरावट को ध्यान में रखते हुए शिक्षा के सभी स्तरों पर चरित्रोन्मुख अनुस्थापन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। नैतिक मूल्यों पर पाठ्यक्रम तैयार किया गया है तथा निर्देशिका तैयार की गयी है।

शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे स्वैच्छिक संगठनों को वित्तीय सहायता :

बाल शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत् विभिन्न स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान देने की व्यवस्था की गयो है। सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार के संगठनों के माध्यम से शिक्षा एवं नैतिक शिक्षा दी जाने के लिये विभिन्न कदम उठाये हैं।

विकलांगों के लिये शिक्षा :

विकलांगों के पुनर्वासन एवं शिक्षा हेतु अन्ध, बधिर, मूक, मानसिक मन्दित बालकों के लिये विशेष विद्यालय खोले गये हैं जहाँ शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण दोनों होता है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण परिषद् :

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण परिषद् की स्थापना 1 सितम्बर 1961 को की गयी थी। परिषद् का मुख्य उद्देश्य स्कूल शिक्षा के क्षेत्र में नीतियों तथा कार्यक्रमों को तैयार करने तथा कार्यान्वित करने में मानव संसाधन विकास मन्त्रालय को परामर्श देना और उसकी सहायता करना है। इसके अतिरिक्त इसका कार्य पाठ्यचर्या तैयार करना, परीक्षा प्रणाली में सुधार करना, प्रतिभा खोज के कार्यक्रम करना, शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान, विकास प्रक्षिक्षण तथा विस्तार कार्यक्रम प्रारम्भ करना और उनमें सहायता प्रदान करना है।

केन्द्रीय विद्यालय संगठन :

स्थानान्तरणीय केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों, साथ ही साथ रक्षा-कर्मियों के बच्चों के लिये सारे देश में शिक्षा की समान सुविधायें प्रदान करने के लिये एक ही पाठ्यक्रम तथा शिक्षा माध्यम वाले केन्द्रीय स्कूलों की परियोजना भारत सरकार द्वारा 1962 में चलायी गयी। केन्द्रीय विद्यालयों में 8वीं कक्षा तक की शिक्षा निःशुल्क है।

शैक्षिक उत्कृष्टता के अतिरिक्त केन्द्रीय विद्यालय संगठन छात्रों के व्यक्तित्व के चतुर्मुखी विकास के लिये खेलकूद तथा अन्य कार्यक्रमों पर बल देता है; स्कूलों में विभिन्न खेलकूद के कार्यक्रम क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर आयोजित किये जाते हैं। अधिकांश विद्यालयों में स्काउटों, गाइडों तथा स्वयं सेवकों के समूह बनाये गये हैं।

नयी शिक्षा नीति :

सन् 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में सुधार करके इसके अधीन कुछ कार्यक्रमों को व्यापक स्तर पर प्रारम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत् नवोदित विद्यालयों की स्थापना, श्यामपट्ट प्रचलन का प्रारम्भ, माध्यमिक स्तर तक बालिकाओं के लिये निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था, दूरस्थ या पत्राचार शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहन, राष्ट्रीय साक्षरता मिशन, अध्यापक दिशा निर्देशन कार्यक्रम के अन्तर्गत् अध्यापकों का प्रशिक्षण तथा राष्ट्रीय स्तर के प्रमुख पाठ्यक्रमों का निर्माण का कार्य सम्मिलित है।

नवोदय विद्यालय :

नवोदय विद्यालय की योजना के अधीन सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान प्रत्येक जिले में एक नवोदय विद्यालय स्थापित करने का प्रावधान है। इस दिशा

में 1986-87 से कार्य प्रारम्भ हुआ है। देश में अब तक 206 नवोदय विद्यालय स्थापित किये जा चुके हैं। ये विद्यालय केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड से सम्बद्ध हैं। इनमें कक्षा 6 से 12 तक की कक्षायें चलाने की व्यवस्था है। इन विद्यालयों में प्रवेश का आधार छात्रों की योग्यता है तथा इनमें प्रवेश परीक्षा के आधार पर होता है। इन विद्यालयों में भोजन, पहनने के कपड़े, पुस्तकें, लेखा सामग्री तथा आवास सुविधा सहित शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। ये विद्यालय सारे देश में विद्यालय सुधार कार्यक्रम में उत्प्रेरक का कार्य कर रहे हैं। इनका उद्देश्य केवल साक्षर बनाना नहीं है, बल्कि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास करना है।

श्यामपट्ट प्रचलन :

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति में सबसे बड़ा व्यवधान विद्यालय में न्यूनतम आवश्यक भौतिक सुविधाओं का अभाव है। ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड योजना का उद्देश्य प्राथमिक विद्यालयों में न्यूनतम आवश्यक शैक्षिक सुविधाओं की व्यवस्था करना है। इस योजना के अन्तर्गत् न्यूनतम आवश्यक साधनों में दो बड़े कमरे, ब्लैक बोर्ड, मानचित्र, चार्ट, आवश्यक खिलौने एवं क्रीड़ा सामग्री तथा आवश्यक पाठ्य सामग्री उपलब्ध करायी जा रही है। प्रत्येक प्राथमिक विद्यालय में कम से कम दो अध्यापक होंगे जिनमें से एक महिला होगी।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन :

देश में निरक्षता उन्मूलन के लिये 5 मई 1988 को राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का शुभारम्भ किया गया। इस मिशन का उद्देश्य वर्तमान प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में गुणात्मक सुधार लाना है।

'प्रत्येक व्यक्ति एक को पढ़ाये' योजना :

यह योजना राष्ट्रीय सेवा योजना के माध्यम से चलायी जा रही है जिसमें प्रत्येक विद्यार्थी को कम से कम एक व्यक्ति को साक्षर करना है।

2. स्वास्थ्य सेवायें :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय स्वास्थ्य का स्तर निम्न था। औसत आयु केवल 32 वर्ष थी। जन्म दर एवं मृत्यु दर क्रमशः 40 एवं 21.8 थी। वर्तमान समय में यह स्थिति काफी बदल गयी है। बालकों में यह केवल 11.2 रह गयी है। कतिपय बीमारियों के नियंत्रण से भी मृत्यु दर में कमी आयी है। बालकों में मृत्यु दर, जन्म दर, आयु के अनुपात में जन्म दर, मृत्यु दर तथा प्रमुख

बीमारियों से होने वाली मृत्यु दर को तालिका 1, 2 तथा 3 में अंकित किया गया है। तालिका 4 में 'सबके लिये स्वास्थ्य—2000 तक' के लक्ष्यों को दर्शाया गया है।

सन् 1949 में विश्व स्वास्थ्य संगठन के सहयोग से रतिजन्य रोगों से सम्बन्धित एक प्रदर्शन केन्द्र खोला गया। पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ किये जाने के बाद स्वास्थ्य के क्षेत्र में नियोजित प्रयासों का शुभारम्भ हुआ। पहली तीन वर्षीय योजनाओं में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का गठन करने तथा उन्हें प्रभावपूर्ण बनाने का कार्य किया गया। 1951 में क्षय रोग नियन्त्रण अभियान प्रारम्भ किया गया। 1953 में मलेरिया नियंत्रण अभियान, 1954 में घेंघा रोग नियंत्रण अभियान, 1954-55 में कुष्ठ रोग निवारण अभियान, 1955 में फाइलेरिया नियंत्रण अभियान, 1958 में मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम, 1962 में चेचक उन्मूलन अभियान चलाया गया। चौथी पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य कर्मियों के लिये प्रशिक्षण सुविधाओं का प्रसार तथा स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार और उपचारात्मक तथा निरोधात्मक दोनों प्रकार की सेवाओं का विस्तार किया गया। पाँचवीं योजना में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम चलाया गया और गर्भवती माताओं तथा बच्चों में पोषण की कमी को दूर किया गया। छठीं पंचवर्षीय योजना में यह प्रावधान किया गया कि एक हजार जनसंख्या पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य स्वयं सेवक की नियुक्ति की गयी तथा स्वास्थ्य केन्द्रों में विस्तार किया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना में एक हजार जनसंख्या वाले प्रत्येक गाँव में एक सामुदायिक स्वास्थ्य स्वयं सेवकों की नियुक्ति तथा हर 5 हजार की जनसंख्या पर एक उप-स्वास्थ्य केन्द्र और 30 हजार की जनसंख्या पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की स्थापना का प्रावधान किया गया। चिकित्सालयों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, डिस्पेन्सरियों, बाल चिकित्सालयों की स्थिति का वर्णन तालिका 5, 6, 7 तथा 8 में किया गया है। सभी सामान्य चिकित्सालयों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों तथा डिस्पेन्सरियों में बच्चों की चिकित्सा की जाती है। बाल चिकित्सालयों में बच्चों की चिकित्सा की विशेष सुविधायें उपलब्ध हैं।

विशेष योजनायें :

निम्नलिखित योजनायें यूनिसेफ के सहयोग से बच्चों के स्वास्थ्य-रक्षा के लिये चलायी जा रही हैं :—

प्रतिरक्षण :

बच्चों की मृत्यु का कारण बाल्यकाल में होने वाले रोग होते हैं। बहुत से बच्चों की मृत्यु सीधे रोग के कारण नहीं होती वरन् रोगों के बाद होने वाला

कमजोरी और कुपोषण से हो जाती है । कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनसे बच्चों में विकलांगता आ जाती है और उनका जीवन कठिन हो जाता है । प्राकृतिक रूप से ही मनुष्य के शरीर में रोगों से बचाव की क्षमता होती है । जब शरीर का प्रतिरक्षण कमजोर हो जाता है तो रोग के लगने की आशंका बढ़ जाती है । निदान की उन्नति से हमें आज ऐसी अनेक दवायें (टीके) प्राप्त हैं जिनसे शरीर में विभिन्न रोगों से प्रतिरक्षण पैदा किया जा सकता है। आज प्रत्येक चिकित्सालय में 6 जानलेवा बीमारियों से बचने के लिये टीके लगाये जाते हैं।

(अ) बी० सी० जी० का टीका :

यह टीका टी० बी० या क्षय रोग को रोकने के लिये लगाया जाता है। बच्चों में जब यह रोग हो जाता है तो वे कमजोर हो जाते हैं, फेफड़ों पर असर पड़ता है, दिमाग पर असर पड़ता है और बच्चों के पूरे स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ सकता है । टी० बी० हो जाने पर बच्चा थका-थका रहता है, वजन कम हो जाता है तथा खाँसता रहता है । उसे हल्का बुखार तथा सर दर्द भी रहता है । इस रोग से बच्चे को बचाने के लिये बी० सी० जी० का एक टीका उसे 6 सप्ताह से 9 महीने के बीच की आयु में बायें कन्धे में लगाया जाता है । 4-6 सप्ताह के बाद टीका लगे स्थान पर एक फफोला-सा बन जाता है जिससे पानी या पीव निकलता है । यह बच्चे की टी० बी० से बचाव की निशानी है । दस बारह सप्ताह में यह सूख जाता है ।

(आ) पोलियो वैक्सीन :

'यूनिसेफ' के आँकड़ों के अनुसार हमारे देश में प्रतिदिन 750 बच्चे पोलियो नामक रोग के शिकार हो जाते हैं । इनमें से कुछ की तो मृत्यु हो जाती है लेकिन अधिकांश बच्चों को कई प्रकार की विकलांगता हो जाती है । हाथ-पैर या शरीर के किसी भी भाग में लकवा मार जाता है । इससे बचाव के लिये मुँह द्वारा वैक्सीन दी जाती है । बच्चे को 6 सप्ताह से 9 महीने की आयु तक पहली खुराक तथा बड़ी (बूस्टर) डेढ़ से दो साल की उम्र के बीच में दी जाती है । यदि पहले यह वैक्सीन न दी गयी हो तो बूस्टर की दो खुराक दी जाती है ।

(इ) खसरे का टीका :

भारत में प्रति 100 बच्चे में दो बच्चे खसरे से सम्बन्धित किसी-न-किसी गड़बड़ी के कारण मर जाते हैं, खसरे से बच्चा मरता तो नहीं है परन्तु वह कमजोर हो जाता है उसे निमोनिया हो सकता है और दिमाग पर असर पड़

सकता है। खसरा होने पर शुरू में बच्चे को बुखार आता है और उसके मुँह पर पहले छोटे-छोटे लाल दाने उभर आते हैं, फिर ये दाने पूरे शरीर में फैल जाते हैं। खसरे से बचाव के लिये एक टीका 9 से 12 महीने के बीच बच्चों को लगाया जाता है जिससे खसरा होने की सम्भावना कम हो जाती है।

डी० पी० टी० का टीका :

बच्चों को ट्रिपल एंटीजन नामक टीका लगाया जाता है जिससे गलघोंटू (डिप्थीरिया), खाली खाँसी और टिटेनस नामक रोगों से बचाव होता है। यह जांघ के बाहरी हिस्से में लगाया जाता है। एक या दो दिन तक दर्द और बुखार रहता है। ट्रिपल एन्टीजन के तीन टीके एक से दो महीने के अन्तर पर लगाये जाते हैं। 6 सप्ताह से 9 महीने के बीच ये तीन टीके लगाये जाते हैं। बच्चा जब डेढ़ से दो वर्ष का होता है तब इस टीके का एक बूस्टर टीका लगाया जाता है। 5 से 6 वर्ष, 10 वर्ष तथा 16 वर्ष में भी टिटेनस के एक-एक बूस्टर टीके लगाये जाते हैं। पहले टीका यदि नहीं लगा होता है तो एक के स्थान पर दो बूस्टर टीके लगाये जाते हैं।

(उ) पुनर्जलीकरण कार्यक्रम :

शिशु की बीमारी और मृत्यु का मुख्य कारण दस्त है। जब किसी व्यक्ति को किसी भी कारण पानी जैसे पतले दस्त आने लगते हैं तो उसे अतिसार कहते हैं तथा टट्टी के साथ आँव या खून आने लगता हैं तो उसे पेचिश कहते हैं। दोनों ही स्थितियों में पीड़ित बच्चे ज्यादातर मरते हैं क्योंकि उनके शरीर में पानी और नमक की मात्रा आवश्यकता से कम हो जाती है। पानी की इस कमी को निर्जलन कहते हैं। इस अवस्था में बच्चे का मुँह सूखने लगता है, पेशाब बन्द हो जाती है, वजन में कमी आती है, आँखें धँसने लगती हैं, चमड़ी का लचीलापन या कसाव कम हो जाता है। इस समस्या से 'यूनिसेफ' की सहायता से जीवन रक्षक घोल तैयार किये गये हैं जो प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों द्वारा जन-साधारण को दिये जा रहे हैं।

3. पोषाहार सेवायें :

(अ) विशेष पोषाहार कार्यक्रम (एस० एन० पी०) :

विशेष पोषाहार कार्यक्रम शहरी मलिन बस्तियों, आदिवासी और पिछड़े क्षेत्रों में रहने वाले 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों तथा गर्भवती महिलाओं और धात्री माताओं को पूरक पोषाहार प्रदान करने हेतु 1970-71 में चलाया गया। विशेष पोषाहार कार्यक्रम प्रारम्भ में केन्द्रीय कार्यक्रम के रूप में चलाया गया। बाद में पंचवर्षीय योजना (1974-79) में इसे न्यूनतम आवश्यकता

कार्यक्रम (एम० एन० पी०) के एक भाग के रूप में चलाये जाने के लिये राज्य-क्षेत्र को दे दिया गया। 1975-76 में समेकित बाल विकास सेवा कार्यक्रम जरूरतमन्द बच्चों को सेवा प्रदान करने के लिये शुरू किया गया। समेकित बाल विकास सेवा कार्यक्रम की पोषाहार सेवा विशेष पोषाहार कार्यक्रम के बजट से राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेश/प्रशासनों द्वारा वित्त पोषित है।

(आ) गेहूँ पर आधारित पूरक पोषाहार कार्यक्रम :

सन् 1986 में स्कूल-पूर्व बच्चों और गर्भवती एवं धात्री माताओं के लिये गेहूँ पर आधारित एक पूरक पोषाहार की नयी केन्द्र प्रायोजित योजना प्रारम्भ की गयी। इस कार्यक्रम का उद्देश्य पूरक पोषाहार कार्यक्रमों का विस्तार करके और अधिक उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचाना है। इस कार्यक्रम के लिये केन्द्रीय सरकार से निःशुल्क गेहूँ तथा अन्य अवयवों, कुकिंग, ट्रान्सपोर्ट के लिये सहायता दी जाती है। लागत प्रति लाभकर्ता प्रतिदिन 50 पैसे है।

(इ) बालबाड़ी पोषाहार कार्यक्रम

यह कार्यक्रम 1970-71 से 5 राष्ट्रीय स्तर के संगठनों—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, भारतीय बाल कल्याण परिषद, हरिजन सेवक संघ, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ और कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक संस्थान के माध्यम से चलाया जा रहा है। ये संगठन अपने राज्यों की स्वैच्छिक संस्थाओं को सहायता देते हैं। इस कार्यक्रम के लिये इन संगठनों के माध्यम से 4045 बालवाड़ियाँ चलायी जा रही हैं। इस कार्यक्रम में 3-5 वर्ष की आयु के बच्चों को प्रतिदिन पूरक पोषाहार दिया जाता है जिसमें 300 कैलोरी और 10 ग्राम प्रोटीन होता है।

(ई) तमिलनाडु समेकित पोषाहार योजना :

यह योजना 1980-81 से क्रियान्वित की जा रही है। यह परियोजना तमिलनाडु के 10 जिलों में चलायी जा रही है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य 3 वर्ष से कम आयु के बच्चों तथा गर्भवती और धात्री माताओं के पोषाहार और स्वास्थ्य स्तर में सुधार लाना है। इसके अन्तर्गत् 6 महीने से 3 वर्ष तक के बच्चों, गर्भवती तथा धात्रीमाताओं को पोषाहार सम्बन्धी निगरानी और आहारपूर्ति प्रदान की जाती है।

(उ) विश्व खाद्य कार्यक्रम (डब्ल्यू० एफ० पी०) :

विश्व खाद्य कार्यक्रम के अन्तर्गत 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों, गर्भवती एवं धात्री माताओं को पूरक पोषाहार हेतु खाद्य सहायता दी जाती है। ऐसी 2206 परियोजनायें भारत में चलायी जा रही हैं।

(ऊ) 'केअर' की सहायता से चलाये गये पोषाहार कार्यक्रम :

भारत में 'केअर' से सहायता प्राप्ति का मुख्य दायित्व महिला एवं बाल विकास विभाग का है। यह विभाग 6 मार्च 1950 के 'इण्डो-केअर' करार का संचालन करता है जो इस कार्य हेतु भारत सरकार और 'केअर' के संबंधों को निर्धारित करता है। 'केअर' बच्चों के पूरक पोषाहार के लिये खाद्य सामग्री प्रदान करता है। 'केअर' द्वारा कर्नाटक, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और राजस्थान में 'समेकित पोषाहार और विकास परियोजना' नाम की इतर खाद्य परियोजना के लिये भी धनराशि उपलब्ध करायी जा रही है। इस परियोजना में पानी की व्यवस्था, पोषाहार, स्वास्थ्य एवं सफाई, आय व उत्पादक कार्यकलाप, रोग निरोधक सुविधायें, प्रशिक्षण और ओर० आर० टी० सम्बन्धी संचार अभियान भी सम्मिलित हैं।

खेलकूद एवं मनोरंजन सेवायें :

(अ) खिलौना बैंक :

खिलौना बैंक योजना विश्व बाल दिवस, 1986 में पूरे देश में शुरू की गयी थी। इस योजना के अन्तर्गत् प्रत्येक स्कूल में खिलौने एकत्र करके खिलौना बैंक में जमा किये जाते हैं और विभिन्न आँगनवाड़ियों, बालवाड़ियों, शिशु गृहों, दिवस देखभाल केन्द्रों आदि में बाँट दिये जाते हैं। इस योजना का उद्देश्य बच्चों में "मिलबाँट" की भावना जागृत करता है।

(आ) स्काउटिंग ऐण्ड गाइडिंग :

अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन, स्काउटिंग और गाइडिंग का लक्ष्य लड़के और लड़कियों में चरित्र विकास करना और उनमें निष्ठा, देशभक्ति और दूसरे के लिए सहानुभूति की भावना पैदा करके उन्हें अच्छा नागरिक बनाना है। स्काउटिंग ऐण्ड गाइडिंग सन्तुलित शारीरिक और मानसिक विकास को भी बढ़ावा देता है। सामाजिक सेवा तथा सामुदायिक कार्य भी आन्दोलन के महत्वपूर्ण पहलू हैं।

(इ) पुरस्कार राशि के द्वारा स्कूलों में खेलों को बढ़ावा :

स्कूलों में खेलों को बढ़ावा देने के लक्ष्य से पुरस्कार राशि के लिये स्कूलों में खेलों को बढ़ावा देने की प्रोत्साहन योजना 1986 में शुरू की गयी। इस योजना के अन्तर्गत् ऐथलेटिक्स, हॉकी, बास्केटबॉल और वॉलीबॉल (लड़के और लड़कियों को पृथक्-पृथक्) और फुटबाल (केवल लड़कों के लिये) जिला स्तरीय प्रतियोगिता में विजेता माध्यमिक उच्चतर माध्यमिक स्कूल को 10,000 रुपये का नकद पुरस्कार दिया जाता है। यह पुरस्कार राशि वर्तमान खेल के मैदानों

का विकास करने या नये खेल मैदान निर्मित करने, खेल उपकरणों को खरीदने तथा अन्य कार्यों में सीधे तौर पर खेल कार्यकलापों के विकास के लिये स्कूलों द्वारा व्यय की जाती है ।

(ई) राष्ट्रीय खेल प्रतिभा प्रतियोगिता (एन० एस० टी० सी०) :

यह योजना 1985 में शुरू की गयी थी जो भारतीय खेल प्राधिकरण की मुख्य योजनाओं में से एक है। इसका लक्ष्य युवा बच्चों (10 से 12 वर्ष) में प्रतिभाशालियों का पता लगाना है तथा उसके बाद भारतीय खेल प्राधिकरण द्वारा अपनाये गये स्कूलों में उत्कृष्टता का विकास की ओर अपेक्षित अवस्थापनाओं तथा मानव संसाधन निवेश से उन्हें पोषित करना है। 5 लाख रुपये तक का एक मुश्त अनुदान और प्रतिवर्ष 50,000 रुपये का अनुरक्षण अनुदान भारतीय खेल प्राधिकरण द्वारा अपनाये गये प्रत्येक स्कूल को दिया जाता है। योजना में आवास और भोजन, ट्यूशन शुल्क और खेल किट पर व्यय को पूरा करने के लिये भी प्रावधान हैं। इस समय देश में भारतीय खेल प्राधिकरण द्वारा अपनाये गये 58 स्कूल हैं, इनके अलावा 10 नवोदय विद्यालय हैं जिन्हें इस योजना के अन्तर्गत् अपनाया गया है ।

(उ) विशेष क्षेत्र खेल योजना :

देश के आदिवासी और कुछ दूरस्थ आरक्षित क्षेत्रों में चुने हुए खेलों में प्राकृतिक प्रतिभा का पता लगाने और उत्कृष्टता की ओर ऐसे प्रतिभाशालियों को सुव्यवस्थित प्रशिक्षण देने पर यह लक्षित हैं ।

(ऊ) भारतीयम् :

राष्ट्रीय शारीरिक उपयुक्तता योजना के अन्तर्गत् यह पहला कार्यक्रम है। इसके अन्तर्गत् शारीरिक अभ्यास में युवाओं को बड़े पैमाने पर नृत्य, नाटक, संगीत और धुन शामिल है ताकि आधुनिक युवाओं को पुराने शारीरिक अनुपयुक्त कार्यकलापों से अलग किया जा सके ।

(ए) एन० सी० सी० :

एन० सी० सी० के माध्यम से बालकों के शारीरिक, चारित्रिक तथा मानसिक विकास का प्रयत्न किया जाता है ।

(ऐ) बाल भवन :

बाल भवनों का संगठन बच्चों में रचनात्मकता का विकास करने तथा मनोरंजनात्मक क्रियाएँ करने के उद्देश्य से किया गया है। बाल भवन मुख्यतः 5 वर्ष से 15 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिये मनोविनोद तथा शिक्षा का एक केन्द्र है। यहाँ प्रत्येक बच्चा सृजनात्मक और मनोविनोद के कार्यक्रमों में

अपनी रुचि के अनुसार भाग लेता है। इस प्रकार वह अपने अन्दर एक नागरिक के गुण उत्पन्न करता है। बाल भवन बच्चों के लिये एक बहुउद्देश्यीय मनोरंजन केन्द्र के रूप में कार्य करते हैं जहाँ बच्चों को अवकाश के समय का समुचित रूप से सदुपयोग करने में उनकी सहायता की जाती है। यहाँ बच्चों को लोकतांत्रिक जीवन के दायित्वों के बारे में भी शिक्षा दी जाती है। बाल भवन में होने वाले निम्नलिखित कार्यक्रम हैं : सृजनात्मक कला तथा उनकी सौन्दर्यात्मक रुचि को प्रोत्साहित करने के लिए शिल्पीय कार्यक्रम (पेंटिंग, ड्राइंग, बुनाई, कशीदाकारी, कागज और गत्ते का काम, सीना-पिरोना); नृत्य, नाटक, संगीत, लोकगीत, लोकनृत्य, रामलीला, कृष्णलीला, आदि कार्यक्रम; विज्ञान-क्लब, संग्रहालय, फोटोग्राफी आदि के कार्यक्रम, पढ़ना, सृजनात्मक लिखाई, चर्चा मण्डल, वाद-विवाद, स्वर पाठ आदि के कार्यक्रम; घूमना-फिरना, सामूहिक उत्सव, श्रम के कार्य आदि।

(ओ) अवकाश शिविर :

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड स्वैच्छिक संस्थाओं को अवकाश शिविर लगाने के लिये अनुदान देता है।

(औ) बाल रंगमंच :

संस्थागत मनोरंजन के क्षेत्र में 'चिल्ड्रेन लिटिल थियेटर' भी आते हैं जिनका उद्देश्य संगीत, नृत्य और नाटक द्वारा बालकों को पूरक सामान्य शिक्षा देना, अपने आपको एक सुन्दर, स्वच्छ, चमकीले तथा आकर्षक रूप में रहने की आवश्यक शिक्षा देना और साथ-ही-साथ उनका मनोरंजन भी करना है।

(अं) बाल संग्रहालय :

बालकों के बाह्य दृष्टिकोण को विस्तृत करने के लिये सरकार तथा स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा बाल संग्रहालय स्थापित किये जा रहे हैं। एक ऐसा संग्रहालय नई दिल्ली में बाल भवन में बनाया गया है। लखनऊ में भी मोती लाल नेहरू बाल संग्रहालय बनाया गया है। बाल संग्रहालय में भारतीय संस्कृति कक्ष के अतिरिक्त भूगोल, भूविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, आविष्कार, खिलौना, अभिरुचि, शारीरिक अनुदेश और कला प्रशिक्षण के भी विभिन्न कक्ष होते हैं।

(अः) बाल पुस्तकालय एवं वाचनालय :

बाल पुस्तकालय एवं वाचनालय बालकों की शैक्षिक, मनोरंजनात्मक और सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।

बाल कल्याण और पंचवर्षीय योजनायें :

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) :

प्रथम पंचवर्षीय योजना में बच्चों के स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया किन्तु संसाधनों की कमी के कारण स्वैच्छिक संस्थाओं को इस कार्य का उत्तरदायित्व सौंपा गया। 1955 में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना करते हुए महिलाओं तथा बच्चों के कल्याण से सम्बन्धित प्रयासों को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया। इस योजना में मातृ एवं बाल स्वास्थ्य को प्राथमिकता प्रदान की गयी तथा मातृ एवं शिशु कल्याण पर 4 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान किया गया। इस योजना में बाल कल्याण कार्यक्रम के निम्नलिखित मुख्य पक्ष थे :

(i) बाल कल्याण का नियोजित स्वरूप बनाना। इसके लिये केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड बनाया गया।

(ii) बाल कल्याण सेवाओं को प्राथमिकता।

(iii) स्वैच्छिक बाल कल्याण संस्थाओं को - प्रोत्साहन देना तथा अनुदान देना इस काल में 29.90 लाख रुपया 582 स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान के रूप में दिया गया।

(iv) बाल स्वास्थ्य की देखभाल के लिए आहार के कार्यक्रम को विशेष महत्व देना। इसके अन्तर्गत् विद्यालय-आहार योजनायें चलायी गयीं। स्कूलों के माध्यम से माताओं तथा शिशुओं को विशेष आहार सामग्री बाँटी गयी। दुग्ध एवं विटामिन पूर्ण पदार्थों के वितरण पर विशेष बल दिया गया।

(v) स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा कुपोषण को कम करने व बच्चों में कुपोषण की समस्या को दूर करने में इण्डियन रेडक्रास सोसाइटी, ऑल इंडिया वीमेन्स कॉन्फरेन्स, मील फॉर मिलियन्स ऐसोसियेशन, गिल्ड ऑफ सर्विस और भारतीय बाल कल्याण परिषद् ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) :

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास प्रखण्डों द्वारा चलायी जा रही कल्याण प्रसार योजनाओं को समन्वित किया गया और इस प्रकार बच्चों की सेवाओं में सुधार करने का दायित्व स्थानीय निकायों तथा समुदायों को सौंपा गया। इस योजना में 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों को निःशुल्क सेवा प्रदान करने पर बल दिया गया। केन्द्रीय योजनाओं में बाल अपचारियों तथा शारीरिक रूप मे बाधित और मानसिक रूप से मन्दित बच्चों के लिये सेवाओं की व्यवस्था की गयी। मातृ एवं शिशु कल्याण सेवाओं को प्राथमिक स्वास्थ्य

केन्द्रों में समन्वित किया गया। इस योजना काल में मातृ तथा शिशु कल्याण हेतु 19 करोड़ रुपये के व्यय का प्रावधान किया गया।

बाल कल्याण के लिये बाल पौष्टिक आहार, विद्यालय आहार और संरक्षण-पूर्ण आहार जिनमें विटामिन, दूध और कॉड लीवर तेल के वितरण के कार्यक्रम को प्राथमिकता दी गयी। कुछ राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय बालकोष, खाद्य एवं कृषि संगठन एवं विश्व स्वास्थ्य संगठन की सहायता से स्कूल न जाने वाले बच्चों को भी पौष्टिक आहार कार्यक्रम से लाभान्वित किया गया। केन्द्रीय सरकार ने 1960 में एक विद्यालय स्वास्थ्य समिति का गठन किया जिसका उद्देश्य विद्यालय जाने वाले बच्चों के स्वास्थ्य और आहार के स्तर की जानकारी करना और उसको ऊँचा उठाने की दृष्टि से सुझाव प्रस्तुत करना था। इस समिति ने विद्यालय जाने वाले बच्चों के लिये आहार में प्रोटीन, विटामिन और कैल्शियम की कमी को पूरा करने के लिये दोपहर का आहार, प्रवेश के समय पूर्ण स्वास्थ्य निरीक्षण, 4 वर्ष बाद पुनः निरीक्षण तथा विद्यालय स्वास्थ्य कार्यक्रम को सामान्य स्वास्थ्य कार्यक्रम का आन्तरिक अंग बनाने का सुझाव दिया। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा चालित कल्याण प्रसार परियोजनाओं ने रचनात्मक कार्य किया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66) :

तीसरी पंचवर्षीय योजना में एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में बच्चों से संबन्धित सभी सेवाओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया। समेकित बाल कल्याण प्रदर्शन परियोजनाओं को चलाने पर बल दिया गया। बाल कल्याण कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण को भी प्राथमिकता प्रदान की गयी और बाल सेविका प्रशिक्षण केन्द्र खोलते हुए बाल सेविकाओं को प्रशिक्षण दिया गया। समन्वित बाल कल्याण प्रदर्शन परियोजनाओं का उद्देश्य प्रत्येक बच्चे को एक नियोजित और समन्वित कार्यक्रम द्वारा विकास के ऐसे अवसर प्रदान करना था जिससे वह समाज का एक स्वस्थ और लाभदायक नागरिक बन सके। इसके अन्तर्गत् तीन वर्ष तक बच्चों की देखभाल का उत्तरदायित्व प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों को दिया गया। बाल केन्द्रों को प्रशिक्षित बालसेविका की देख-रेख में चलाया गया जहाँ 3-6 वर्ष तक के बच्चों के देखभाल की व्यवस्था की गयी। 6 वर्ष के बाद के बच्चों की देखभाल स्कूल स्वास्थ्य कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व समझा गया।

सन् 1961 में केन्द्रीय समाज कल्याण परिषद ने श्रीमती ताराबाई की अध्यक्षता में एक बाल देखरेख समिति गठित की। इसका उद्देश्य बच्चों की

कल्याण सम्बन्धी जरूरतों का अध्ययन करना और ऐसे कार्यक्रम की रूपरेखा बनाना था जो व्यापक बालकल्याणसेवाओं का केन्द्र विन्दु बन सके। इस समिति ने यह सुझाव दिया कि सामान्य बच्चों के विकास की आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी जाय, गोद लेने तथा पोषण सेवाओं का विकास किया जाय, संकट में फँसे परिवारों की सहायता की जाय, पूर्व विद्यालय स्वास्थ्य सेवा पर बल दिया जाय, मनोरंजन कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाय, बाल साहित्य का विकास किया जाय और कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिये एक राष्ट्रीय प्रतिष्ठान स्थापित किया जाय।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) :

चौथी पंचवर्षीय योजना में परिवार एवं बाल कल्याण सेवाओं का विस्तार किया गया। विकलांग तथा निराश्रित बच्चों की सेवाओं पर बल दिया गया। निराश्रित बच्चों के कल्याण से सम्बन्धित स्वैच्छिक संस्थाओं को प्राथमिकता के आधार पर अनुदान दिया गया। शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों के पुनर्वासिन, परिवार नियोजन, टीकाकरण तथा पोषण पर बल दिया गया। इस योजना में परिवार तथा बाल कल्याण हेतु 13 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। पूर्व विद्यालय के बच्चों के आहार में पोषक तत्त्वों की कमी को दूर करने के लिये आवश्यक कदम उठाये गये। इस कार्य को करने का उत्तरदायित्व बाल कल्याण संस्थाओं, महिला कल्याण संस्थाओं और बालवाड़ी संस्थाओं को सौंपा गया। ग्रामीण क्षेत्रों में पारिवारिक एवं बाल कल्याण परियोजनाओं के कार्यक्रम को सघन और प्रभावशाली बनाया गया। प्रत्येक परियोजना के अन्तर्गत् एक मुख्य केन्द्र और 5 उपकेन्द्र स्थापित किये गये जहाँ ग्रामीण बच्चों को (विशेषकर पूर्व विद्यालय स्तर के) एकीकृत सेवायें प्रदान करने; महिलाओं को गृह व्यवस्था और कला, मातृत्व कला, स्वास्थ्य शिक्षा, आहार व बच्चों की देखभाल में शैक्षिक प्रशिक्षण का कार्य तेजी से प्रारम्भ किया गया। निराश्रित बच्चों के कल्याण के कार्य को अधिक महत्त्व देने के लिये केन्द्रीय समाज कल्याण परिषद् ने इन क्षेत्रों में काम करने वाली संस्थाओं को 2 करोड़ रुपये अनुदान हेतु निश्चित किया। सामाजिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत् बाल अपचार की समस्या को रोकने तथा उपचार हेतु योजनायें बनायी गयीं।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) :

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में प्राथमिकतायें चौथी पंचवर्षीय योजना जैसी ही रहीं। कार्यरत् महिलाओं के बच्चों के लिये क्रेशों, (दिन में देखभाल करने वाले केन्द्र) स्थापित करने के लिये 1.82 करोड़ रुपये का प्रावधान किया

गया। उपेक्षित तथा अनाथ बच्चों के लिये संस्थायें खोली गयीं और इसके लिये 8 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। एकीकृत बाल विकास सेवाओं के लिये 7.4 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। पोषाहार सम्बन्धी योजनाओं पर 6.69 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार इस योजना में मातृ एवं शिशु कल्याण हेतु कुल मिलाकर 23.91 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में बच्चों के विकासात्मक एवं निरोधात्मक कार्यक्रमों को विशेष स्थान प्रदान किया गया। इस योजना में बाल कल्याण के क्षेत्र में निम्नलिखित मुख्य कार्यक्रम थे :—

(i) समन्वित बाल विकास सेवा योजना का प्रारम्भ।
(ii) विशेष पोषाहार कार्यक्रम;
(iii) राष्ट्रीय बाल नीति की घोषणा;
(iv) राष्ट्रीय बाल परिषद् का गठन;
(v) राष्ट्रीय बाल कोष को स्थापना;
(vi) अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष।

छठीं पंचवर्षीय योजना (1980-85) :

छठीं पंचवर्षीय योजना में एकीकृत बाल विकास व सेवायोजनाओं पर अत्यधिक बल दिया गया और इन सेवाओं के लिये 45 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। क्रेशों के लिये 9.75 करोड़ तथा विशिष्ट सेवाओं के लिये 5 75 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी। अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के लिये 0.01 करोड़ रुपये निर्धारित किये गये। बच्चों की देखरेख तथा सुरक्षा हेतु 5.75 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रीय जन सहयोग तथा बाल विकास संस्थान के लिये 1.5 करोड़ तथा समेकित बाल विकास परियोजना से सम्बन्धित कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिये 2 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। इस प्रकार इस योजना में कुल मिलाकर 62.01 करोड़ रुपये की व्यवस्था करते हुए निरोधात्मक तथा विकासात्मक सेवाओं का आयोजन किया गया। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के परिवारों के बच्चों पर विशेष ध्यान दिया गया। बाल रक्षा सेवाओं को सुदृढ़ किया गया तया स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, पेय जल की व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया। इस योजना काल में 400 अतिरिक्त समेकित बाल विकास परियोजनायें चलाते हुए योजना के अन्त तक इसकी संख्या को बढ़ाकर 600 कर दिया गया। बालवाड़ियों तथा कल्याण प्रसार योजनाओं को समेकित बाल विकास परियोजनाओं में सम्मिलित कर लिया गया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1986-90) :

सातवीं पंचवर्षीय योजना में बाल कल्याण एवं बाल विकास के लिये 595.5 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया जिसमें 500 करोड़ रुपये एकीकृत बाल विकास सेवा योजना पर व्यय किये जाने की व्यवस्था की गयी। इस योजना में विशिष्ट पोषाहार कार्यक्रम, मध्याह्न आहार तथा कर्मियों के प्रशिक्षण पर बल दिया गया। बच्चों, महिलाओं तथा अपंगों के कल्याण को परिवार कल्याण के साथ जोड़ा गया। इस योजना में पूरक पोषाहार, टीकाकरण, स्वास्थ्य की जाँच, सन्दर्भित सेवाओं, स्वास्थ्य एवं पोषाहार शिक्षा एवं 6 वर्ष की आयु से कम तथा गर्भवती महिलाओं की अनौपचारिक शिक्षा को सम्मिलित किया गया। गेहूँ पर आधारित पूरक पोषाहार कार्यक्रम चलाया गया। तमिलनाडु में समेकित पोषाहार परियोजना शुरू की गयी। बच्चों के लिये खिलौना बैंक का शुभारम्भ किया गया।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा सामान्य अनुदान के अन्तर्गत् बाल कल्याण योजनाओं के लिये धन दिया जाता है। विभिन्न योजनाओं में दिये गये अनुदान का विवरण तालिका 10 में दिया गया है।

राष्ट्रीय बाल नीति :

भारत सरकार ने सन् 1974 में राष्ट्रीय बाल नीति की घोषणा की जिसमें यह कहा गया कि 'बच्चे राष्ट्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति हैं। उनका पालन पोषण एवं देखभाल करना हमारा उत्तरदायित्व है। राज्य बच्चों के जन्म पूर्व एवं जन्मोपरान्त तथा उनके विकास काल के दौरान उनके शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास हेतु पर्याप्त सेवायें प्रदान करेगा।' इन सेवाओं को इस प्रकार से व्यावहारिक रूप में लाया जायेगा जिससे बच्चों को संतुलित विकास के लिए अधिकतम अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकें और वे हृष्टपुष्ट नागरिक बनें और ऐसी योग्यताओं एवं क्षमताओं से परिपूर्ण हों जिनकी समाज को आवश्यकता है; विकास के दौरान सभी बच्चों को समान विकास के अवसर हों जिससे असमानताओं को कम किया जा सके और सामाजिक न्याय के व्यापक उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।

बच्चों की समस्याओं को समझने तथा समाधान के उपायों की खोज करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने 1967 में गंगा सरण सिन्हा समिति का गठन किया था। इस समिति का उद्देश्य बच्चों की समस्याओं का अध्ययन करना, उनकी आवश्यकताओं को निर्धारित करना तथा उनको पूरा करने के लिये सुझाव देना था। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट किया कि बच्चों की विभिन्न आव-

श्यकताओं की एकीकृत सन्तुष्टि हेतु तथा उनमें प्राथमिकतायें निर्धारित करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि एक विस्तृत बाल नीति अपनायी जाये। इसके लिये एक ऐसी उच्च स्तरीय समिति बनायी जाये जो राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक एवं सामाजिक विकास के सन्दर्भ में बच्चों की आवश्यकताओं पर समन्वित विचार करें, बाल कल्याण की राष्ट्रीय नीति के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करें, बाल कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत् सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं को प्रोत्साहन दें एवं पारस्परिक न्यायोचित धन निर्धारित करने के मानदण्ड स्थापित करें। केन्द्रीय सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए 22 अगस्त 1974 को राष्ट्रीय बालनीति प्रस्ताव पारित किया।

राष्ट्रीय बालनीति के उद्देश्य :

राष्ट्रीय बालनीति का उद्देश्य राष्ट्रीय विकास में बच्चों के विकास कार्यक्रमों को एक विशेष स्थान देकर पारस्परिक समन्वय स्थापित करना है जिससे बच्चों के विकास एवं कल्याण को राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो तथा राष्ट्रीय उत्तरदायित्व स्थापित हो सके। राष्ट्रीय बालनीति बाल विकास एवं कल्याण के कार्यक्रमों को प्राथमिकताओं के आधार पर समन्वित करने पर बल देती है जिससे बच्चों की व्यापक एवं विशाल समस्याओं एवं आवश्यकताओं का समाधान हो सके तथा बाल विकास एवं कल्याण के क्षेत्र में जन सहयोग, सहभागिता एवं साधनों को अधिकतम प्राप्त करने के संसाधन ढूँढ़े जा सकें। इस नीति का उद्देश्य भारतीय समाज में जिन बच्चों की समस्यायें अधिक गम्भीर और जटिल हैं, जो निःसहाय, उपेक्षित, निर्धन, कुपोषित एवं रोगग्रस्त हैं उनके लिये विशेष कार्यक्रम प्राथमिकता के आधार पर आयोजित करना है जिससे उनको स्वावलम्बी बनाया जा सके। राष्ट्रीय बाल नीति बाल कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत् विभिन्न प्रकार की संस्थाओं में ऐसा पारस्परिक समन्वय करने का उद्देश्य रखती है जिससे एक निश्चित समय में देश का प्रत्येक बच्चा बाल कल्याण के अवसरों से लाभान्वित हो सके।

राष्ट्रीय बालनीति का कार्यक्षेत्र :

राष्ट्रीय बाल नीति में बाल विकास एवं कल्याण के लिये 15 क्षेत्रों को पारिभाषित किया गया है जो निम्नांकित हैं :—

1. राष्ट्र के सभी बच्चों को व्यापक स्वास्थ्य कार्यक्रम की सेवा;
2. बच्चों में आहार की कमी को पूरा करने के लिये उपयुक्त कार्यक्रम;
3. गर्भवती एवं दूध पिलाने वाली माताओं के स्वास्थ्य में सामान्य सुधार, देखभाल, आहार और आहार शिक्षा के कार्यक्रम;

4. 14 वर्ष तक के आयु के बच्चों के लिये निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की राज्य द्वारा व्यवस्था। इसके अन्तर्गत् उपलब्ध साधनों के अनुसार एक समयबद्ध कार्यक्रम बनाया जायेगा। विद्यालयों में अपव्यय को रोकना, निश्चलता को कम करना, विशेषकर लड़कियों और निर्बल वर्ग के बालकों के सन्दर्भ में विशिष्ट प्रयास किये जायेंगे। इन वर्गों से आने वाले पूर्व विद्यालय स्तर पर बच्चों के लिये औपचारिक शिक्षा के कार्यक्रम भी अपनाये जायेंगे।
5. ऐसे बालक जो औपचारिक शिक्षा से लाभ उठाने में असमर्थ हैं उनको ऐसी शिक्षा के स्वरूप एवं माध्यम प्रदान करना जो उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप हों।
6. विद्यालयों, सामुदायिक केन्द्रों और अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं में शारीरिक शिक्षा, खेलकूल और अन्य प्रकार के मनोरंजन एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का विकास;
7. अवसर की समानता को स्थापित करने के लिये .समाज के निर्बल वर्गों के बच्चों, जैसे अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों के बच्चों, को नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष सहायता की व्यवस्था;
8. सामाजिक दृष्टि से बाधित जैसे अपचारी, भिखारी एवं कष्टपूर्ण बच्चों की शिक्षा, प्रशिक्षण एवं पुनर्वासिन हेतु सेवायें आयोजित करना जिनसे वे समाज के सम्मानित एवं लाभकारी नागरिक बन सकें;
9 बचनों की उपेक्षा, निर्दयता एवं शोषण से सुरक्षा के कार्यक्रम;
10 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को जोखिम भरे व्यवसायों और भारी कार्य करने से रोकने की व्यवस्था;
11. शारीरिक दृष्टि से बाधित, संवेगात्मक दृष्टि से अशान्त और मानसिक दृष्टि से मन्दित बच्चों के लिये विशेष उपचार एवं पुनर्वास के माध्यम व्यवस्थित करना;
12. संकट एवं प्राकृतिक प्रकोप के समय बच्चों के संरक्षण और सहायता कार्यक्रम को प्राथमिकता के स्तर पर आयोजित करना;
13. निर्बल वर्गों के प्रतिभाशाली बच्चों को प्रोत्साहित करने एवं सहायता देने के विशेष कार्यक्रम;
14. वर्तमान कानूनों में संशोधन द्वारा जिससे विभिन्न प्रकार के झगड़ों, चाहे वे अभिभावकों के बीच या संस्थाओं के बीच हों, से बच्चों के हितों की रक्षा के स्थायी विचार को प्रधानता प्रदान की जाये;

15. बाल सेवाओं को संगठित करते समय पारिवारिक सम्बन्धों को शक्तिशाली बनाने के प्रयास किये जाने चाहिये जिनसे बच्चों के विकास की समस्त शक्तियों एवं साधनों को एक सामान्य परिवार, पड़ोस एवं सामुदायिक पर्यावरण में प्राप्त किया जा सके।

राष्ट्रीय बाल नीति में प्राथमिकतायें :

कार्यक्रम नियोजन के स्तर पर बाल विकास सेवाओं में निम्नलिखित कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जानी आवश्यक बतायी गयी है :—

1. बाल स्वास्थ्य के निरोधात्मक एवं उन्नतिशील पक्ष;
2. पूर्व विद्यालय आयु के बच्चों एवं शिशुओं का आहार तथा दूध पिलाने वाली एवं गर्भवती माताओं का आहार;
3. अनाथ और निःसहाय बच्चों की देखभाल, शिक्षा एवं प्रशिक्षण;
4. श्रमजीवी एवं बीमार महिलाओं के बच्चों के लिये क्रैश और अन्य प्रकार की सुविधायें तथा;
5. बाधित बच्चों की देखभाल, प्रशिक्षण एवं पुनर्वासन।

बाल विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता के आधार पर आयोजित करना इसलिये आवश्यक हो जाता है क्योंकि बच्चों की अनेक गम्भीर एवं जटिल समस्यायें हैं परन्तु उनके अनुपात में साधन सीमित हैं। इस कारण सभी समस्याओं का एक साथ समाधान करना सम्भव नहीं है। भारत में राष्ट्रीय बाल नीति के आधार पर राष्ट्रीय बाल परिषद् का गठन किया गया है। बच्चों के कल्याण की सभी सेवाओं के नियोजन, समीक्षा एवं समन्वय के लिये उच्च स्तरीय समिति बनायी गयी है, मानव संसाधन विकास मंत्रालय में महिला एवं बाल विकास विभाग बनाया गया है, समाज कल्याण मंत्रालय में आहार एवं बाल विकास ब्यूरो की स्थापना की गयी है, समन्वित बाल विकास परियोजनाओं का विस्तार किया गया है, विशेष पोषण कार्यक्रम चलाया गया है, निःसहाय और उपेक्षित बच्चों की देखभाल और संरक्षण के कार्यक्रम चलाये गये हैं; श्रमजीवी एवं बीमार महिलाओं के बच्चों के लिए शिशु गृहों, दिवस देखभाल केन्द्रों को स्थापित किया गया है, राष्ट्रीय बाल कल्याण पुरस्कार का शुभारम्भ किया गया है, खिलौना बैंक की स्थापना की गयी है, विश्व खाद्य कार्यक्रम के अन्तर्गत् खाद्य सहायता की परियोजनायें चलायी जा रही हैं, 'केयर' की सहायता से पोषाहार कार्यक्रम चलाया जा रहा है, टीकाकरण का कार्य तेजी से चलाया जा रहा है।

राष्ट्रीय बाल बोर्ड :

राष्ट्रीय बाल नीति की संस्तुति के अनुसार 3 दिसम्बर 1974 को प्रधान

मन्त्री की अध्यक्षता में राष्ट्रीय बाल बोर्ड की स्थापना की गयी। इस बोर्ड को 27 मई 1986 को पुनर्गठित किया गया। बोर्ड का उद्घाटन करते समय 15 सितम्बर 1975 को प्रधानमन्त्री ने कहा था कि बोर्ड न केवल बच्चों के समस्या-पक्ष और उनसे सम्बन्धित अवसरों को प्राथमिकता दे जिससे बच्चों के व्यक्तित्व का विकास सुनिश्चित हो सके ये वरन् उनके प्रति समाज की मनोवृत्ति को सकारात्मक रूप दिया जाये, अन्धविश्वासों एवं संकीर्ण विचारों को दूर किया जाये तथा उनको शोषण से बचाया जाये। नगरीय बच्चों के साथ-साथ ग्रामीण बच्चों व निर्बल वर्ग के बच्चों की ओर विशेष ध्यान दिया जाये। बच्चों की समस्याओं को सुलझाने में स्वैच्छिक संगठनों का सहयोग लेने के लिये उन्हें प्रोत्साहित किया जाय। बाल बोर्ड की राज्य शाखायें लगभग प्रत्येक राज्य में स्थापित की गयी हैं। राज्य के मुख्यमंत्री इन बालबोर्डों के अध्यक्ष होते हैं। राष्ट्रीय बाल बोर्ड राष्ट्रीय बाल नीति को क्रियान्वित करने में सहायता करता है तथा मार्ग निर्देशन भी करता है। यह कार्यक्रम नियोजन, पुनरावलोकन तथा कार्यान्वियन के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है। राज्य के बाल बोर्ड भी राज्यों को बाल नीति के कार्यान्वियन में सहायता करते हैं।

समेकित बाल विकास सेवायें :

गरीबी कम करने के लिए चलाये जा रहे विकास कार्यक्रम कभी-कभी बच्चों तक नहीं पहुँच पाते या उस वातावरण में सुधार नहीं कर पाते जिसमें बच्चे रहते एवं पढ़ते हैं। कुछ सरकारों ने बच्चों के लिए पोषण, सफाई, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के लिए आधारभूत ढांचा तैयार करने के लिए विशेष नीतियाँ अपनाई हैं। ये नीतियाँ इस विश्वास पर आधारित हैं कि बाल विकास कार्यक्रम सामाजिक परिवर्तन को तीव्र कर सकते हैं तथा पिछड़े वर्गों के लोगों की वर्तमान और आने वाली पीढ़ियों के जीवन स्तर में सुधार करने के लिए प्रवेश द्वार बन सकते हैं। भारत के 27 करोड़ बच्चों में से अधिकांशतः उन आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करते हैं जिनसे उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास में बाधा पड़ती है। इसी समस्या को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने 1975 में समेकित बाल विकास योजना शुरू की। इसका उद्देश्य सबसे गरीब परिवारों में बच्चों के जीवन की रक्षा की दर बढ़ाना, 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के जीवन की रक्षा की दर बढ़ाना तथा 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों और माताओं के लिए स्वास्थ्य, पोषण और शिक्षा के और अधिक अवसर उपलब्ध कराना है। पूर्व अनुभवों के आधार पर इस योजना को इस तरह तैयार किया गया है जिससे निरोधक तथा विकास सम्बन्धी

दोनों तरह के प्रयासों पर बल दिया जा सके। यह वर्तमान स्वास्थ्य एवं शिक्षा व्यवस्था से भी व्यापक बनाया गया है जिससे गाँवों एवं मलिन बस्तियों के बच्चों और उनकी माताओं को इन सेवाओं का लाभ प्राप्त हो सके। पूर्व प्राथमिक विद्यालय तथा बालवाड़ी केन्द्रों की प्रगति का योजनावार विवरण तालिका 9 में दिया गया है। यह कार्यक्रम राज्य सरकारों के माध्यम से वर्ष 1975-76 के दौरान 33 समेकित बाल विकास सेवा परियोजना क्षेत्रों में प्रायोगिक आधार पर शुरु किया गया। बाद में इस कार्यक्रम में तेजी से विस्तार किया गया। वर्ष 1987-88 तक परियोजनाओं की संख्या 1520 थी। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों ने भी राज्य क्षेत्रों में 218 परियोजनायें शुरू कीं। 1988-89 के दौरान विभिन्न राज्यों को 216 केन्द्रीय प्रायोजित आई० सी० डी० एस० परियोजनायें स्वीकृत की गयीं। 30 सितम्बर 1989 तक 1736 केन्द्रीय परियोजनायें तथा 171576 आंगनवाड़ी केन्द्र थे। (तालिका 8)

सेवायें तथा लाभार्थी :

समेकित बाल विकास योजना के अन्तर्गत् बच्चों के एक समूह के लिए सभी सेवायें एक साथ उपलब्ध करायी जाती हैं। यह पद्धति इस धारणा पर आधारित है कि बच्चों के लिए सभी सेवायें एक साथ प्रदान की जायें जिससे उनमें से प्रत्येक का स्थायी प्रभाव हो तथा उनका सम्मिलित प्रभाव उनके अलग-अलग प्रभावों के योग से अधिक हो। उदाहरण के लिये कुपोषित बच्चों के लिये पूरक आहार की सेवा तभी प्रभावकारी होगी जब उसके साथ स्वास्थ्य की देखभाल के कार्यक्रम; स्वच्छ पानी, मानसिक प्रोत्साहन और माताओं हेतु स्वास्थ्य शिक्षा सेवायें भी लागू की जायें। यही कारण है कि सेवाओं का चुनाव करते समय बच्चे की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं के साथ-साथ चुनी गयी सेवाओं के बीच एक दूसरे को सुदृढ़ करने वाले सम्बन्ध को भी प्राथमिकता दी जाती है। इसके अतिरिक्त लागत के अनुसार सेवाओं के प्रभाव और प्रशासनिक दृष्टि से उनकी व्यावहारिकता पर भी विचार किया जाता है। इन सेवाओं में समय-समय पर स्वास्थ्य की जांच, निर्देशन चिकित्सा सेवायें, वृद्धि की निगरानी, टीकाकरण, पूरक आहार, स्कूल से पहले अनौपचारिक शिक्षा के अवसर तथा माताओं के लिये पोषण और स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा की सुविधायें सम्मिलित हैं।

समेकित बाल विकास योजना सम्बन्धी सेवायें प्रदान करने के लिए केन्द्र विन्दु आँगनबाड़ी है जो प्रत्येक गाँव या शहर की मलिन बस्ती में होती है। सामान्यतः ग्रामीण क्षेत्रों एवं शहरी बस्तियों में 1000 की जनसंख्या के लिये

एक आँगनबाड़ी और आदिवासी, पर्वतीय और छितरी-बिखरी जनसंख्या वाले क्षेत्रों में 700 की जनसंख्या के लिये एक आँगनबाड़ी होती है। परन्तु गाँवों की संख्या परियोजना क्षेत्रों की जनसंख्या, स्थलाकृति आदि के आधार पर स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार आँगनबाड़ियों की संख्या बढ़ायी जा सकती है। आँगनबाड़ी एक आँगनबाड़ी कार्यकर्ता द्वारा चलायी जाती है जो कि उस समुदाय की अवैतनिक स्वैच्छिक महिला कार्यकत्री होती है। उसके कार्य की देखरेख मुख्य सेविका (सुपरवाइजर) करता है। समेकित बाल विकास योजना की प्रशासनिक इकाई ग्रामीण आदिवासी क्षेत्रों में विकासप्रखण्ड, तालुका और शहरी क्षेत्रों में वार्डों, मलिन बस्तियों का समूह होता है। प्रत्येक बाल विकास परियोजना की प्रभारी एक बाल विकास परियोजना अधिकारी होती है। जब किसी ग्रामीण परियोजना में आँगनबाड़ियों की संख्या 150 से अधिक हो और आदिवासी पर्वतीय योजना में 100 से अधिक हो तो बाल विकास परियोजना अधिकारी की सहायता के लिये एक या एकाधिक सहायक बाल विकास परियोजना अधिकारियों की नियुक्ति के लिये स्वीकृति दे दी जाती है।

आँगनबाड़ी में उपलब्ध सेवायें :

आँगनबाड़ी निम्नलिखित सेवायें उपलब्ध कराता है :—

स्वास्थ्य :

आँगनवाड़ी में महिला स्वास्थ्य-निरीक्षक और सहायक नर्स, दायी नियमित रूप से बच्चों तथा गर्भवती और दूध पिलाने वाली महिलाओं के स्वास्थ्य की जाँच करती है और छोटी-छोटी बीमारियों का पता लगाकर सामान्य दवाइयाँ बाँटती हैं तथा गाँव और प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा उपकेन्द्र के बीच सम्पर्क कायम करती है।

टीकाकरण :

परियोजना के कार्य क्षेत्र में रहने वाले सभी शिशुओं को गलाघोंटू, काली खाँसी, धनुर्वात्, खसर और तपेदिक से बचाव के लिये टीके लगाये जाते हैं। सभी गर्भवती महिलाओं का टिटेनस से बचाव के लिये टीके लगाये जाते हैं।

टीका लगाने की तालिका

कब	क्या	क्यों
जन्म से 12 महीने के बीच	बी० सी० जी० का एक टीका	तपेदिक (टी० बी०) से बचने के लिये

6 सप्ताह से 12 महीने के बीच	डी० पी० टी० के तीन टीके. दो टीकों के बीच एक महीने से कम का अन्तर नहीं होना चाहिये ।	गलाघोंटू, काली खाँसी, और टिटनेस से बचने के लिये
6 सप्ताह से 12 महीने के बीच	पोलियो की दवा की तीन खुराक, दो खुराकों के बीच एक महीने से कम का अन्तर नहीं होना चाहिए ।	पोलियो से बचने के लिये
9 से 15 महीने के बीच	खसरे का टीका	खसरे से बचने के लिये
18 से 24 महीने के बीच	डो० पी० टी० का बूस्टर टीका और पोलियो की बूस्टर खुराक ।	

पूरक पोषाहार :

6 वर्ष से कम आयु के सबसे गरीब बच्चों और गर्भवती तथा दूध पिलाने वाली माताओं का पता लगाने के लिए समुदाय के सभी परिवारों का सर्वेक्षण किया जाता है । वर्ष में 300 दिन आँगनबाड़ी या स्कूल पूर्व केन्द्र पर भोजन तैयार करके इन बच्चों तथा माताओं में बाँटा जाता है । भोजन की किस्म प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है । लेकिन सामान्यतः आँगनबाड़ी में तैयार किये गये इस ताजे भोजन में दालें, अनाज, तेल और चीनी शामिल होती हैं। तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों को पोषाहार देने और उनके माता-पिता और बड़े भाई बहनों को इस बात के लिए प्रेरित करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि वे इन बच्चों को भोजन कराने के लिए आँगनबाड़ी में लायें । 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों को प्रतिदिन 300 कैलोरी की खुराक देकर आँगनबाड़ी प्रतिदिन 1200 कैलोरी खुराक की आवश्यकता और 810 कैलोरी के राष्ट्रीय औसत के बीच की खाई को कम करने की कोशिश करता है । इसके लिए क्षेत्रीय या अलग-अलग कमियों को दूर करने के लिए विशेष तत्त्व दिये जाते हैं जैसे अन्धेपन को दूर करने के लिये बिटामिन 'ए', खून की कमी दूर करने के लिये लौह तत्त्व (आयरन) तथा आयोडीन की कमी से होने वाली खराबियों जैसे अवरुद्ध वृद्धि, शारीरिक विकलांगता या धीमा मानसिक विकास आदि को दूर करने के लिये आयोडीन युक्त नमक ।

आंगनबाड़ी में उपलब्ध कराया गया पूरक पोषाहार

प्राप्तकर्ता	कैलोरी	प्रोटीन की मात्रा (ग्राम में)
शिशु	200	8–10
बच्चे 1–6 वर्ष	300	15
गर्भवती व दूध पिलाने वाली मातायें	500	25
गम्भीर रूप से कुपोषित बच्चे		सामान्य बच्चों को दिये गये पूरक पोषण से दुगुना और या चिकित्सक की सिफारिश पर विशेष पोषक तत्व ।

वृद्धि निगरानी :

छः वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों का नियमित रूप से वजन लिया जाता है तथा ऊँचाई मापी जाती है। कुपोषण का पता लगाने के लिये आयु, ऊँचाई और वजन के अनुपात के वृद्धि-चार्ट बनाये जाते हैं। गम्भीर कुपोषण के शिकार बच्चों को विशेष पूरक पोषाहार दिया जाता है और बहुत अधिक गंभीर मामलों को चिकित्सा केन्द्रों पर भेजा जाता है।

पूर्व विद्यालय शिक्षा :

अनौपचारिक वातावरण में विद्यालय से पहले की शिक्षा समेकित बाल विकास सेवा योजना का मुख्य आधार है क्योंकि सभी सेवायें पूर्व विद्यालय केन्द्रों में की जाती हैं। 3 से 5 वर्ष की आयु के बच्चे दिन में तीन घन्टे आँगनबाड़ी में व्यतीत करते हैं। पूर्व विद्यालय शिक्षा का मुख्य कार्य पढ़ाई के कठिन पाठ्यक्रम का पालन करने के स्थान पर बच्चे की उत्सुकता को सन्तुष्ट करना और उसे बढ़ावा देना है। बच्चों को गीत और खेल सिखाये जाते हैं। खिलौने आँगनबाड़ियों में ही सस्ते, स्थानीय चीजों से बनाये जाते हैं। आँगनबाड़ियों में कोई तैयार पाठ्यक्रम होता ही नहीं इसलिए वहाँ माता पिता के अनुरोध पर वर्णमाला और आरम्भिक गिनती आदि सिखायी जाती हैं।

पोषण और स्वास्थ्य शिक्षा :

आँगनबाड़ी में माताओं और गर्भवती महिलाओं के लिये पोषण और स्वास्थ्य के बारे में अनौपचारिक प्रशिक्षण का आयोजन किया जाता है। इस प्रशिक्षण के लिए 15 से 45 वर्ष की सभी महिलाओं को बुलाया जाता है। गर्भवती और दूध पिलाने वाली माताओं को तथा ऐसे बच्चों की माताओं को

प्राथमिकता दी जाती है जो बार-बार बीमारी या कुपोषण की शिकार होती हैं। माताओं से सम्पर्क करने के लिये आँगनबाड़ी कार्यकर्त्री घर-घर जाती हैं, विशेष अभियान चलाती हैं, अनौपचारिक बैठकें करती हैं तथा सुनने व देखने के कार्यक्रमों का प्रदर्शन करती हैं। कार्यकर्त्री विशेष सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करने तथा अन्य संस्थाओं से मनोरंजन कार्यक्रमों के लिये सहायता भी लेती हैं। इससे ग्रामीण महिलाओं को एकत्र करने में सहायता प्राप्त होती है।

समेकित बाल विकास परियोजना के मुख्य कर्मचारियों की भूमिका

बाल विकास परियोजना अधिकारी : यह निम्नलिखित कार्य करता है :—

1. समेकित बाल विकास सेवा योजना और सरकारी प्रशासन के बीच सम्पर्क रखता है;
2. आँगनबाड़ियों के लिये जगह प्राप्त करता है;
3. चार मुख्य सेविकाओं और 100 आँगनबाड़ी कार्यकर्त्रियों के काम की निगरानी करता है;
4. सर्वेक्षण द्वारा लाभ प्राप्त करने वालों का पता लगाता है तथा केन्द्रों के लिये भोजन उपलब्ध कराने और स्वास्थ्य सेवायें बनाये रखने पर ध्यान रखता है तथा
5. कार्यक्रम की निगरानी करके राज्य सरकार को रिपोर्ट भेजता है।

मुख्य सेविका :

1. मुख्य सेविका 20–25 आँगनबाड़ियों की देखरेख एवं प्रबन्ध करती है;
2. वह आँगनबाड़ी कार्यकर्त्रियों का मार्गदर्शन करती है;
3. वह रिकार्ड देखने तथा सामुदायिक और स्वास्थ्य कर्मचारियों को यात्रायें आयोजित करने में मदद करती है तथा
4. आँगनबाड़ी कार्यकर्त्रियों को काम के दौरान प्रशिक्षण देती है।

आँगनबाड़ी कार्यकर्त्री :

आँगनबाड़ी कार्यकर्त्री का चुनाव समुदाय में से ही किया जाता है जो निम्नलिखित कार्य करती है :—

1. बच्चों और माताओं के साथ सीधा सम्पर्क रखती है;
2. समुदाय और लाभ प्राप्त करने वालों के सर्वेक्षण में बाल विकास परियोजना अधिकारी की सहायता करती है;
3. अनौपचारिक शिक्षा कक्षायें आयोजित करती है;
4. माताओं को पोषण और स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा देती है;

5. स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध कराने में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के कर्मचारियों की सहायता करती है;
6. टीकाकरण, आहार देने और पूर्व विद्यालय शिक्षा कार्यक्रमों में बच्चों की उपस्थिति का विवरण रखती है;
7. प्रखण्ड प्रशासन, स्थानीय स्कूल, स्वास्थ्य कर्मचारियों और समुदाय के साथ सम्पर्क रखती है तथा
8. समुदाय पर आधारित अन्य गतिविधियों—जैसे परिवार नियोजन आदि में सहायता करती है।

समेकित बाल विकास कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण :

किसी विकास कार्यक्रम की सफलता के लिये प्रशिक्षण देने का कार्य अनिवार्य होता है। समेकित बाल विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत् प्रस्तावित सेवायें प्रभावपूर्ण ढंग से चलाने के लिये सभी स्तरों पर समुचित प्रशिक्षण एवं अभिविन्यास की व्यवस्था है। राष्ट्रीय जनसहयोग एवं बाल विकास संस्थान, नई दिल्ली तथा क्षेत्रीय जन सहयोग एवं बाल विकास संस्थान तथा अन्य चुने हुये प्रशिक्षण संस्थानों तथा राज्य सरकारों द्वारा मान्य स्वयं सेवी संगठनों के माध्यम से प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाया जाता है। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नयी दिल्ली में स्थित महिला एवं बाल विकास विभाग की केन्द्रीय तकनीकी समिति चुने हुये मेडिकल कालेजों द्वारा समेकित बाल विकास कार्यक्रम के मेडिकल तथा पैरा मेडिकल स्टॉफ को प्रशिक्षण एवं अभिविन्यास प्रदान करता है।

समेकित बाल विकास परियोजना के प्रभारी बाल विकास परियोजना अधिकारियों को प्रशिक्षण राष्ट्रीय जन सहयोग एवं बाल विकास संस्थान, नयी दिल्ली और गोहाटी, बंगलौर तथा लखनऊ स्थित इसके क्षेत्रीय केन्द्रों द्वारा दिया जाता है। प्रशिक्षण की अवधि दो माह की होती है।

आँगनबाड़ी कार्यकर्त्री प्रशिक्षण-केन्द्रों के अनुदेशकों और पर्यवेक्षकों के प्रशिक्षण और अभिविन्यास का कार्य 21 मध्य स्तरीय प्रशिक्षण केन्द्रों को सौंपा गया है जो आँगनबाड़ी प्रशिक्षण केन्द्रों के भी जिम्मेदार हैं। पर्यवेक्षकों के प्रशिक्षण की अवधि 12 सप्ताह की है। आंगनबाड़ी प्रशिक्षण केन्द्रों के अनुदेशकों और पर्यवेक्षकों को पुनश्चर्या प्रशिक्षण भी दिया जाता है। राज्य सरकारों केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रशासनों द्वारा चुने हुए प्रशिक्षण केन्द्रों के माध्यम से आई० सी० डी० एस० योजना के निम्न स्तरोय कर्मियों, आँगनबाड़ी कार्यकर्त्रियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है और उन्हें गैर सरकारी संगठनों और राज्य

सरकारों द्वारा चलाया जाता है। देश में इस समय 295 आंगनबाड़ी कार्यकर्त्री प्रशिक्षण केन्द्र हैं जिनमें से 119 प्रक्षिक्षण केन्द्रों का संचालन भारतीय बाल कल्याण परिषद, नयी दिल्ली द्वारा किया जाता है। अन्य प्रशिक्षण केन्द्रों का संचालन राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। आँगनबाड़ी कार्यकर्त्रियों के प्रशिक्षण की अवधि 3 महीने की होती है। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण-केन्द्रों में आँगनबाड़ी सहायकों के लिये 6 दिन का अभिविन्यास पाठ्यक्रम भी चलाया जाता है। प्रभावपूर्ण प्रशिक्षण के लिये समुचित प्रशिक्षण सामग्री की व्यवस्था की गयी है। विभिन्न वर्गों के समेकित बाल विकास सेवा कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण और प्रशिक्षणार्थियों के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम के लिये पाठ्यक्रमों की समीक्षा करने और उनमें संशोधन करने के लिए प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया है। आई० सी० डी० एस० का एक बृहद् मैनुअल (सरकार द्वारा जारी अनुदेशों और दिशा निर्देशन का सार ग्रन्थ) मध्य स्तरीय समेकित बाल विकास कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण केन्द्रों के लिये हैण्डबुक (आँगनबाड़ी कार्यकर्ताओं के लिये एक गाइडबुक) और पोषाहार प्रशिक्षकों के लिए एक हैण्डबुक तैयार की गयी है। इसके अलावा फील्ड टेस्टेड ग्रोथ चार्ट समेकित, बाल विकास योजना पर स्टडी रिपोर्ट, फील्ड निरीक्षण और प्रशिक्षण के लिये श्रव्य-दृश्य सहायक यन्त्र भी प्रयोग में आते हैं। आँगनबाड़ी कार्यकर्ता प्रशिक्षण केन्द्रों के लिये एक व्यापक गाइडबुक भी निकाली गयी है।

बाल सेविका प्रशिक्षण कार्यक्रम, पूर्व विद्यालय बच्चों के लिये कल्याण कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने वाली संस्थाओं में प्रशिक्षित कर्मियों की पूर्ति के लिये 1961-62 में प्रारम्भ किया गया था। बाल सेविका क्षेत्रीय स्तर पर बहुउद्देशीय कार्यकर्ता हैं जिसे बच्चों की आधारभूत आवश्यकताओं और समेकित बाल विकास कार्यक्रमों की धारणाओं और उद्देश्यों को अच्छी तरह समझने के लिये प्रशिक्षित किया जाता है। बाल सेविका प्रशिक्षण कार्यक्रम 11 महीने की अवधि का है और भारतीय बाल कल्याण परिषद के माध्यम से भारत सरकार की 100 प्रतिशत वित्तीय सहायता से इसका कार्यान्वियन किया जा रहा है। इस समय 25 बाल सेविका प्रशिक्षण केन्द्र हैं। प्रत्येक प्रशिक्षण केन्द्र में एक कोर्स में 50 बाल सेविकाओं को प्रशिक्षित किया जाता है।

समेकित बाल विकास सेवा कार्यक्रमों के सामाजिक अवयवों के फायदों का अध्ययन करने और उनके प्रबोधन के लिये एक केन्द्रीय तकनीकी समिति का गठन किया गया है और राष्ट्रीय जन सहयोग एवं बाल विकास संस्थान, नई

दिल्ली में एक प्रबोधन और मूल्यांकन प्रभाग भी खोला गया है। गृह विज्ञान कॉलिजों और समाज कार्य विद्यालयों का भी सहयोग मूल्यांकन और प्रबोधन के लिये लिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष :

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1979 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष घोषित किया। इस वर्ष में प्रत्येक देश से यह आशा की गयी कि वह बालकों के विकास और कल्याण के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय साधनों को जुटाते हुए विशेष कार्यक्रम आयोजित करें। संसार के दो तिहाई से अधिक देश ऐसे हैं जो अविकसित एवं पिछड़े हुए हैं। इन देशों की प्रमुख समस्यायें अशिक्षा, कुपोषण और पर्यावरण प्रदूषण है जिनसे बालक और उनके माता पिता दोनों ही पीड़ित हैं। इन समस्याओं का कारण देश की गरीबी है। अतः जब तक गरीबी, अशिक्षा, कुपोषण एवं बेरोजगारी की समस्या को दूर नहीं किया जाता तब तक बालक के विकास एवं कल्याण की योजनायें सफल नहीं हो सकती हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामान्य सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के निम्न दो सामान्य उद्देश्यों का उल्लेख किया :—

1. बच्चों के प्रति उचित दृष्टिकोण अपनाने एवं निर्णायकों और जनता में उनकी विशेष आवश्यकताओं के प्रति जागरूकता की संरचना प्रदान करना और
2. इस तरह की मान्यता देना कि बाल कल्याण के कार्यक्रम आर्थिक और सामाजिक विकास योजना के आन्तरिक अंग बने जिससे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर इनकी उन्नति एवं विकास के कार्यक्रमों को सफल बनाने के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष मनाने के लिये एक योजना 'नेशनल प्लान ऑफ एक्शन फॉर इन्टरनेशनल इयर ऑफ दि चाइल्ड' बनाई। इसके उद्देश्य निम्न थे :

1. ऐसे समान प्रयास करना जिनसे बच्चों और माताओं के मृत्यु भार एवं रुग्णता को कम किया जा सके तथा ऐसे प्रभावपूर्ण कार्यक्रम आयोजित करना एवं सेवायें प्रदान करना जिनसे उनके स्वास्थ्य एवं आहार की आवश्यकताओं की पूर्ति हो।
2. सामुदायिक जागरुकता एवं शिक्षा को बढ़ाना जिससे बच्चों के स्वस्थ विकास और सुखी परिवार के महत्त्व को उसकी सुरक्षा एवं कल्याण का आधार समझा जा सके।

3. पूर्व-विद्यालय बच्चों के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक विकास की अधिकतम सीमा को बढ़ाना;
4. सार्वभौमिक सामान्य शिक्षा को प्राप्त करने की दिशा में कदम उठाना और विद्यालय छोड़ने वाले बच्चों की संख्या को कम करना;
5. बच्चों को मौलिक अधिकार दिलाना और उनको उपेक्षा, अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध संरक्षण देना तथा
6. ऐसे बच्चे जो निर्धन वर्ग में पैदा हुए हैं, उनको सार्वजनिक सहायता के लिये समर्थन करना जिससे उनके जीवन निर्वाह और विकास को सुनिश्चित किया जा सके।

इस कार्यक्रम एवं योजना के अन्तर्गत् उन बच्चों के कल्याण पर अधिक जोर देने की व्यवस्था है जो उपेक्षित और वंचित हैं। इनमें समाज के निर्बल वर्गों के बच्चों, दरिद्र एवं नगरीय क्षेत्रों की मलिन बस्तियों के बच्चों को प्राथमिकता दी जाती है। इन वर्गों में 6 वर्ष तक के बच्चों, प्राथमिक विद्यालय के बच्चों और गर्भवती एवं दूध पिलाने वाली माताओं को ओर विशेष ध्यान का प्रावधान किया गया है।

इस योजना के मुख्य कार्यक्षेत्र निम्नलिखित हैं :

1. स्वास्थ्य एवं आहार में सुधार,
2. पर्यावरण स्वच्छता,
3. पीने के पानी की व्यवस्था,
4. शिक्षा, पूर्व विद्यालय, प्राथमिक एवं सामुदायिक शिक्षा व्यवस्था,
5. समाज कल्याण सेवायें,
6. कानून निर्माण,
7. प्रचार और
8. कोष विकास।

विकलांग बच्चे

विकलांग बच्चे वे हैं जो अपनी व्यक्तिगत् शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक सीमाओं मौर परिस्थितियों के कारण अपना जीवन सामान्य बच्चों की भाँति बिताने में असमर्थ हैं। इन विकलांगताओं के कारण उनकी सफलता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है और उन्हें सफलता प्राप्त करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है। तकनीकी शब्दावली में विकलांग व्यक्ति वे होते हैं जिनकी निर्योग्यताओं का चिकित्सकीय रूप से पहचान की जा सकती है तथा इन निर्योग्यताओं के कारण उनकी सामाजिक प्रकार्यात्मकता प्रभावित होती है।

विकलांग बच्चों की श्रेणी में सामान्य रूप से वे बच्चे आते हैं जो शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक दृष्टि से असन्तुलित हैं : जैसे नेत्रहीन, मूक-बधिर, शारीरिक दृष्टि से विकलांग, मानसिक मन्दित आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय आँकलन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि विश्व की जनसंख्या का 10 प्रतिशत मानसिक अथवा शारीरिक निर्योग्यता से ग्रसित है। इस आधार पर सम्पूर्ण विश्व में विकलांग व्यक्ति लगभग 450 मिलियन हैं। 15 वर्ष से कम आयु के बच्चों की संख्या 146 मिलियन है। इस शताब्दी के अन्त तक विकलांगों की संख्या का अनुमान लगभग 600 मिलियन होने का है जिसमें से 200 मिलियन बच्चे होंगे। इस प्रकार से स्पष्ट है कि विकासशील देशों में विकलांगों की संख्या सबसे अधिक है तथा एशिया-क्षेत्र में सम्पूर्ण विश्व के बाधितों का लगभग 80 प्रतिशत निवास करता है।

सन् 1981 में भारतवर्ष में विकलांगों का नेशनल सैम्पल सर्वे कराया गया जिसमें दृष्टि, संचार तथा गायन क्रियाओं से सम्बन्धित निर्योग्यताओं को सम्मिलित किया गया। इसमें मानसिक निर्योग्यता को सम्मिलित नहीं किया गया। इस सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 12 मिलियन ऐसे व्यक्ति हैं जो एक या एक से अधिक निर्योग्यताओं से ग्रस्त हैं। यह सम्पूर्ण जनसंख्या का 1.8 प्रतिशत है। विकलांगता के प्रकार के आधार पर यह पाया गया कि सबसे अधिक संख्या शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों (5.43 मिलियन) की है, इसके बाद दृष्टिगत् विकलांगता (3.43 मिलियन), श्रवण विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति (3.02 मिलियन) तथा वाक् विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति हैं। सर्वेक्षण में यह भी पाया गया कि विकलांगों में ग्रामीण क्षेत्रों में 81.02 प्रतिशत हैं जो नगरीय क्षेत्र के 18.99 से बहुत अधिक है।

इस सर्वेक्षण में पाया गया कि 4 वर्ष तक की आयु के ग्रामीण बच्चों में गायन विकलांगता की दर एक लाख बच्चों में 435 है जबकि इस श्रेणी के नगरीय बच्चों में 540 है। 5 वर्ष से 14 वर्ष तक के बच्चों में यह दर क्रमशः 676 एवं 718 प्रति हजार है। दृष्टि से सम्बन्धित विकलांगता में यह दर चार वर्ष तक की आयु के ग्रामीण बच्चों में 39 तथा शहरी बच्चों में 25 प्र०ह० है। 5 से 14 वर्ष तक के बच्चों में यह दर क्रमशः 66 और 87 प्र०ह० है। श्रवण एवं वाक् विकलांगता केवल 5–14 वर्ष के बच्चों में देखी गयी, श्रवण विकलांगता ग्रामीण बच्चों में 314 तथा नगरीय बच्चों में 244 प्र०ह० पायी गयी। वाक् विकलांगता की दर क्रमशः 411 तथा 429 प्र० ह० पायी गयी (तालिका 11, 12, 13)।

मानसिक रूप से मन्दित व्यक्तियों के विषय में कोई सर्वेक्षण नहीं कराया

गया लेकिन ऐसा अनुमान लगाया गया है कि मानसिक रूप से मन्दित व्यक्तियों की संख्या सम्पूर्ण जनसंख्या का लगभग 2 प्रतिशत है।

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में विकलांगों की संख्या पर्याप्त रूप से अधिक है तथा इनमें बच्चों की संख्या अच्छी-खासी है।

दृष्टिहीन बच्चे :

ईसाई मिशनों तथा धार्मिक संगठनों द्वारा भारत में दृष्टिहीन व्यक्तियों के कल्याण के आरम्भिक प्रयाय किये गये। दृष्टिहीनों के लिये सर्वप्रथम 1887 में शिक्षा एवं प्रशिक्षण हेतु अमृतसर 'मिस शटर्स मेमोरियल स्कूल फॉर दि ब्लाइन्ड' की स्थापना की गयी। बाद में यह स्कूल राजपुर (देहरादून) में स्थानान्तरित कर दिया गया जहाँ इसे 'शार्म मेमोरियल ब्लाइन्ड स्कूल' के नाम से जाना जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक मद्रास, राँची, कलकत्ता, कानपुर और बम्बई में दृष्टिहीनों के लिये विद्यालय स्थापित किये गये। इन सभी विद्यालयों में शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण, पुनर्वासन आदि पर जोर दिया गया।

केन्द्रीय सरकार ने 1942 में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की जिसका कार्य भारत में दृष्टिहीनता की समस्या का विस्तार निर्धारित करना, कारणों का पता लगाना, दृष्टिहीन बच्चों की शिक्षा-समितियों का सर्वेक्षण करना, सुरक्षित उद्योगों में प्रशिक्षित दृष्टिहीनों के लिए रोजगार की सम्भावना का पता लगाना तथा मूल्यांकन करना और भारत में दृष्टिहीन व्यक्तियों का एक राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की योजना बनाना था। इसकी रिपोर्ट जो, 1943 पेश की गयी थी, पर सरकार ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। 1943 में ही देहरादून में अन्धे व्यक्तियों के लिये एक छात्रावास बनाया गया जिसका उद्देश्य युद्ध में अन्धे हुए सैनिकों के लिये पुनर्वास में सहायता करना था।

दृष्टिहीन बच्चों के कल्याण के क्षेत्र में ब्रेल साहित्य का विशेष योगदान है। सन् 1951 में केन्द्रीय ब्रेल प्रेस की स्थापना की गयी और सम्पूर्ण भारत में सामान्य ब्रेल कोड प्रणाली अपनाई गयी।

पंचवर्षीय योजनाओं में कल्याण कार्य :

भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं में दृष्टिहीनों के लिये अनेक प्रयास किये गये जिनका विवरण निम्न प्रकार है :

प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में पहले से कार्य कर रही संस्थाओं को संगठित करके शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिये अनुदान की उदारता की नीति अपनायी गयी। केन्द्रीय ब्रेल प्रेस द्वारा ब्रेल में पुस्तकें प्रकाशित करने का कार्य प्रारम्भ

किया गया जिससे नवीन भारतीय ब्रेल प्रणाली को अपनाने में सहायता मिल सके। बाधित व्यक्तियों की शिक्षा, प्रशिक्षण, रोजगार आदि के विषय में सलाह देने के लिये राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् का गठन किया गया। इस प्रकार का कार्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुविधाओं की व्यवस्था करना और योजना बनाना था। सन् 1954 में केन्द्रीय ब्रेल प्रेस में उपकरणों को बनाने के लिये कार्यशाला बनायी गयी। सन् 1955 में इन बच्चों के लिये शिक्षा मंत्रालय ने छात्रवृत्ति की योजना प्रारम्भ की। इसी योजना काल में केन्द्रीय समाज कल्याण परिषद् की स्थापना से दृष्टिहीनता के क्षेत्र में कार्य कर रही स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान दिया जाने लगा। इससे अनेक नयी संस्थायें इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये उपस्थित हुईं। एक राष्ट्रीय दृष्टिहीन समिति की स्थापना की गयी जिसका कार्य राज्य सरकारों एवं केन्द्रीय सरकार से दृष्टिहीनता के लोगों के कल्याण हेतु विचार-विमर्श करना तथा निर्णय लेना था। सन् 1950 में राष्ट्रीय बीरजानन्द अन्ध कन्या विद्यालय की दिल्ली में स्थापना की गयी जो अब एक राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था हो गयी है। इस संस्था में 100 संवासियों के रहने, खाने, शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों एवं स्वैच्छिक संस्थाओं को दृष्टिहीनों के कल्याण कार्यक्रमों के लिये अनुदान देने की उदार नीति अपनायी। इस काल में देहरादून के प्रशिक्षण केन्द्र और उपकरण निर्माण केन्द्र को विस्तृत किया गया। इसमें इन्जीनियरिंग व्यवसायों को भी सम्मिलित किया गया। सन् 1959 में देहरादून में दृष्टिहीन बालकों का आदर्श विद्यालय स्थापित किया गया। इस विद्यालय की क्षमता 100 विद्यार्थियों की है। भारत सरकार ने बाधित व्यक्तियों के लिये विशेष रोजगार दफ्तर खोलने की योजना बनायी तथा रोजगार के सम्बन्ध में विभिन्न मन्त्रालयों को बाधित व्यक्तियों के लिये विशेष सुविधा सम्बन्धी पत्र जारी किये गये। सेन्ट्रल ब्रेल सरकुलेटिंग पुस्तकालय की स्थापना की गया। इसी योजना काल में बम्बई के दृष्टिहीनों के राष्ट्रीय संघ ने बहुत सी नवीन एवं व्यापक योजनायें चलायीं। 1959 में दृष्टिहीनता निरोध राष्ट्रीय समिति बनायी गयी।

तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में दृष्टिहीन बच्चों के कल्याण कार्यक्रमों को अधिक प्रभावशील बनाने का प्रयास किया गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना में दृष्टिहीन बच्चों की शिक्षा और प्रशिक्षण को अधिक प्रभावी बनाने की दृष्टि से छात्रवृत्तियों के कार्यक्रम को महत्त्व दिया गया। सभी शिक्षा स्तरों पर छात्रवृत्तियाँ देने का प्रावधान किया गया। इस

योजना के अन्त तक 13 विशेष रोजगार दफ्तर बाधित व्यक्तियों के लिये स्थापित किये गये। इस योजना काल में 2714 दृष्टिहीन व्यक्ति इन विशेष रोजगार दफ्तरों में पंजीकृत हुए। दृष्टिहीनों के राष्ट्रीय केन्द्र देहरादून की सात इकाइयों : आदर्श विद्यालयों, राष्ट्रीय पुस्तकालय, ब्रेल उपकरण निर्माण कार्यशाला, केन्द्रीय ब्रेल प्रेस तथा आश्रित कार्यशाला आदि में दृष्टिहीनों को शिक्षण-प्रशिक्षण और पुनर्वासन के उद्देश्य से अनेक प्रकार की आधुनिक सेवायें प्रदान की जाने लगीं। देश की विभिन्न भाषाओं में उपकरणों और उपयोगी यन्त्रों का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में छात्रवृत्तियों की संख्या बढ़ायी गयी। चार रोजगार दफ्तर खोले गये तथा प्रशिक्षण संस्थाओं में विस्तार किया गया। अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये मण्डलीय प्रशिक्षण केन्द्र, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास में खोले गये। दृष्टिहीनों को रोजगार देने वालों और नेत्रहीन कार्यकर्ताओं को राष्ट्रीय पुरस्कार की योजना चलायी गयी। इस योजना काल तक 141 संस्थायें इस क्षेत्र में कार्य कर रही थीं। 20 जनवरी 1977 को केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री ने दृष्टिहीनों की राष्ट्रीय समिति के रजत जयन्ती समारोह में यह घोषणा की कि दृष्टिहीनों के लिये सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्रदान किया जायेगा। 1976 में समाज कल्याण विभाग की सहायता से रोजगार और प्रशिक्षण निदेशालय ने बाधित व्यक्तियों के रोजगार के लिये 346 प्रकार के व्यवसायों का निर्धारण किया। पूर्णरूपेण दृष्टिहीनों के लिये 7 प्रकार के तथा आंशिक रूप से दृष्टिहीनों के लिये 31 व्यवसायों को निर्धारित किया गया।

अन्धेपन को रोकने के लिये 1976 में राष्ट्रीय कार्यक्रम सम्पूर्ण देश में चलाया गया जिसका उद्देश्य 1.4 प्रतिशत अन्धेपन की घटनाओं को कम करके इसे (2000 ई० तक 0.3 प्रतिशत लाना) है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये छठीं तथा सातवीं योजना में जरूरतमन्दों को सहायता देने के लिये कैम्प ऐप्रोच अपनाया गया तथा स्वास्थ्य शिक्षा कार्यक्रम पर बल दिया गया। साथ-ही-साथ जिला सचल दलों तथा आई बैंकों की स्थापना की गयी। अन्धेपन की घटनाओं को जानने के लिये देश में सर्वे कराया गया। छठीं योजना में अन्धेपन को रोकने के लिये 2200 लाख रुपयों का प्रावधान किया गया। सातवीं योजना में 3245.57 रुपये इस कार्य के लिये निर्धारित किये गये।

राष्ट्रीय दृष्टि बाधित संस्थान :

सन् 1979 में दृष्टि बाधितों के लिये राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना की गयी तथा सोसाइटी के रूप में 1982 में इसे पंजीकृत कराया गया। इस संस्थान

के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :—मानव शक्ति विकास, अनुसन्धान तथा विकास, आपात्कालीन सेवाओं का प्रबन्ध तथा रोजगार के अवसरों की उपलब्धता। इस संस्थान के निम्न प्रमुख कार्य हैं :—

दृष्टि बाधितों के लिये आदर्श विद्यालय :

यह विद्यालय कक्षा 12 तक दृष्टिहीन बच्चों को शिक्षा प्रदान करता है। यहाँ पर सम्पूर्ण दृष्टिहीनों को ब्रेल तकनीक द्वारा तथा आंशिक दृष्टिहीनों को प्रिन्ट पढ़ने के लिये विस्तारक शीशें द्वारा शिक्षा दी जाती है। बच्चों को निःशुल्क भोजन, आवास, वस्त्र, शिक्षा दी जाती है तथा जेब खर्च भी दिया जाता है।

युवा दृष्टिहीनों के लिये प्रशिक्षण केन्द्र :

यह केन्द्र 18 से 40 वर्ष के बीच के दृष्टिहीनों को विभिन्न व्यवसायों जैसे हल्की इंजीनियरिंग, बुनाई, मोमबत्ती बनाना, साबुन बनाना आदि में प्रशिक्षण देता है। इलेक्ट्रानिक कार्यों का भी प्रशिक्षण कार्य प्रारम्भ किया गया है। प्रशिक्षणार्थी को निःशुल्क भोजन, आवास, वस्त्र प्रदान किया जाता है तथा जेब खर्च भी दिया जाता है।

ब्रेल उपकरणों की निर्माणशाला :

इस निर्माणशाला में दृष्टिहीनों से सम्बन्धित यन्त्रों व उपकरणों का निर्माण किया जाता है। यहाँ ब्रेल स्लेट, गणित स्लेट, प्लास्टिक टाइल्स, चेस बोर्ड, प्लेइंग कार्ड्स, पॉकिट गेम, मुड़ने वाली छड़ी, ब्रेल स्केल आदि उपकरण तैयार किये जाते हैं। ब्रेल शार्टहैण्ड मशीन का निर्माण भी अब यहाँ किया जाने लगा है।

ब्रेल प्रेस :

दृष्टिहीन बच्चों के लिये ब्रेल प्रेस ब्रेल पद्धति में पढ़ने के लिये पठन सामग्री प्रदान करता है। यह प्रेस किताबों का भी प्रकाशन करता है। इस सेवा से दृष्टिहीनों को पठन-पाठन तथा प्रशिक्षण प्राप्त करने में अतुलनीय सहायता मिल रही है।

राष्ट्रीय पुस्तकालय :

यह पुस्तकालय सम्पूर्ण भारत में दृष्टि बाधितों को निःशुल्क पुस्तकें, पढ़ने के लिये देता है। इस पुस्तकालय में 38543 ब्रेल खण्ड तथा 4539 छपी पुस्तकें हैं। यहाँ पर 105 रिकॉर्डेड पुस्तकों के साथ वार्तालाप इकाई (टॉकिंग यूनिट) भी हैं। मासिक पत्रिका 'चयनिका' का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया गया है।

आपातकालीन प्रबन्ध :

इस संस्थान द्वारा दृष्टिबाधितों को आपात्कालीन सेवायें प्रदान की जाती हैं। चिकित्सात्मक सुविधाओं की भी व्यवस्था है। बच्चों को इस निदानशाला में समस्या समाधान के लिये सन्दर्भित भी किया जाता है।

मानव शक्ति विकास :

यह विभाग माध्यमिक विद्यालय स्तर के अध्यापकों को प्रशिक्षण देता है। राज्य के अध्यापक प्रशिक्षण केन्द्रों पर प्राथमिक स्तर के अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाता है। प्रान्तीय स्तर पर सेवा मध्य प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाया जाता है। संस्थान अल्पकालीन कार्यक्रमों को भी चलाता है।

प्लेसमेन्ट तथा सेवायोजन :

इस इकाई का कार्य प्रशिक्षणार्थियों को नौकरियों की खोज करना तथा उन्हें रोजगार में लगाना है।

अनुसन्धान तथा विकास :

इस इकाई का कार्य दृष्टि बाधितों के लिये शिक्षा एवं प्रशिक्षण की नयी तकनीकों का विकास करना है। इसके अतिरिक्त पूर्व विद्यालय बच्चों के लिये शिक्षा के कार्यक्रमों का विकास करना तथा उनकी आवश्यकताओं के विषय में जनजागरण हेतु विशेषकर माता-पिता को, सामग्री का निर्माण करना है।

शेल्टर्ड कार्यशाला तथा अन्य कार्यक्रम :

इस संस्थान में शेल्टर्ड कार्यशाला के अतिरिक्त ग्रामीण विस्तार कार्यक्रम, नये दृष्टिहीनों का प्रबन्ध, गृह प्रबन्ध, निर्देशन तथा मंत्रणा अभिविन्यास तथा गतिमान सेवाओं की इकाइयों को बनाया गया है।

बधिर एवं मूक बच्चे :

बधिर वह बच्चा होता है जिसमें सुनने की शक्ति सामान्य कार्यों के लिये सहायक नहीं होती है। नेशनल सैम्पुल सर्वे ने बधिर की परिभाषा ऐसे व्यक्ति से की है जो अपने व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये सुन नहीं पाता है और दोनों ही कानों से बहरा है। बधिरता के कारण बालक वाक् शक्ति का भी विकास नहीं कर पाता है इसलिये वह मूक बन जाता है। बधिरता प्रायः दो प्रकार की होती है : कुछ तो जन्मजात बधिर होते हैं परन्तु इसका पता देर से ही लग पाता है जबकि वह बच्चा अपने चारों ओर के शोर-गुल तथा ध्वनि से प्रभावित होने का कोई संकेत नहीं करता है और प्रतिक्रिया नहीं करता है। इस कारण ऐसे बच्चों में बोलने की शक्ति का विकास नहीं हो पाता है। दूसरे प्रकार के वे बच्चे हैं

जिनका विकास सामान्य होता है, जो बोलने तथा सुनने की क्षमता तो विकसित कर लेते हैं लेकिन किसी बीमारी या दुर्घटना के कारण उनमें श्रवण-शक्ति का ह्रास हो जाता है। इन बच्चों को विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि उन्हें उपचारात्मक उपायों की आवश्यकता होती है जिससे वे सामान्य बच्चों के साथ शिक्षा ग्रहण कर सकें।

बधिरता के कई कारण हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं : कुपोषण, तेज ज्वर, मलेरिया, टायफॉयड, काली खाँसी, मध्य कर्ण शोध, सैप्टिक टान्सिल्स, संक्रामक बीमारियाँ, डिप्थीरिया, चेचक, निमोनिया, मेनिन्जाइटिस, व क्षय रोग। गर्भकाल में गर्भवती माताओं को कतिपय दवायें देने का परिणाम बच्चे की बधिरता हो सकती है। ऐसे बच्चों को अपना जीवनयापन करने तथा सामाजिक समायोजन करने में अत्यन्त कठिनाई होती है क्योंकि न सुनने के कारण संवेग एवं मानसिकता शिथिल हो जाती है।

कल्याणकारी कार्यक्रम :

बधिर और मूक बच्चों के कल्याण की दृष्टि से औपचारिक शिक्षा का प्रारम्भ 1884 से हुआ जब बम्बई में बधिर मूक विद्यालय की स्थापना की गई। सन् 1893 में कलकत्ता में तथा 1896 में मद्रास में बधिर एवं मूक विद्यालय खोले गये। धीरे-धीरे सभी राज्यों में इस प्रकार के विद्यालय खुलते गये।

स्वतन्त्रता के पश्चात् बधिर और मूल बच्चों की शिक्षा और प्रशिक्षण के कार्यक्रम पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत् प्रारम्भ किये गये। केन्द्रीय सरकार ने 1955 में बधिर एवं मूक बच्चों को छात्रवृत्तियाँ देने की योजना बनाई जिससे वे शिक्षा, संगीत और व्यावसायिक शिक्षा आसानी से ग्रहण कर सकें। छात्रावासों का भी प्रबन्ध किया गया। सन् 1959 में भारत सरकार ने प्रशिक्षित बाधित व्यक्तियों को रोजगार दिलाने के उद्देश्य से रोजगार के विशेष कार्यालय खोलने की योजना बनायी। इन कार्यालयों में एक रोजगार अधिकारी (बाधित) नियुक्त किया गया है। सामान्य और प्राथमिक शिक्षा के अलावा बधिर-मूक बच्चों को लिप रीडिंग और सुनने के प्रशिक्षण की विशेष सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था विभिन्न संस्थायें कर रही हैं। बच्चों को सुनने के लिये उपकरण की सुविधा भी प्रदान की जाती है। हैदराबाद स्थित वयस्क बधिर-प्रशिक्षण केन्द्र और आंशिक रूप से बधिर बच्चों के विद्यालय के कार्य सराहनीय हैं। अब यह केन्द्र बधिर राष्ट्रीय संस्थान हो गया है। कलकत्ता तथा लखनऊ में बधिर बच्चों के शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। राष्ट्रीय पर्वों पर बधिर बच्चों

के विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। प्रतिवर्ष मार्च का तीसरा रविवार अन्तर्राष्ट्रीय बाधित दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस अवसर पर उनके खेल-कूद तथा अन्य मनोरंजन के कार्यक्रम सम्पन्न किये जाते हैं, विशेष पुरस्कार देने की योजना भी चलायी जा रही है।

नयी दिल्ली की बाधितों के पुनर्वासन एवं शोध समिति द्वारा स्थापित बधिर बच्चों के विद्यालय आनन्द निकेतन द्वारा एक ऐसी विशेष प्रणाली विकसित की गयी है जिसके माध्यम से जन्मजात बधिर इस तकनीक के प्रयोग से सुन सकते हैं और बात कर सकते हैं। इस तकनीक की सहायता से विद्यालय में दो वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद बधिर बच्चा सामान्य विद्यालय के कार्यक्रम से लाभ उठा सकता है।

बधिर व्यक्तियों के कल्याण से सम्बन्धित पहला संगठन 'कन्वेन्शन ऑफ दि रिसर्च ऑफ डेफ इन इण्डिया' 1935 में बनाया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य बधिर शिक्षकों में व्यावसायिक मापदण्डों को विकसित करना है। इस संगठन के अतिरिक्त अखिल भारतीय मूक-बधिर सभा और अखिल भारतीय मूक-बधिर समिति दो और मुख्य संगठन हैं जो बधिर और मूक व्यक्तियों हेतु शिक्षा, प्रशिक्षण और पुनर्वास में सक्रिय हैं। बाधित व्यक्तियों की शिक्षा सम्बन्धी राष्ट्रीय परामर्श परिषद् केन्द्र और राज्यों में बाधित बच्चों के कल्याण, जिसमें बधिर और मूक भी सम्मिलित हैं, के लिये कार्य करती है।

अलीयावर जंग इन्स्टीच्यूट फॉर दि हियरिंग हैण्डिकैप्ड :

यह संस्थान 1983 से कार्यरत् है। यह संस्थान निम्न क्षेत्रों में सेवायें उपलब्ध कराता है :—

(1) श्रवण मूल्यांकन;
(2) श्रवण सहायक यन्त्र लगाने का ट्रॉयल, संस्तुति, यंत्र को लगाना तथा मरम्मत करना
(3) वाक् तथा भाषा मूल्यांकन
(4) वाक् चिकित्सा
(5) माता-पिता को निर्देशन तथा मन्त्रणा
(6) मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन
(7) शिक्षात्मक मूल्यांकन
(8) आँख, नाक, कान, मस्तिष्क आदि का मूल्यांकन
(9) सूचना सेवा तथा
(10) व्यावसायिक निर्देशन, मन्त्रणा आदि।

शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों का कल्याण :

शारीरिक रूप से विकलांग बच्चे वे हैं जिनकी शारीरिक क्षमता उनके किसी भी शारीरिक अंग के ह्रास, विकृति या अंगघात के कारण क्षीण हो गयी है। उनकी ये शारीरिक बाधायें कुछ ऐसीं बीमारियों या दुर्घटनाओं के कारण उत्पन्न होती हैं जिनका उपचार होने पर भी शरीर में अक्षमता रह जाती है जो प्रायः स्थायी होती है। जो बच्चे अपने शरीर के पूर्ण अथवा किसी एक भाग का उपयोग नहीं कर पाते हैं अथवा जिनकी हड्डी, पसली या जोड़ों में कोई विकार हो जाता है, उन्हें शारीरिक रूप से विकलांग कहते हैं। इन बच्चों का जीवन समस्याग्रस्त हो जाता है। वे निराशावादी हो जाते हैं तथा बहुत से बच्चे भिक्षा मांगने लगते हैं।

शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों के लिये निम्नलिखित सेवायें उपलब्ध हैं :—

(1) हड्डी शल्य चिकित्सा
(2) शारीरिक चिकित्सा
(3) कृत्रिम अंग सुविधायें
(4) व्यावसायिक प्रशिक्षण सेवायें
(5) पुनर्वासन सेवायें तथा
(6) आवासीय कार्यशाला जहाँ शिक्षा के साथ-साथ उत्पादकता का भी कार्य होता है।

शारीरिक रूप से विकलाग बच्चों की सहायता का उद्देश्य उन्हें पुनर्वासन प्रदान करना है जिससे वे अपना भावी जीवन सामान्य प्रकार से व्यतीत कर सकें। वर्तमान समय में इन बच्चों के लिये विशेष कार्यक्रम चलाये गये हैं जो निम्नलिखित हैं :

शारीरिक दृष्टि से बाधित बच्चों के लिये कल्याणकारी सेवायें स्वतन्त्रता के पश्चात् ही प्रारम्भ हुई। स्वतन्त्रता के पूर्व द्वितीय विश्व युद्ध से पीड़ित सिपाहियों को शारीरिक चिकित्सा तथा पुनर्वासन के लिये 1944 में पूना में कृत्रिम अंग केन्द्र स्थापित किया गया था। सन् 1955 में इस केन्द्र की सेवाओं को जनसाधारण के लिये खोल दिया गया। बम्बई में सन् 1947 में सोसाइटी फॉर दि रिहैबिलिटेशन ऑफ क्रिपिल्ड चिल्ड्रेन का गठन किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य अपंग बच्चों की देखभाल, उपचार और उनकी समस्याओं के विषय में सहायताप्रद जनमत बनाना तथा आवश्यक सूचना और आँकड़े उपलब्ध कराना था। इस समिति ने एक चिकित्सा केन्द्र स्थापित किया जो आगे चलकर

1951 में एक पाँच बिस्तर वाला चिकित्सालय बन गया। इसी चिकित्सालय में एक अपंग बच्चों का विद्यालय भी खोला गया जहाँ उन्हें मानसिक दृष्टि से विकसित करने का प्रयास किया गया जिससे वे अपने जीवनयापन की दिशा में सीख सकें। सन् 1955 में केन्द्र सरकार, राज्य सरकार तथा नगर महापालिका के संयुक्त प्रयास से बम्बई के के० ई० अस्पताल में अपंगों के लिये पुनर्वासन एवं प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की गयी। यह केन्द्र अब 'इण्डियन इन्स्टीच्यूट ऑफ फिजिकल मेडिसिन ऐण्ड रीहैबिलिटेशन' हो गया है। इस संस्थान का कार्य बाधितों को शिक्षण एवं प्रशिक्षण देना, पुनर्वासन का प्रबन्ध करना तथा गहन प्रशिक्षण देना, पुनर्वासन सम्बन्धी समस्याओं पर गोष्ठियों का आयोजन करना, सम्बन्धित संस्थाओं को परामर्श एवं निर्देशन देना, कृत्रिम अंग कार्यशाला में बाधित व्यक्तियों के लिये विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाना और प्रयोग सिखाना है। यहाँ पर अनुसन्धान कार्य भी किया जाता है। 1956 में व्यावसायिक चिकित्सा गृह की स्थापना बाधित व्यक्तियों के संरक्षण, शिक्षा एवं उपचार के लिये की गयी। 'जवाहर लाल नेहरू कॉम्प्लेक्स ऑफ इन्स्टीच्यूशन्स' विकलागों के प्रशिक्षण एवं पुनर्वासन का कार्य करता है।

छात्रवृत्तियां :

केन्द्रीय सरकार की शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों को छात्रवृत्तियाँ देने की योजना है। इस योजना का उद्देश्य विकलांगों को आर्थिक रूप से सहायता करना है जिससे वे अध्ययन कर सकें और अपना जीवन स्तर ऊँचा उठा सकें। यह छात्रवृत्ति बाधित बच्चों को कक्षा 9 से ऊपर अध्ययन करने के लिये प्रदान की जाती है। अधिकांश राज्यों में कक्षा 8 तक निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

उपकरणों के लिये सहायता :

बाधितों को उपकरण, यन्त्र तथा विशेष सहायक सामग्री खरीदने के लिए सहायता दी जाती है, अन्तर्राष्ट्रीय निर्योग्यता वर्ष 1981 में यह योजना प्रारम्भ की गयी थी। इस योजना में कुछ परिवर्तन किया गया है और इसमें प्रमस्तिष्क संवहनी से पीड़ित बच्चों को भी सम्मिलित कर लिया गया है जिनको रोलेटर, विशेष कुर्सी, कार्नर सीट, प्रोन बोर्ड्स तथा ट्वायलेट चेयर प्रदान की जाती है। अधिक-से-अधिक यह सहायता 3700 रु० की है व कम से कम 25 रु० तक दिये जाते हैं। जिन बाधितों की 1200 रुपये मासिक से कम आय है उन्हें निःशुल्क सहायक उपकरण, यंत्र प्रदान किये जाते हैं, जिन बाधितों की मासिक आय

1200 रुपये से 2500 रुपये है उन्हें आधी कीमत पर उपकरण उपलब्ध कराये जाते हैं।

स्वैच्छिक संस्थाओं को सहायता :

बाधित व्यक्तियों के कल्याण कार्यक्रम को चलाने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं को केन्द्रीय सरकार द्वारा आर्थिक अनुदान दिया जाता है।

जिला पुनर्वासिन केन्द्र योजना :

सातवीं पंचवर्षीय योजना में प्रयोगात्मक तौर पर एक विशेष योजना 'डिस्ट्रिक्ट रीहैबिलिटेशन सेन्टर' प्रारम्भ की गयी जिसका उद्देश्य ग्रामवासियों को उनके निवास पर ही सहायता पहुँचाना है। यह केन्द्र विकलांगों को विस्तृत सहायता देता है, निर्योग्यता का पता लगाता है, जरूरतमन्दों को उपकरण तथा यन्त्र प्रदान करता है, सेवायोजन का प्रबन्ध करता है तथा स्वरोजगार के लिए अवसर उपलब्ध कराता है। वर्तमान समय में पूरे देश में 10 पुनर्वासिन केन्द्र स्थापित किये गये हैं। उत्तर प्रदेश में जनपद सीतापुर में ऐसा एक केन्द्र स्थापित किया गया है। इन केन्द्रों के स्टॉफ के प्रशिक्षण का कार्य 4 क्षेत्रीय पुनर्वासिन प्रशिक्षण केन्द्रों पर किया जाता है।

ऑपरेशन पोलियो :

सितम्बर 1988 में 'आपरेशन पोलियो इन तमिलनाडु' के नाम से एक योजना चलायी गयी है जिसका कार्य तमिलनाडु में पोलियो की घटनाओं को रोकना तथा पोलियो से ग्रस्त बच्चों का पुनर्वासिन करना है। यह योजना प्रयोगात्मक रूप से चलायी गयी है।

विश्व निर्योग्यता दिवस :

प्रत्येक वर्ष मार्च का तीसरा रविवार विश्व निर्योग्यता दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस अवसर पर इन लोगों के लिये खेल-कूद प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है। इस अवसर पर राष्ट्रीय पुरस्कार भी वितरित किये जाते हैं।

गणतन्त्र परेड देखने की सुविधा :

सन् 1978 से कल्याण मन्त्रालय बाधित व्यक्तियों को गणतन्त्र परेड देखने के लिए निमंत्रित करता है। उनके साथ उनके सहायक के रहने, खाने तथा यात्रा आदि का व्यय केन्द्रीय सरकार वहन करती है। सन् 1987 से इन बाधितों को विशेष इनक्लोजर के अतिरिक्त प्रधान मन्त्री कक्ष में 100 बाधित बच्चों एवं सहायकों को बैठने तथा परेड देखने की व्यवस्था की जाती है।

पेट्रोल सबसीडी योजना :

जिन बाधितों की मासिक आय 2500 रुपये से अधिक नहीं है तथा उनके पास अपना मोटर वाहन है तो उसके लिये 50 प्रतिशत की छूट पेट्रोल, डीजल खरीदने पर दी जाती है। यह सीमा प्रतिमाह दो हॉर्स पावर के वाहन के लिए 15 लीटर तथा इससे अधिक हॉर्स पावर के लिये 25 लीटर हैं। यह सुविधा उन बाधितों को नहीं दी जाती है जो किसी स्वैच्छिक संस्था अथवा राज्य सरकार से किसी प्रकार की यातायात सहायता प्राप्त करते हैं। राज्य सरकारों द्वारा यदि ऐसी योजना चलायी जा रही है तो उसका शत्-प्रतिशत व्यय-भार-वहन भारत सरकार करती है।

सेवायोजन सुविधा :

बाधितों के पुनर्वासन एवं सेवायोजन के उद्देश्य से विशेष सेवायोजन कार्यालय बनाये गये हैं तथा सामान्य सेवायोजन कार्यालय में विशेष सेल खोले गये हैं। इस समय पूरे देश में 22 विशेष सेवायोजन कार्यालय तथा 42 विशेष सेवायोजन सेल हैं।

भारत सरकार ने केन्द्रीय सरकार, व सार्वजनिक क्षेत्र की 'सी' तथा 'डी' समूह की नौकरियों में 3 प्रतिशत स्थान बाधितों के लिये आरक्षित कर दिये हैं। इस 3 प्रतिशत आरक्षण में एक-एक प्रतिशत दृष्टिहीनों, बधिरों तथा शारीरिक रूप से अपंगों के लिये हैं।

बाधितों के पुनर्वासन पर अनुसन्धान :

जो संस्थायें, विश्वविद्यालय तकनीकी अनुसन्धान के लिये आवश्यक सुविधायें चाहती हैं उन्हें इस क्षेत्र में अनुसन्धान के लिये शत-प्रतिशत सहायता दी जाती है। इस समय 3 संस्थाओं : गवर्नमेन्ट इन्स्टीच्यूट ऑफ रीहैबिलिटेशन ऐण्ड आर्टीफीशियल लिम्ब सेन्टर मद्रास, आल इण्डिया इन्स्टीच्यूट ऑफ फिजिकल मेडिसिन ऐण्ड रीहैबिलिटेशन, बम्बई, ऑल इण्डिया इन्स्टीच्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज, नई दिल्ली को अनुसन्धान के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है।

बाधितों के विधान :

सन् 1988 में भारत सरकार ने बाधितों के लिये विधान बनाने के लिये सुझाव प्रस्तुत करने की दृष्टि से एक समिति बनायी जिसने जून 1988 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। अभी इस पर विचार किया जा रहा है।

मानसिक मन्दित बच्चों का कल्याण :

मानसिक मन्दित बच्चों का मानसिक विकास अपूर्ण एवं अवरूद्ध होता है जिसके परिणामस्वरूप वे न तो अपने पर नियन्त्रण रख पाते हैं और न ही

जीविकोपार्जन में समर्थ होते हैं। उनमें परिपक्वता के लक्षण नहीं होते हैं, इसी लिये वे दूसरों के मार्गदर्शन पर निर्भर होते हैं। उनको पथप्रदर्शन, निर्देशन, निरीक्षण तथा आश्रय की सदैव आवश्यकता होती है। मानसिक मन्दता को समझने के लिये विभिन्न दृष्टिकोणों को समझना आवश्यक प्रतीत होता है। सामाजिक दृष्टिकोण के अनुसार यह बच्चा प्रारम्भ से ही समायोजन नहीं कर पाता हैं क्योंकि इनमें मानसिक दुर्बलता होती है, अतः इसे मानसिक मन्दित कहा जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में जो बच्चे दुर्बल पाये जाते हैं तथा कक्षा के स्तर के अनुसार विकास नहीं कर पाते उन्हें मानसिक मन्दित कहते हैं। वैधानिक दृष्टिकोण के अनुसार मानसिक दुर्बलता या मन्दता का अर्थ उस व्यक्ति से होता है जिसको नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित, भले-बुरे आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। बुद्धि के अभाव में उसे किसी व्यवहार के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार जिस बच्चे की बुद्धि लब्धि 70 से कम होती है उसे मानसिक मन्दित माना जाता है। यह दृष्टिकोण ही अधिकांशतः अध्ययन का आधार माना जाता है।

मानसिक मन्दित प्रायः 3 प्रकार के होते हैं :—

मूर्ख :

इनकी बुद्धि-लब्धि 50 से 70 के बीच होती है। यह मानसिक मन्दता की पहली श्रेणी है, अतः भेद करना भी कभी-कभी कठिन हो जाता है। ऐसे बच्चों का पढ़ने में मन नहीं लगता, समायोजन नहीं कर पाते, प्रत्येक विषय कठिन लगता है।

मूढ़ :

इनकी बुद्धि लब्धि 25 से 50 के बीच होती है। इनमें आत्म-नियन्त्रण तथा आत्म-संयम की क्षमता नहीं होती है। ये किसी भी प्रकार की पढ़ने-लिखने की क्षमता नहीं रखते हैं।

जड़ :

ऐसे बालक न तो सुनते हैं, न ही देखने का प्रदर्शन करते हैं। ये शारीरिक अंगों जैसे हाथ-पैर का भी प्रयोग नहीं करते। इनमें संवेदनशीलता का पूर्णतः अभाव होता है।

कल्याण कार्यक्रम

जरूरतमन्द बाल देखभाल एवं संरक्षण सेवायें :

नगरीकरण तथा औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप बच्चों के शोषण की समस्या विकट रूप में फैल रही है। निराश्रित बच्चों की संख्या दिनोंदिन बढ़

रही है। इस समस्या के समाधान के लिये सरकार को कदम उठाना आवश्यक हो गया क्योंकि ऐसे बच्चों का जो निराश्रित, अनाथ, उपेक्षित व शोषित हैं चारों ओर से दुरुपयोग होने लगा है। भारत सरकार ने सन् 1974-75 में त्याज्य, उपेक्षित, अनाथ तथा गृहविहीन बच्चों की देखभाल एवं संरक्षण के लिये एक योजना 'सर्विसेज फॉर दि वेलफेयर ऑफ चिल्ड्रेन इन नीड ऑफ केयर ऐण्ड प्रोटेक्शन' प्रारम्भ की। यह योजना सन् 1979-80 से भारत सरकार द्वारा पूर्णतः संचालित है। इस योजना का उद्देश्य निराश्रित बच्चों के पुनर्वास की व्यवस्था करना है। इस योजना के अन्तर्गत् विभिन्न कल्याण सेवायें जैसे रख-रखाव, भोजन, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि के लिये अनुदान तथा एक बार उपकरण, बिस्तर, शैया, बर्तन तथा भवन-निर्माण हेतु अनुदान प्रदान की जाती हैं। स्वैच्छिक अभिकरणों को आर्थिक सहायता राज्य सरकारों, केन्द्र शासित सरकारों के माध्यम से प्रदान की जाती है। राज्य सरकारों के सम्बन्ध में जो इस कार्य पर व्यय होता है उसका 45-45 प्रतिशत अंशदान राज्य तथा केन्द्र सरकारें करती हैं। 10 प्रतिशत व्यय-भार स्वैच्छिक संस्था को उठाना होता है। केन्द्र शासित प्रदेशों में 90 प्रतिशत अंशदान केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है तथा 10 प्रतिशत व्यय स्वैच्छिक संस्थायें करती हैं। जनजातीय क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार 95 प्रतिशत व्यय भार में बराबर-बराबर भार वहन करती हैं। सम्पूर्ण भारत में इस प्रकार की 879 संस्थायें इस क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। उत्तर प्रदेश 86 संस्थायें हैं जो इस कार्य के लिये केन्द्रीय सरकार से अनुदान ले रही हैं।

निराश्रित बच्चों का व्यावसायिक प्रशिक्षण :

इस योजना का व्यावसायिक प्रशिक्षण एक महत्वपूर्ण अंग है। यूनिसेफ की सहायता से निराश्रित बच्चों के प्रशिक्षण हेतु विशेष योजनायें चलायी गयी हैं। सभी राज्यों को इस कार्य में सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है।

आसाम उपद्रव (1983) में हुए निराश्रित बच्चों के कल्याण के लिए अनुदान :

सन् 1983 में आसाम में हुए उपद्रव के कारण अनेक बच्चे निराश्रित हो गये थे। उनके कल्याण के लिये कल्याण मन्त्रालय ने 1983-84 में एक योजना कार्यान्वित की। इस योजना के अन्तर्गत् आसाम के 'एस० ओ० एस० विलेजेज' को ऐसे बच्चों के रख-रखाव एवं पुनर्वास के लिये भारत सरकार अनुदान देती है। इन संगठनों को केन्द्रीय सरकार द्वारा सीधे सहायता प्रदान की जाती है।

भारतीय बाल कल्याण परिषद् को भी इस योजना के अन्तर्गत् आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है।

बाल-न्याय अधिनियम, 1986 :

उपेक्षित तथा बाल अपचारी बच्चों के कल्याण के लिये सन् 1986 में भारत सरकार ने बाल-न्याय अधिनियम बनाया जिसके अन्तर्गत् राज्यों के लिए बाल कल्याण बोर्ड, सम्प्रेक्षा गृह, बाल गृह, विशेष गृह को बनाना आवश्यक कर दिया गया है।

बाल सामाजिक असमायोजन के नियंत्रण तथा निरोध की योजना :

बाल-न्याय अधिनियम को प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करने के उद्देश्य से राज्य सरकारों की सहायता हेतु जिनसे वे आवश्यक कल्याण सेवायें उपलब्ध करा सकें, भारत सरकार ने सन् 1986-87 में एक योजना 'स्कीम फॉर प्रिवेन्शन ऐण्ड कन्ट्रोल ऑफ जूवेनाइल मालएडजस्टमेन्ट' कार्यान्वित की। राज्यों को सम्प्रेक्षण गृहों, बाल गृहों, विशेष गृहों, उत्तररक्षा गृहों तथा प्रशिक्षण हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुदान दिया जाता है। यह अंशदान कुल बजट का 50 प्रतिशत होता है। 50 प्रतिशत व्ययभार राज्य सरकार वहन करती है। स्वैच्छिक संस्थाओं को 90 प्रतिशत अनुदान दिया जाता है।

अपचारी बच्चे :

अमेरिका के अनेक राज्यों के बाल न्यायालयों के अधिनियमों में उन सभी बच्चों को बाल अपचारी माना जाता है जो किसी राज्य के कानून या स्थानीय अध्यादेश की धाराओं का उल्लंघन करते हैं, जो आवारा, सुधार से परे तथा स्वभाव से अवज्ञाकारी हैं, जो चोरों, अपराधियों, वेश्याओं, आवारों तथा व्यसनी व्यक्तियों की संगत में रहते हैं; जो अवांछनीय स्थानों या घरों पर जाते हैं तथा जो अभद्र, अश्लील लगने वाला व्यवहार करते हैं। भारतीय बाल-न्याय अधिनियम 1986 के अनुसार अपचारी बच्चे से तात्पर्य ऐसे बच्चे से है जिसके बारे में यह सिद्ध किया गया है कि उसने अपराध किया है। इस अधिनियम के अनुसार बच्चे का तात्पर्य ऐसे एक लड़के से है जिसने 18 वर्ष की आयु तथा एक लड़की जिसने 16 वर्ष की आयु अभी पूरी नहीं की है, से है।

बाल अपचारियों के सुधार के कार्यक्रम :

पश्चिमी देशों के सुधारवादी अभियानों का प्रभाव भारत में भी पड़ा। 1850 में ऐप्रेन्टिस ऐक्ट पारित किया गया जो 10 से 18 वर्ष तक की आयु के बच्चों के कल्याण की बात करता था। सन् 1876 में इस अधिनियम को

'रिफॉर्मेटरी स्कूल ऐक्ट' जिसका संशोधन 1897 में हुआ, द्वारा बदल दिया गया। इस अधिनियम में किशोर अपराधियों के मामलों पर निर्णय लेने के लिये एक पृथक् संगठन की व्यवस्था की गयी और न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान किया गया कि यदि वे उचित समझें तो किशोर अपराधियों को कारागार भेजने के स्थान पर 3 से 7 वर्ष तक के लिये सुधार विद्यालयों (रिफॉर्मेटरी स्कूल) में नज़रबन्द कर सकते हैं।

1884 के अधिनियम तथा 1898 में संशोधित दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 29 (8), 399 एवं 562 के अन्तर्गत् 21 वर्ष से कम आयु के बच्चों के मामलों के निपटारे की व्यवस्था है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 29 (ख) के अन्तर्गत् रिफॉर्मेटरी स्कूल अधिनियम 1897 के अन्तर्गत् कोई भी सक्षम अधिकारी 15 वर्ष से कम आयु के बच्चे का मुकदमा तय कर सकता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 309 के अन्तर्गत् यह व्यवस्था की गयी है कि यदि फौजदारी अदालत 15 वर्ष से कम आयु के बच्चे को कारावास की सजा देती है तो अदालत यह आदेश दे सकती है कि ऐसे दोषसिद्ध बच्चे को कारागार में न रखकर किसी सुधार विद्यालय में रखा जाये जहाँ वह शिक्षा तथा उपयुक्त व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सके।

भारत सरकार ने 1960 में केन्द्रीय बाल अधिनियम पारित किया जिसे एक आदर्श अधिनियम मानकर अनेक प्रान्तों ने अपनाया। कुछ कमियों के कारण पुनः इसमें संशोधन कर बाल अधिनियम के नाम से 1986 में इसे पारित किया गया। इस अधिनियम के प्रमुख उपबन्ध इस प्रकार हैं :

बाल कल्याण बोर्ड का गठन :

इस अधिनियम में राज्य सरकारों को अधिकार दिया गया है कि वे किसी क्षेत्र के लिये एक या अधिक बाल कल्याण बोर्ड गठित कर सकेंगे जहाँ उपेक्षित बच्चों के मामलों की सुनवायी होगी। बोर्ड एक अध्यक्ष और ऐसे सदस्यों से मिलकर बनेगा जिन्हें नामित करना सरकार उचित समझे। इन सदस्यों में एक महिला अवश्य होगी। इस बोर्ड का प्रत्येक सदस्य दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 (1974 का 2) के आधीन मजिस्ट्रेटों की शक्तियाँ निहित होंगी तथा बोर्ड मजिस्ट्रेटों के न्यायपीठ के रूप में कार्य करेगा। उसे दण्ड प्रक्रिया संहिता के (1974का 2) द्वारा प्रदत्त प्रथम 1973 वर्ग के मजिस्ट्रेटों की शक्तियाँ प्राप्त होंगी। आज लगभग सभी प्रदेशों में बाल कल्याण बोर्ड स्थापित हो चुके हैं।

बाल न्यायालय :

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी सरकार शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा एक या अधिक

बाल न्यायालय गठित कर सकेगा जो बाल अपराधी बालकों के विषय में इस अधिनियम के अधीन ऐसे न्यायालय को प्रदत्त या उस पर अधिरोपित शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वाह करेगा।

बाल न्यायालय न्यायपीठ गठित करने वाले उतने न्यायाधीशों को मिलकर बनेगा जितने नियुक्त करना प्रशासन ठीक समझे और उनमें एक ज्येष्ठ न्यायाधीश बनाया जायेगा। हर ऐसे न्यायपीठ को दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 (1974 का 2) द्वारा प्रदत्त प्रथम या वर्ग के न्यायिक न्यायाधीश या मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट की शक्तियाँ प्राप्त होंगी। प्रत्येक बाल न्यायालय के दल में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ता होंगे जिनमें एक महिला अवश्य होगी। बाल न्यायालय का पैनेल राज्य सरकार द्वारा नामित किया जायेगा।

बोर्ड तथा बाल न्यायालय की प्रक्रिया :

बोर्ड के सदस्यों में या बाल न्यायालय के न्यायाधीश में मतभेद होने की दशा में बहुसंख्या की राय मानी जायेगी किन्तु जहाँ बहुसंख्या न हो वहाँ यथास्थिति अध्यक्ष या ज्येष्ठ मजिस्ट्रेट की राय माननी होगी। बोर्ड या बाल न्यायालय, यथास्थिति, बोर्ड के सदस्य या बाल न्यायालय के किसी मजिस्ट्रेट के अनुपस्थित रहते हुए भी कार्य कर सकेगा और बोर्ड या न्यायालय द्वारा किया गया कोई आदेश केवल इस कारण अमान्य न होगा कि कार्यवाही के किसी प्रक्रम के दौरान कोई सदस्य या मजिस्ट्रेट अनुपस्थित था।

कोई व्यक्ति बोर्ड के सदस्य अथवा न्यायालय में मजिस्ट्रेट के रूप में तब तक नियुक्त नहीं किया जायेगा जब तक वह राज्य सरकार की राय में बाल मनोविज्ञान और बाल कल्याण का विशेष ज्ञान न रखता हो। बोर्ड या न्यायालय को इस अधिनियम के अधीन सब कार्यवाहियों के सम्बन्ध में कार्य करने की शक्ति प्राप्त होगी। जहाँ कोई बोर्ड या न्यायालय गठित न किया गया हो वहाँ इस अधिनियम द्वारा या इसके अधीन बोर्ड या बाल न्यायालय को प्रदत्त शक्तियाँ उस क्षेत्र में केवल निम्नलिखित द्वारा प्रयुक्त की जायेंगी :—

(1) जिला न्यायाधीश,

(2) उपखण्ड न्यायाधीश या

(3) प्रथम वर्ग या न्यायिक न्यायाधीश या मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट इस अधिनियम द्वारा या इसके अधीन बोर्ड या न्यायालय को प्रदत्त शक्तियाँ उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय द्वारा भी उस दशा में प्रयुक्त की जा सकेंगी जबकि कोई कार्यवाही उनके समक्ष अपील या पुनरीक्षण में या अन्यथा आये।

किसी ऐसे मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश की, जो इस अधिनियम के अधीन बोर्ड या बाल न्यायालय की शक्तियों का प्रयोग करने के लिये सशक्त न हो, यह राय हो कि इस अधिनियम के उपखण्डों में से किसी के अधीन उसके समक्ष (साक्ष्य देने के प्रयोजनार्थ से अन्यथा) लाया गया व्यक्ति बच्चा है, तब वह उस राय को अभिलिखित करेगा और उस बच्चे को तथा उस कार्यवाही के अभिलेख को सक्षम अधिकारी को भेजेगा। वह सक्षम अधिकारी जिसे उपधारा (1) के अधीन कार्यवाही भेजी जाये इस प्रकार जाँच करेगा मानो बच्चा मूलतः उसके समक्ष लाया गया हो।

बाल गृहों की स्थापना :

(1) राज्य सरकार उपेक्षित बच्चों को इस अधिनियम के अधीन रहने के लिये उतनी संख्या में बालगृह स्थापित कर सकेगी और बनाये रख सकेगी जितनी आवश्यक हो। (2) जहाँ सरकार की राय हो कि उपधारा (1) के अधीन स्थापित संस्था से भिन्न कोई संस्था इस अधिनियम के अधीन वहाँ भेजे जाने वाले उपेक्षित बच्चों को रखने के लिये ठीक है, वहाँ उस संस्था को इस अधिनियम के प्रयोजनार्थ बाल गृह के रूप में सरकार प्रमाणित कर सकेगी।

हर बाल गृह, जिसमें कोई उपेक्षित बच्चा इस अधिनियम के अधीन भेजा जाये, बच्चे के लिये आवास सुविधा, भरण-पोषण और शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा पुनर्वासन की सुविधाओं की ही व्यवस्था नहीं करेगा बल्कि उसके लिये चरित्र और योग्यताओं के विकास की सुविधाओं की व्यवस्था भी करेगा। उसे इस बात के लिये आवश्यक प्रशिक्षण देगा कि वह नैतिक खतरों या शोषण से अपना संरक्षण कर सके।

विशेष गृह :

राज्य सरकार अपचारी बच्चों को इस अधिनियम के अधीन रखने के लिये उतनी संख्या में विशेष गृह स्थापित कर सकेगी और बनाये रख सकेगी जितने आवश्यक हों। जहाँ सरकार की राय हो कि उपधारा (1) के अधीन स्थापित संस्था से भिन्न कोई संस्था इस अधिनियम के अधीन वहाँ भेजे जाने वाले अपचारी बच्चों को रखने के लिये ठीक है, वहाँ उस संस्था को इस अधिनियम के प्रयोजनार्थ विशेष गृह के रूप में प्रमाणित कर सकेगी। हर विशेष गृह जिसमें कोई अपचारी बच्चा इस अधिनियम के अधीन भेजा जाये, उसके लिये आवास सुविधा, भरण-पोषण, शिक्षा सुविधाओं, व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा पुनर्वासन की ही व्यवस्था नहीं करेगा अपितु उसके लिये अपने चरित्र और योग्यताओं के विकास की सुविधाओं की व्यवस्था भी करेगा और उसके सुधार के लिये

वे सब कार्य करेगा जिससे उसका तथा उसके व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास हो सके ।

प्रेक्षा गृह :

राज्य सरकार इस अधिनियम के अधीन जाँच लम्बित रहने के दौरान उन्हें अस्थायी तौर पर रखने के लिये उतनी संख्या में प्रेक्षागृह स्थापित कर सकेगी और बनाये रख सकेगी जितने आवश्यक हों । जहाँ सरकार की यह राय हो कि उपधारा (1) के अधीन स्थापित संस्था से भिन्न कोई संस्था इस अधिनियम के अधीन बच्चों के बारे में जाँच के लम्बित रहने के दौरान उन्हें अस्थायी तौर पर रखने के लिये ठीक है वहाँ उस संस्था को इस अधिनियम के प्रयोजनार्थ प्रेक्षागृह के रूप में मान्यता प्रदान कर सकेगी । प्रत्येक सम्प्रेक्षा गृह जिसमें कोई बच्चा इस अधिनियम के अधीन भेजा जाये, उस बच्चे के लिये आवास सुविधा, भरण-पोषण और चिकित्सकीय परीक्षा तथा उपचार की सुविधाओं की ही व्यवस्था नहीं करेगा अपितु उसके लिये उपयोगी व्यावसायिक सुविधायें भी प्रदान करेगा ।

उत्तर रक्षा संगठन :

राज्य सरकार उत्तर रक्षा संगठनों की स्थापना और उनको मान्यता प्रदान करने के लिये इस अधिनियम के अधीन व्यवस्था करेगी और उनमें ऐसी शक्तियाँ निहित कर सकेगी जो इस अधिनियम के अधीन उनके कृत्यों के प्रभावशील निष्पादन के लिये आवश्यक हों । हर ऐसा संगठन बच्चों की जब वे बाल गृहों या विशेष गृहों से छोड़े जायँ, देख-रेख करेगा और उन्हें ईमानदार, परिश्रमी और उपयोगी जीवन बिताने के लिये समर्थ बनाने के प्रयोजनार्थ ऐसे सब उपाय करेगा जो वह आवश्यक समझे या जिन्हें निर्देशित किया जाये ।

अपचारी बच्चों की जमानत तथा अभिरक्षा :

जब कोई ऐसा बच्चा जमानती या अजमानती अपराध का अभियुक्त हो, गिरफ्तार या निरूद्ध किया जाये अथवा बाल न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाये तब दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 (1974 का 2) में या अन्य किसी तत्सम लागू विधि में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी उस बच्चे को प्रतिभूति सहित या बगैर जमानत छोड़ दिया जायेगा किन्तु उस समय वह नहीं छोड़ा जायेगा जब यह सम्भावना हो कि उसका संग किसी कुख्यात अपराधी से होगा या वह पुनः नैतिक खतरे में पड़ जायेगा और मुक्ति के न्यायिक उद्देश्य विफल हो जायेंगे ।

जब गिरफ्तार किया गया बच्चा उपधारा (1) के अधीन जमानत पर पुलिस स्टेशन इन्चार्ज द्वारा न छोड़ा जा सके तब वह उस बच्चे को संप्रेक्षण गृह अथवा सुरक्षित स्थान पर (पुलिस स्टेशन व जेल को छोड़कर) तब तक रखवायेगा जब तक उस बच्चे को न्यायालय के समक्ष न लाया जा सके ।

अपचारी बच्चों के बारे में बाल न्यायालय द्वारा जाँच एवं आदेश :

बाल न्यायालय अपने समक्ष उपस्थित किये गये बच्चों के सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने के उपरान्त (1) बच्चे को सलाह या भर्त्सना के पश्चात् घर जाने दे सकेगा; (2) बच्चे को सदाचरण की परिवीक्षा पर छोड़ने और माता-पिता, संरक्षक या अन्य योग्य व्यक्ति की देख-रेख में रहने का आदेश, बच्चे के सदाचार और उसकी भलाई के लिये (प्रतिभूति सहित या रहित) 3 वर्ष से कम की किसी अवधि के लिये अनुबन्धपत्र ऐसे माता-पिता, संरक्षक या योग्य व्यक्ति द्वारा निष्पादित किये जाने पर दे सकेगा; (3) परिवीक्षा पर छोड़ने के आदेश पारित करेगा तथा किसी उचित संस्था में अच्छे आचरण के लिये किसी अवधि के लिये, लेकिन 3 वर्ष से कम, रखने के आदेश पारित करेगा; (4) किसी भी बच्चे को विशेष गृह में निम्नलिखित अवधि के लिये भेजने का आदेश पारित कर सकता है :

16 वर्ष से अधिक आयु के लड़के या 14 वर्ष से अधिक आयु की लड़की की दशा में तीन वर्ष कम से कम कालावधि के लिये ।

5. किसी अन्य बच्चे की दशा में तब तक के लिये जब तक वह बच्चा रहता है ।

भारत में बाल न्याय अधिनियम का कार्यान्वयन :

केन्द्रीय बाल न्याय अधिनियम 1986 का देश के अधिकांश प्रान्तों में कार्यान्वयन किया जा रहा है। आन्ध्र प्रदेश, गोवा, गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, केरल, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, अण्डमान-निकोबार, चण्डीगढ़, दिल्ली, दमन-दिव, दादर, नागर हवेली, लक्ष द्वीप तथा पाण्डिचेरी में यह अधिनियम लागू हो गया है । अन्य राज्यों में सम्बन्धित नियम बनाये जा रहे हैं। इस अधिनियम द्वारा सम्प्रेक्षागृह, बालगृह, विशेषगृह तथा उत्तर रक्षा केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनका विवरण तालिका सं० 8 में दिया गया है ।

मादपी बच्चे :

सन् 1950 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के विश्व स्वास्थ्य संगठन विभाग द्वारा गठित एक विशेषज्ञ समिति ने मादक औषधिव्यसन की निम्नलिखित परिभाषा

दी जिसे आज विश्व के समस्त देशों में स्वीकार किया जा रहा है। 'मादक औषधि व्यसन नियतकालिक अथवा दीर्घकालिक उन्माद की वह अवस्था है जो किसी नशीली औषधि (प्राकृत अथवा अकृत्रिम अथवा संश्लेषित तथा कृत्रिम) के निरन्तर प्रयोग से उत्पन्न होती है और जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों को हानि पहुँचती है। इस व्यसन की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :—

1. इन औषध द्रव्यों के सेवन करने को उत्कट एवं असहनीय इच्छा अथवा मनोजैवकीय आवश्यकता तथा इनको हर सम्भव साधन द्वारा प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय :
2. इन औषधियों की खुराक निरन्तर बढ़ाने की प्रवृत्ति तथा
3. इन औषधियों के प्रभाव पर मानसिक अथवा शारीरिक निर्भरता।

चिकित्सा एवं मनोचिकित्सा के क्षेत्र में जो आधुनिक अनुसन्धान हुये हैं उनके निष्कर्षों से सिद्ध हुआ है कि इन मादक औषधियों के सेवन के अनेक भयंकर दुष्परिणाम होते हैं। जिन बच्चों को इन दवाओं तथा पदार्थों के सेवन की आदत पड़ जाती है उनमें बहुधा शारीरिक तथा मानसिक दुष्परिणाम दिखाई देते हैं। उनमें भूख समाप्त हो जाना, वजन घटना, उदासीनता, अस्त-व्यस्त तथा दुःखी जीवन, कार्यक्षमता का ह्रास, कुशलता की कमी, चिड़चिड़ापन, आत्म केन्द्रित होना, दूसरों से सम्बन्ध न रखना, अनैतिक, असामाजिक तथा अवैध कार्य करना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इन पदार्थों तथा दवाओं को एका-एक त्याग देने से अनेक असहनीय शारीरिक व मानसिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

मादक औषधि व्यसन निषेध तथा रोकथाम :

भारत सरकार के सामाजिक प्रतिरक्षा विभाग द्वारा मादक औषधि व्यसन की रोकथाम को अत्यधिक प्राथमिकता दी जा रही है। मादक औषधि के दुरुप-योग को रोकने के लिये बहुमुखी रणनीति तैयार की गयी है। गृह मंत्रालय का कार्य 'नारकोटिक्स ड्रग्स ऐण्ड साइकोट्रापिक सब्स्टैन्सेस ऐक्ट 1985' को लागू करना है। स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण मन्त्रालय का कार्य मादक औषधि व्यसनियों को चिकित्सात्मक सेवायें उपलब्ध कराना है। इससे होने वाली हानियों एवं दुष्परिणामों से जनता को अवगत कराने का कार्य सूचना एवं प्रसार मंत्रालय का है। इसके अतिरिक्त शिक्षा तथा युवा विभाग भी सहायता करते हैं। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कल्याण मन्त्रालय का है जो सभी विभागों में समन्वय रखता है तथा समस्या के कल्याणकारी पहलू का कार्यान्वयन करता है। इस समस्या से निपटने के लिये निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं :—

1. चेतना जागृति,
2. मन्त्रणा तथा निर्देशन,
3. उपचार,
4. पुनर्वासिन तथा
5. उत्तर रक्षा सेवायें ।

कल्याण मन्त्रालय ने मादक औषधि व्यसन को रोकने तथा निषेध के लिये निम्नलिखित प्रयत्न किये हैं :—

1. डी-ऐडिक्शन सेन्टर की स्थापना :

इस समस्या के समाधान के लिये तथा ग्रसित बच्चों एवं युवकों के उपचार के लिये 31-3-89 तक 24 डी-ऐडिक्शन सेन्टर खोले जा चुके थे। राज्यवार ब्योरा तालिका सं० 15 में दिया गया है।

2. डी-ऐडिक्शन कैम्प्स :

प्रतिवर्ष बच्चों एवं युवकों को इस समस्या के दुष्परिणामों से अवगत् कराने के लिये कैम्प लगाये जाते हैं।

3. मन्त्रणा केन्द्र :

बच्चों तथा युवकों को सलाह देने के लिये मन्त्रणा केन्द्र स्थापित किये गये हैं। राज्यवार ब्योरा तालिका 16 में दिया गया है।

4. उत्तर रक्षा केन्द्र :

चिकित्सा के साथ-साथ इन समस्याग्रस्त बच्चों एवं युवकों के लिये मनोवैज्ञानिक चिकित्सा व निरन्तर निरीक्षण की आवश्यकता होती है। इसके लिए पाँच उत्तर रक्षा केन्द्र खोले गये हैं।

5. स्वैच्छिक संस्थाओं को वाहन तथा इमारत के लिये अनुदान :

केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्यों को अधिक बेहतर बनाने के लिये वाहन खरीदने तथा अपनी इमारत बनाने के लिये अनुदान दिया जा रहा है।

6. प्रशिक्षण पाठ्यक्रम तथा संगोष्ठी :

इस समस्या से निपटने वाले कर्मियों को प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी है। समस्या पर अधिक प्रकाश डालने तथा सुझाव प्राप्त करने के उद्देश्य से संगोष्ठियाँ की जा रही हैं।

7. चेतना जागृति कार्यक्रम :

विद्यार्थियों, युवकों तथा अन्य लोगों को इस समस्या से भलीभाँति परिचित होने के लिये स्वैच्छिक संस्थायें चेतना-जागृति का कार्य कर रही हैं। प्रदेश का

मद्य निषेध विभाग भी इस कार्य में लगा हुआ है। इसके लिये स्वैच्छिक संस्थाओं को केन्द्र द्वारा अनुदान दिया जा रहा है।

बाल श्रमिक :

बाल श्रमिक की सर्वमान्य परिभाषा राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कहीं भी उपलब्ध नहीं है जो भी परिभाषायें हैं वे इसके दो तत्वों को अलग-अलग पारिभाषित करती हैं। बालक का अर्थ 16 वर्ष से कम आयु की लड़की तथा 18 वर्ष से कम के लड़के से है। श्रम का तात्पर्य शारीरिक परिश्रम करने से है। इस प्रकार बाल-श्रम का तात्पर्य बच्चों द्वारा भुगतान अथवा बिना भुगतान के शारीरिक श्रम से है जो विभिन्न कार्यों में भागीदार बनते हैं। बच्चों के शोषण की कहानी बहुत प्राचीन है। औद्योगिक युग से पूर्व बच्चे अपने परम्परागत् कार्यों को करते थे। परिवार में वयोवृद्ध लोगों की खेती के कार्यों में सहायता करते थे। लेकिन औद्योगीकरण के विकास ने परम्परागत् कार्यों में परिवर्तन ला दिया। लोग गाँवों से शहरों की ओर आने लगे। बच्चे भी इस समस्या का शिकार हुये और वे भी काम की तलाश में भटकने लगे। आज की ऐसी परिस्थितियाँ हैं जहाँ बच्चे होटलों, जलपान गृहों, सिनेमाघरों, दुकानों, कारखानों आदि स्थानों पर बहुत कठिन परिस्थितियों में काफी अधिक समय तक काम करते हुये देखे जा सकते हैं।

इस समस्या-समाधान के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अनेक उपाय किये। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन बनाया गया और उसके अन्तर्गत् बाल श्रमिकों के कल्याण के प्रावधान किये गये। भारत में भी स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक विधान तथा अधिनियम बनाये गये हैं। सन् 1978 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंगठन ने बताया कि विश्व में इस समय 5.2 करोड़ बच्चे बाल श्रमिक के रूप में कार्य कर रहे हैं जिनमें से 3.8 करोड़ एशिया में हैं। भारत में एशिया के एक तिहाई बाल श्रमिक हैं।

भारत में कुल 179597 मिलियन बच्चे हैं जिनमें 13641 मिलियन बच्चे श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार इनका प्रतिशत 7.60 है। ग्रामीण क्षेत्रों में बाल श्रमिकों का औसत प्रतिशत 8.97 है (तालिका 17)। विभिन्न कार्यों में लगे बाल श्रमिकों की संख्या का वितरण तालिका 18 में दिया गया है।

बच्चे श्रमिक के रूप में इसलिये कार्य करते हैं तथा उनका शोषण हो रहा है क्योंकि व्यक्तित्व के समुचित विकास की बात तो दूर रही, उनके जीवित रहने के लिये व आवश्यक जरूरतों को पूरा करने के लिये अपेक्षित साधन नहीं

हैं । उनके माता-पिता अपनी निर्धनता, बड़े परिवारों, ऋणग्रस्तता, शिक्षा के लिए अपेक्षित संसाधनों को जुटा पाने में अक्षमता जैसे अनेक कारणों से अपने बच्चों को मजदूरी पर आधारित सेवायोजना के लिये बाध्य हैं । अपनी दयनीय स्थिति के कारण ऐसे माता-पिता बच्चों को काम में लगाने और मालिकों द्वारा अपने बच्चों के साथ किये जाने वाले गाली-गलौज, मारपीट आदि दुर्व्यवहारों को बर्दाश्त करने के लिये विवश हैं ।

व्यवस्था से बाध्य होकर मजदूरी पर आधारित सेवायोजन में लगे हुये इन बच्चों का अनेक प्रकार से शोषण किया जाता है, उनसे लम्बी अवधि तक काम लिया जाता है, मजदूरी कम दी जाती है, मानसिक एवं शारीरिक उत्पीड़न किया जाता है । उनसे, छोटे-छोटे लालच देकर, कालाबाजारी तथा तस्करी करवायी जाती है । बाधित कर उनसे भीख माँगने जैसे कार्य भी करवाये जाते हैं और यहाँ तक कि उन्हें बाध्य करते हुए अथवा लालच देते हुए अपने शरीर का व्यापार करने के लिये प्रेरित किया जाता है ।

बाल श्रमिकों की शोषण से रक्षा :

बाल श्रमिकों की शोषण से रक्षा करने के उद्देश्य से स्वतन्त्रता से पूर्व अनेक वैधानिक प्रयास (बाल श्रम अनुबन्ध) अधिनियम 1933, बाल श्रमिक रोजगार अधिनियम, (1938); किये गये लेकिन इस दिशा में नियोजित प्रयास स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही हो सका । भारत के संविधान का अनुच्छेद 23 मानव के अनैतिक व्यापार और बेगार तथा इसी प्रकार के अन्य जबरदस्ती लिये जाने वाले श्रम को प्रतिबद्ध करता है । इस प्रावधान का उल्लंघन दण्डनीय अपराध है । संविधान के अनुच्छेद 24 में व्यवस्था की गयी है कि 14 वर्ष से कम के बच्चों को किसी कारखाने या खान या किसी अन्य जोखिम भरे कार्यों में लगाना प्रतिबन्धित है । अनुच्छेद 39 में व्यवस्था की गयी है कि (1) पुरुषों तथा स्त्रियों के लिये समान कार्य के लिये समान वेतन हो (2) कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बच्चों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगार में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो, (3) बच्चों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वास्थ्य विकास के अवसर और सुविधायें दी जायें और बच्चों तथा युवाओं की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाये ।

संविधान में वर्णित बाल संरक्षण के साथ-साथ अनेक सामाजिक विधानों, जैसे कारखाना अधिनियम, 1948; बागान श्रम अधिनियम, 1951; खदान

अधिनियम, 1952; श्रम नियोजन अधिनियम, 1958; मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम, 1961; व्यापारी जहाज अधिनियम, 1958; बीड़ी सिगार कर्मचारी अधिनियम, 1966; बंधुआ श्रमिक मुक्ति अधिनियम, 1971, आदि के द्वारा 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों के नियोजन को प्रतिबन्धित किया गया है। परन्तु इन अधिनियमों में अनेक कमियाँ थीं, जैसे किन व्यवसायों एवं उद्योग-धन्धों में बाल श्रमिकों का सेवा योजन निषिद्ध है, स्पष्ट नहीं था। साथ ही साथ जिन उद्योग-धन्धों में बाल श्रमिकों का सेवा नियोजन निषिद्ध नहीं था, वहाँ उनके कार्य करने की दशायें क्या होंगी, इसके स्पष्ट प्रावधान नहीं थे। इन कमियों को दूर करने के लिये बाल श्रमिक (नियमन एवं उन्मूलन) अधिनियम 1986 पारित किया गया।

लेकिन बाल श्रमिकों की दशाओं एवं उनकी संख्या को देखकर पता चलता है कि अब तक बाल श्रमिकों के कल्याण एवं हित-पोषण से सम्बन्धित जो संवैधानिक एवं वैधानिक प्रयत्न किये गये हैं उनका समुचित लाभ नहीं हुआ है। इसका प्रमुख कारण व्यापक स्तर पर बाल श्रमिकों के परिवारों की गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, बाल श्रमिक जनसंख्या की अधिकता, भ्रष्टाचार, उद्योगपतियों के निहित स्वार्थ आदि हैं। आर्थिक विकास के मौजूदा चरण में बच्चों को मजदूरी से हटाना व्यावहारिक नहीं होगा। अतः यह अति आवश्यक है कि बाल श्रमिकों के कार्य करने की दशाओं को अनुकूल बनाया जाये। इसके लिये निम्नलिखित प्रयत्न किये जाने आवश्यक हैं :—

1. राष्ट्रीय बाल आयोग गठित किये जायें जो बालकों के हितों के संरक्षण हेतु आवश्यक कदम उठायें।
2. बाल श्रमिकों के परिवारों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये विशेष रोजगार योजनायें चलायी जायें। इन योजनाओं में अन्य कार्यक्रमों के अतिरिक्त बाल श्रमिकों के अभिभावकों को अनौपचारिक एवं व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाये।
3. जहाँ पर बाल श्रमिकों की संख्या अधिक हो वहाँ बाल श्रमिक नगर खोले जायें जिनमें बाल श्रमिकों से हल्के कार्य जैसे अगरबत्ती बनाना, साबुन बनाना, पापड़ बनाना, पत्तल बनाना आदि के कार्य कराये जायें। यहाँ बाल श्रमिकों को निःशुल्क अनौपचारिक, व्यावसायिक शिक्षा दी जाये तथा स्वस्थ मनोरंजन का प्रबन्ध किया जाये।
4. जनपद स्तर पर 'घरेलू नौकर रोजगार कार्यालय' खोले जायें जिनमें 14 वर्ष तक के बच्चों का पंजीकरण किया जाय। इस योजना से जहाँ एक

ओर नगर निवासियों को घरेल नौकर उपलब्ध होंगे वहीं दूसरी ओर बाल श्रमिकों की शोषण से रक्षा होगी।

5. बाल निरीक्षकों की संख्या बढ़ायी जाये, उन्हें उचित प्रशिक्षण दिया जाये तथा श्रम कानूनों की पूर्ण जानकारी दी जाये जिससे कानून के प्रावधानों का उल्लंघन न हो।
6. बाल श्रमिकों की संख्या वृद्धि को रोकने के लिये बाल श्रमिक परिवारों के लिये परिवार कल्याण कार्यक्रमों पर विशेष बल दिया जाये।
7. बाल श्रमिकों को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिये शासन की दृढ़ राजनीतिक इच्छा-शक्ति आवश्यक है जिसके बिना व्याप्त भ्रष्टाचार को कम नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि शासन कठोर कदम नहीं उठायेगा तो नियमों व कानूनों का निरन्तर उल्लंघन होगा। सरकारी स्तर पर भी समस्या से सम्बन्धित सुझाव फाइलों तक ही सीमित रह जायेंगे।
8. बाल मजदूरों का संगठन बनाया जाये तथा उसे कानूनी दर्जा दिया जाये।

बच्चों के कल्याण से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें :—

बच्चों के कल्याण के लिये निम्नलिखित अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं ?

संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय बाल कोष (यूनिसेफ) :

'यूनाइटेड नेशन्स इन्टरनैशनल चिल्ड्रेन इमरजेन्सी फण्ड' की स्थापना 1946 में की गयी थी। इसका मुख्य उद्देश्य शिशु कल्याण सम्बन्धी सेवायें प्रदान करना और बच्चों के लिये भोजन की व्यवस्था करना था। यूनाइटेड नेशन्स असेम्बली ने कानून बनाकर इसका कार्य सीमित कर दिया जिसके आधार पर 'यूनिसेफ' का कार्य युद्ध के कारण उजड़े हुए देश के बच्चों के पुनर्वास से सम्बन्वित कार्य करना था। अनेक राष्ट्र इस संस्था को आर्थिक सहायता करने लगे जिससे आपात्कालीन कार्य किया जाने लगा। लड़ाई के बाद 1950 में यह योजना बच्चों की स्थायी ढंग की सहायता, शिशु स्वास्थ्य, क्षय तथा अन्य गम्भीर बीमारियों से बचने के लिये टीका और शिशु कल्याण कार्यकर्ताओं के लिये प्रशिक्षण सम्बन्धी योजना में बदल दी गयी। 6 अक्टूबर 1953 को संयुक्त राष्ट्र में यह निश्चय किया गया कि 'यूनिसेफ' को स्थायो आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण के लिये कार्यरत् रखा जाये।

भारतवर्ष सहायता देने वाला तथा सहायता प्राप्त करने वाला दोनों ही प्रकार का देश है। 'यूनिसेफ' का क्षेत्रीय कार्यालय 1949 में स्थापित

किया गया था। 'यूनिसेफ' भारत सरकार को निम्नलिखित क्षेत्रों में सहायता करता है :—

(1) समन्वित बाल विकास सेवायें,
(2) व्यावहारिक पोषण,
(3) खाद्य वस्तुओं की प्रोसेसिंग,
(4) स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण,
(5) जल एवं पर्यावरण स्वच्छता,
(6) प्राथमिक शिक्षा,
(7) खाद्य एवं पोषण में उच्च शिक्षा तथा
(8) राष्ट्रीय जन सहयोग एवं बाल विकास संस्था।

विश्व स्वास्थ्य संघटन :

संयुक्त राष्ट्र ने 1946 में न्यूयार्क में एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलन आयोजित किया जिसमें विश्व स्वास्थ्य संघ के संविधान को स्वीकार किया गया और 1948 में इसका शुभारम्भ हुआ। यह पहली विश्वव्यापी स्वास्थ्य संस्था है जो संयुक्त राष्ट्र की विशेषज्ञ शाखा का काम कर रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मुख्य उद्देश्य विश्व के सभी मनुष्यों को स्वास्थ्य का ऊँचे से ऊँचा स्तर प्रदान करना है। इसके प्रमुख कार्यक्रमों में मातृत्व तथा शिशु का विकास, पौष्टिक आहार, वातावरण सम्बन्धी स्वास्थ्य रक्षा तथा मलेरिया, क्षय रोग, मैथुन सम्बन्धी रोग आदि अनेक फैलने वाली बीमारियों पर नियन्त्रण पाना है। भारत विश्व स्वास्थ्य संगठन का इसकी स्थापना 1948 से ही सदस्य रहा है। भारत को विश्व स्वास्थ्य संगठन निम्नलिखित क्षेत्रों में सहायता दे रहा है :—

(1) मलेरिया उन्मूलन,
(2) संक्रामक एवं फैलने वाली बीमारियों की रोकथाम,
(3) पर्यावरण स्वास्थ्य,
(4) स्वास्थ्य सेवाओं का संगठन,
(5) परिवार कल्याण,
(6) स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसन्धान कार्य,
(7) स्वास्थ्य सुरक्षा तथा प्रोन्नति,
(8) शिक्षा तथा प्रशिक्षण व
(9) फार्माकिलॉजी एवं विष अनुसन्धान।

(2) कार्यकारिणी बोर्ड तथा

(3) सचिवालय ।

विश्व स्वास्थ्य असेम्बली सबसे प्रमुख एवं नियंत्रक शाखा है जो संगठन के कार्यों का निर्धारण एवं बजट पर नियन्त्रण रखती है। बोर्ड का कार्य असेम्बली द्वारा लिये गये निर्णयों को कार्यान्वित करना है। सचिवालय वास्तविक कार्य करने वालों का संगठन है जिसमें कर्मचारीगण होते हैं जो नीतियों को कार्यान्वित करते हैं।

खाद्य तथा कृषि संगठन :

खाद्य तथा कृषि संघ में संयुक्त राष्ट्र की विशेषज्ञ शाखा के रूप में 1948 में स्थापित किया गया था तथा भारत इसका सदस्य था। यह ऐसी पहली संस्था थी जो विश्व सहयोग के विभिन्न क्षेत्रों की देखरेख के लिये स्थापित की गयी थी। खाद्य तथा कृषि संगठन के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य हैं :—

(1) देशों का जीवन स्तर ऊँचा करने में सहायता करना,

(2) सभी देशों में लोगों के पोषण के स्तर को ऊँचा करना,

(3) खेती, वानिकी तथा मछली पालन की क्षमता में वृद्धि करना,

(4) ग्रामीणों की दशाओं को बेहतर बनाना,

(5) खाद्य तथा कृषि की तकनीकी शिक्षा प्रदान करना,

(6) जानवरों की नस्ल में सुधार तथा

(7) अन्न सुरक्षा ।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन :

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन सन् 1919 में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् शान्ति सन्धि के तेरहवें भाग के अन्तर्गत् स्थापित किया गया था। यह संगठन बच्चों एवं स्त्रियों के श्रम की रक्षा करने, सामाजिक बीमा योजना के विकास के लिये जन सहायक विधानों के निर्माण और पारिवारिक भत्तों के लिये आर्थिक तथा सामाजिक कौंसिल के निकटतम सम्पर्क में कार्य करता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम

(3) सामाजिक तथा आर्थिक स्थायित्व में वृद्धि करना,

(4) उन संस्थाओं की सहायता करना जो रोजगार में वृद्धि तथा जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में संलग्न हैं।

(5) स्वास्थ्य तथा श्रम के क्षेत्र में विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रयासों में भी सहायता करना है।

केयर (कोऑपरेटिव फॉर अमेरिकन रिलीफ एवरीह्वेयर) :

'केयर' एक अन्तर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठन है जिसकी स्थापना 1946 में योरप के युद्ध से क्षतिग्रस्त देशों को अमेरिका के दानियों द्वारा दी गयी खाद्य सामग्री को भेजने के लिये स्थापित की गयी थी। जब उसका यह कार्य पूरा हो गया तो इस संस्था को अन्य देशों की सहायता के लिये भी कार्य करने का अवसर दिया गया तथा इसकी सेवाओं को विस्तृत रूप दिया गया। भारत में 'केयर' संस्था सन् 1950 से कार्यरत् है। यह संस्था निम्नलिखित क्षेत्रों में सहायता कर रही है :—

(1) पूर्वाह्न भोजन कार्यक्रम,

(2) औषधि उत्पादन एवं अनुसन्धान,

(3) शिक्षा,

(4) व्यावसायिक प्रशिक्षण,

(5) कृषि तथा

(6) चिकित्सा।

अन्तर्राष्ट्रीय रेड क्रॉस :

अन्तर्राष्ट्रीय रेड क्रास गैर राजनीतिक, गैर सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी संगठन है जिसका उद्देश्य युद्ध एवं शान्ति दोनों ही समय में मानव की सेवा करना है। यह संस्था हेनरी डुनेन्ट द्वारा 1864 में बनायी गयी थी। इसका पहला कन्वेन्शन 1864 में जिनेवा में हुआ जिसमें फौज के घायलों की देख-रेख के कार्य का उत्तरदायित्व ग्रहण किया गया। यह संस्था आपात्कालीन स्थिति के अतिरिक्त सामान्य अवस्था में भी कार्य करती है जिससे मानव के कष्टों का अन्त हो सके। भारत में यह संस्था मातृत्व एवं बाल कल्याण के क्षेत्र में अतुलनीय भूमिका निभा रही है।

बच्चों के अधिकार पर संयुक्त राष्ट्र संघ शिखर सम्मेलन :

बच्चों की विशेष देखभाल प्रदान करने की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बच्चे के अधिकारों की जिनेवा में घोषणा 1924 तथा संयुक्त राष्ट्र संघ

द्वारा 1959 में की गयी। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में, विशेष रूप से 23वें और 24वें अनुच्छेदों में; आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में विशेष अनुच्छेद 10 में, बच्चों के कल्याण से सम्बन्धित विशेषीकृत अभिकरणों और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की परिनियमावलियों और सम्बन्धित उपनियमों में इसे स्वीकार किया गया। 20 नवम्बर 1959 को संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा द्वारा अपनाये गये बाल अधिकार की घोषणा में स्पष्ट लिखा है कि बच्चे को उसकी शारीरिक एवं मानसिक अपरिपक्वता के कारण उपयुक्त विधिक संरक्षण सहित जन्म के पूर्व तथा पश्चात् विशिष्ट संरक्षण एवं देखभाल की आवश्यकता है।

बच्चे के संरक्षण एवं कल्याण से सम्बन्धित सामाजिक एवं विधिक सिद्धान्तों की घोषणा, (राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पोषण हेतु रखे जाने एवं गोद लिये जाने से सम्बन्धित) 3 दिसम्बर 1986 को की गयी। बाल न्याय के प्रशासन हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ के मानक न्यूनतम नियम की घोषणा 29 नवम्बर 1985 को की गयी। आपात्काल एवं सैनिक संधि काल में महिलाओं एवं बच्चों के संरक्षण की घोषणा 14 दिसम्बर 1970 को की गयी।

नवम्बर 1989 में संयुक्त राष्ट्र की आम सभा ने बाल अधिकारों को स्वीकार कर लिया। 2 सितम्बर 1990 से बाल अधिकारों से सम्बन्धित कन्वेन्शन को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का दर्जा प्राप्त हो गया है। प्रत्येक देश में, विशेष रूप से विकासशील देशों में बच्चों की आवासीय परिस्थितियों में सुधार हेतु अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व को स्वीकार करते हुए इस कन्वेन्शन ने निम्नलिखित मुद्दों पर सहमति व्यक्त की है :—

बच्चे की परिभाषा :

अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि 18 वर्ष से कम के सभी बच्चे, जब तक कि कानूनन वे इसके पहले बालिग न घोषित कर दिये जायें, 'बाल' की श्रेणी में आते हैं।

विभेद हीनता :

अनुच्छेद 2 में कहा गया है कि सिद्धान्ततः सभी अधिकार बिना किसी भेदभाव के तथा प्रजाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक अथवा अन्य विचारधारा, राष्ट्रीय, जातीय अथवा सामाजिक मूल्य, सम्पत्ति, असमर्थता, जन्म अथवा अन्य स्थिति पर ध्यान दिये बिना बच्चों को संरक्षण प्रदान करना राज्य का

उत्तरदायित्व है। राज्यों को बच्चों के किसी अधिकार का उल्लंघन नहीं करना चाहिये और उन सभी का सम्वर्द्धन करने के लिये प्रोत्साहन प्रदान करने वाले उपाय अवश्य करने चाहिये।

बच्चे की सर्वाधिक अनुकूल अभिरुचियाँ :

अनुच्छेद 3 में कहा गया है कि बच्चे से सम्बन्धित सभी क्रियाओं, चाहे वे सार्वजनिक अथवा निजी समाज कल्याण संस्थाओं, कानूनी न्यायालयों, प्रशासकीय प्राधिकरणों अथवा वैधानिक निकायों द्वारा किये गये हों, में बच्चे की सर्वोत्तम रुचियों पर प्राथमिक रूप से ध्यान देना चाहिये। जब माता-पिता अथवा उत्तरदायी व्यक्ति ऐसा करने में असफल हो जायें तो राज्य को बच्चे की देखभाल, सुरक्षा, स्वास्थ्य व शिक्षा का प्रावधान करना चाहिये।

प्राधिकारों का कार्यान्वियन :

अनुच्छेद 4 में वर्णित है कि इस कन्वेन्शन में स्वीकृत किये गये अधिकारों के कार्यान्वियन हेतु सभी उपयुक्त वैधानिक, प्रशासकीय एवं अन्य उपाय करना राज्य का उत्तरदायित्व है। आर्थिक, सामाजिक, एवं सांस्कृतिक अधिकारों की आवश्यकता में राज्य पक्ष अपने उपलब्ध संसाधनों एवं जहाँ आवश्यकता हो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के ढाँचे के अन्तर्गत् ये उपाय अधिकतम सीमा तक अपनायेंगे।

माता-पिता का मार्गदर्शन तथा बच्चों को उद्‌विकसित होती हुई क्षमतायें :

अनुच्छेद 5 में कहा गया है कि माता-पिता एवं अधिक व्यापक परिवार द्वारा बच्चे की उद्‌विकसित होती हुई क्षमताओं के अनुकूल मार्गदर्शन प्रदान करने के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों का सम्मान करना राज्य का कर्तव्य है।

जीवित रहना तथा विकास :

जीवित रहने के जन्मजात अधिकार का वर्णन अनुच्छेद 6 में किया गया है और कहा गया है कि राज्य बच्चे के जीवित रहने एवं विकास को यथा-सम्भव सुनिश्चित करेंगे।

नाम एवं राष्ट्रीयता :

अनुच्छेद 7 के अनुसार बच्चे के जन्म के तुरन्त बाद उसका पंजीकरण किया जायेगा तथा उसे जन्म के समय से एक नाम का अधिकार, एक राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार, यथासम्भव, अपने माता-पिता को जानने तथा उनके द्वारा देखभाल किये जाने का अधिकार होगा।

पहचान का संरक्षण :

अनुच्छेद 8 में कहा गया है कि राज्य बच्चे की विधि द्वारा स्वीकृत राष्ट्रीयता, नाम एवं पारिवारिक सम्बन्धों सहित अपनी पहचान को बिना किसी अवैध हस्तक्षेप के बनाये रखने का सम्मान करने के लिये वचनबद्ध है। यदि बच्चा अपनी पहचान के कुछ अथवा सभी तत्वों से अवैध रूप से वंचित किया जाता है तो राज्य शीघ्रता से उसकी पहचान को पुनः स्थापित करने के लिये उचित सहायता एवं संरक्षण प्रदान करेंगे।

माता-पिता से पृथकता :

अनुच्छेद 9 में कहा गया है कि राज्य, केवल उस स्थिति को छोड़कर जब सक्षम प्राधिकरण न्यायिक पुनरावलोकन के अधीन लागू कानून एवं कार्य-रीतियों के अनुसार यह निर्णय लें कि ऐसा पृथक्करण बच्चे की सर्वोत्तम अभि-रुचि के लिये आवश्यक है, यह सुनिश्चित करेंगे कि किसी बच्चे को उसके माता-पिता से उसकी इच्छा के विरुद्ध अलग नहीं किया जायेगा। राज्य ऐसे बच्चे जो अपने एक अथवा दोनों माता-पिता से पृथक हैं, के दोनों (माता-पिता) से व्यक्तिगत् सम्बन्ध एवं प्रत्यक्ष सम्पर्क नियमित रूप से बनाये रखने के अधिकार का केवल उस परिस्थिति को छोड़कर जो बच्चे की सर्वोत्तम अभिरुचियों के विरुद्ध हों, का सम्मान करेंगे। जहाँ यह पृथकता राज्य द्वारा प्रारम्भ की गयी क्रिया, जैसे एक अथवा दोनों माता-पिता अथवा बच्चे को कैद, कारावास, देश-निकाला, निर्वासन अथवा मृत्यु से उत्पन्न होती है, वह राज्य निवेदन किये जाने पर माता-पिता, बच्चे अथवा परिवार के किसी अन्य सदस्य को परिवार के अनुपस्थित सदस्य के पता ठिकाना से सम्बन्धित आवश्यक सूचना प्रदान करेगा, यदि सूचना का प्रावधान बच्चे के कल्याण के लिये हानिकारक न हो।

पारिवारिक पुनर्एकीकरण :

अनुच्छेद 10 में कहा गया है कि ऐसे बच्चे को, जिसके माता-पिता विभिन्न राज्यों में रह रहे हैं, केवल अपवाद स्वरूप परिस्थितियों को छोड़कर, अपने माता-पिता से व्यक्तिगत सम्बन्ध एवं प्रत्यक्ष सम्पर्क नियमित आधार पर बनाये रखने का अधिकार होगा। बच्चे तथा उसके माता-पिता को अपने देश सहित किसी देश को छोड़ने तथा अपने देश में प्रवेश करने का अधिकार होगा।

अवैध स्थानान्तरण एवं गैर वापसी :

अनुच्छेद 11 में कहा गया है कि राज्य बच्चे के अवैध रूप से विदेश भेजे जाने तथा वापस न लौटने देने पर नियन्त्रण पाने के लिये आवश्यक उपाय

करेंगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राज्य वर्तमान करारों से लाभान्वित होने अथवा द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय करारों के किये जाने को प्रोत्साहित करेंगे।

बच्चे को राय :

अनुच्छेद 12 में लिखा है कि राज्य, ऐसे बच्चों को जो अपनी राय बनाने में सक्षम हैं, बच्चे उनको प्रभावित करने वाले सभी मामलों में उन्हें विचारों को स्वेतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने का अधिकार सुनिश्चित करेंगे तथा बच्चों के विचारों को उनकी आयु एवं परिपक्वता के अनुसार आवश्यक महत्त्व प्रदान करेंगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बच्चे को उसे प्रभावित करने वाली किसी न्यायिक एवं प्रशासकीय कार्यवाही में राष्ट्रीय कानून के कार्य रीति सम्बन्धी नियमों के अनुकूल ढंग से या तो प्रत्यक्ष रूप से अथवा प्रतिनिधि अथवा किसी उपयुक्त निकाय के माध्यम से सुने जाने का अवसर विशिष्ट रूप से प्रदान किया जायेगा।

अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता :

अनुच्छेद 13वें के अनुसार बच्चे को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता का अधिकार, सभी प्रकार की सूचना एवं विचार मौखिक अथवा लिखित रूप से अथवा छपे हुये रूप में, कला के रूप में अथवा अपनो पसन्द के किसी अन्य माध्यम से प्राप्त करने एवं प्रदान करने की स्वतन्त्रता कुछ प्रतिबन्धों के साथ होगी।

विचार, आत्मा की आवाज एवं धर्म की स्वतन्त्रता :

अनुच्छेद 14 के अनुसार राज्य बच्चे को विचार की स्वतन्त्रता, आत्मा की आवाज एवं धर्म के अधिकार का सम्मान करेंगे। अपने धर्म अथवा विश्वासों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता केवल ऐसी सीमाओं के अधीन होगी जिन्हें कानून द्वारा निर्धारित किया गया हो तथा जो जन सुरक्षा, व्यवस्था, स्वास्थ्य, नैतिक नियमों अथवा अन्य लोगों के मौलिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के संरक्षण के लिये आवश्यक हों।

संगठित होने की स्वतन्त्रता :

अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्य बच्चों को संगठन की स्वतन्त्रता एवं शान्तिपूर्ण ढंग से एकत्रित होने की स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान करेंगे। इन अधिकारों के प्रयोग पर केवल उन प्रतिबन्धों को छोड़कर और कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये जायेंगे जो कानून के अनुरूप हैं तथा राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा जन सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, जनस्वास्थ्य अथवा नैतिक नियमों के संरक्षण अथवा अन्य व्यक्तियों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के संरक्षण की दृष्टि से प्रजातान्त्रिक समाज में आवश्यक हैं।

गोपनीयता का संरक्षण :

अनुच्छेद 16 के अनुसार किसी बच्चे की गोपनीयता, परिवार, गृह, अथवा पत्र व्यवहार में मनमाने अथवा अवैधानिक ढंग से हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा। बच्चे को इस प्रकार के हस्तक्षेप अथवा आक्रमणों के विरुद्ध कानूनी संरक्षण का अधिकार है।

उपयुक्त सूचना तक पहुँच :

अनुच्छेद 17 के अनुसार लोगों के ज्ञान एवं बोध तथा नैतिक कल्याण के अनुकूल और बच्चों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का सम्मान करने वाली सूचना को उनको प्रदान करने में जनमाध्यमों को भूमिका निभानी होगी। राज्य को इसे प्रोत्साहित करने तथा हानिकारक सामग्री से बच्चों की रक्षा करने के उपाय करने होंगे।

माता-पिता के उत्तरदायित्व :

अनुच्छेद 18 के अनुसार अपने बच्चे के पालन-पोषण का प्राथमिक उत्तरदायित्व माता-पिता दोनों पर है तथा राज्य को इस कार्य में उनकी सहायता करनी चाहिये। काम करने वाले माता-पिता के बच्चों की देख-भाल सेवाओं को प्राप्त करने का अधिकार है।

दुरुपयोग एवं उपेक्षा से संरक्षण

अनुच्छेद 19 के अनुसार राज्य बच्चे की शारीरिक एवं मानसिक चोट अथवा दुरुपयोग, उपेक्षा अथवा लापरवाही पूर्ण उपचार, दुरुपयोग अथवा लैंगिक दुरुपयोग सहित शोषण के विभिन्न स्वरूपों से संरक्षण प्रदान करने हेतु सभी उपयुक्त वैधानिक, प्रशासकीय, सामाजिक एवं शैक्षिक उपाय अपनायेंगे, जबकि वह माता-पिता, विधिक संरक्षक अथवा अन्य किसी व्यक्ति जो किसी बच्चे की देखभाल करता हो, की देखरेख में हो।

परिवार विहीन बच्चों का संरक्षण :

अनुच्छेद 20 के अनुसार ऐसा बच्चा जिसे अस्थायी अथवा स्थायी रूप से उसके पारिवारिक पर्यावरण से वंचित किया गया हो अथवा जिसे उसकी अपनी सर्वोत्तम अभिरुचि में उस पर्यावरण में रहने नहीं दिया जा सकता, राज्य द्वारा प्रदत्त विशिष्ट संरक्षण एवं सहायता का अधिकारी होगा। राज्य अपने राष्ट्रीय नियमों के अनुसार ऐसे बच्चों के लिये वैकल्पिक देखभाल सुनिश्चित करेंगे।

गोद लिया जाना :

अनुच्छेद 21 में कहा गया है कि उन देशों में जहाँ गोद लिये जाने को स्वीकार किया जाता है ओर उसकी अनुमति प्रदान की जाती है, इसे आव-

श्यक सुरक्षाओं तथा सक्षम प्राधिकारों द्वारा अधिकृत किये जाने के साथ बच्चे की सर्वोत्तम अभिरुचियों को ध्यान में रखते हुए ही किया जाना चाहिये।

शरणार्थी बच्चे :

अनुच्छेद 22 कहता है कि ऐसे बच्चे को विशेष संरक्षण प्रदान किया जाये जो शरणार्थी है अथवा शरणार्थी बनना चाहता है और राज्य पर ऐसा संरक्षण एवं सहायता प्रदान करने वाले सक्षम संगठनों के साथ सहयोग करने का दायित्व होगा।

बाधित बच्चे :

अनुच्छेद 23 के अनुसार राज्य मानसिक एवं शारीरिक रूप से असमर्थ बच्चों को ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करेंगे जो उनकी महत्ता को सुनिश्चित कर सकें, आत्मविश्वास बढ़ा सकें तथा समुदाय में बच्चे के सक्रिय सम्मिलन को प्रोत्साहित कर सकें। राज्य असमर्थ बच्चों के विशिष्ट देखभाल के अधिकार को स्वीकार करेंगे तथा उपलब्ध संसाधनों के अधीन पात्र बच्चे एवं उनकी देखभाल के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों को ऐसी सहायता प्रदान करने को प्रोत्साहित एवं सुनिश्चित करेंगे जिसके लिये प्रार्थना-पत्र दिया गया हो व जो बच्चे की स्थिति तथा माता-पिता एवं बच्चे की देखरेख करने वाले अन्य व्यक्तियों की परिस्थितियों की दृष्टि से उपयुक्त हों। असमर्थ बच्चे की विशिष्ट आवश्यकताओं को स्वीकार करते हुए प्रदान की गयी सहायता माता-पिता अथवा बच्चे की देखभाल करने वाले अन्य व्यक्तियों के वित्तीय संसाधनों पर ध्यान देते हुए यथासम्भव निःशुल्क प्रदान की जायेगी तथा इसका आयोजन यह सुनिश्चित करने के लिये किया जायेगा कि असमर्थ बच्चे को उसके सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास सहित पूर्ण सम्भव सामाजिक स्वीकरण, व्यक्तिगत विकास प्राप्त करने में सहायक ढंग से शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य सम्बन्धी देखभाल की सेवायें, पुनर्वास सेवायें, सेवायोजन के लिये तैयारी तथा मनोरंजन के अवसर प्रभावपूर्ण रूप से उपलब्ध हो सकें।

राज्य निरोधात्मक स्वास्थ्य सम्बन्धी देखभाल तथा असमर्थ बच्चों के चिकित्सकीय, मनोवैज्ञानिक एवं प्रकार्यात्मक उपचार के क्षेत्र में उपयुक्त सूचना के आदान-प्रदान को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना से प्रोत्साहित करेंगे। इसके अन्तर्गत् पुनर्वास सम्बन्धी शिक्षा एवं व्यावसायिक सेवाओं से सम्बन्धित सूचना का प्रदान किया जाना एवं प्राप्त होना सम्मिलित है।

स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य सेवायें :

अनुच्छेद 25 ,कहता है कि राज्य ऐसे बच्चे जिसे सक्षम प्राधिकरणों द्वारा देखभाल, संरक्षण, उसके शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य के उपचार

हेतु उसे दिये गये उपचार एवं उसे रखे जाने की दृष्टि से प्रासंगिक अन्य परिस्थितियों में सामाजिक पुनर्वास पर रखा गया है, के अधिकार को स्वीकार करेंगे।

सामाजिक सुरक्षा :

अनुच्छेद 26 के अनुसार राज्य सामाजिक बीमा सहित सामाजिक सुरक्षा से लाभान्वित होने वाले प्रत्येक बच्चे के अधिकार को स्वीकार करेंगे तथा उसके राष्ट्रीय कानून के अनुसार इस अधिकार को पूर्णरूपेण प्राप्त करने हेतु आवश्यक उपाय करेंगे।

जोवन स्तर :

अनुच्छेद 27 में कहा गया है कि बच्चों को एक उपयुक्त जीवन स्तर से लाभान्वित होने का अधिकार है। इसको प्रदान करने का माता-पिता का उत्तरदायित्व है तथा यह सुनिश्चित करने का राज्य का कर्त्तव्य है। राज्य अपनी सीमाओं के अन्दर तथा विदेश, दोनों में माता-पिता तथा बच्चे का वित्तीय उत्तरदायित्व ग्रहण करने वाले अन्य व्यक्तियों से गुजारे की वसूली करने के लिये सभी उपयुक्त उपाय करेंगे।

शिक्षा :

अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि राज्य सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क प्रदान करेंगे; सामान्य एवं व्यावसायिक शिक्षा सहित माध्यमिक शिक्षा के विभिन्न स्वरूपों के विकास को प्रोत्साहित करेंगे; योग्यता के आधार पर उच्च शिक्षा को प्रत्येक उपयुक्त साधन द्वारा सभी की पहुँच के योग्य बनायेंगे; सभी बच्चों को शैक्षिक एवं व्यावसायिक सूचना एवं मार्गदर्शन उपलब्ध होंगे; विद्यालयों में नियमित उपस्थिति को प्रोत्साहित करने तथा विद्यालय छोड़कर चले जाने की दर को कम करने के लिये उपाय किये जायेंगे। सम्पूर्ण विश्व में अज्ञानता एवं निरक्षरता को दूर करने के लिये तथा आधुनिक एवं तकनीकी ज्ञान तथा अध्ययन के आधुनिक ढंगों को प्रोत्साहित करने हेतु राज्य शिक्षा से सम्बन्धित मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को सम्वर्द्धित एवं प्रोत्साहित करेंगे।

शिक्षा के उद्देश्य :

अनुच्छेद 29 के अनुसार राज्य स्वीकृत शिक्षा को बच्चे को वयस्क के रूप में सक्रिय जीवन के लिये तैयार करने, मौलिक मानव अधिकारों के लिये सम्मान उत्पन्न करने, बच्चे में अपने तथा अन्य व्यक्तियों के सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय

मूल्यों के लिये सम्मान का विकास करने तथा बच्चे के व्यक्तित्व एवं प्रतिभा के विकास करने की दिशा में निदेशित होना चाहिये।

अल्पसंख्यक समुदायों अथवा स्वदेशो मूल के लोगों के बच्चे :

अनुच्छेद 30 में लिखा है कि उन राज्यों में जिनमें जातीय, धार्मिक अथवा भाषायी अल्पसंख्यकों अथवा स्वदेशी मूल के व्यक्ति पाये जाते हैं, ऐसे अल्पसंख्यक समुदाय के अथवा स्वदेशी मूल के बच्चे को समुदाय में अपने समूह के अन्य सदस्यों के साथ अपनी संस्कृति का आनन्द लेने, अपने निजी धर्म में विश्वास करने तथा उसे प्रयोग में लाने अथवा निजी भाषा का प्रयोग करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जायेगा।

रिक्त समय मनोरंजन एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ :

अनुच्छेद 31 में कहा गया है कि राज्य बच्चे के आराम एवं रिक्त समय के, उसकी आयु के लिये उपयुक्त खेल एवं मनोरंजनात्मक क्रियाओं में सम्मिलित होने के तथा सांस्कृतिक जीवन एवं कला में स्वतन्त्र रूप से भाग लेने के अधिकार को स्वीकार करते हैं। बच्चों को सांस्कृतिक एवं कलात्मक जीवन में भाग लेने तथा सांस्कृतिक, कलात्मक, मनोरंजनात्मक एवं रिक्त समय सम्बन्धी क्रिया हेतु उपयुक्त एवं समान अवसर प्राप्त करने का अधिकार होगा।

बाल श्रम :

अनुच्छेद 32 में कहा गया है कि राज्य आर्थिक शोषण एवं खतरनाक अथवा बच्चे की शिक्षा में व्यवधान उत्पन्न करने वाले अथवा बच्चे के स्वास्थ्य अथवा शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक अथवा सामाजिक विकास के लिये हानिकारक कार्य से संरक्षित किये जाने के बच्चे के अधिकार को स्वीकार करते हैं। इसके लिये राज्य वैधानिक, प्रशासकीय, सामाजिक एवं शैक्षिक उपाय करेंगे। वे सेवायोजन में प्रवेश हेतु न्यूनतम आयु निर्धारित करेंगे तथा सेवायोजन की शर्तों को नियमित करने का दायित्व ग्रहण करेंगे।

मादक द्रव्यों का दुरुपयोग :

अनुच्छेद 33 में कहा गया है कि बच्चों को नशीले एवं मनःप्रभावी मादक द्रव्यों के प्रयोग तथा उनके उत्पादन अथवा वितरण में सम्मिलित होने से संरक्षण का अधिकार होगा।

लैंगिक शोषण :

अनुच्छेद 34 में कहा गया है कि राज्य बच्चे को लैंगिक शोषण एवं दुरुपयोग के सभी स्वरूपों से संरक्षण प्रदान करने के लिये वचनबद्ध है। इन

उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु राज्य निम्नलिखित को रोकने के लिये सभी उपयुक्त राष्ट्रीय, द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय उपायों को विशिष्ट रूप से करेंगे :—किसी अवैध लैंगिक क्रिया में बच्चे को लगाने के लिये प्रलोभन अथवा उत्पीड़न, वेश्या-वृत्ति अथवा अन्य अवैध लैंगिक क्रिया में बच्चे का शोषण युक्त प्रयोग; अश्लील निष्पत्तियों एवं सामग्रियों में बच्चों के शोषणयुक्त प्रयोग।

बिक्रय, व्यापार एवं अपहरण :

अनुच्छेद 35 में वर्णित है कि राज्य पर, बच्चों के विक्रय, व्यापार एवं अपहरण को रोकने के लिये हर प्रयास करने का दायित्व होगा।

शोषण के अन्य स्वरूप :

अनुच्छेद 36 में कहा गया है कि अनुच्छेद 32, 33, 34 एवं 35 में सम्मिलित किये गये सभी स्वरूपों से संरक्षण का बच्चों का अधिकार है।

उत्पीड़न एवं स्वाधीनता से वंचन :

अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि कोई बच्चा उत्पीड़न अथवा अन्य क्रूर, अमानवीय अथवा असम्मानजनक व्यवहार अथवा दण्ड का शिकार न हो, ऐसा प्रबन्ध राज्य करेंगे। 18 वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों द्वारा किये गये अपराधों के लिये न तो मृत्यु दण्ड, न तो छोड़े जाने की कोई सम्भावना न रखने वाला आजीवन कारावास प्रदान किया जायेगा। किसी बच्चे को उसकी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जायेगा, प्रत्येक बच्चे के साथ मानवता एवं मानव-प्राणी की जन्मजात महत्ता के प्रति सम्मान के साथ तथा इस आयु के व्यक्ति की आवश्यकताओं पर ध्यान देने वाले ढंग से व्यवहार किया जायेगा। अपनी स्वाधीनता से वंचित प्रत्येक बच्चे को तुरन्त वैधानिक एवं अन्य उपयुक्त सहायता प्राप्त करने तथा न्यायालय में वैधानिक चुनौती देने का तथा इस कार्य में तुरन्त निर्णय प्राप्त करने का अधिकार होगा।

सैन्य संघर्ष :

अनुच्छेद 38 में वर्णित है कि राज्य पर बच्चों के लिये लागू मानवतावादी विधि का सम्मान करने एवं सुनिश्चित करने का दायित्व है; यह भी कि 15 वर्ष से कम आयु का कोई बच्चा युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग न ले, न ही उसे सेना में भर्ती किया जाये तथा यह कि सैन्य संघर्ष से प्रभावित सभी बच्चे संरक्षण एवं देखभाल से लाभान्वित हों।

पुनर्वास सम्बन्धी देखखाल :

अनुच्छेद 39 के अनुसार राज्य पक्ष दण्ड विधान का आरोपित रूप से,

दोषारोपित रूप से अथवा मान्यता प्राप्त रूप से उल्लंघन करने के लिये दोषी ठहराये गये प्रत्येक बच्चे के साथ उसकी महत्ता एवं योग्यता की भावना के प्रोत्साहन हेतु अनुकूल ढंग से बर्ताव किये जाने के ऐसे अधिकार को स्वीकार करते हैं जो मानव अधिकारों तथा अन्य व्यक्तियों की मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिये बच्चे के सम्मान को सुदृढ़ करें तथा बच्चे की आयु तथा बच्चे के पुनर्एकीकरण को प्रोत्साहित करने तथा बच्चे द्वारा समाज में एक रचनात्मक भूमिका ग्रहण किये जाने की वांछनीयता पर ध्यान दे। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकरणों के सम्बन्धित प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए राज्य-पक्ष विशिष्ट रूप से सुनिश्चित करेंगे कि :—

(क) किसी बच्चे पर किन्हीं ऐसे कार्यों अथवा मूल्यों जिन्हें इसके किये जाने के समय राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निषिद्ध नहीं किया गया था, के कारण दण्ड विधान का उल्लंघन करने का आरोप, दोषारोपण अथवा मान्यता प्राप्त आरोप नहीं लगाया जायेगा;

(ख) दण्ड विधान का उल्लंघन करने के लिये आरोप लगाये गये अथवा दोषारोपित किये गये प्रत्येक बच्चे को कम से कम निम्नलिखित सुनिश्चितताये हों :—

(अ) जब तक विधि के अनुसार दोष सिद्ध न हो, तब तक निर्दोष माना जाये;

(आ) अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपों के विषय में तुरन्त एवं प्रत्यक्ष रूप से तथा यदि उपयुक्त हो तो उसके माता-पिता अथवा विधिक संरक्षक के माध्यम से सूचना प्राप्त करना तथा अपनी रक्षा की तैयारी एवं प्रस्तुतीकरण में कानूनी तथा अन्य उपयुंक्त सहायता प्राप्त करना;

(इ) सक्षम, स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्राधिकरण तथा न्यायिक निकाय द्वारा कानूनी अथवा अन्य उपयुक्त सहायता के साथ निष्पक्ष सुनवाई में तथा जब तक कि ऐसा करना बच्चे के सर्वोत्तम हित में न समझा जाये, विशिष्ट रूप से उसकी आयु अथवा परिस्थिति, उसके माता-पिता अथवा कानूनी संरक्षक पर ध्यान देते हुए मामले पर विना कोई देर किये हुए निर्णय प्राप्त करना;

(ई) साक्ष्य देने अथवा दोष को स्वीकार करने के लिये बाध्य न किया जाना; प्रतिकूल साक्षियों से जिरह करना अथवा करवाना तथा समानता की परिस्थितियों में अपनी ओर से साक्षियों को प्रस्तुत करना तथा जिरह करना।

(उ) यदि बच्चे को दण्ड विधान का उल्लंघन करने वाला मान लिया गया हो तो इस निर्णय तथा इसके परिणामस्वरूप आरोपित की गयी किन्हीं बातों पर उच्चतर, सक्षम, स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्राधिकरण अथवा न्यायिक निकाय द्वारा कानून के अनुसार पुनरावलोकन कराना;

(ऊ) यदि बच्चा प्रयोग में लायी जाने वाली भाषा को समझ अथवा बोल नहीं सकता तो एक द्विभाषिये की निःशुल्क सहायता प्राप्त कराना;

(ए) कार्यवाही के सभी स्तरों पर गोपनीयता का पूर्ण सम्मान कराना।

राज्य पक्ष दण्ड विधान का उल्लंघन करने के लिये आरोपित, दोषारोपित अथवा मान्यता प्राप्त बच्चों पर विशिष्ट रूप से लागू कानूनों, कार्य-रीतियों, प्राधिकरणों एवं संस्थाओं और विशेष रूप से :—

(क) ऐसी न्यूनतम आयु की स्थापना जिससे नीचे यह माना जायेगा कि बच्चों में दण्ड विधान का उल्लंघन करने की क्षमता नहीं है;

(ख) जहाँ कहीं उपयुक्त एवं वांछनीय हो, इस बात का प्रावधान करते हुए कि अधिकारों एवं विधिक संरक्षणों का पूर्ण सम्मान किया जाये, न्यायिक कार्यवाही का आश्रय लिये बिना ऐसे बच्चों के साथ कार्य करने के लिये उपायों की स्थापना को प्रोत्साहित करने तथा

(ग) देखभाल, मार्गदर्शन एवं अधीक्षण आदेश, परामर्श, परिवीक्षा, पोषक देख-भाल, शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों तथा संस्थागत् देखभाल के अन्य विकल्पों जैसी अनेक व्यवस्थाओं को यह सुनिश्चित करने के लिये उपलब्ध करायेगा कि बच्चों के साथ उनके कल्याण के लिये उपयुक्त तथा उनकी परिस्थितियों एवं अपराध दोनों के समानुपातिक ढंग से बर्ताव हो, की व्यवस्था करेंगे।

वर्तमान मानदण्डों के प्रति सम्मान :

अनुच्छेद 41 में कहा गया है कि यह सिद्धान्त कि यदि राष्ट्रीय कानून अथवा किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि में निर्धारित मानदण्ड इस कन्वेन्शन से अधिक प्रभावपूर्ण हैं, तो अधिक प्रभावपूर्ण मानदण्ड ही लागू होंगे।

कार्यान्वियन एवं लागू होना :

अनुच्छेद 42–45 के प्रावधान में इस बात की विशेष रूप से पहल की व्यवस्था करते हैं :—

(अ) इस कन्वेन्शन में दिये गये अधिकारों का वयस्कों एवं बच्चों दोनों को व्यापक रूप से ज्ञान कराने का राज्य का दायित्व है।

(आ) बाल अधिकार पर दक्ष सदस्यों वाली समिति का गठन जो उन प्रतिवेदनों पर विचार करेगी जो इस कन्वेन्शन के राज्य पक्षों द्वारा अनुसमर्थन के दो वर्ष बाद तथा तदुपरान्त हर पाँचवें साल प्रस्तुत किये जायेंगे। यह कन्वेन्शन उस समय लागू होगा और इसके लिये तब समिति स्थापित की जायेगी जब 20 देश इसका अनुसमर्थन कर देंगे।

(इ) राज्य पक्ष आम जनता को अपने प्रतिवेदन व्यापक रूप से उपलब्ध करायेंगे।

(ई) समिति इस बात का प्रस्ताव कर सकती है कि बाल अधिकारों से सम्बन्धित विशिष्ट मुद्दों पर विशिष्ट अध्ययन किये जायें तथा अपने मूल्यांकनों से सम्बन्धित प्रत्येक राज्य पक्ष एवं संयुक्त राष्ट्र महासभा को अवगत कराया जाये।

(उ) कन्वेन्शन के प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन, पोषण एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रोत्साहन हेतु संयुक्त राष्ट्र के विशेषीकृत अभिकरण (यथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनेस्को और यूनिसेफ) समिति की बैठकों में उपस्थित हो सकेंगे। वे संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा इसके मानव अधिकार आयोग जैसे विशिष्ट संगठनों के साथ परामर्श करने वाले स्वैच्छिक संगठनों सहित 'सक्षम' समझे गये किसी अन्य निकाय के साथ उपयुक्त सूचना समिति के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं तथा उनसे इस कन्वेन्शन के आदर्श कार्यान्वयन के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करने को कहा जा सकता है।

उत्तरप्रदेश में बाल कल्याण :

विकलांगों की शिक्षा तथा कल्याण :

दैविक एवं भौतिक विपदाओं, तीव्रगामी सामाजिक परिवर्तनों तथा बढ़ती हुई धारणाओं एवं मान्यताओं ने मानव समाज में विभिन्न रूपों में विकलांगता को जन्म दिया है। यह विकलांगता मूकबधिरता, दृष्टिहीनता, मानसिक मन्दता तथा शारीरिक विकलांगता इत्यादि हैं। वर्तमान समय के परिवर्तनशील प्रतिस्पर्धी युग में ये विकलांग व्यक्ति बिना किसी सम्बल के प्रगति की दौड़ में पीछे छूट जाते हैं और समाज की दया पर निर्भर रह कर पराश्रयी जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो जाते हैं। इनमें से कुछ तो भिक्षावृत्ति तक का भी आश्रय ले लेते हैं। कल्याणकारी राज्य का प्रथम दायित्व है कि समाज के बाधित एवं विकलांग वर्ग को स्वावलम्बी एवं सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये सभी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करे ताकि विकलांग व्यक्ति समाज

पर भार न बन सकें। उत्तर प्रदेश में समाज कल्याण विभाग की सन् 1955 में स्थापना की गयी तथा बिखरी हुई कल्याणकारी सेवाओं को एकीकृत करके नियमानुसार विकलांग एवं बाधित व्यक्तियों के कल्याणकारी कार्यों का संचालन किया जा रहा है।

मूक-बधिर कल्याण :

मूक-बधिरों को शिक्षा देकर पुनर्वासित करने के उद्देश्य से आगरा, बरेली तथा फरुखाबाद में एक-एक मूक-बधिर विद्यालय स्थापित किये गये हैं। सन् 1988-89 से शासन द्वारा गोरखपुर स्थित मूक-बधिर विद्यालय, जो कि स्वैच्छिक संस्था द्वारा चलाया जा रहा था, का प्रान्तीयकरण कर दिया गया है। इस प्रकार अब उत्तर प्रदेश में मूक-बधिर विद्यालयों की संख्या 4 है। इन विद्यालयों में यन्त्र की सहायता से छात्रों को दिये जाने के साथ-साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। बरेली तथा फरुखाबाद मूक-बधिर विद्यालयों में जूनियर हाई स्कूल स्तर की शिक्षा देने की व्यवस्था है और प्रत्येक विद्यालय की क्षमता 100 विद्यार्थियों की है। आगरा एवं गोरखपुर के विद्यालयों में हाई स्कूल स्तर की शिक्षा का प्रबन्ध है। इनकी भी क्षमता 100 विद्यार्थियों की है। आगरा, बरेली तथा फरुखाबाद में पढ़ने वाले मूक-बधिरों को आवासीय सुविधा उपलब्ध है। छात्रों के जिन अभिभावकों की मासिक आय प्रतिमाह 500 रुपये तक होती है, उन्हें 145 रुपये प्रतिमाह छात्रवृत्ति दी जाती है। इन विद्यालयों में एक प्रधानाचार्य, लेखाकार या लिपिक, हॉस्टल वार्डेन, प्रशिक्षक अध्यापक, प्रोजेक्ट ऑपरेटर, ड्राइवर तथा चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी होते हैं। प्रदेश के आगरा जनपद में मूक-बधिरों के लिये व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र एवं आश्रित कार्यशाला स्थापित हैं जिनमें 50 संवासियों को आवासीय सुविधा के साथ-साथ प्रति संवासी प्रतिमाह 145 रु० की दर से छात्रवृत्ति दी जाती है। संवासियों को सिलाई तथा प्रेस प्रिंटिंग या छपाई का प्रशिक्षण दिया जाता है।

नेत्रहीनों का कल्याण :

समाज कल्याण विभाग द्वारा गोरखपुर, बाँदा, लखनऊ तथा सहारनपुर में अन्ध विद्यालयों को स्थापित किया गया है। गोरखपुर तथा बाँदा में स्थापित अन्ध विद्यालयों में छात्रों की संख्या 75-75 है। लखनऊ अन्ध विद्यालय की क्षमता 125 छात्रों की है तथा सहारनपुर के विद्यालय की क्षमता 60 छात्रों की है। लखनऊ तथा गोरखपुर के अन्ध विद्यालयों में ब्रेल पद्धति द्वारा हाई स्कूल स्तर तक की शिक्षा दी जाती है। सहारनपुर में सन् 1978-79 में नेत्रहीन बालिकाओं को शिक्षा-सुविधा प्रदान करने के लिये जूनियर हाई स्कूल तक

के विद्यालय की स्थापना की गयी थी। यहाँ पर 60 छात्राओं को आवासीय शिक्षा तथा 15 डे स्कॉलर छात्राओं को शिक्षा देने की व्यवस्था है। शिक्षा के अतिरिक्त व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इन विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र एवं छात्राओं को जिनके अभिभावक की मासिक आय 500 रुपये तक होती है, उन्हें 145 रुपये प्रतिमाह की दर से छात्रवृत्ति भी दी जाती है। प्रत्येक विद्यालय में पुस्तकालय की व्यवस्था है। विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित नेत्रहीन बेरोजगार व्यक्तियों को कार्य उपलब्ध कराने, रोजगार प्रदान करने के दृष्टिकोण से लखनऊ, गोरखपुर तथा बाँदा में एक-एक आश्रित कर्मशाला संचालित है। आश्रित कर्मशालाओं में नेत्रहीनों को वर्कआर्डर के आधार पर कुर्सी बुनाई, निवाड़ आदि बनाने का कार्य उपलब्ध कराया जाता है जिसके लिये उन्हें मजदूरी दी जाती है। जिस दिन उन्हें कार्य नहीं मिलता है उस दिन के लिए दो रुपये प्रतिदिन मजदूरी के रूप में दिया जाता है।

मानसिक मन्दित बच्चों का कल्याण :

उत्तरप्रदेश में मानसिक रूप से मन्दित बच्चों के लिये दो विद्यालय लखनऊ तथा अहमदाबाद में संचालित हैं। इन विद्यालयों में बच्चों को मनोवैज्ञानिक पद्धति से शिक्षा दी जाती है। प्रत्येक विद्यालय में 50 बच्चों की प्रवेश-क्षमता है। इन विद्यालयों में बच्चों को व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। विद्यार्थियों को शारीरिक रूप से स्वस्थ रखने के दृष्टिकोण से विद्यालय में शारीरिक व्यायाम प्रशिक्षक भी नियुक्त हैं। जिन बच्चों के अभिभावकों की मासिक आय 400 रुपये से अधिक न हो, उनके भरण-पोषण पर 145 रुपये प्रतिमाह व्यय-भार शासन द्वारा वहन किया जाता है।

शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों का कल्याण :

विकलांग एवं बाधित बच्चों के कल्याण एवं शिक्षा की व्यवस्था के उद्देश्य से शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों (मूक-बधिर तथा नेत्रहीन को छोड़ कर) के लिए लखनऊ तथा प्रतापगढ़ में विद्यालय संचालित है। प्रत्येक विद्यालय को प्रवेश-क्षमता 50 बच्चों की है। विद्यालय के छात्रों के भरण-पोषण का व्यय शासन द्वारा वहन किया जाता है। प्रतापगढ़ स्थित विद्यालय में हाईस्कूल स्तर की शिक्षा प्रदान की जाती है तथा यह विद्यालय शिक्षा विभाग द्वारा मान्यता प्राप्त है। लखनऊ स्थित विद्यालय में भी हाई स्कूल स्तर की शिक्षा दी जाती है परन्तु इस विद्यालय को अभी शिक्षा विभाग द्वारा केवल जूनियर हाई स्कूल तक की मान्यता प्राप्त है।

शारीरिक रूप से विकलांगों को प्रशिक्षण दिये जाने के उद्देश्य से इलाहाबाद, मिर्जापुर तथा उन्नाव में एक-एक कर्मशाला स्थापित की गयी है। प्रत्येक की प्रवेश-क्षमता 100 व्यक्तियों की है। इलाहाबाद तथा उन्नाव में 50 और मिर्जापुर में 40 संवासियों के लिए आवासीय सुविधा भी उपलब्ध है। प्रति संवासी को 145 रुपये प्रतिमाह भरण-पोषण के लिये शासन द्वारा दिया जाता है। उन्नाव कर्मशाला में विकलांगों को मोमबत्ती, साबुन बनाना, प्लास्टिक व्यवसाय, हथकरघा (पावरलूम, दरी, निवाड़) द्वारा बुनाई का प्रशिक्षण दिया जाता है; इसके अतिरिक्त मिर्जापुर स्थापित कर्मशाला में लाइट इंजीनियरिंग का कार्य भी कराया जाता है।

शारीरिक रूप से विकलांगों को कृत्रिम अंग एवं श्रवण सहायक यंत्र खरीदने हेतु सहायता देने की भी योजना समाज कल्याण विभाग द्वारा चलायी जा रही है। इस योजना के माध्यम से बाधितों एवं विकलांगों को कृत्रिम अंग एवं श्रवण यन्त्र क्रय करने हेतु अनुदान दिया जाता है जिससे वे स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने के लिये जीविकोपार्जन कर सकें तथा समाज में सम्मानित व्यक्तियों की तरह आदर पा सकें।

कुछ विकलांग छात्र आर्थिक विषमताओं के कारण शिक्षण प्राप्त नहीं कर पाते हैं और उनका जीवन कभी भी स्वावलम्बी नहीं बन पाता है। अतः ऐसे इच्छुक छात्रों को इस योजना के अन्तर्गत् छात्रवृत्ति देकर उन्हें स्वावलम्बी बनाया जाता है जिससे वे शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त करके समाज में सम्मानपूर्वक जीवनयापन कर सकें।

विकलांग व्यक्तियों के बच्चों की शिक्षा सम्बन्धी एक योजना चलाई जा रही है। इस योजना के अन्तर्गत् उन व्यक्तियों के बच्चों को जो शारीरिक रूप से विकलांग होने के कारण अपनी जीविका चलाने में असमर्थ हैं तथा अपने परिवार का भरण पोषण सुचारु रूप से नहीं कर पाते हैं एवं उनके बच्चे उचित शिक्षा न मिलने के कारण दूषित वातावरण के सम्पर्क में आ जाते हैं तथा अनुपयुक्त कार्यों में लग जाते हैं; बच्चों में सुधारात्मक प्रवृत्ति लाने, उन्हें अध्ययन एवं प्रशिक्षण प्रदान करने की दृष्टि से इस योजना का संचालन किया जा रहा है।

उत्तर प्रदेश नेत्रहीन, मूक-बधिर तथा शारीरिक रूप से विकलांगों एवं निराश्रितों को, जिनके स्वयं न तो कोई आर्थिक साधन हैं तथा जो अपना भरण-पोषण सुचारु रूप से नहीं कर पाते हैं तथा जिन्हें ऐसी भी सुविधा नहीं है कि वे किसी व्यक्ति के आश्रय पर जीवन-निर्वाह करते हों, 100 रुपये प्रतिमाह शासन द्वारा अनुदान दिये जाने का निर्णय किया गया है।

राज्य सरकार द्वारा प्रदेश के विकलांगों को निःशुल्क यात्रा सुविधा भी राज्य सड़क परिवहन निगम के माध्यम से प्रदान की जाती है।

अनाथ एवं निराश्रित विकलांगों के संरक्षण के लिये बालिका निकेतन :

उत्तर प्रदेश की अनाथ एवं निराश्रित किशोरावस्था की बालिकाओं को संरक्षण प्रदान करने के लिये चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में 108 बालिकाओं की क्षमता के 2 बालिका निकेतन इलाहाबाद तथा बलिया में स्थापित किये गये थे। इस प्रकार की बालिकाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि को देखते हुए पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में 50 बालिकाओं की क्षमता का एक आदर्श गृह मिर्जापुर तथा अल्मोड़ा में स्थापित किया गया है। इन गृहों में बालिकाओं को निःशुल्क भोजन, आवास एवं वस्त्र आदि की सुविधा प्रदान की जाती है। इन गृहों में 6 से 18 वर्ष की बालिकाओं को रखे जाने की व्यवस्था है। प्रत्येक संवासिनी पर 145 रुपये प्रतिमाह की दर से व्यय किया जाता है। इन गृहों में संवासिनियों को सामान्य शिक्षा देने की व्यवस्था भी है। संवासिनियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु बाहर भी भेजे जाने की व्यवस्था है।

उद्धार कार्यालयों की स्थापना :

अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम 1956 के अन्तर्गत् प्रदेश के आगरा, मेरठ, झांसी, फैजाबाद, गोरखपुर, वाराणसी, लखनऊ, बरेली तथा इलाहाबाद नगरों में एक-एक उद्धार कार्यालयों की स्थापना की गयी है। उद्धार अधिकारियों का मुख्य कर्त्तव्य समाज में फैली हुई वेश्यावृत्ति को रोकना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उद्धार अधिकारी समय-समय पर पुलिस की सहायता से वेश्यालयों, चकलों तथा ऐसे स्थानों में जहाँ वेश्यावृत्ति करायी जाती है, छापा मारकर वेश्यावृत्ति जैसे घृणित पेशे में लिप्त बालिकाओं एवं महिलाओं को वहाँ से मुक्त कराते हैं।

उद्धार गृहों में शिशु-शाला एवं बालवाड़ी केन्द्रों की स्थापना :

सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य एवं उत्तर रक्षा गृह योजना के अन्तर्गत् लखनऊ, मेरठ, फतेहपुर (सहारनपुर) के उद्धार गृहों की संवासिनियों के शिशुओं को स्कूल पूर्व शिक्षा की व्यवस्था हेतु एक-एक बालबाड़ी केन्द्र की स्थापना की गयी है।

पोषण गृह :

निराश्रित और असहाय बच्चों को सुरक्षा प्रदान करने के लिये समाज कल्याण विभाग द्वारा 50 बच्चों की क्षमता का एक पोषण गृह लखनऊ जिले

में स्थापित किया गया है। इस गृह में 8 वर्ष तक के बच्चों का पालन-पोषण किया जाता है तथा शिक्षा-दीक्षा दी जाती है। इसके साथ ही इन असहाय बच्चों को पारिवारिक स्नेह प्राप्त कराने के उद्देश्य से समाज के सम्मानित परिवारों में समायोजित करने तथा परिवीक्षा पर दिये जाने की भी व्यवस्था है। इस गृह में रहने वाले सभी बच्चों के रख-रखाव पर प्रति बच्चा 145 रुपये प्रतिमाह की दर से व्यय किया जाता है। प्रदेश में यह अपने ढंग का केवल एकमात्र राजकीय गृह है।

बाल सदनों की स्थापना :

समाज में ऐसे अनाथ बच्चों, जिनकी माँ नहीं है, पिता नहीं हैं, अथवा दोनों नहीं हैं, को सुरक्षा तथा अन्य प्रकार की सुविधायें उपलब्ध कराने के दृष्टिकोण से समाज कल्याण विभाग द्वारा मेरठ, कानपुर, देवरिया, रायबरेली, आजमगढ़ तथा फैजाबाद जनपद में एक-एक सदनों की स्थापना की गयी है। फैजाबाद के अतिरिक्त प्रत्येक बाल गृह की क्षमता 100 बच्चों की है। फैजाबाद में स्थापित बाल सदन की क्षमता 50 बच्चों की है। इन बाल सदनों में 6 वर्ष से लेकर 18 वर्ष तक की आयु के बालकों को निःशुल्क आवास, भरण पोषण, शिक्षा-दीक्षा तथा अन्य उपयोगी दस्तकारियों में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था है। जो बालक प्रारम्भिक शिक्षा के आगे शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होते हैं उन्हें बाहर के विद्यालयों में शिक्षा प्राप्ति हेतु भेजा जाता है जिसका पूरा व्यय शासन द्वारा वहन किया जाता है। प्रत्येक बालक के भरण-पोषण पर 145 रुपये प्रतिमाह खर्च किया जाता है। इन गृहों में ऐसे बालकों को भी प्रवेश देने की व्यवस्था है जिनकी माता इस विभाग की किसी संस्था में आश्रित हैं तथा जिनके पिता युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं।

शिशु सदनों की स्थापना :

वर्तमान समय में समाज में लज्जा एवं सामाजिक कलंक के भय से मातायें अवैध सम्बन्धों से जन्मे अपने शिशुओं को सड़कों पर एवं नालियों के पास छोड़ जाती हैं। सदन में इन शिशुओं का प्रवेश पुलिस, सामाजिक कार्यकर्ताओं, स्वैच्छिक संस्थाओं तथा चिकित्सालयों के माध्यमों से होता है। सदन में इस प्रकार के शिशुओं को गोपनीय ढंग से रखने की व्यवस्था है। समाज कल्याण विभाग द्वारा तृतीय पंचवर्षीय योजना में आगरा जनपद में अनाथ, परित्यक्त शिशुओं के लिये एक शिशु-सदन की स्थापना की गयी। इस प्रकार के बच्चों के लिये बढ़ती हुई आबादी के कारण रामपुर, जौनपुर, अल्मोड़ा, सीतापुर मथुरा तथा इलाहाबाद में शिशु सदनों की स्थापना की गयी। इन सदनों में 50-50 शिशुओं

के रखने की व्यवस्था की गयी। इन सदनों में जन्म से लेकर 6 वर्ष तक की आयु के बच्चों को रखा जाता है। इन शिशुओं के रखरखाव पर 145 रुपये प्रति शिशु की दर से शासन द्वारा व्यय भार वहन किया जाता है। शिशुओं की चिकित्सा, स्वास्थ्य एवं शिक्षा की व्यवस्था यहाँ पर है।

आश्रम पद्धति विद्यालय :

अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के तत्त्वावधान में वर्ष 1979-80 में निराश्रित बालिकाओं के लिये अनादि बागेश्वर (अल्मोड़ा) में एक आश्रम पद्धति विद्यालय की स्थापना की गयी। इस विद्यालय की क्षमता 100 बालिकाओं की है। अध्ययनरत् बालिकाओं को छात्रावासीय सुविधा के साथ-साथ भरण-पोषण की सुविधा प्रदान की जाती है। विद्यालय में शिक्षा देने की व्यवस्था भी है।

उत्तर-रक्षा गृहों की स्थापना :

समाज में असहाय निराश्रित महिलाओं तथा विभागीय आवासीय संस्थाओं से मुक्त महिलाओं एवं बालिकाओं को सामाजिक एवं नैतिक संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से समाज कल्याण विभाग द्वारा लखनऊ व मेरठ में 1958 में उत्तर रक्षा गृह तथा फतेहपुर, सहारनपुर में एक-एक उद्धार गृहों की स्थापना की गयी। प्रत्येक गृह की क्षमता 100 संवासिनियों की है। इन गृहों में रहने वाली संवासिनियों को सामान्य शिक्षा के साथ-साथ कढ़ाई-बुनाई तथा सिलाई आदि विभिन्न दस्तकारियों, व्यवसायों में प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे वे स्वावलम्बी बनकर समाज में पुनर्वासित हो सकें। संवासिनियों को विवाह व रोजगार में लगाकर पुनर्वासित भी किया जाता है। इन गृहों में संवासिनियों की निःशुल्क आवास एवं भोजन की व्यवस्था शासन द्वारा की जाती है।

संरक्षा गृहों की स्थापना :

अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम 1956 के अन्तर्गत् संरक्षा गृहों की स्थापना मेरठ, आगरा, वाराणसी, लखनऊ, अल्मोड़ा में की गयी है। इस प्रकार उत्तरप्रदेश में इस समय 5 संरक्षा गृह हैं। इन गृहों में वेश्यालयों, चकलों आदि से मुक्त करायी गयी महिलाओं तथा बालिकाओं को आश्रय दिया जाता है। साथ ही साथ इन गृहों की संवासिनियों को सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त ऐसे उपयोगी व्यवसायों में प्रशिक्षित कराया जाता है जिससे वे भविष्य में स्वतन्त्र रूप से स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर सकें। शिक्षण-प्रशिक्षण के साथ-साथ इन महिलाओं एवं बालिकाओं को पुनर्वासित कराने की दृष्टि से विभाग द्वारा समय-समय पर संवासिनियों को इच्छानुसार उनके विवाह का भी आयोजन किया जाता है।

आश्रमों, गृहों, अभ्यागत केन्द्रों की स्थापना :

अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम में की गयी व्यवस्था के अनुसार महिलाओं एवं बालिकाओं को तात्कालिक सुरक्षा प्रदान करने के दृष्टिकोण से प्रदेश के जनपद बरेली, उन्नाव, मथुरा, इलाहाबाद, इटावा, झाँसी, फैजाबाद, हल्द्वानी, टेहरी गढ़वाल, कोटद्वार तथा देहरादून में एक-एक जिला शरणालय एवं प्रवेशालय की स्थापना की गयी है। प्रत्येक जिला शरणालय व प्रवेशालय की क्षमता 25 महिलाओं की है। इन शरणालयों में इस प्रकार की महिलाओं को न्यायालय के आदेश से निरुद्ध किया जाता है। शरणालय में निवास करने वाली महिलाओं को भोजन एवं वस्त्र की निःशुल्क सुविधा दी जाती है। इन पर 145 रुपये प्रतिमाह प्रति संवासिनी खर्च किया जाता है।

नारी निकेतन की स्थापना :

पर्वतीय विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत् वेश्यावृत्ति व्यवसाय में लगी हुई अनुसूचित जनजाति की महिलाओं एवं बालिकाओं को समाज में सम्मानित स्थान दिलाने के उद्देश्य से जनजाति क्षेत्र उत्तर काशी के विकास प्रखण्ड नौगांव, देहरादून तथा टेहरी गढ़वाल में एक-एक नारी निकेतन की स्थापना की गयी है। एक निकेतन की क्षमता 50 है। इनमें निवास करने वाली महिलाओं को शासन द्वारा आवास, भोजन, वस्त्र आदि की सुविधा प्रदान की जाती है तथा उनको दरी, कम्बल, धुनाई तथा ऊनी एवं सूती वस्त्रों की कढ़ाई-बुनाई तथा सिलाई आदि का प्रशिक्षण दिये जाने की व्यवस्था की गयी है। यह प्रशिक्षण अवधि 9 माह की होती है।

श्रमजीवी महिलाओं के बच्चों के लिये शिशुशाला एवं बालवाड़ी केन्द्रों की स्थापना :

ग्रामीण क्षेत्रों तथा नगरीय मलिन बस्तियों की मजदूरी पेशों में लगी महिलायें नित्यप्रति अपने कार्य पर चली जाती हैं। उचित देख-रेख के अभाव में उनके बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते हैं और कुपोषण के शिकार हो जाते हैं। इस प्रकार के बच्चों को कुपोषण से बचाने के लिये राज्य के विभिन्न जनपद मुख्यालयों, नगरों में आवश्यकतानुसार बालवाड़ी केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय इनकी कुल संख्या 53 है। प्रत्येक केन्द्र में 25 बच्चों के रखे जाने की व्यवस्था है। इन केन्द्रों पर एक नर्स, एक शिक्षिका तथा एक आया होती है।

प्रशिक्षण केन्द्रों एवं आश्रित कर्मशालाओं की स्थापना :

प्रदेश में निराश्रित निर्धन महिलाओं एवं महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने

की दृष्टि से रोजगार प्राप्त करने हेतु समाज कल्याण विभाग द्वारा वाराणसी, सुल्तानपुर रायबरेली तथा पिथौरागढ़ में एक-एक प्रशिक्षण केन्द्र व आश्रित कर्मशाला की स्थापना की गयी है। इन संस्थाओं की प्रवेश क्षमता प्रत्येक की 100 महिलाओं की है जिसमें 50 आवासीय तथा 50 अनावासीय महिलाओं को प्रविष्टि दी जाती है। आवासीय महिलाओं को भोजन, वस्त्र एवं आवास आदि की निःशुल्क सुविधा प्रदान की जाती है। संस्था के बाहर रहने वाली महिलाओं को वर्क-आर्डर के आधार पर कार्य दिया जाता है तथा किये गये कार्यों के आधार पर उन्हें पारिश्रमिक दिये जाने की व्यवस्था है। कर्मशाला की प्रत्येक आवासीय महिला पर शासन द्वारा 145 रुपये प्रति माह खर्च किया जाता है।

अनुदान की विशेष व्यवस्था :

निराश्रित विधवाओं के भरण-पोषण तथा उनके बच्चों की शिक्षा आदि की व्यवस्था हेतु अनुदान देने की व्यवस्था की गयी है। निाश्रित विधवायें सदैव समाज व परिवार में उपेक्षित रही हैं जिनका कुप्रभाव उनके बच्चों की भावी प्रगति पर पड़ता है। प्रदेश की ऐसी निराश्रित विधवाओं के आर्थिक एवं सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए शासन ने 100 रुपये प्रतिमाह की दर पर आर्थिक सहायता देने का प्रावधान किया है।

बाल निर्देशन केन्द्रों की स्थापना :

उच्छृंखल बच्चों का मनोवृत्ति परीक्षण तथा विश्लेषण मनोवैज्ञानिक विधियों से करने तथा इनके दोषों के निवारण के लिये समाज कल्याण विभाग द्वारा वाराणसी तथा आगरा जनपद में एक-एक बाल निर्देशन केन्द्र की स्थापना की गयी है। इन केन्द्रों पर नियुक्त मनोवैज्ञानिक बच्चों के व्यवहार, मानसिक उत्पीड़न, चिड़चिड़ापन, शर्माना, क्रोध करना, एकान्तवास, घबड़ाना, पढ़ाई आदि की समस्याओं का अध्ययन कर इनके निराकरण हेतु अभिभावकों को उचित सलाह एवं मार्गदर्शन प्रदान करता है। ऐसे बच्चों, परिवारों, विद्यालयों एवं उनके मित्रों आदि से व्यक्तिगत् सम्पर्क करने एवं बच्चों को खेलकूद के द्वारा व्यस्त रखने के उद्देश्य से प्रत्येक केन्द्र पर एक महिला मनोरंजन अधिकारी की भी नियुक्ति की गयी है।

बाल न्याय अधिनियम 1986 का उत्तर प्रदेश में कार्यान्वयन :

इस अधिनियम से पूर्व पूरे उत्तर प्रदेश में बाल अधिनियम 1951 लागू था जिसमें बच्चों की अभिरक्षा, सुधार एवं पुनर्वास कार्यक्रम की व्यवस्था थी।

बाल न्याय अधिनियम लाने के उद्देश्य से पारित किया गया था। प्रदेशीय अधिनियमों में एकरूपता 1986 भारत सरकार द्वारा सम्पूर्ण देश में एकरूपता के अभाव के अतिरिक्त अनेक कमियाँ थीं, जैसे प्रदेशीय अधिनियम की व्यवस्थानुसार अपचारी तथा गैर अपचारी बच्चों के मामले एक ही न्यायालय द्वारा निस्तारित किये जाते थे, परन्तु इस केन्द्रीय अधिनियम में उपेक्षित बच्चों के लिये बाल कल्याण बोर्ड तथा अपचारी बच्चों के लिये बाल न्यायालय की व्यवस्था की गयी है। नये अधिनियम में बच्चों के उनके मामलों के निस्तारण के दौरान उन्हें सम्प्रेक्षा गृहों में रखा जायेगा तथा किसी भी दशा में उन्हें जेल या पुलिस के लाक-अप में नहीं रखा जायेगा। केन्द्रीय अधिनियम में बाल-गृहों तथा विशेष गृहों से मुक्त होने के उपरान्त वहाँ के संवासिनियों के लिये एक उत्तर रक्षा संस्था की भी व्यवस्था की गयी है जो प्रदेशीय अधिनियम में नहीं थी। बच्चों के पुनर्वासन को विशेष समस्याओं को दृष्टिगत् रखते हुए नये अधिनियम में एक बाल-कोष की व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रदेशीय अधिनियम के अन्तर्गत् स्थापित विभिन्न संस्थाओं के लिये न्यूनतम मानक निर्धारित नहीं थे, परन्तु केन्द्रीय अधिनियम में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निर्धारित न्यूनतम मानकों का विचार करते हुए विशिष्ट व्यवस्था की गयी है। उत्तर प्रदेश में बाल न्याय अधिनियम 1986, 2 अक्टूबर 1986 से सम्पूर्ण जनपदों में लागू हो गया है। केन्द्रीय अधिनियम के संचालन के लिये इस समय प्रदेश में 53 सम्प्रेक्षण गृह, 10 बाल-गृह तथा 2 बाल निर्देशन केन्द्र सचालित हैं। उपेक्षित बालिकाओं के लिये उत्तर रक्षा गृह, लखनऊ तथा अपचारी बालिकाओं के लिये उत्तर रक्षा गृह, मेरठ विशेष रूप से अधिकृत किये गये हैं।

प्रेक्षा गृहों की स्थापना :

अपराध प्रवृत्ति को दण्डात्मक कार्यवाही से नहीं रोका जा सकता है। इसका समाधान सुधारात्मक कार्यवाही से अधिक लाभदायक होता है। इसी उद्देश्य से समाज कल्याण विभाग द्वारा बाल न्याय अधिनियम 1986 के अन्तर्गत् प्रदेश के समस्त मैदानी जिलों तथा दो पर्वतीय जिलों में राजकीय प्रेक्षा गृहों की स्थापना की गयी है। इन गृहों में बालकों को उनके विरुद्ध चलने वाले अभियोग की अवधि में रखा जाता है। आवास-अवधि में उनके निःशुल्क भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था की जाती है।

बाल विशेष गृहों की स्थापना :

बाल न्याय अधिनियम 1986 के अन्तर्गत् उपेक्षित बच्चों, बाल अपचारी बच्चों के निमित्त समाज कल्याण विभाग द्वारा प्रदेश के कानपुर, वाराणसी,

गाजीपुर, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, फिरोजाबाद, बिजनौर, लखीमपुर तथा बहराइच जिलों में एक-एक बाल गृह तथा इटावा में विशेष गृह बनाया गया है। बालकों का इन गृहों में प्रवेश विभिन्न बाल कल्याण बोर्ड, बाल न्यायालयों के आदेशों द्वारा होता है। इन गृहों में इनके निःशुल्क रख-रखाव की व्यवस्था है और प्रति किशोर शासन द्वारा 145 रुपये प्रतिमाह भरण-पोषण पर व्यय किया जाता है। इन गृहों के बालकों को स्वावलम्बी बनाने के लिये बेंत कला, होजरी, साइकिल एवं रिक्शा मरम्मत, काष्ठकला, सिलाई, बैण्ड बजाने आदि में प्रशिक्षण दिये जाने की व्यवस्था है। गृहों से मुक्त होते समय इन बच्चों को पुनर्वास अनुदान भी दिया जाता है।

परिवीक्षा योजना :

अपराधी व्यक्ति में सुधार को उद्देश्य बनाकर एवं मानवीय दृष्टिकोण अपनाकर अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 भारत सरकार द्वारा पारित किया गया और इसे इस प्रदेश में पूर्णरूपेण लागू किया गया है। इसके अनुसार दोषसिद्ध अपराधी को परिवीक्षा की वैकल्पिक व्यवस्था पर छोड़कर सुधरने का अवसर दिया जाता है। इस प्रकार वह रहता तो दोषसिद्ध ही है किन्तु अपराधी प्रवृत्ति अपनाने के अवसर से बच जाता है और यह अपराध उसकी भावी प्रगति में बाधक नहीं बनता यदि उसका आचरण अच्छा रहता है। अधिनियम में कम गम्भीर अपराधों तथा 21 वर्ष से कम आयु के अपराधियों के लिये परिवीक्षा पर मुक्त करने की विशिष्ट व्यवस्था की गयी है जिसका न्यायालय द्वारा अनुरक्षण अनिवार्य है। यदि उक्त आयु-वर्ग के अपराधी को परिवीक्षा पर नहीं मुक्त किया जाता तो न्यायालय को अपने आदेश में उन कारणों का उल्लेख करना अनिवार्य होता है जिसके कारण उसे परिवीक्षा पर न छोड़ा गया हो और कारावास आवश्यक हो गया हो। अधिनियम में बाल अपचारियों को परिवीक्षा अधिकारी की निगरानी में रखने की व्यवस्था भी है जिससे परिवीक्षा अधिकारी एक ओर तो इस बात पर नजर रखेगा कि अपराधी व्यक्ति पुनः अपराध न करे और दूसरी ओर वह उसकी सहायता एवं मार्गदर्शन भी करेगा जिससे वह एक अच्छे नागरिक की भाँति जीवन-यापन कर सके।

इस समय अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 (केन्द्रीय) सम्पूर्ण प्रदेश में लागू है। इस कार्य को करने के लिये परिवीक्षा अधिकारी के 10 पद स्वीकृत हैं। परिवीक्षा अधिकारी यू० पी० प्रिजनर्स रिलीज ऑन प्रोबेशन ऐक्ट 1933 के अन्तर्गत् दण्ड प्राप्त बन्दियों की अवधिपूर्ण रिहाई सम्बन्धी कार्य एवं मुक्ति उपरान्त उन्हें समाजोपयोगी कानून का पालक बनाने के लिये महत्वपूर्ण

भूमिका अदा करते हैं। परिवीक्षा पर मुक्त व्यक्तियों की समुदाय में कानून एवं शान्ति व्यवस्था बनाये रखने तथा उन्हें सुनागरिक बनाने में परिवीक्षा अधिकारी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।

परिवीक्षार्थियों के पुनर्वासन का योजना :

उत्तरप्रदेश शासन ने प्रथम बार प्रदेश में ऐसे परिवीक्षाधीन युवकों के पुनर्वासन हेतु 1986-87 में प्रावधान किया। इससे अच्छे आचरण करने वाले परिवीक्षार्थी लाभ उठा सकते हैं।

नारी बन्दी निकेतन, लखनऊ से सम्बद्ध महिला परिवीक्षा अधिकारी महिला बन्दियों हेतु कल्याणकारी कार्य उनका वैयक्तिक अध्ययन करके करती है।

उत्तरप्रदेश में व्यावहारिक पुष्टाहार कार्यक्रम :

व्यावहारिक पुष्टाहार कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य महिलाओं और बच्चों के स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा उठाने के साथ-साथ 15 से 45 वर्ष की महिलाओं व बच्चों के सर्वांगीण विकास का ज्ञान, परिवार की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, कला-कौशल में दक्षता बढ़ाने के अवसर और उन्हें विकास के मार्ग पर सक्रिय करना है; घरेलू स्तर पर पौष्टिक स्वास्थ्य उत्पादन, कुटीर उद्योगों के माध्यमों से महिलाओं को अर्थोपार्जन के क्षेत्र में प्रेरित करना है। गरीबी रेखा के नीचे आने वाले परिवारों में बच्चे, गर्भवती व धात्री माताओं को सन्तुलित पौष्टिक आहार सुलभ कराने के लिये उन्हें शाक भाजी, फल, दूध, अण्डा आदि की उत्पादन इकाइयों को स्थापित करने के लिये सहायता दी जाती है। उन्नत शौचालय, 'फूड सेल्फ' (जालीदार आलमारी) हेतु तथा बालवाड़ी केन्द्रों पर हैण्डपम्प लगाने के लिये सहायता भी दी जाती है।

विशेष पुष्टाहार योजना :

यह कार्यक्रम प्रदेश के 13 जनपदों के 106 विकास प्रखण्डों में ग्राम विकास एवं पंचायती राज विभाग द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है। पुष्टाहार योजना के अन्तर्गत् गरीबी रेखा से नीचे के वर्ग के (अधिकतर अनुसूचित जाति व जनजाति) के 6 वर्ष तक के बच्चों तथा गर्भवती (धात्री) माताओं को वर्ष में 300 दिनों तक 0.35 पैसे प्रति लाभार्थी प्रतिदिन की दर से 10-12 ग्राम प्रोटीन और 300 कैलोरीयुक्त पूरक आहार दिया जाता है। स्थानीय उपलब्ध खाद्य पदार्थों से पूरक आहार की व्यवस्था की जाती है।

प्रत्येक बालवाड़ी केन्द्र पर पूरक आहार का वितरण करने के साथ भोजन बनाने के सुधरे तरीकों का भी प्रदर्शन किया जाता है जिससे खाद्य पदार्थों के पोषक तत्त्व नष्ट न हों और सस्ते खाद्य पदार्थों से भी पौष्टिक आहार तैयार किया जा सके। इस योजना का उद्देश्य गाँव के परिवारों में सस्ते व्यंजनों का प्रचार एवं प्रसार करना है।

बच्चों के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास के लिये विकास प्रखण्ड के चयनित ग्रामों में बालवाड़ी केन्द्रों का संचालन एवं पूरक-आहार का वितरण किया जाता है। बालवाड़ी केन्द्रों के कार्यक्रम बच्चों के लिये स्कूल जाने से पूर्व शिक्षा के रूप में खेलकूद, व्यायाम, सांस्कृतिक ज्ञान, खेल खिलौने तथा कहानी और गीतों के माध्यम से चलाये जाते हैं। पूरक आहार वितरण, बच्चों की सफाई, खान-पान की उचित आदतों, सामान्य ज्ञान, सामाजिक आदतों के विषय पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

व्यावहारिक पुष्टाहार कार्यक्रम :

इस कार्यक्रम के तीन अंग हैं :—

1. पौष्टिक खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाना;
2. अतिरिक्त खाद्य पदार्थों का संरक्षण एवं सम्भरण
3. पुष्टाहार की प्रणाली में प्रशिक्षण प्रदान करना। यह कार्यक्रम 9 जनपदों के 106 विकास प्रखण्डों में संचालित है।

गैर सरकारी सदस्यों का प्रशिक्षण :

पुष्टाहार की प्रणाली, सन्तुलित आहार, भोजन के पोषक तत्त्वों आदि की जानकारी प्रशिक्षण में दी जाती है। प्रशिक्षण में बाल संजीवन के लिये टीकाकरण, निर्धूम चूल्हा, भोजन में फल और सब्जी का महत्त्व, अण्डा, मछली का उत्पादन बढ़ाने तथा दैनिक भोजन में इनकी आवश्यकता आदि विषय सम्मिलित किये गये हैं। प्रशिक्षण की अवधि में गैर सरकारी सदस्यों को 15 रुपये की दर से दैनिक भत्ता और बस तथा ट्रेन द्वारा एक बार आने-जाने का वास्तविक व्यय दिया जाता है।

अनुसूचित जाति, जनजाति की बस्ती में जहाँ पर बालवाड़ी पूरक केन्द्र चलता है, शुद्ध पेयजल हेतु एक हैण्ड पम्प के लिये 750 रु० से 1000 रु० तक तक व्यय किया जाता है। वातावरण को स्वच्छता और स्वास्थ्य रक्षा हेतु उच्च शौचालय हेतु शीट, पाइप, सीमेन्ट आदि के क्रय हेतु 250) की सीमा तक सहायता दी जाती है।

उत्तरप्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों का विकास (डो० डब्ल्यू० सी० आर० ए०) :

यह योजना ग्राम विकास एवं पंचायती राजविभाग, उत्तरप्रदेश द्वारा चलायी जा रही है। एकीकृत ग्राम विकास योजना के लाभार्थियों में महिलाओं की संख्या बहुत कम है। प्रत्येक 100 व्यक्तियों में केवल 1.6 महिलायें हो लाभान्वित हो सकी हैं। फलस्वरूप ग्रामों की महिलाओं एवं बच्चों के उत्थान की यह योजना (डी० डब्ल्यू० सी० आर० ए०) एकीकृत ग्राम्य विकास की उपयोजना के रूप में प्रदेश में चलायी जा रही है। गरीबी रेखा के नीचे लक्षित परिवारों की महिलाओं को घरेलू स्तर पर आमदनी बढ़ाने वाली कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण दिलाकर उनके लिये निजी व्यवसाय और आय के साधन जुटाना, उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करते हुए आत्मनिर्भरता की राह में आगे बढ़ाना, उनके बच्चों की स्वास्थ्य रक्षा, आहार-पोषण, शिक्षा-दीक्षा के सुगम साधन उपलब्ध कराना, परिवार का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के साथ-साथ उनके लिये समाज में एक सम्मानपूर्ण स्थान बनाना इसका लक्ष्य है।

उद्देश्य :

इस योजना के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

1. इस योजना का उद्देश्य एकीकृत ग्राम विकास योजना के अन्तर्गत चयनित लाभार्थी परिवारों की महिला सदस्याओं को आर्थिक कार्य-कलापों में नियोजित कर उनके जीवन-स्तर को ऊपर उठाना है जिससे चयनित महिलाओं को गरीबी रेखा से ऊपर उठाया जा सके;
2. एकीकृत ग्राम विकास योजना के अन्तर्गत मिलने वाली सुविधायें लक्षित परिवारों की महिलाओं को सुलभ कराना;
3. स्वतः रोजगार योजना के अन्तर्गत् लघु एवं घरेलू उद्योग चलाकर परिवार की आमदनी बढ़ाने के लिये महिलाओं को प्रशिक्षित करना तथा उन्हें सरकारी सहायता सुविधा व्यक्तिगत् रूप में तथा महिलाओं को संगठित करके, समूहों में सुलभ कराना;
4. समूहों को पंजीकृत कराके उन्हें बैंकों द्वारा ऋण एवं अनुदान की सुविधा का लाभ दिलाना;
5 समूह में काम करने वाली महिलाओं को उनके काम करने के समय के लिये उनके बच्चों के पालन की सुविधा सुलभ कराना, (महिला समूहों को कच्चे माल के लिये कार्यशील पूँजी तथा शिशु-पालन आदि की सुविधा के लिये रु० 15000 का आबंटन सरकार की ओर से प्रत्येक

महिला समूह के लिये किया गया है। इनका संयुक्त खाता समूह लीडर तथा ग्राम विकास अधिकारी (महिला) के नाम से खोला जाता है) तथा

6. सामाजिक निवेश की अन्य सुविधायें जैसे निर्धूम चूल्हा, हैण्ड पम्प, उन्नत शौचालय, फूड-शेल्फ, प्रेशर-कुकर, बीज एवं पौधे, बालवाड़ी तथा शिशु पालन केन्द्र, प्रौढ़ शिक्षा, स्वास्थ्य परीक्षण एवं टीकाकरण आदि सुलभ कराना।

यह योजना इस समय सुल्तानपुर, इटावा, बांदा, बस्ती, देवरिया, गोरखपुर, इलाहाबाद, मैनपुरी, शाहजहांपुर, गोण्डा, रायबरेली, नैनीताल एवं पौड़ी गढ़वाल के 150 विकास प्रखण्डों में संचालित हैं। वाराणसी, हरदोई, बदायूँ तथा उत्तर काशी के जनपदों में इसे विस्तारित किया जा रहा है। विकास प्रखण्ड का चयन पिछड़ेपन के आधार पर किया जाता है।

कार्य प्रणाली :

जिला ग्राम विकास अभिकरण को योजना के संचालन का भार सौंपा गया है। कार्यक्रम को सफल बनाने में जनपद स्तरीय अधिकारीगण तथा विकास प्रखण्ड दल की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जनपद स्तर पर सहायता परियोजना अधिकारी (महिला) कार्यक्रम के सफल संचालन के लिये उत्तरदायी है। विकास प्रखण्ड स्तर पर एक सहायक विकास अधिकारी (महिला) तथा पाँच ग्राम विकास अधिकारी (महिला) नियुक्त हैं। व्यावहारिक पुष्टाहार तथा डी० डब्ल्यू० सी० आर० ए० योजनाओं को एक-दूसरे की पूरक योजना के रूप में चलाया जा रहा है। व्यावहारिक (विशेष) पुष्टाहार योजना कार्यक्रम अन्य जनपदों में न चलाकर डी० डब्ल्यू० सी० आर० ए० के जनपदों में ही सफल रूप में चलाये जाने की रणनीति अपनायी गयी है।

आर्थिक कार्यकलाप :

महिला समूहों द्वारा अपनाये जा रहे आर्थिक कार्यकलाप निम्नलिखित हैं :— कपड़ा सिलाई, सूत कताई, चिकन-जरी कढ़ाई-बुनाई, दरी बनाना (कतरन-सूत), कालीन बनाना, टोकरी बनाना, दियासलाई बनाना, चटाई बनाना, मोमबत्ती बनाना, रेशा रस्सी, टाट पट्टी, दूध डेरी, अगरबत्ती बनाना, मुर्गी-पालन, बकरी पालन, मिठाई का डिब्बा बनाना, मसाला बनाना, अचार मुरब्बा, मूँज का कार्य, झाडू बनाना, हथकरघा, बरी-पापड़, कागज के लिफाफे, दोना-पत्तल आदि।

अनुपूरक पुष्टाहार योजना :

यह योजना बाल विकास सेवायें एवं पुष्टाहार निदेशालय, उत्तरप्रदेश

द्वारा चलायी जा रही है। समेकित बाल विकास योजना के पुष्टाहार योजना के अन्तर्गत् 6 वर्ष से नीचे के ऐसे बच्चे तथा गर्भवती मातायें व धात्री मातायें आती हैं जिनके परिवार की मासिक आय 500 रुपये से कम हो, एक हेक्टेयर से कम खेती हो, भूमिहीन कृषक परिवार की हो, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति की हों, चिकित्सा परामर्श के आधार पर उक्त वर्ग के अतिरिक्त किसी भी महिला को सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रदेश में क्षेत्रवार विभाजन व उसमें वितरित की जाने वाली पुष्टाहार की योजनायें निम्नलिखित हैं :—

विश्व खाद्य कार्यक्रम :

इस योजना के अन्तर्गत् दलिया और सोयाबीन का तेल परिकल्प के रूप में (सामान्य लाभार्थियों को 65 ग्राम दलिया एवं 8 ग्राम एस० एस० आयल एवं अति कुपोषित बच्चों, गर्भवती एवं धात्री महिलाओं को दुगुना राशन अर्थात् 130 ग्राम दलिया तथा 16 ग्राम सोया सलाद आयल) दिया जाता है। चीनी, गुड़ तथा नमक जिला योजना के अन्तर्गत् स्थानीय रूप से क्रय किया जाता है। सन् 1989-90 में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् 49 परियोजनाओं को लिया गया हैं।

केयर :

इस परियोजना के अन्तर्गत् कॉर्न सोयाब्लेन्ड कॉर्न सोयामिल्क (पंजीरी) (सामान्य लाभार्थी बच्चों को 65 ग्राम सी० एस० एम०/सी० एस० बी० तथा 8 ग्राम एस० एस० ऑयल, कुपोषित बच्चों तथा गर्भवती (धात्री) महिलाओं को 130 ग्राम एस० सी० एम० सी० एस० बी० तथा 16 ग्राम एस० एस० आयल) दिया जाता है। सन् 1989-90 में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् 40 परियोजनाओं को लिया गया।

गेहूँ आधारित योजना :

यह भारत सरकार द्वारा अनुदानित योजना है जिसके अन्तर्गत् गेहूँ व 6 अन्य पौष्टिक तत्त्वों को मिलाकर मीठी पंजीरी बनायी जाती है। इसे प्रत्येक लाभार्थी को 80 ग्राम प्रतिदिन दिये जाने की व्यवस्था है। इस योजना में 67 परियोजनाओं को लिया गया है।

नॉर्वे सरकार द्वारा अनुदानित :

सन् 1989-90 में 10 जनपदों के सभी परियोजनाओं पर होने वाले व्यय जिसमें पुष्टाहार भी सम्मिलित है, नॉर्वे सरकार द्वारा अनुदान के रूप में हैं।

इसमें कुल 57 परियोजनाओं में (सरनी के अतिरिक्त) पुष्टाहार पर होने वाले व्यय की भी प्रतिपूर्ति होगी। पुष्टाहार की स्थानीय क्रय के आधार पर आपूर्ति की जायेगी जिसमें कुपोषित बच्चों को 45 पैसा, गर्भवती (धात्री) माताओं को 75 पैसा व अति कुपोषित बच्चों को 95 पैसे के हिसाब से प्रतिदिन पुष्टाहार दिया जायेगा। पुष्टाहार क्रय के लिये जिला अधिकारी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है।

स्थानीय क्षेत्र के आधार पर शेष परियोजना :

इस परियोजना में भी नौवें अनुदानित परियोजनाओं के समान ही पुष्टाहार की व्यवस्था राज्य सरकार अपने संसाधन से करती जिसमें शेष 17 परियोजनाओं को लिया गया है।

तालिका - 1

भारत में अनुमानित जन्मदर, मृत्युदर तथा शिशु मृत्युदर (1981-87) प्रतिवर्ष प्रति हजार में

वर्ष	जन्म दर			मृत्यु दर			शिशु मृत्यु दर		
	ग्रामीण	नगरीय	संयुक्त	ग्रामीण	नगरीय	संयुक्त	ग्रामीण	नगरीय	संयुक्त
1981	35.6	27.0	33.9	13.7	7.8	12.5	119.0	62.0	110.0
1982	35.5	27.6	33.8	13.1	7.4	11.9	114.0	65.0	105.0
1983	35.3	28.3	33.7	13.1	7.9	11.9	114.0	66.0	105.0
1984	35.3	29.4	33.9	13.8	8.6	12.6	113.0	66.0	104.0
1985	34.3	28.1	32.9	13.0	7.0	11.8	107.0	59.0	97.0
1986	34.2	27.1	32.6	12.2	7.6	11.1	105.0	62.0	96.0
1987	35.5	27.1	32.0	11.9	7.3	10.8	104.0	61.0	95.0

स्रोत — महापंजीकार, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली ।

15 वर्ष की आयु तक जीवित रहने की आशा

	0 (जन्म के समय)		5		10		15	
वर्ष	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला
1951-61	41.9	40.6	48.7	47.0	45.2	43.8	41.0	39.6
1961-71	46.4	44.7	52.0	50.2	48.8	47.7	45.0	44.0
1971-81	50.9	50.0	--	--	--	--	--	--

तालिका - 2

आयु के अनुपात में मृत्यु दर बालकों में तथा सभी समूहों में (1981-86) प्रतिवर्ष प्रति हजार

वर्ष	ग्रामीण/ नगरीय	आयु समूह							
		0 - 4		5-9		10-14		सभी आयु में	
		पुरुष	महिला	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला
1981	ग्रामीण	43.1	48.0	4.0	5.0	1.8	1.8	13.4	13.9
	नगरीय	20.0	20.9	1.7	1.7	1.6	1.4	8.0	7.6
	योग	39.2	43.3	3.7	4.4	1.8	1.7	12.4	12.7
1982	ग्रामीण	42.2	45.7	3.4	4.3	1.9	1.9	13.1	13.2
	नगरीय	21.2	20.5	1.4	1.8	0.8	1.0	7.7	7.1
	योग	37.9	40.5	3.0	3.7	1.6	1.7	11.9	11.9
1983	ग्रामीण	40.5	43.1	3.4	4.0	1.7	2.0	13.1	13.1
	नगरीय	21.1	21.7	2.0	1.8	0.9	1.2	8.3	7.6
	योग	36.5	38.6	3.1	3.5	1.5	1.8	12.0	11.9

वर्ष	ग्रामीण/ नगरीय	आयु समूह							
		0 - 4		5-9		10-14		सभी आयु में	
		पुरुष	महिला	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला
1984	ग्रामीण	44.2	48.2	4.1	5.3	1.7	2.2	13.5	14.0
	नगरीय	22.6	23.8	1.6	2.1	1.2	1.3	8.8	8.3
	योग	39.5	43.0	3.6	4.6	1.6	2.0	12.4	12.8
1985	ग्रामीण	41.4	43.3	3.7	4.8	2.0	2.1	12.9	13.1
	नगरीय	19.4	22.1	1.4	1.9	1.2	0.9	8.0	7.6
	योग	36.6	40.4	3.2	4.2	1.8	1.9	11.8	11.8
1986	ग्रामीण	38.6	43.3	3.3	4.2	1.6	1.8	2.0	12.3
	नगरीय	20.3	21.5	1.6	1.8	0.9	1.1	7.8	7.4
	योग	34.7	38.6	2.9	3.7	1.5	1.6	11.0	11.2

स्रोत—महापंजीकार, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

तालिका - 3

बालकों का 10 चयनित बीमारियों से मृत्यु प्रतिशत (ग्रामीण) 1986

क्र०सं०	बीमारियाँ	सूचित मृत्यु	विभिन्न आयु समूहों में मृत्यु प्रतिशत				
			0 - 1	1 - 4	4 - 14	14+	योग
1.	यस्थमा एवं ब्रॉन्काइटिस	1558	1.8	2.7	1.4	94.1	100.0
2.	फेफड़ों की टी०बी०	966	0.3	1.4	2.8	95.5	100.0
3.	निमोनिया	8965	47.0	28.9	9.7	14.4	100.0
4.	हार्ट अटैक	886	0.3	0.5	1.0	98.2	100.0
5.	अनीमिया	557	11.0	22.4	8.4	58.2	100.0
6.	कैन्सर	529	0.2	1.3	2.9	95.6	100.0
7.	गैस्ट्रो-इन्टेरिटिस	397	14.4	30.0	11.6	44.0	100.0
8.	डिसेन्टरी	356	9.0	34.0	12.4	44.6	100.0
9.	टाइफायड	334	4.8	28.7	12.3	54.2	100.0
10.	मलेरिया	296	15.2	14.5	10.8	59.5	100.0
11.	सभी कारणों से	18,262	16.3	8.3	4.8	70.6	100.0

स्रोत—मृत्यु कारक - सर्वेक्षण (ग्रामीण)

तालिका - 4 : सभी के लिये स्वास्थ्य - 2000 तक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण कार्यक्रमों का लक्ष्य प्रतिवर्ष प्रति हजार

क्र० सं०	विषय सूची	वर्तमान स्तर	लक्ष्य	
			1990	2000 ई०
1.	जन्म दर (क्रूड)	32.6(1986)	27.0	21.0
2.	मृत्यु दर (क्रूड)	11.1(1986)	10.4	9.0
3.	शिशु मृत्यु दर	96.0(1986)	87.0	60 से नीचे
4.	गर्भस्थ मृत्यु दर	53.8(1984)	--	30 - 35
5.	मातृ मृत्यु दर	4.5 (1976)	2.3	2 से नीचे
6.	जन्म के समय जीवन आशा (वर्षों में)	58.1 पु० (1986-91)	57.6 पु०	64 वर्ष पु०
		59.1 म० (1986-91)	57.1 म०	64 वर्ष म०
7.	युगल आच्छेदन (नसबन्दी)	37.5(1987)	42.0	60.0
8.	नेट रीप्रोडक्शन दर	1.48 (1981)	1.17	1.0
9.	नैसर्गिक वृद्धि दर	2.24 (1971-81)	1.66	1.20
10.	परिवार आकार	4.4 (1975)	--	2.3
11.	प्रशिक्षित दाइयों द्वारा प्रसव कार्य (%)	30 - 35	80.0	100
12.	जलपूर्ति प्रतिशत जनसंख्या में जलपूर्ति	ग्रामीण 10	100	100
		नगरीय 80	100	100
13.	टीकाकरण (गर्भवती माँ तथा शिशु) %	86.6	100	100
(i)	टी०टी० (स्कूली बच्चे -16 वर्ष)	92.7	100	100
(ii)	डी०पी०टी० (3 वर्ष से कम आयु के बच्चे)	96.2	85	85
(iii)	पोलियो (शिशु)	83.7	70	85
(iv)	बी०सी०जी०	94.5	80	85

स्रोत—राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, भारत सरकार, 1983.

तालिका - 5

पंचवर्षीय योजनाओं में चिकित्सालय, डिस्पेन्सरी, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र तथा उप स्वास्थ्य केन्द्र

योजनायें	संख्या			
	चिकित्सालय	डिस्पेन्सरी	प्रा० स्वा० केन्द्र	उप स्वास्थ्य केन्द्र
पहली योजना (1956)	3307	7194	725	--
दूसरी योजना (1961)	3094	9406	2565	--
	(बिहार और गुजरात को छोड़कर)			
तीसरी योजना (1966)	3727	8414	4631	--
चौथी योजना (1974)	4680	11345	5283	33509
पांचवीं योजना (1978)	5815	14828	5400	38115
छठवीं योजना (1985)	7474	25584	7284	84590
सातवीं योजना (31-3-1988 तक)	10220	29045	16449	109444

स्रोत—भारतीय स्वास्थ्य सूचना—1988, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार।

तालिका - 6

राज्यवार प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र तथा उप स्वास्थ्य केन्द्र

क्र० केन्द्र	राज्य/केन्द्रशासित क्षेत्र	ग्रामीण परिवार कल्याण (1-4-1986)	प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (1-4-1987)	उपकेन्द्र (1-4-1987)
1.	आन्ध्र प्रदेश	420	997	6966
2.	आसाम	146	326	2623
3.	बिहार	587	1201	9594
4	गुजरात	251	430	6006
5.	हरियाणा	89	248	1987
6.	हिमाचल प्रदेश	77	167	967
7.	जम्मू तथा कश्मीर	82	137	557
8.	कर्नाटक	269	502	5164
9.	केरल	163	437	3305
10.	मध्य प्रदेश	460	926	7345
11.	महाराष्ट्र	428	1343	8911
12.	मनीपुर	31	45	343
13.	मेघालय	23	52	300
14.	नागालैण्ड	7	53	196
15.	उड़ीसा	314	662	4326
16.	पंजाब	129	1786	2703
17.	राजस्थान	232	588	4792
18.	सिक्किम	15	20	93
19.	तमिलनाडु	383	743	7201
20.	त्रिपुरा	35	80	269
21.	उत्तर प्रदेश	907	1930	17045
22.	पश्चिमी बंगाल	355	1266	7665
23.	अण्डमान निकोबार	--	10	43
24.	अरूणाचल प्रदेश	--	67	66
25.	चण्डीगढ़	1	5	10

क्र० केन्द्र	राज्य/केन्द्रशासित क्षेत्र	ग्रामीण परिवार कल्याण (1-4-1986)	प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (1-4-1987)	उपकेन्द्र (1-4-1987)
26.	दादर तथा नागर हवेली	2	4	20
27.	दिल्ली	8	8	42
28.	गोवा, दमण दिव	15	14	175
29.	लक्ष द्वीप	--	7	14
30.	मिजोरम	14	50	186
31.	पाण्डिचेरी	12	41	73

स्रोत—इयरबुक 1986-87—स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, नई दिल्ली।

तालिका - 7

भारत में मातृ तथा शिशु चिकित्सालय (1-1-1987)

क्र०सं०	राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश	मातृ चिकित्सालय		बाल चिकित्सालय		सम्मिलित कुल	
		चिकित्सालय	शैय्यायें	चिकित्सालय	शैय्यायें	चिकित्सालय	शैय्यायें
1.	आन्ध्र प्रदेश	61	1805	2	100	84	4408
2.	अरुणाचल प्रदेश	--	--	--	--	4	272
3.	आसाम	--	--	--	--	8	1704
4.	बिहार	2	65	--	--	19	3734
5.	गोवा	6	80	--	--	8	502
6.	गुजरात	335	5055	65	745	476	8083
7.	हरियाणा	3	90	--	--	3	90
8.	हिमाचल प्रदेश	1	80	--	--	9	552
9.	जम्मू तथा कश्मीर	--	--	1	200	6	694
10.	कर्नाटक	32	878	--	--	40	2801
11.	केरल	21	583	22	434	74	5054
12.	मध्य प्रदेश	4	131	--	--	19	2095
13.	महाराष्ट्र	536	8227	51	788	681	21549
14.	मणिपुर	--	--	--	--	1	50
15.	मेघालय	-	--	--	--	1	20

क्र०सं०	राज्य/किन्द्रशासित प्रदेश	मातृ चिकित्सालय		बाल चिकित्सालय		सम्मिलित कुल	
		चिकित्सालय	शैय्यायें	चिकित्सालय	शैय्यायें	चिकित्सालय	शैय्यायें
16.	मिजोरम	–	--	--	--	1	20
17.	नागालैण्ड	–	--	--	--	3	150
18.	उड़ीसा	2	49	5	247	17	559
19.	पंजाब	6	185	1	100	11	1254
20.	राजस्थान	5	132	--	--	11	676
21.	सिक्किम	--	--	--	--	--	--
22.	तमिलनाडु	7	895	1	500	23	6637
23.	त्रिपुरा	–	–	–	–	–	–
24.	उत्तर प्रदेश	17	784	.4	328	64	4868
25.	पश्चिम बंगाल	38	1443	3	404	62	6298
26.	अण्डमान निकोबार	–	–	–	–	–	–
27.	चण्डीगढ़	–	–	–	–	–	–
28.	दादर तथा नागर हवेली	–	–	–	–	–	–
29.	दिल्ली	5	240	1	259	8	1244
30.	लक्षद्वीप	–	–	–	–	–	–
31.	पाण्डिचेरी	1	282	--	--	2	442
	योग —	1082	20984	156	4105	1629	73756

तालिका - 8

समन्वित बाल विकास परियोजनायें (30 सितम्बर 1989 तक) केन्द्रीय

प्रान्त तथा केंद्रशासित क्षेत्र	परियोजनायें (31-3-90)	आंगनबाड़ी की संख्या	विद्यालय पूर्व शिक्षा के लिये बालकों की संख्या (जो आंगनबाड़ी जा रहे हैं)	प्रति आंगनबाड़ी औसत बच्चों की संख्या
1. आन्ध्र प्रदेश	103	10276	335,8300	32.71
2. अरुणाचल प्रदेश	25	794	184,200	27.05
3. आसाम	52	5305	1796,000	33.98
4. बिहार	168	3445	473,9600	35.44
5 गोवा	11	1000	140,500	14.04
6. गुजरात	82	12069	417,2600	34.82
7. हरियाणा	37	13775	132,8200	34.19
8. हिमाचल प्रदेश	23	2571	425,300	16.54
9. जम्मू तथा कश्मीर	25	1897	481,800	25.55
10. कर्नाटक	78	10929	359,6200	32.95
11. केरल	54	5931	156,3900	26.36
12. मध्य प्रदेश	161	15199	436,9900	29.17
13. महाराष्ट्र	122	17328	681,2400	39.31
14. मणिपुर	19	1514	475,400	33.33
15. मेघालय	20	961	230,800	28.03
16. मिजोरम	16	896	316,000	35.30
17. नागालैण्ड	21	1127	551,900	48.96
18. उड़ीसा	105	7164	191,3300	27.72
19. पंजाब	48	4933	149,5000	30.45
20. राजस्थान	83	10060	333,6200	33.42
21. सिक्किम	4	326	52,500	16.09
22. तमिलनाडु	78	5884	211,4700	36.24
23. त्रिपुरा	14	1218	394,300	33.13
24. उत्तर प्रदेश	222	18093	704,6700	39.00
25. पश्चिम बंगाल	128	14868	431,34	29.12
26. अण्डमान निकोबार	4	243	100,900	41.52

प्रान्त तथा केंद्रशासित क्षेत्र	परियोजनायें (31-3-90)	आंगनबाड़ी की संख्या	विद्यालय पूर्व शिक्षा के लिये बालकों की संख्या (जो आंगनबाड़ी जा रहे हैं)	प्रति आंगनबाड़ी औसत बच्चों की संख्या
27. चण्डीगढ़	2	200	65300	32.62
28. दादर तथा नागर हवेली	1	125	27300	22.19
29. दिल्ली	22	2643	103,5700	39.27
30. दमन दिव	2	79	23600	29.87
31. लक्षद्वीप	1	60	11200	18.71
32. पाण्डिचेरी	5	663	137900	20.80
भारत	1736	171576	56611000	33.22

स्रोत—महिला एवं बाल विकास विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली ।

तालिका - 9

भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं में पूर्व प्राथमिक विद्यालय (बालवाड़ी) की प्रगति

क्र० सं०	अवधि	संख्या	धनराशि स्वीकृत (रुपये लाख में)
1.	प्रथम तथा द्वितीय योजना (1950-51 से 1960-61)	2174	57.26
2.	तृतीय योजना (1961-62 से 1965-66)	4816	53.15
3.	वार्षिक योजनायें (1966-67 से 1968-69)	4999	40.87
4.	चतुर्थ योजना (1969-70 से 1973-74)	9892	76.54
5.	पांचवीं योजना (1974-75 से 1977-78)	13083	142.65
6.	वार्षिक योजनायें (1978-79 से 1979-80)	8012	109.01
7.	छठीं योजना (1980-81 से 1984-85)	19572	260.29
8.	सातवीं योजना		
	1. वार्षिक योजना (1985-86)	3502	58.56
	2. वार्षिक योजना (1986-87)	3470	59.09
	कुल		857.42

स्रोत—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, नई दिल्ली ।

तालिका - 10 अ

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा सामान्य अनुदान के अन्तर्गत बच्चों के लिये कल्याण योजनायें (पंचवर्षीय योजनाओं में)

क्र० सं०	अवधि	अनाथालय संख्या	स्वीकृत धनराशि (रु० लाख में)	क्रैश तथा लघुकालीन गृह संख्या	धनराशि
1.	प्रथम पंचवर्षीय योजना 1951-52 से 1955-56 द्वितीय पंचवर्षीय योजना 1955-56 से 1960-61	561	64.68	182	3.29
2.	तृतीय पंचवर्षीय योजना 1961-62 से 1965-66	618	36.91	84	2.39
3.	वार्षिक योजनायें	--	23.16	--	1.51
	1. 1966-67	260	8.27	80	--
	2. 1967-68	230	7.24	38	--
	3. 1968-69	244	7.65	35	--
4.	चतुर्थ पंचवर्षीय योजना	--	36.23	--	2.45
	1. 1969-70	245	7.90	36	0.51
	2. 1970-71	248	7.27	35	0.50
	3. 1971-72	234	7.01	30	0.46
	4. 1972-73	224	6.81	33	0.46
	5. 1973-74	252	7.24	39	0.52
5.	पंचम पंचवर्षीय योजना	--	41.04	--	3.73
	1. 1974-75	253	8.85	47	0.68
	2. 1975-76	225	10.90	53	0.95
	3. 1976-77	227	10.70	55	1.07
	4. 1977-78	228	10.59	56	1.03
6.	वार्षिक योजनायें	--	20.74	--	1.24
	1. 1978-79	218	10.41	46	0.83
	2. 1979-80	200	10.33	17	0.41

क्र० सं०	अवधि	अनाथालय संख्या	स्वीकृत धनराशि (रु० लाख में)	क्रैश तथा लघुकालीन गृह संख्या	धनराशि
7.	छठीं पंचवर्षीय योजना	--	45.78	--	3.11
1.	1980-81	153	8.72	23	0.64
2.	1981-82	164	9.12	21	0.59
3.	1982-83	155	8.57	20	0.75
4.	1983-84	172	9.55	19	0.67
5.	1984-85	179	9.82	14	0.46
8.	सातवीं पंचवर्षीय योजना				
1.	1985-86	157	9.58	36	0.84
2.	1986-87	148	9.53	39	0.85

स्रोत—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, नई दिल्ली ।

तालिका - 10 आ

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा सामान्य अनुदान के अन्तर्गत स्वीकृत बच्चों के लिये कल्याण योजनायें

क्र० सं० अवधि	सांस्कृतिक (मनोरंजनात्मक) केन्द्र तथा पुस्तकालय		शिशु स्वास्थ्य केन्द्र तथा बाल निर्देशन निदान केन्द्र		बालवाड़ी	
	संख्या	स्वीकृत धनराशि	संख्या	स्वीकृत धनराशि	संख्या	स्वीकृत धनराशि (रु० लाख में)
1. प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1951-52 से 1960-61)	1563	30.69	--	--	2174	57.26
2. तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-62 से 1965-66)	914	9.67	143	2.85	4816	53.15
3. वार्षिक योजनायें	--	2.65	--	1.90	--	40.87
1. 1966-67	157	--	32	--	1830	--
2. 1967-68	100	--				
32	--	1570	--			
3. 1968-69	109	--	35	--	1599	--
4. चतुर्थ पंचवर्षीय योजना	--	3.68	--	2.26	--	76.54
1. 1969-70	141	1.06	34	0.73	1814	17.60
2. 1970-71	116	0.74	29	0.44	1712	12.18
3. 1971-72	69	0.49	9	0.25	1916	14.58
4. 1972-73	76	0.71	6	0.15	2155	15.84
5. 1973-74	100	0.68	39	0.69	2295	16.34

क्र० सं० अवधि	सांस्कृतिक (मनोरंजनात्मक) केन्द्र तथा पुस्तकालय		शिशु स्वास्थ्य केन्द्र तथा बाल निर्देशन निदान केन्द्र		बालवाड़ी	
	संख्या	स्वीकृत धनराशि (रु० लाख में)	संख्या	स्वीकृत धनराशि (रु० लाख में)	संख्या	स्वीकृत धनराशि (रु० लाख में)
5. पंचम पंचवर्षीय योजना	--	8.89	--	2.29	--	142.65
1. 1974-75	176	1.15	42	0.53	2825	24.46
2. 1975-76	163	1.58	17	0.60	3425	40.27
3. 1976-77	148	1.59	17	0.60	3386	37.64
4. 1977-78	116	1.57	11	0.56	3447	40.28
6. वार्षिक योजनायें	--	3.67	--	1.22	--	109.01
1. 1978-79	189	1.87	--	--	3856	45.55
2. 1979-80	125	1.80	47	1.22	4156	63.46
7. छठवीं पंचवर्षीय योजना	--	11.68	--	--	--	260.29
1. 1980-81	273	2.42	--	--	4567	56.47
2. 1981-82	355	3.46	--	--	3883	50 79
3. 1982-83	139	1.41	--	--	3718	48.20
4. 1983-84	140	2.13	--	--	3727	51.37
5. 1984-85	132	2.26	--	--	3677	53.46
8. सातवीं पंचवर्षीय योजना						
1. 1985-86	136	2.65	--	--	3502	58.56
2. 1986-87	153	3.26	--	--	3470	59.06

स्रोत—भारत में बच्चों की सांख्यिकी, राष्ट्रीय जन सहयोग तथा बाल विकास संस्थान, नई दिल्ली 1990 ।

तालिका - 11

अनुमानित निर्योग्य व्यक्तियों की प्रति लाख जनसंख्या में संख्या (आयु, आवास, लिंग, निर्योग्यता के प्रकार के आधार पर)

(1981 की जनसंख्या के आधार पर)

आयु समूह	ग्रामीण / नगरीय	दृष्टि निर्योग्यता			श्रवण निर्योग्यता			वाक् निर्योग्यता			शारीरिक विकलांगता		
		व्यक्ति	पु०	म०	व्यक्ति	पु०	म०	व्यक्ति	पु०	म०	व्यक्ति	पु०	म०
सभी समूहों में	ग्रामीण	553	444	670	553	595	510	304	379	228	828	1047	597
	नगरीय	356	294	425	390	386	386	279	342	207	679	800	544
0 - 4	ग्रामीण	39	41	37	--	--	--	--	--	--	435	522	342
	नगरीय	25	29	21	--	--	--	--	--	--	540	628	448
5 - 14	ग्रामीण	66	71	60	314	343	283	411	486	324	676	817	515
	नगरीय	87	100	72	244	266	220	429	506	345	718	859	562
15 - 39	ग्रामीण	117	125	106	318	386	250	274	359	189	641	876	402
	नगरीय	117	136	96	208	216	198	236	304	159	482	601	346
40 - 59	ग्रामीण	585	462	715	614	647	579	220	262	175	1110	1458	744
	नगरीय	365	281	467	434	386	458	166	203	122	730	873	560
60 तथा ऊपर	ग्रामीण	5863	4573	7155	2628	2660	2597	285	345	221	2617	3079	2154
	नगरीय	5156	3291	4968	2366	2432	2305	282	360	209	2246	2444	2060

स्रोत—निर्योग्य व्यक्तियों पर प्रतिवेदन, 36 वाँ चक्र, जुलाई-दिसम्बर, 1981, सं० 305, राष्ट्रीय आदर्श सर्वेक्षण संगठन, नई दिल्ली, 1983।

तालिका - 12

भारत में विभिन्न शारीरिक निर्योग्यताओं की घटना दर प्रति लाख जनसंख्या में (आयु, आवास, लिंग के आधार पर)

(1981 की जनसंख्या के आधार पर)

आयु समूह	ग्रामीण/ नगरीय	दृष्टि निर्योग्यता			श्रवण निर्योग्यता			वाक् निर्योग्यता			गायन निर्योग्यता		
		व्यक्ति	पु०	म०	व्यक्ति	पु०	म०	व्यक्ति	पु०	म०	व्यक्ति	पु०	म०
1. सभी समूहों में	ग्रामीण	38	32	45	19	20	18	3	6	2	53	64	42
	नगरीय	30	23	38	15	14	15	6	7	3	54	61	47
2. 0 - 4	ग्रामीण	9	6	13	--	--	--	--	--	--	97	125	68
	नगरीय	4	5	3	--	--	--	--	--	--	131	150	112
3. 5 - 14	ग्रामीण	3	4	1	12	14	11	5	8	1	26	35	17
	नगरीय	2	2	3	7	6	7	5	8	2	22	28	15
4. 15 - 39	ग्रामीण	4	3	4	5	7	3	1	2	1	19	28	10
	नगरीय	4	6	2	5	5	7	1	1	1	15	20	10
5. 40 - 59	ग्रामीण	41	32	49	16	16	16	4	6	3	58	73	41
	नगरीय	43	31	58	13	16	9	8	12	5	61	72	48
6. 60 वर्ष तथा	ग्रामीण	422	361	485	135	135	135	13	17	10	243	231	254
ऊपर	नगरीय	381	284	473	134	147	122	28	45	12	301	318	284

स्रोत—पूर्ववत् । घटना दर का तात्पर्य 1981 सर्वे के 365 दिन में 1 लाख जनसंख्या में होने वाली निर्योग्यतायें ।

तालिका - 13

विकलांग बच्चों की संख्या (आयु, लिंग, आवास के आधार पर), 1978

क्र०सं०	आयु	लिंग	प्रति लाख बालकों की संख्या (0-6 वर्ष)							
			पूर्ण गूँगे		पूर्ण दृष्टिहीन		पूर्ण अपंग		सभी श्रेणियाँ	
			ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय
1.	0-6 वर्ष	महिला	29	29	8	6	39	42	76	77
	से नीचे	पुरुष	21	21	6	7	21	56	48	84
2.	1 वर्ष से नीचे	महिला	18	13	11	--	8	--	37	13
		पुरुष	26	4	8	--	15	16	49	20
3.	1 वर्ष तक	महिला	19	19	9	--	21	48	49	67
		पुरुष	19	13	1	14	34	78	54	105
4.	2 वर्ष तक	महिला	30	29	1	9	21	45	52	83
		पुरुष	8	9	3	2	12	58	23	69
5.	3 वर्ष तक	महिला	9	13	2	11	80	44	91	68
		पुरुष	14	29	8	8	28	64	50	101
6.	4-6 वर्ष	महिला	45	44	11	8	51	51	107	103
	के बीच	पुरुष	27	32	7	8	19	58	53	98

नोट : पूर्ण अपंग -- दोनों हाथ या दोनों पाँव या चारों हाथ-पाँव अपंग ।

स्रोत—शिशु तथा बाल मृत्यु सर्वेक्षण, 1979 पृ० 39.

तालिका - 14

सम्प्रेक्षण गृहों, बाल गृहों, विशेष गृहों तथा उत्तर रक्षा केन्द्रों की संख्या (31-12-1988)

राज्य/संघ शासित प्रदेश	सम्प्रेक्षण गृह		बाल गृह		विशेष गृह		उत्तर रक्षा केन्द्र		कुल संख्या
	संख्या	क्षमता	संख्या	क्षमता	संख्या	क्षमता	संख्या	क्षमता	
1. आन्ध्र प्रदेश	7	440	5	1250	2	375	--	--	14
2. आसाम	7	550	25	--	3	250	1	100	36
3. अरुणाचल प्रदेश	--	--	--	--	--	--	--	--	--
4. बिहार	10	--	8	--	5	--	2	--	25
5. गोवा	1	125	2	125	1	125	--	--	4
6. गुजरात	24	900	5	700	13	525	--	--	42
7. हरियाणा	1	--	--	--	1	--	--	--	2
8. हिमांचल प्रदेश	1	--	1	50	1	15	--	--	3
9. जम्मू तथा कश्मीर (अभी लागू नहीं)	--	--	--	--	--	--	--	--	--
10. कर्नाटक	22	880	18	2000	--	--	4	220	44
11. केरल	--	--	--	--	--	--	--	--	--
12. मध्य प्रदेश	--	--	--	--	--	--	--	--	--
13. महाराष्ट्र	44	--	104	--	--	--	--	--	148
14. मणिपुर	--	--	--	--	--	--	--	--	--
15. मेघालय	--	--	--	--	--	--	--	--	--

राज्य/संघशासित प्रदेश	सम्प्रेक्षण गृह		बाल गृह		विशेष गृह		उत्तर रक्षा केन्द्र		कुल संख्या
	संख्या	क्षमता	संख्या	क्षमता	संख्या	क्षमता	संख्या	क्षमता	
16. मिजोरम	--	--	--	--	--	--	--	--	--
17. नागालैण्ड	--	--	--	--	--	--	--	--	--
18. उड़ीसा	2	--	--	--	--	--	--	--	--
19. पंजाब	8	120	3	200	2	50	2	50	15
20. राजस्थान	11	275	3	175	1	25	--	--	15
21. सिक्किम (लागू नहीं)									
22. तमिलनाडु	14	1275	17	4130	3	1105	3	300	37
23. त्रिपुरा	--	--	--	--	--	--	--	--	--
24. उत्तर प्रदेश	53	1690	10	1600	2	200	--	--	65
25. प० बंगाल	10	340	19	880	4	290	--	--	33
26. अण्डमान निकोबार	--	--	--	--	--	--	--	--	--
27. चण्डीगढ़	1	--	1	--	1	--	--	--	3
28. दिल्ली	6	525	8	1090	2	25	2	200	18
29. दमन दिव	--	--	--	--	--	--	--	--	--
30. दादर तथा नागर हवेली	--	--	--	--	--	--	--	--	--
31. लक्षद्वीप	--	--	--	--	--	--	--	--	--
32. पाण्डिचेरी	1	15	1	75	1	20	--	--	3

स्रोत—कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार का वार्षिक प्रतिवेदन, 1988-89।

तालिका - 15 : राज्यवार डी एडिक्शन सेन्टर के लिये स्वैच्छिक संस्थाओं को स्वीकृत परियोजना (31-3-1989)

क्र० सं०	राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश	केन्द्रों की संख्या
1.	गुजरात	2
2.	हरियाणा	1
3.	कर्नाटक	1
4.	केरल	1
5.	मध्य प्रदेश	2
6.	महाराष्ट्र	1
7.	मिजोरम	2
8.	नागालैण्ड	1
9.	राजस्थान	1
10.	तमिलनाडु	1
11.	उत्तर प्रदेश	3
12.	पश्चिम बंगाल	2
13.	दिल्ली	6
	योग	24

तालिका - 16 : राज्यवार मंत्रणा केन्द्र (31-3-1989)

क्र० सं०	राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश	स्वीकृत केन्द्रों की संख्या
1.	आन्ध्र प्रदेश	1
2.	बिहार	2
3.	गोवा	3
4.	गुजरात	6
5.	हरियाणा	9
6.	कर्नाटक	2
7.	केरल	1
8.	मध्य प्रदेश	4
9.	मणिपुर	2
10.	महाराष्ट्र	9
11.	मिजोरम	3
12.	नागालैण्ड	1
13.	उड़ीसा	2
14.	पंजाब	1
15.	राजस्थान	5
16.	सिक्किम	1
17.	तमिलनाडु	2
18	त्रिपुरा	1
19.	उत्तर प्रदेश	6
20.	पश्चिम बंगाल	5
21.	चण्डीगढ़	2
22.	दिल्ली	15
23.	पाण्डिचेरी	2
	योग	86

तालिका - 17

15 वर्ष से कम श्रमिक कार्यकर्ताओं की जनसंख्या तथा उनकी कार्य भागीकरण दर

ग्रामीण/			कार्यकर्ता			कार्यभागीकरण दर —		
नगरीय	लिंग	कुल जनसंख्या	मुख्य	सीमान्त	योग	मुख्य	सीमान्त	योग
कुल	कुल बच्चे	179.597	11.196	2.445	13.641	6.23	1.36	7.60
	पुरुष	93.533	7.438	0.676	8.114	7.95	0.72	8.67
	महिला	86.064	3.758	1.769	5.527	4.37	2.06	6.42
ग्रामीण	कुल बच्चे	140.153	10.204	2.366	12.570	7.28	1.69	8.97
	पुरुष	73.051	6.699	0.644	37.343	9.17	0.88	10.05
	महिला	67.102	3.505	1.722	5.227	5.22	2.57	7.79
नगरीय	कुल बच्चे	39.444	0.992	0.080	1.072	2.51	0.20	2.70
	पुरुष	20.482	0.739	0.032	0.771	3.61	0.16	3.76
	महिला	18.962	0.253	0.048	0.301	1.33	0.25	1.59

जनगणना 1981

अंक मिलियन में

तालिका - 18

बाल कर्ताओं की संख्या (प्रकार, औद्योगिक प्रकार, आवास, आयु समूह) 1981 की जनगणना के आधार पर

औद्योगिक प्रकार	आवास	आयु समूह	मुख्य कर्ता			सीमान्त कर्ता		
			व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
सभी श्रेणियाँ	सभी	सभी आयु वर्ग	222517	177544	44973	22089	3537	18552
		0 - 14	11169	7413	3756	2424	684	1740
	ग्रामीण	सभी	176434	136831	39603	20875	3090	17785
		0 - 14	10191	6681	3510	2363	658	1705
	नगरीय	सभी आयु वर्ग	46083	40713	5370	1214	447	767
		0-14	978	732	246	61	26	35
1. खेतिहर	सभी	सभी आयु के	92523	77591	14932	10362	1474	8888
		0 - 14	4013	2912	1101	1183	352	831
	ग्रामीण	सभी आयु के	90157	75475	14682	10119	1406	8713
		0 - 14	3961	2869	1092	1174	349	825
	नगरीय	सभी आयु के	2365	2115	250	243	68	175
		0 - 14	52	43	9	9	3	6
2. कृषि श्रमिक	सभी	सभी आयु के	55500	34732	20768	8864	1178	7686
		0 - 14	4774	2783	1991	1007	240	767
	ग्रामीण	सभी आयु के	52713	32835	19378	8637	1125	7512
		0 - 14	4629	2694	1935	993	236	757

औद्योगिक प्रकार	आवास	आयु समूह	मुख्य कर्ता			सीमान्त कर्ता		
			व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
	नगरीय	सभी आयु के	2787	1897	890	227	53	174
		0 - 14	144	89	55	14	4	10
3. लिव स्टाक,	सभी	सभी आयु के	4992	4160	832	435	130	305
वानिकी, मछली,		0 - 14	704	563	141	67	34	33
शिकार, वृक्षा-	ग्रामीण	सभी आयु के	4155	3422	733	405	116	289
रोपण, ओचार्ट्स		0 - 14	674	537	137	65	32	33
तथा संबंधित	नगरीय	सभी आयु के	838	738	100	30	14	16
क्रियायें		0 - 14	30	26	4	3	2	1
4. खान तथा	सभी	सभी आयु के	1264	1101	163	19	8	11
पत्थर खुदाई		0 - 14	27	16	11	3	1	2
	ग्रामीण	सभी आयु के	810	676	134	17	6	11
		0 - 14	25	14	11	3	1	2
	नमरीय	सभी आयु के	454	425	29	2	2	-
		0 - 14	3	2	1	-	-	-
5. शिल्पकार्य	सभी	सभी आयु के	7711	5647	2064	862	107	755
प्रक्रिया सेवा रिपेयर		0 - 14	424	229	115	69	17	52
1. गृह उद्योग	ग्रामीण	सभी आयु के	5433	3932	1501	681	82	599
		0 - 14	324	171	153	57	14	43

औद्योगिक प्रकार	आवास	आयु समूह	मुख्य कर्ता			सीमान्त कार्यकर्ता		
			व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
	नगरीय	सभी आयु के	2279	1716	563	182	25	157
		0 - 14	101	58	43	11	3	8
2. दूसरे उद्योग	सभी	सभी आयु के	17432	15834	1598	587	189	398
		0 - 14	541	400	141	40	14	26
	ग्रामीण	सभी आयु के	6059	5229	830	406	103	303
		0 - 14	259	170	89	30	9	21
	नगरीय	सभी आयु के	11373	10605	768	181	86	95
		0 - 14	282	230	52	10	6	4
6. निमार्ण कार्य	सभी	सभी आयु के	3565	3207	358	141	69	72
		0 - 14	80	52	28	11	1	7
	ग्रामीण	सभी आयु के	1729	1528	201	497	38	59
		0 - 14	48	28	20	9	3	6
	नगरीय	सभी आयु के	1836	1679	157	43	30	13
		0 - 14	32	24	8	2	1	1
7. व्यापार तथा वाणिज्य	सभी	सभी आयु के	13929	13012	917	365	172	193
		0 - 14	245	224	21	20	13	7
	ग्रामीण	सभी आयु के	42918	4880	438	238	98	140
		0 - 14	98	84	14	14	8	6

औद्योगिक प्रकार	आवास	आयु समूह	मुख्य कर्ता			सीमान्त कार्यकर्ता		
			व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
	नगरीय	सभी आयु के	9012	8553	479	127	74	53
		0 - 14	147	140	7	5	4	1
8. यातायात,	सभी	सभी आयु के	6069	5899	170	73	61	12
स्टोरेज तथा		0 - 14	34	31	3	1	1	
संचार	ग्रामीण	सभी आयु के	1923	1876	47	37	30	7
		0 - 14	9	8	1	1	1	--
	नगरीय	सभी आयु के	4146	4023	123	34	30	4
		0 - 14	23	22	1	1	1	--
9. अन्य सेवायें	सभी	सभी आयु के	19530	16360	3170	381	149	232
		0 - 14	327	204	123	24	9	15
	ग्रामीण	सभी आयु के	8536	7377	1159	238	86	152
		0 - 14	163	105	58	17	6	11
	नगरीय	सभी आयु के	10995	8983	2012	143	64	79
		0 - 14	163	98	65	7	3	4

स्रोत : भारत की जनगणना, 1981.

अध्याय–8

मनःचिकित्सकीय समाज कार्य

मन: चिकित्सकीय समाज कार्य वह समाज कार्य है जिसका सम्बन्ध मनोरोग विज्ञान से है तथा यह समाज कार्य मनोरोग विज्ञान के साथ ही व्यवहार में आता है। मन: चिकित्सकीय समाज कार्य को सर्वप्रथम 1931 में संयुक्त राज्य अमेरिका में वहाँ की मानदण्डों की सलाहकार परिषद् की कार्यसमिति ने पारिभाषित किया। यद्यपि उनकी परिभाषा लगभग 65 वर्ष पुरानी है परन्तु आज के सन्दर्भ में भी वह पूरी तरह खरी उतरती है। इस परिभाषा के अनुसार "मन: चिकित्सकीय समाज कार्य, समाज कार्य की वह शाखा है जिसका विकास मनोरोग विज्ञान (मन:चिकित्सा विज्ञान) के साथ हुआ है। इसका प्रयोग विशेष रूप से उन प्रशिक्षित लोगों द्वारा किया जाता है जिन्हें मन:चिकित्सा विज्ञान का कुछ सीमा तक ज्ञान तथा उस ज्ञान को सामाजिक वैयक्तिक कार्य से जोड़ना आता है और ऐसे लोग उस संस्था में कार्य करते हैं जिस संस्था के कार्यक्रमों में मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम का विशेष स्थान है। मन: चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता सामाजिक असमायोजन के उन सेवार्थियों के साथ कार्य करता है जिनमें व्यक्तिगत् कठिनाई सम्बन्धी यथा मनस्ताप या मनोविकृति के सेवार्थियों से आरम्भिक अवस्था में ही निपटने का विशेष महत्त्व होता है। यह कार्य सामाजिक वैयक्तिक कार्य, शोध कार्य, कार्यकारी, प्रशासनिक या शैक्षिक कार्य हो सकता है।

इस प्रकार मन: चिकित्सकीय समाजकार्य वृत्तिक समाज कार्य की वह विशिष्ट शाखा है जो अपने विशिष्ट ज्ञान तथा नैपुण्य द्वारा मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी उन संस्थाओं में व्यवहार में आता है जिन संस्थाओं का प्रमुख लक्ष्य मानसिक रोगों का अध्ययन, उनका उपचार तथा उनकी रोकथाम करना है।

ली तथा केन्स वर्दी ने मानसिक रोग पीड़ितों के साथ केवल वैयक्तिक स्तर पर किये जाने वाले कार्य को मन:चिकित्सकी समाजकार्य ही माना है। टिम्स को अपनी पुस्तक में मन:चिकित्सकीय समाज कार्य की उत्पत्ति, प्रगति व मन चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण, उनके कार्य व योगदान का उल्लेख किया है। बनर्जी ने मन:चिकित्सकीय समाज कार्य का वास्तविक अर्थ समाज कार्य के व्यवहार से लगाया है न कि केवल उस वैयक्तिक कार्य से जिसका उल्लेख

पश्चिमी पुस्तकों में मिलता है और जहाँ केवल मानसिक स्वास्थ्य संस्थानों में सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा किये गये वैयक्तिक कार्य को ही मनःचिकित्सकीय समाज कार्य मानते हैं। उन्होंने समाज कार्य की दूसरी विधियों को भी इस क्षेत्र में प्रयुक्त किये जाने की बात कही है और यही कारण है कि वर्तमान में मनःचिकित्सकीय समाज कार्य के क्षेत्र में अब समाज कार्य की उन सभी विधियों का प्रयोग हो रहा है जो समाज कार्य के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त की जा रही हैं।

उद्भव :

मनःचिकित्सकीय समाजकार्य का उद्भव संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। बीसवीं सदी के आरम्भ में कु० मैरी जैरट जो बोस्टन साइकोपैथिक हॉस्पिटल में कार्य कर रही थीं, उन्होंने मानसिक रोगियों का अन्तरंग अध्ययन किया तथा इन रोगियों के साथ किस प्रकार समाज कार्य किया जा सकता है इसकी रूपरेखा तैयार की। उसके बाद ही उस देश में कुछ ऐसी लहर उठी कि लोगों ने मानसिक रोगियों के अनुरक्षण तथा राजकीय एवं साइकोपैथिक दोनों ही प्रकार के चिकित्सालयों में समाज सेवा व समाज कार्य के विस्तार में रुचि लेनी शुरू कर दी। 1905 में सर्वप्रथम मैसाचुसेट्स जनरल हॉस्पिटल में समाज सेवा विभाग की स्थापना की गई और इस विभाग के कार्यकर्ताओं को चिकित्सालय के न्यूरोलॉजिकल क्लीनिक में रोग के सही निदान तथा प्रभावी उपचार के लिये नियुक्त प्रयुक्त किया जाने लगा।

भारत में मनः चिकित्सकीय समाज कार्य :

भारत में मनः चिकित्सकीय समाज कार्य एक वृत्ति के रूप में अभी केवल पाँच दशक पुराना है। 1937 में बम्बई के 'टाटा ग्रेजुएट स्कूल ऑफ सोशल वर्क' जो अब टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज के नाम से जाना जाता है, के 'चाइल्ड गाइडेन्स क्लीनिक' में पहले समाज कार्यकर्ता की नियुक्ति हुयी। यह कार्यकर्ता मुख्यतः उन बालकों व उनके परिवारों की सहायता करता था जो व्यवहार सम्बन्धी समस्याओं के लिये इस निदान केन्द्र में आते थे।

इसके बाद के दशकों में कुछ और प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की उन संस्थाओं में नियुक्ति की गई जो बालकों व वयस्कों की मनोवैज्ञानिक समस्याओं को हल करने का कार्य करती थीं। शनैः शनैः मनःचिकित्सकीय समाज कार्य, समाज कार्य की एक विशिष्ट शाखा के रूप में अपना स्थान जमाने लग गया। 1950-51 में सर्वप्रथम टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज में स्नातकोत्तर स्तर पर मनःचिकित्सकीय समाज कार्य के प्रशिक्षण का शुभारम्भ हुआ। वसु ने भारत में मनःचिकित्सकीय समाज कार्य की प्रगति की समीक्षा करते

हुए लिखा है कि सामाजिक कार्यकर्ताओं का कार्य मनोचिकित्सक के अधीन रह कर उसके द्वारा दिये गये निर्देशों के अनुसार, रोगी व उसके परिवार को अपनी सेवायें प्रदान करना था। 1968 में ऐसे कार्यकर्त्ताओं की संख्या केवल 30 थी जो मानसिक चिकित्सालयों तथा अन्य संस्थाओं में सेवारत थे। दिल्ली स्कूल ऑफ सोशल वर्क ने अपने पाठ्यक्रम में इसे सन् 1962 में स्थान दिया। इसके बाद से इन प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को मानसिक स्वास्थ्य तथा समाज कल्याण से सम्बन्धित संस्थाओं में नियुक्ति के अवसर मिलने लग गये। आगरा के समाज विज्ञान संस्थान तथा काशी विद्यापीठ सहित अनेक संस्थानों तथा विश्वविद्यालय के समाज कार्य विभागों ने अपने यहाँ इसके विशिष्ट पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की।

प्रशिक्षण सुविधाओं के साथ-साथ इन प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के लिए रोजगार के अवसर सीमित ही रहे। इसका कारण देश में मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम को वरीयता न दिया जाना तथा समाज कार्य को एक वृत्ति के में पूर्णतः मान्यता न प्राप्त कर पाना ही रहा। यद्यपि प्रशिक्षित मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का राष्ट्रीय स्तर पर एक संगठन भी बना परन्तु वह भी इस दिशा में कुछ ठोस कदम नहीं उठा पाया।

पचास से भी अधिक वर्षों के अथक प्रयास के बाद भी देश के सभी मानसिक चिकित्सालयों तथा मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी संस्थाओं में सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति नहीं की गई। केवल मद्रास, राँची तथा बंगलोर को छोड़कर किसी अन्य मानसिक चिकित्सालय में सामान्यतः एक से अधिक सामाजिक कार्यकर्ता नहीं हैं। आगरा मानसिक चिकित्सालय में पहला सामाजिक कार्यकर्ता 1974 में नियुक्त किया गया। बरेली तथा वाराणसी के मानसिक चिकित्सालयों में अभी तक इस पद का सृजन तक नहीं हो पाया है। जहाँ-जहाँ ये सामाजिक कार्यकर्ता कार्यरत् हैं वे अपनी सेवाशर्तों तथा वेतनमानों से संतुष्ट नहीं हैं। डॉ० रामेश्वर प्रसाद ने 1979 में बंगलोर में चार संस्थाओं के संयुक्त सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में इसकी चर्चा की। (दिल्ली स्कूल ऑफ सोशल वर्क की डॉ० (श्रीमती) रत्ना वर्मा द्वारा एक विस्तृत अध्ययन भी किया गया है जो शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

प्रशिक्षण सुविधायें :

हमारे देश में एक मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता के लिए दो वर्ष का पूर्णकालीन स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम 'मास्टर आफ आर्ट्स इन सोशल वर्क' उत्तीर्ण करना अनिवार्य है। इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत् उसे मनःचिकित्सकी

समाज कार्य के एक विशिष्ट पाठ्यक्रम को पढ़ना पड़ता है। दो वर्ष की अवधि में कक्षाओं के अन्दर अध्ययन के साथ-साथ उन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु दो-तीन महीनों के लिये किसी मानसिक चिकित्सालय या मानसिक स्वास्थ्य संस्थान में भेजा जाता है।

राष्ट्रीय स्तर के ऐसे दो केन्द्रीय संस्थान एक राँची तथा दूसरा बैंगलोर में हैं जहाँ पहले डी० पी० एस० डब्ल्यू (डिप्लोमा इन साइकियाट्रिक सोशल वर्क) तथा अब एम० फिल० की उपाधि प्रदान की जाती है। बैंगलोर में 12 छात्रों को प्रतिवर्ष प्रवेश दिया जाता है। इस पाठ्यक्रम के लिये न्यूनतम योग्यता एम० एस० डब्ल्यू० उपाधि है जो कम से कम 55 प्रतिशत अंकों के साथ हो। मनः चिकित्सकीय समाज कार्य में विशिष्टता हासिल करने वाले उम्मीदवारों को वरीयता दी जाती है। छात्रों को पहले वर्ष में 1300/- तथा दूसरे वर्ष में 1350/- रुपये प्रतिमास छात्रवृत्ति प्रदान की जाती रही है।

अखिल भारतीय संगठन :

मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं का राष्ट्रीय स्तर पर संगठन है जिसकी स्थापना रांची में डा० आर० के० उपाध्याय द्वारा 1970 में की गई। इस संगठन का नाम 'भारतीय मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता परिषद्' है तथा इस परिषद की स्थापना का उद्देश्य मानसिक स्वास्थ्य तथा समाज कार्य के क्षेत्र में शोध अध्ययनों को प्रोत्साहन देना, उनका प्रकाशन, सदस्यों के लिये विचारगोष्ठी, सम्मेलन तथा पुनर्बोधन कार्यक्रम का आयोजन, मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में समाज कार्य सेवाओं तथा समाज की मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं के विषय में अधिकारियों तथा अन्य संगठनों को सलाह देना तथा मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्यरत् सामाजिक कार्यकर्ताओं के हितों को ध्यान में रखना रहा है। यह संस्था वर्तमान समय में निम्नलिखित कार्य कर रही है :—राजकीय तथा गैर राजकीय संगठनों को अपने यहाँ केवल प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति के लिए प्रोत्साहित करना, अपनी स्वयं की शोध पत्रिका का प्रकाशन करना, सदस्यों के माध्यम से सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों में भाग लेना, सदस्यों को रोजगार सम्बन्धी जानकारी, लेखों का प्रकाशन, रोजगार के अवसर तथा भिन्न राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं के अन्तर्गत् उच्च प्रशिक्षण हेतु सामाजिक कार्यकर्ताओं को भेजना। संस्था की अब तक तेरह वार्षिक बैठकें हो चुकी हैं। अन्तिम विशाखापट्टनम् की बैठक में निर्णय लिया गया है कि इस संस्था का नाम 'इण्डियन सोसाइटी ऑफ प्रोफेशनल सोशल वर्कर्स' कर दिया जाय ताकि अन्य व्यावसायिक

सामाजिक कार्यकर्ता भी इसकी सदस्यता ग्रहण कर संस्था के कार्यक्षेत्र का विस्तार करें। इस सोसाइटी का वर्तमान सचिवालय बंगलोर में है तथा डा० आर० पारसारथी इसके सचिव हैं। संस्था के वर्तमान अध्यक्ष जामिया मिलिया इस्लामिया के समाज कार्य विभाग के प्रो० एम० जेड० खान हैं।

दायित्व व कर्तव्य :

कुछ समय पहले तक मानसिक चिकित्सालय में कार्यरत् सामाजिक कार्यकर्ताओं के दायित्व सीमित थे तथा उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों की सूची भी संक्षिप्त व सीमित थी। एक सामाजिक कार्यकर्ता से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह रोगियों के मनोरंजन के लिये कार्यक्रम आयोजित करे, उनकी सफाई, उनके नहाने-धोने का ध्यान रखे या उनको दिये जाने वाले नाश्ते और खाने की जाँच करें। यहाँ तक कि वैयक्तिक इतिहास (केस हिस्ट्री) लिखने का कार्य भी उसकी कार्यसूची में सम्मिलित नहीं था।

1967 तक आगरा के मानसिक चिकित्सालय में भी रोगी का वैयक्तिक इतिहास (केस हिस्ट्री) वाह्य विभाग में नहीं लिखा जाता था। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र की तरह वाह्य विभाग के परचे पर रोगी का नाम, उसकी आयु तथा रोग लिखकर उपचार लिख दिया जाता था। हाँ, भर्ती होने वाले रोगियों का इतिहास विस्तार से अवश्य लिखा जाता था और वह भी चिकित्सा अधिकारी द्वारा लिखा जाता था। 1967 में ही विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा मानसिक चिकित्सालय, आगरा में शोध केन्द्र की स्थापना के साथ ही इस लेखक ने वहाँ के वाह्य विभाग के रोगियों का विधिवत वैयक्तिक इतिहास दर्ज (केस हिस्ट्री रिकार्ड) करने का कार्य प्रारम्भ किया और यह व्यवस्था यहाँ आज भी चल रही है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है देश के सभी 42 मानसिक चिकित्सालयों में मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता नहीं हैं और जहाँ हैं भी वहाँ उनकी स्थिति अलग-अलग है और उनके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य भी अलग-अलग हैं। जहाँ कुछ मानसिक चिकित्सालयों में वे केवल रोगियों की दिनचर्या पर ही दृष्टि रखते हैं वहाँ कुछ में ये केवल रोगी का इतिहास लिखने का कार्य करते हैं। कुछ शिक्षण संस्थाओं तथा आधुनिक चिकित्सा संस्थानों जैसे बंगलोर मानसिक स्वास्थ्य संस्थान (निमहास) में सामाजिक कार्यकर्ताओं को वे सभी कार्य करने की स्वतन्त्रता है जो कार्य आज विश्व के विकसित देशों में सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा किये जा रहे हैं। इन कार्यों में सम्मिलित हैं :—रोगी का मनो-सामाजिक इतिहास, रोगी का निदान, उपचार, अनुरक्षण तथा पुनर्वास। इनके

अतिरिक्त शिक्षण, प्रशिक्षण तथा शोध कार्य में भी मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता उपयोगी भूमिका अदा कर रहे हैं। अब हम इन कार्यों पर अलग से प्रकाश डालेंगे।

रोगी का मनोसामाजिक इतिवृत्त :

मानसिक रोग के निदान व उपचार में रोगी के मनोसामाजिक इतिवृत्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि रोगी के विषय में सम्पूर्ण जानकारी हमें सही-सही प्राप्त हो जाये तो हम रोग का निदान व फिर उसके उपचार की व्यवस्था भली प्रकार कर सकते हैं। इस इतिवृत्त के संकलन का कार्य केवल प्रशिक्षित मनोरोग चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक या मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा ही किया जा सकता है। यद्यपि हमारे देश में यह कार्य मुख्यतः मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता ही कर रहे हैं परन्तु सभी पश्चिमी व विकसित देशों में मानसिक स्वास्थ्य दल का कोई भी प्रशिक्षित सदस्य, चाहे वह मनःचिकित्सक हो या मनोवैज्ञानिक, जिसने मनोरोग विज्ञान का अध्ययन किया हो वह, यह कार्य सम्पादित कर सकता है।

रोगी के इतिहास को जानने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है सूचना दाता का चयन। मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता या मानसिक स्वास्थ्य दल का अन्य कोई सदस्य जिसे यह कार्य सौंपा गया है उसे चाहिये कि वह रोगी के साथ आये परिवारजनों में से किसी ऐसे व्यक्ति का सूचतादाता के रूप में चयन करे जो रोगी का घनिष्टतम सम्बन्धी हो और उसे रोगी के जीवन व उसके कार्यकलापों की सर्वाधिक जानकारी रखता हो। रोगी के माता, पिता, पति, पत्नी, भाई, बहिन, यथास्थिति, इस श्रेणी के अन्तर्गत् गिने जा सकते हैं। अन्य जानकारी रोगी के मित्रों, सम्बन्धियों तथा अन्य माध्यमों से संकलित की जा सकती है।

इतिवृत्त का प्रारूप :

यद्यपि रोगी के मनोसामाजिक इतिवृत्त का कोई ऐसा मानक प्रारूप नहीं है जिसका देश की समस्त संस्थायें प्रयोग कर रही हों फिर भी इस इतिवृत्त में कुछ ऐसी सूचनाओं का संकलन किया जाता है जो अनिवार्य रूप से सभी संस्थाओं में सभी चिकित्सक या चिकित्सादल के सदस्य करते हैं। इतिवृत्त के प्रथम खण्ड में रोगी के विषय में जो आवश्यक सूचनायें एकत्रित करनी चाहिये, उनमें रोगी का नाम, आयु, जाति, धर्म, लिंग, शिक्षा, व्यवसाय, मासिक आय तथा उसका पूर्ण पता सम्मिलित है। इसके बाद सूचनादाता का नाम, पता तथा रोगी से उसका सम्बन्ध लिखना चाहिए।

दूसरे खण्ड में रोगी की वर्तमान क्या शिकायतें हैं अर्थात् वह क्या-क्या लक्षण्प प्रदर्शित कर रहा है इनका उल्लेख 1, 2, 3 क्रमसंख्या देते हुए लिखना चाहिए। सूचनादाता द्वारा बताये गये लक्षणों से साक्षात्कारकर्ता को किसी एक रोग का संकेत मिलता है तो उसे उस रोगविशेष के लक्षणों के विषय में और प्रश्न स्वयं करने चाहिये। बहुधा देखा जाता है कि साधारणतः अशिक्षित या अर्धशिक्षित सूचनादाता उन्हीं दो-चार मुख्य शिकायतों या लक्षणों का जिक्र करते हैं जिन्हें वे स्वयं मानसिक रोग का लक्षण मानते हैं। इसलिये साक्षात्कार-कर्ता को स्वयं अपनी सूझबूझ व ज्ञान के आधार पर प्रश्न करके रोगी की शिकायतों व लक्षणों की पूरी सूची प्रस्तुत करनी चाहिये।

इतिवृत्त के अगले खण्ड में वर्तमान शिकायतों की पूर्ण अवधि लिखी जानी चाहिये। सही निदान के लिये आवश्यक है कि हम यह पता कर सकें कि रोगी कितने समय से रोगग्रस्त है। इसके लिये सबसे उपयुक्त प्रश्न है कि 'रोगी बिल्कुल ठीक कब था ?' यह निश्चित होने पर कि रोगी कितने समय पूर्व पूर्णतः स्वस्थ था, रोग कैसे शुरू हुआ, अचानक या धीमे धीमे, सबसे पहले उसमें कौन सा असामान्य लक्षण परिवार के सदस्यों को दिखलाई दिया और उस एक या कई लक्षणों के बाद अन्य लक्षण किस प्रकार विकसित हुये; यह सब जान-कारी सूचनादाता से प्रश्न पर प्रश्न करके संकलित की जानी चाहिये।

अगले खण्ड में रोगी के वर्तमान रोग से पूर्व होने वाले सभी शारीरिक व मानसिक रोगों के बारे में भी जानकारी हासिल करनी चाहिये। यदि रोगी को वर्तमान रोग से पहले एक या एक से अधिक बार ऐसा ही या इससे भिन्न रोग हुआ है तो उस एक या एक से अधिक बार हुए रोग की पूर्ण अवधि, सम्पूर्ण लक्षण, कराया गया उपचार तथा उपचार के विषय में पूर्ण विवरण संकलित करना आवश्यक होगा। रोग के निदान की दृष्टि से यह आवश्यक है कि साक्षात्कारकर्ता आश्वस्त हो ले कि रोगी को वर्तमान रोग से पूर्व अलग-अलग कई बार रोग हुआ है या पहले हुआ रोग ही बराबर चल रहा है।

अगले खण्ड में रोगी के परिवार के इतिहास की समस्त जानकारी पूछ कर लिखी जानी चाहिये। रोगी के पिता का नाम, उनकी आयु, मृत होने पर मृत्यु के समय उनकी आयु तथा मृत्यु का कारण, वर्तमान व्यवसाय, शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य, भूत व वर्तमान मानसिक या गम्भीर शारीरिक रोग, मद्यपान या मादक पदार्थों के प्रयोग की जानकारी तथा उसके चरित्र व व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण पूछकर लिखने चाहिये। इसके तुरन्त बाद ही रोगी के माँ के विषय में भी उपर्युक्त सम्पूर्ण जानकारी एकत्रित की जानी चाहिये। यदि रोगी के सगे माता-

पिता की मृत्यु हो गई हो और उसके माँ या पिता में से कोई एक सौतेला हो या रोगी के पिता ने रोगी को गोद लिया हो तो ऐसे माता-पिता के विषय में भी उपयुक्त सभी सूचनायें एकत्रित करनी चाहिये।

रोगी के भाई व बहनों में रोगी का जन्म किस क्रम में हुआ अर्थात् वह सबसे बड़ा है या सबसे छोटा या बीच का, पूछते हुये रोगी के सभी भाई व बहनों के विषय में एक-एक कर उनकी आयु से लेकर रोग व व्यक्तित्व सम्बन्धी वे सभी प्रश्न पूछने चाहिये जो रोगी के माता-पिता के विषय में पूछे गये थे। अन्त में परिवार की वर्तमान सामाजिक व आर्थिक स्थिति, परिवार के विषय में अन्य महत्त्वपूर्ण सूचनाओं के साथ-साथ अन्तिम जानकारी परिवार के मातृ व पितृ पक्ष की पिछली पीढ़ियों में हुये मानसिक रोगियों के विषय में एकत्रित करनी चाहिए।

इससे अगले खण्ड में रोगी के व्यक्तिगत् जीवन के विषय में सूचना एकत्रित करनी होती है। सर्वप्रथम रोगी के जन्म व जन्म से पूर्व की स्थिति की जानकारी रोगी की माँ अथवा उसके पिता से प्राप्त करनी चाहिये। उदाहरण के लिये क्या रोगी का जन्म पूरे नौ महीने की गर्भावस्था के बाद हुआ या कम या अधिक अवधि के पश्चात्, गर्भावस्था के दौरान माँ का स्वास्थ्य, कोई गम्भीर घटना, दुर्घटना, प्रसव सामान्य या असामान्य, प्रसव के समय शिशु के सिर में आघात, जन्म के समय शिशु का वजन, कोई असामान्य लक्षण, रोगी का शारीरिक विकास जैसे किस आयु में उसके दाँत निकलने प्रारम्भ हुए, कब उसने बैठना, खड़ा होना, चलना तथा बोलना प्रारम्भ किया, शैशव व बाल्यावस्था में गम्भीर रोग, पाठशाला जाने की आयु, पढ़ने में रुचि, साथियों से सम्बन्ध, आखिरी कक्षा जो उत्तीर्ण की, आदि जानकारियाँ प्राप्त की जानी चाहिये।

इसी खण्ड में रोगी के व्यवसाय के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त की जाती है। उदाहरण के लिये किस आयु में उसने काम करना प्रारम्भ किया, बार-बार व्यवसाय परिवर्तन किया तो उन समस्त व्यवसायों की अवधि तथा छोड़ने का कारण, कार्य क्षमता, रुचि, पदोन्नति, वेतन, नियोजक तथा सहकर्मियों से सम्बन्ध तथा वर्तमान व्यवसाय आदि। रोगी की वर्तमान वैवाहिक स्थिति, यदि विवाह नहीं किया तो उसका कारण, विवाह के समय रोगी की आयु, उसकी पत्नी/पति की आयु, शिक्षा, व्यवसाय, स्वास्थ्य, स्वभाव तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी जानकारी, वैवाहिक व यौन सम्बन्ध तथा सामंजस्य की समस्याओं के विषय में भी सभी आवश्यक तथ्य-संग्रह किये जाने चाहिये। यदि रोगी विधुर या विधवा है तो उसकी पत्नी/पति की मृत्यु का कारण तथा समय भी जानना आवश्यक

हैं। तलाकशुदा तथा परित्यक्त व्यक्तियों के विषय में तलाक/परित्याग की परिस्थितियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण होता है। रोगी की रुचियों, व्यसनों व आदतों के बारे में जानकारी इसी खण्ड में अंकित की जानी चाहिये।

अगले खण्ड में रोगी के रोग से पूर्व व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं के बारे में पूछना चाहिये कि रोगग्रस्त होने से पूर्व उसका व्यक्तित्व किस प्रकार का था। इतिवृत्त के अन्तिम भाग में सामाजिक कार्यकर्ता को तिथिवार क्रम से रोगी द्वारा कराये गये उपचार का सम्पूर्ण विवरण तथा उपचार की अवधि पूछकर लिखनी चाहिये। प्रत्येक उपचार का क्या परिणाम रहा, रोगी को पूर्णतः या आंशिक लाभ हुआ, यदि कुछ लक्षण उपचार के पश्चात् भी शेष रहे तो वे लक्षण क्या-क्या थे, आदि का उल्लेख होना चाहिये।

मानसिक परीक्षण व निदान :

रोगी का मनोसामाजिक इतिहास जानने के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य रोगी का मानसिक परीक्षण व उसके रोग का निदान है। यद्यपि हमारे देश के अधिकांश मानसिक स्वास्थ्य संस्थानों तथा मनोरोग चिकित्साविभागों में यह कार्य मनःचिकित्सक द्वारा ही किया जाता है परन्तु आधुनिक शिक्षण संस्थानों, विशेषतः उन संस्थानों में जहाँ के विशेषज्ञों व प्रशासकों ने मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं को विकसित देशों में मानसिक रोगियों का मानसिक परीक्षण व निदान करते देखा है, में रोगियों के मानसिक परीक्षण व निदान का कार्य भी मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं की कार्य सूची में सम्मिलित है।

मानसिक परीक्षण का प्रारूप भिन्न-भिन्न संस्थाओं में भिन्न-भिन्न है तथा उसमें लगने वाला समय भी उस प्रारूप के आकार के अनुसार 30 मिनट से दो ढाई घन्टे तक का हो सकता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा उन्माद (सीजोफ्रेनिया) के अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के समय विकसित किया गया पी० एस० ई० (प्रेजेन्ट स्टेट एक्जामिनेशन) का नवां संस्करण तथा उन्माद (सीजोफ्रेनिया) के अध्ययन के बाद के अध्ययनों के लिये विकसित किया गया संक्षिप्त संस्करण अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग की दृष्टि से सर्वाधिक चर्चित तथा विश्वसनीय है। रोग के निदान के लिये आवश्यक है कि मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं को मानसिक रोग विज्ञान की अच्छी जानकारी हो। मनःचिकित्सकीय समाज कार्य में विशिष्टता तथा इस विषय में एम० फिल० करने वाले छात्रों के पाठ्यक्रम में सभी मानसिक रोगों के लक्षणों की पूरी ज्ञानकारी समाविष्ट होती है।

उपचार :

आधुनिक जीवन की जटिलताओं, प्रतिस्पर्धाओं, संघर्षों, विकास की तेज गति तथा सामाजिक व नैतिक मूल्यों में परिवर्तन आ जाने के कारण जहाँ समाज ने एक ओर अनेक नयी समस्याओं को जन्म दिया है वहीं दूसरी ओर कई पुरानी समस्याओं को और अधिक व्यापक तथा गम्भीर रूप में उपस्थित किया है। मानसिक रोग उन्हीं में से एक है। मानसिक रोगों के बहुत कुछ कारण व्यक्तिगत्, पारिवारिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक होते हैं तथा इन रोगों का वास्तविक उपचार इसमें निहित है। हम इनके जन्मदाता व्यक्तिगत्, पारिवारिक व मनोवैज्ञानिक कारणों को जानकर उन्हें दूर करने का प्रयास करते हैं। पश्चिमी देशों में मानसिक रोगों के उपचार का यही तरीका अब प्रयुक्त किया जा रहा है। वहाँ के मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता मनःचिकित्सकों तथा मनोवैज्ञानिकों के साथ मिलकर इस प्रकार के रोगियों व उनके परिवारों से निरन्तर लम्बे अरसे तक सम्पर्क रखते हुए उनकी सभी बातों को ध्यानपूर्वक सुनकर उनका निदान करते हैं। अपने देश में इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक उपचार तथा इस उपचार में मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं का सहयोग केवल कुछ स्थानों व संस्थानों तक सीमित है। शेष संस्थानों में अभी पुराने दकियानूसी विचार व तरीके अनेकानेक कारणों से नहीं छोड़े गये हैं।

सामाजिक कार्यकर्ता का पहला महत्त्वपूर्ण कार्य मानसिक रोगी के उपचार में उसके परिवार का सहयोग हासिल करना है। यदि परिवार के सभी सदस्य रोगी के विषय में मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता व उसके दल को सही सूचनायें प्रदान करते हैं तो रोग का निदान सरलता से किया जा सकता है। यदि वे लोग चिकित्सकों के परामर्श के अनुसार रोगी के प्रति अपने व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन कर लेते हैं तो रोगी शीघ्र ही स्वस्थ होकर समाज में पुनः अपना स्थान बना सकता है।

28 वर्षीय एक ऐसे रोगी के विषय में यहाँ जानकारी देना उचित होगा जो लेखक के पास आगरा के ही एक मनोचिकित्सक द्वारा उपचार हेतु भेजा गया था। यह व्यक्ति किसी विद्यालय में शिक्षक था। उसके पिता द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार यह व्यक्ति पिछले सात वर्षों से असामान्य क्रियायें कर रहा था। पिछले सात वर्ष की अवधि में उसने कई मनःचिकित्सकों से अपना उपचार कराया। बिजली के उपचार व औषधियों के अतिरिक्त एक बार वह कुछ महीनों के लिये मानसिक चिकित्सालय में भर्ती भी रहा। एक मनःचिकित्सक ने जब उसे कोई औषधि परचे पर लिखकर दी तो स्वयं रोगी ने ही असन्तोष प्रगट करते हुए चिकित्सक महोदय से कहा कि वह बहुत-सी औषधियाँ

खा चुका है व उसे इन औषधियों से आराम नहीं मिलता; उसे किसी ऐसे चिकित्सक का नाम व पता बतायें जो औषधियाँ न लिखकर उसका मनोवैज्ञानिक तरीके से उपचार कर सके।

इस रोगी ने पहले साक्षात्कार में लेखक को बतलाया कि उसका शरीर सन्तुलित नहीं हैं, उसकी टांगों की नसें कमजोर हैं तथा नीचे का धड़ ऐसे लगता है जैसे है ही नहीं। उसे अपने सिर के पिछले भाग से निकलती हुई आवाजें सुनाई पड़ती हैं तथा वह लोगों से बात करने में डरता है और झेंपता है। उसने आगे बताया कि वह कभी किसी से आँख मिलाकर बात नहीं कर सकता। लोग अक्सर उसे टोकते हैं और जब छेड़ते हैं तो उसे एक अजीब चिढ़-सी होने लगती है। ऐसा लगता है कि लोग उसे मारने के लिये षड्यंत्र कर रहे हैं। उसे भीड़ में जाने से, पुलिस वालों तथा लड़कियों से भय लगता है और चिन्ता के कारण नींद नहीं आती है। इस रोगी के पिता ने बतलाया कि गुस्सा होने पर वह गाली-गलौज करता है, मार-पीट पर उतारू हो जाता है, बहुत अधिक बीड़ियाँ पीता है तथा बिना स्नान किये चन्दन लगा लेता है। असमय पूजा करना तथा असमय खाना, खाना या घूमना उसकी दिनचर्या बन गयी है।

इस रोगी के साथ लेखक की बैठक दूसरे सप्ताह लगभग एक घन्टे चली जिसमें उसे कई सुझाव दिये गये। इन सुझावों में पहला सुझाव अपनी दिनचर्या को प्रतिदिन डायरी में लिखना तथा दूसरा सुझाव घर से पाठशाला तक का मार्ग कभी अकेले न तय करना सम्मिलित था। कुछ सप्ताह तक रोगी के पिता उसके साथ आते थे तथा उसके बाद रोगी स्वयं अकेला आने लगा। उपचार की अवधि में रोगी के पिता तथा परिवार के समस्त सदस्यों ने पूरा-पूरा सहयोग प्रदान किया। जो भी सलाह उन्हें दी गयी उसका अनुसरण उन्होंने किया। परिणाम यह हुआ कि इस युवक के व्यवहार में आशा से अधिक परिवर्तन हुये। उसके अनेक असामान्य लक्षण रफू चक्कर हो गये तथा उसमें फिर से यच आत्म विश्वास और उत्साह पैदा हो गया कि वह भी लोगों की तरह स्वस्थ व सामान्य है।

सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा मानसिक रोगियों का जो मनोसामाजिक पद्धति से उपचार किया जाता है उसके परिणाम दूरगामी होते हैं। भावोन्माद (हिस्टीरिया), अवसाद, चिन्ता व भय जैसे साधारण रोगों के अतिरिक्त उन्माद तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी विकारों में मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा दी जाने वाली उपचार पद्धति से आशातीत लाभ होते देखा गया है। एक हीं प्रकार के रोग से पीड़ित अथवा एक जैसी समस्या से ग्रस्त व्यक्ति पर 'समूह कार्य' पद्धति द्वारा समस्त समूह के साथ एक साथ किया जाने वाला

समाज कार्य भी प्रभावी रहा है। लेखक ने स्वयं मद्यपान व मादक पदार्थों के अभ्यास तथा पुराने उन्माद के रोगियों पर इस प्रकार का उपचार आगरा मानसिक चिकित्सालय में सफलतापूर्वक किया है।

अनुरक्षण :

उपचार के पश्चात् रोगी जब अपने घर जाता है तब चिकित्सालय से उसके घर तक पहुँचने के बीच 'मध्य मार्ग गृह' की अवधारणा यद्यपि हमारे यहाँ प्रचलित नहीं है परन्तु कुछ बड़े शहरों में अब इन गृहों की स्थापना होने लगी है। उदाहरण के लिये बंगलोर शहर में 'विकास' और 'आशा' नामक ऐसे दो गृह कार्य कर रहे हैं। अन्य शहरों में भी इस प्रकार के गृह स्थापित किये जा सकते हैं।

मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता पर उन सभी रोगियों के साथ चाहे वे चिकित्सालय के वाह्य विभाग के उपचार के बाद घर गये हों या चिकित्सालय में भर्ती रह कर वहाँ से मुक्त होकर घर गये हों, यह दायित्व है कि वह चिकित्सालय से घर जाते समय उन्हें व उनके परिवारजनों को आवश्यक व उचित निर्देश व परामर्श दे ताकि वे उन निर्देशों के अनुकूल घर पर रहें, उपचार लें तथा बुलाये जाने पर पुनःपरीक्षण के लिये चिकित्सालय आयें।

पुनर्वास :

मानसिक रोगियों के पुनर्वास में भी मनः चिकित्सालय सामाजिक कार्यकर्ताओं का योगदान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। पुनर्वास का पहला पहलू पुराने असाध्य अर्थात् न ठीक होने वाले रोगियों व मानसिक रूप से बाधितों को स्वयं की देखभाल के योग्य बनाकर उन्हें किसी कार्य में व्यस्त रखकर आर्थिक दृष्टि से उत्पादक बनाना है। ऐसे रोगी जो गन्दे रहते हैं, कपड़ों में पाखाना-पेशाब करते हैं, नाखून व बाल नहीं कटाते, नहाने-धोने नहीं हैं, नंगे रहते हैं या खाना ढंग से नहीं खाते, उन्हें स्वच्छ रहने तथा इन दैनिक क्रियाओं का प्रशिक्षण देनें का कार्य पुनर्वास का पहला पहलू है।

पुनर्वास का दूसरा पहलू ऐसे रोगियों को किसी प्रकार के व्यवसाय का प्रशिक्षण देकर उन्हें आत्मनिर्भर बनाना है। उन्हें किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाये, यह रोगी के शारीरिक स्वास्थ्य व उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर है। खेती, बागवानी, दरी, कपड़े, चटाई, चारपाई व कुर्सियों की बुनाई, बीड़ी बनाना, लकड़ी व लोहे का काम, कागज के लिफाफे, कढ़ाई, बुनाई, सिलाई कुछ ऐसे कार्य हैं जो इन रोगियों द्वारा सीखे जा सकते हैं तथा सीखने के पश्चात् स्वयं उनके द्वारा किये जा सकते हैं। किसी कार्य में व्यस्त

रहने से रोगी को दो लाभ होते हैं। एक तो वह व्यस्त रहने पर असामान्य क्रिया-कलापों की ओर कम ध्यान देता है दूसरे उसकी शक्ति रचनात्मक कार्यों में व्यय होने लगती है। आर्थिक दृष्टि से उत्पादक बनकर वह परिवार के सदस्यों तथा समाज में अन्य लोगों की सहानुभूति भी प्राप्त कर सकता है।

अन्य सेवायें और भूमिकायें :

उपर्युक्त वर्णित कार्यों के अतिरिक्त मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता विभिन्न प्रकार की अन्य अनेक सेवाओं में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। शिक्षण संस्थानों में वे स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं, परिचारिकाओं तथा चिकित्सा विज्ञान के छात्रों को मानसिक स्वास्थ्य व मानसिक रोगों पर व्याख्यान देकर, शिक्षा के क्षेत्र में तथा विभिन्न शोध परियोजनाओं में सर्वेक्षण के माध्यम से आँकड़े संकलित करने, साक्षात्कार करने तथा शोध प्रतिवेदन तैयार करने में हाथ बँटा रहे हैं। जन समुदाय को मानसिक स्वास्थ्य के विषय में लेखों, वार्ताओं, सामुदायिक कार्यक्रमों व शिविरों के माध्यम से भी उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। कुछ विशेष समूहों के साथ जैसे मादक द्रव्यों के अभ्यस्त तथा मद्यपान करने वालों के साथ वे वैयक्तिक व सामूहिक दोनों तरीके से उनमें इस व्यसन को छुड़ाने तथा उनके सामाजिक पुनर्वास में वे सहायता करते हैं। मानसिक रूप से बाधित, मन्द व अल्प बुद्धि के बालकों के विद्यालयों तथा आवासीय संस्थाओं में वे इन बालकों के प्रशिक्षण व उनके माता-पिता को सलाह देने का कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर रहे हैं। परिवार परामर्श केन्द्र, वैवाहिक तथा यौन सम्बन्धी समस्याओं पर सलाह देने वाले निदान केन्द्रों में उनका सहयोग आवश्यक है। यद्यपि हमारे देश में मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं को उनकी शिक्षा-दीक्षा, योग्यता व अनुभव के अनुकूल स्वतन्त्र रूप से खुलकर कार्य करने के अवसर अभी सीमित हैं परन्तु जनजागरण तथा अन्य विशेषज्ञों के सहयोग से देश के बड़े शहरों में अपने निजी उपचार-प्रयास के माध्यम से कुछ ने विशेष ख्याति अर्जित की है।

मानसिक चिकित्सालयों के अतिरिक्त साधारण चिकित्सालयों, विशेष रोगों के चिकित्सालयों, बाल निर्देशन केन्द्रों व मादक द्रव्य निर्मूलन केन्द्रों में उनके लिये रोज़गार के पर्याप्त अवसर हैं। समुदाय में रहकर भी अपने निजी उपचार अभ्यास (प्रैक्टिस) के माध्यम से वे मनःचिकित्सकीय समाज कार्य को एक वृत्ति के रूप में अपना कर अपना जीविकोपार्जन कर सकते हैं।

●

सन्दर्भ

1. गुप्ता, सत्य प्रकाश 'मानसिक रोगी और सामाजिक कार्यकर्ता' समाज कल्याण, जनवरी 1964, पृष्ठ 8-9।
2. गुप्ता, सत्य प्रकाश 'सोशल वर्कर इन ए मेन्टल हास्पिटल' सोशल वेलफेयर 12, 3, 1965, पृष्ठ 18-19।
3. गुप्ता, सत्य प्रकाश 'सामाजिक कार्यकर्ताओं के कार्य क्षेत्र' योजना, 16 जुलाई 1967, पृष्ठ 22।
4. गुप्ता, सत्य प्रकाश 'मानसिक चिकित्सालयों में कल्याण कार्य', समाज कल्याण, मई 1968, पृष्ठ 17।
5. गुप्ता, सत्य प्रकाश 'मानसिक रोगियों का पुनर्वास', समाज कल्याण, मई 1971, पृष्ठ 28-29।
6. गुप्ता, सत्य प्रकाश 'मानसिक रोग और सामाजिक समस्यायें' समाज कल्याण, जनवरी 1986, पृष्ठ 9-11।
7. गुप्ता, सत्य प्रकाश 'मानसिक रोग—उपचार में सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका', समाज कल्याण, जनवरी 1987, पृष्ठ 13-15।
8. नोइल टिम्स 'साइकियाट्रिक सोशल वर्क इन ग्रेट ब्रिटेन' (1939-1962) लन्दन रूटलेज ऐण्ड केगेन पाल, 1964।
9. बनर्जी, जी० आर० 'साइकियाट्रिक सोशल वर्क', हिस्ट्री ऐण्ड फिलॉसॅफी ऑफ सोशल वर्क, एलायड पब्लिशर्स लि०, बम्बई 1961।
10. वसु एम० 'साइकियाट्रिक सोशल वर्क' इनसालक्लोपीडिया आफ सोशल वर्क इन इण्डिया, खण्ड 2, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली 1968, पृष्ठ 106-113।
11. राजेश्वर प्रसाद 'साइकियाट्रिक सोशल वर्क—पास्ट वेस्टेजेज ऐण्ड फ्यूचर चैलेन्जेज', नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ मेन्टल हेल्थ ऐण्ड न्यूरोसाइन्सेज, 1979।
12. ली, पीटर आर व केन्स वर्दी मेरियो, 'मेन्टल हाइजीन ऐण्ड सोशल वर्क', दि कॉमन वेल्थ फॅण्ड, न्यूयॉर्क 1923, पृष्ठ 161।
13. विश्व स्वास्थ्य संगठन, 'इण्टरनैशनल पाइलट स्टडी ऑफ सीजोफ्रेनिया', भाग 1, जिनेवा, 1973।
14. वीरा राघवन विमला, 'सोशल वर्क इन साइक्रियाट्रिक सेटिंग', इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल वर्क इन इण्डिया, खण्ड 3, कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार, 1987, पृष्ठ 205-211।

अध्याय–9

महिला कल्याण

भारतीय महिलाओं के कल्याण, उन्नति एवं विकास के सतत् प्रयास देश और काल की जैविक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित रहे हैं। समाज सुधारकों, राष्ट्रीय नेताओं, स्वैच्छिक संस्थाओं, महिला संगठनों एवं धार्मिक गुरुओं द्वारा महिलाओं के जीवन को अधिक सुखमय एवं अर्थपूर्ण बनाने के लिये किये गये प्रयत्नों में सामाजिक परिस्थितियों में सुधार के प्रयास, कुरीतियों एवं सामाजिक संस्थाओं में मूलभूत परिवर्तन, स्त्रियों को धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में स्थान दिलाना, महिलाओं एवं लड़कियों को शिक्षा के समान अवसर प्राप्त कराना, स्त्री-जीवन सुधार से सम्बन्धित कानून बनवाना, स्त्रियों के आर्थिक स्वावलम्बन के लिये व्यावसायिक प्रशिक्षण, नौकरियों में सुविधायें, आर्थिक सहायता, महिला संगठनों के गठन का आन्दोलन एवं महिलाओं द्वारा महिलाओं की उन्नति के प्रयास को प्रोत्साहित करना आदि मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कार्यों का व्यौरा सामाजिक स्थितियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ निम्नलिखित अनुच्छेदों में किया गया है।

आल्टेकर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू सभ्यता में औरतों की स्थिति' में लिखा है कि कुल मिलाकर वैदिक युग में हिन्दू स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक थी। साधारणतया बालिकाओं का जन्म बालक के जन्म से कम आनन्ददायी समझा जाता था, किन्तु उस समय भी कई माता-पिता ऐसे थे जो पुत्री की कामना करते थे और उनके जन्म पर खुशी मनाते थे। लड़कियों को भी शिक्षा के सुअवसर प्राप्त थे और उन्हें ब्रह्मचर्य,. संयम का भी पालन करना पड़ता था। विवाह की उम्र साधारणत: 16 से 18 वर्ष थी। पढ़ी-लिखी लड़कियों को अपना वर चुनने का अधिकार एवं छूट थी। प्रेम विवाह का भी प्रचलन था। स्वयं विवाह के बाद माता-पिता से आशीर्वाद ले लिया जाता था। लड़के-लड़कियाँ आपस में प्रेम सम्बन्ध रखते थे और लड़कियाँ अपने-अपने प्रेमी के साथ विचरण भी करती थीं। पति-पत्नी का सम्बन्ध पारिवारिक स्तर पर बराबरी का होता था तथापि व्यावहारिक रूप से पत्नी पति को सहचारिका ही होती थी। सती-प्रथा व्यवहार में नहीं थी। इतना होते हुए भी पत्नी का स्थान सम्पत्ति के मामले में गौण ही माना जाता था। स्त्रियों के रानी आदि बनने के भी उदाहरण मिलते हैं तथापि स्त्रियाँ स्वयं स्वाधीन रूप से राज्य नहीं चलाती थीं।

पर्दा नहीं था, तलाक की छूट थी, पुनर्विवाह भी होते थे।

भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा जनजातियों का रहा है। यदि हम यह मानकर चलें कि इनका जीवन अभी भी प्राचीन सभ्यता का प्रतीक है तो आल्टेकर के द्वारा वर्णित स्थितियों को सत्य मान सकते हैं। भारतीय जनजाति संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति बहुत अंशों में पुरुषों के बराबर की ही है। विभिन्न जनजातियाँ भिन्न सामाजिक ढाँचों का उदाहरण हैं, तथापि सामान्य रूप से स्त्री पुरुष के रहन-सहन में विशेष अन्तर नहीं रहता है। भारतीय जन-जातियों में पितृ एवं मातृ सत्तात्मक दोनों ही प्रकार के सामाजिक ढाँचे मिलते हैं। स्पष्ट है कि मातृ सत्तात्मक परिवारों में स्त्रियों की राजनैतिक स्थिति अत्यधिक मजबूत होगी एवं उनका सामाजिक दर्जा भी ऊँचा होगा। अन्तरगामी सामाजिक परम्परा का आधार सदस्यों की प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से जुड़ा रहता है। शादी-व्याह की रीतियाँ और पद्धतियाँ काफी सरल एवं जरूरत सम्बन्धी रहती हैं। सती प्रथा, पतिव्रत, दहेज, देवदासी प्रथा, बलात्कार वेश्या-वृत्ति आदि कुप्रथाओं का उल्लेख नहीं के बराबर है। स्त्रियों को अपने मन-पसन्द वर से व्याह करने की रीति है। नृत्य, संगीत, उत्सव में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ समान रूप से ही भाग लेती हैं। देह-सज्जा का शौक भी स्त्री-पुरुष दोनों में समान रूप से मिलता है। बच्चों के लालन-पालन का उत्तरदायित्व भी समु-दाय एवं माता-पिता दोनों पर समान रूप से रहता है। खान-पान में भी स्त्री पुरुषों में विशेष भिन्नता नहीं दिखाई देती। दोनों ही धुआँ पीते हैं। अध्ययनों के आधार पर यह भी तथ्याकित हुआ है कि जनजातियों के स्त्री-पुरुषों के मनोबल में अन्तर नहीं है बल्कि इनकी तुलना में आधुनिक शहरी जीवन जीने वालों में स्त्रियों का मनोबल पुरुषों की अपेक्षा कम है।

भारतीय सन्दर्भ ग्रन्थों एवं उपलब्ध साहित्य, लिखित एवं मौखिक, के आधार पर भारत के सामाजिक इतिहास को हम दो वर्गों में बाँट कर सहज रूप से समझ सकते हैं। एक वर्ग वह जिसके बारे में लिखा गया है और जो लिखित इतिहास से प्रभावित भी होता रहा है। दूसरा वर्ग वह जो मौखिक कथा, कहा-नियों, मुहावरों, पहेलियों, लोक-नृत्यों, लोकगीतों के माध्यम से अपनी संस्कृति को दुहराता रहा है।

भारतीय सन्दर्भ ग्रन्थों में पुरातन मनुस्मृति एवं वेदों में स्त्री को शक्ति एवं प्रकृति जैसे गुणों से सम्बोधित किया गया है। प्रकृति गुण से स्त्री को सृजना माना जाता है। स्त्री के संहारक रूप को शक्ति माना गया है। उसे देवी एवं चण्डी दोनों ही नामों से अलंकृत किया गया है। सृष्टि के उद्‌बोधक 'माया' और

'लीला' दोनों के स्त्रीलिंग सम्बोधन व उच्चारण हैं। भारतीय ग्रन्थों में स्त्री की विशिष्टताओं को या तो उसके कार्य गुणों के रूप में पारिभाषित किया गया है या फिर सामाजिक भूमिका से संलग्न उससे की जाने वाली अपेक्षाओं से एक जीव या प्राणी होने के नाते उसकी क्या आवश्यकतायें हो सकती हैं या विशेष शरीर रचना होने के कारण वह किस प्रकार की सामाजिक, जैविक व भौतिक अन्तः क्रियाओं की विषय है, इन बातों का वैज्ञानिक विवेचन नहीं के बराबर मिलता है। अधिकांश धर्मग्रन्थ हिन्दू धर्म की जटिलताओं का प्रतिपादन करते हैं। यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थाभिमुख वर्ग या भारतीय समाज लिखित नीतियों के व्यवहारीकरण की प्रक्रिया में प्राकृतिक, व्यावहारिक एवं सरल मानवीयता से दूर होता चला गया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस ग्रन्थाभिमुख समाज ने स्त्री जीवन को जटिल दुधारी नीतियों के जाल में जकड़ दिया है। अधिकांश ऐतिहासिक एवं साहित्यिक लेख धर्म एवं राज्य सम्बन्धी परिस्थितियों का वर्णन हैं। इनमे राजघरानों एवं धर्मचर्चाओं से सम्बन्धित स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। इन आलेखों में स्त्री प्रधान समाज का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। बहुत पुरातन ग्रन्थों जैसे महाभारत में माँ के रूप में स्त्री का सम्मान एवं प्रधानता कुन्ती एवं गान्धारी की भूमिकाओं द्वारा स्पष्ट की गई है। किन्तु मुख्य निर्णय माँ के बेटों या स्त्री के पति का ही बताया गया है। मत्स्यगन्धा का शान्तनु के साथ विवाह भी उनके पिता की इच्छा से हुआ था। द्रौपदी के पांच वर उसकी स्वयं की इच्छा से नहीं हुये थे।

मनु संहिता में स्त्रियों के लिए निम्नलिखित नियम उल्लिखित हैं :—

बाल्यावस्था में पिताअधीन, युवावस्था में पति एवं वृद्धावस्था में प्रज्ञाधीन, पति में पुरुषोचित एवं अन्य गुणों के न होने पर भी स्त्री या पत्नी को उसे ईश्वर मानना चाहिये। इस प्रकार की भूमिका न निभा सकने पर उसे सियार के गर्भ से जन्म लेना पड़ेगा (अगले जन्म में) अन्यथा उसे अगले जन्म में व्याधि जन्य दुःख उठाने पड़ेंगे। स्त्रियों का स्वभाव चंचल है अतः पुरुषों को चाहिये कि वे हमेशा उनके ऊपर प्रतिबन्ध रखें। इस प्रकार पुरुषप्रधान साहित्य-दर्शन के कारण भारतीय कौटुम्बिक संरचना का प्रभाव स्त्रियों के जीवन पर अकल्याणकारी रहा। स्त्रियों का न केवल गौण स्थान सिद्ध किया गया बल्कि उन्हें तामसिक प्रवृत्तियों वाली सिद्ध करके पुरुषों द्वारा उनकी प्रताड़ना को सामाजिक मान्यता भी मिली। अधिकांश भारतीय रचनाकार, धर्मग्रन्थ रचयिता, टीकाकार एवं लेखक जिनकी रचनायें चलन में रही हैं, विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित रहे हैं। मनुस्मृति एवं संहिता उनके सन्दर्भग्रन्थ एवं रचनाओं के मापदण्ड रहे हैं।

इस कारण से पढ़े-लिखे लोगों द्वारा स्त्री जीवन का लक्ष्य मनु संहिता के नियमों का पालन ही माना जाने लगा। इन मापदण्डों के बार-बार दोहराये जाने के कारण ये मूल्य समाज की विचारधारा में गहरे उतरते चले गये। व्यावहारिकता और मापदण्ड के बीच की खाई ने कई स्त्री जन्य समस्याओं को जन्म दिया। पतिव्रत के नियमों के कारण वैधव्य की समस्यायें एवं सतीप्रथा जन्मी। वह पति पर आश्रित व पूर्णरूप से निर्भर बनी। पूर्ण संरक्षण ने पर्दाप्रथा एवं अशिक्षा का प्रचार किया। यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि स्त्री-जीवन सम्बन्धित सामाजिक जटिलताओं ने मध्यम एवं उच्च वर्गों की जटिलताओं को सामान्य एवं गरीव परिवार की महिलाओं की अपेक्षा से अधिक प्रभावित किया। कालान्तर में महिलाओं के कल्याण के लिये किये गये अनेक प्रयास भी उच्च वर्गीय स्थितियों के सुधार-स्वरूप उच्च वर्गीय सुधारकों द्वारा ही हुये।

धार्मिक रूढ़िवादिता से उपजी समस्याओं का निराकरण बौद्ध एवं जैनधर्मों की स्थापना से प्रारम्भ हुआ। बौद्ध-धर्म भिक्षुओं ने राज नर्तकियों एवं गरीब वर्ग की स्त्रियों को भिक्षु बनाया एवं उन्हें शरण दीया। धार्मिक अनुष्ठानों में हिन्दू स्त्रियों का सहभाग वर्जित रहा एवं मुख्य पुजारो की भूमिका से उन्हें अलग रखा गया था। यद्यपि धार्मिक एवं प्राचीन ग्रन्थों में शिक्षित स्त्रियों की शास्त्रार्थ जैसे मौकों पर उपस्थिति एवं सहभाग उल्लिखित हैं। मन्त्रोच्चारण एवं धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन में उनके सहभागी होने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। ब्रह्मवादिनी एवं संन्यासिनियों का उल्लेख भी यदा-कदा मिलता है। किन्तु गिने-चुने नामों का बारम्बार उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि पढ़े-लिखे होने का या धर्मचर्चा करने का सम्मान बहुत कम स्त्रियों को प्राप्त हुआ होगा।

बुद्ध एवं जैन समयकालीन ग्रन्थ एवं ऐतिहासिक लेख स्त्रियों की स्थिति का भिन्न निरूपण करते हैं। बौद्धधर्म में भिक्षुणियों एवं जैनधर्म में संन्यासिनियों को धार्मिक प्रवचन व अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन का अधिकार रहता था। कई विदुषी महिलाओं जैसे लोपामुद्रा, तारा आदि को तो अंकित भी किया गया है। अशोक के समय में विदुषी स्त्रियों को धर्म प्रचारिकाओं का कार्य भी दिया गया था।

मध्ययुगीन भारत मुसलमान सभ्यता से प्रभावित रहा। पर्दा प्रथा, बहु-पत्नी विवाह प्रथा एवं स्त्रियों को कमजोर समझ कर उनकी रक्षा करना आदि विचार मुसलमान सभ्यता के साथ भारत में और भी प्रभावी बनते गये।

मुस्लिम एवं ईसाई ग्रन्थों में आदम हौवा या ऐडम और ईव की कल्पनायें स्त्री को पुरुष के शरीर के कुछ भाग को निकाल कर बनाया गया प्राणी मानती

हैं। औरत भगवान या खुदा द्वारा आदमी के एक अंग के कुछ भाग को अलग करके उससे बनाई गयी है। यही कारण समझा जाता है पुरुष की स्त्री के साथ अंगीकार होने की सतत् इच्छा का। यदि हम समकक्ष उदाहरण खोजें तो हिन्दू धर्म में अर्द्ध नारीश्वर की कल्पना में इसका कुछ हद तक मिलान पा सकते हैं। मुसलमान एवं ईसाई धर्म की इस स्त्री कल्पना से प्रभावित श्रीमती डी बावियर ने अपनी पुस्तक का नाम भी 'द सेकेण्ड सेक्स' (द्वितीय या गौण यौन) दिया है।

इन दोनों ही धर्मों में हौवा एवं मेरी दोनों को आदरणीय उच्च स्थान प्राप्त है किन्तु जिस प्रकार से देवी दुर्गा और चण्डी को आदिशक्ति माना गया है, उस रूप में नहीं। अल्लाहोया गॉड दोनों ही पुरुष लिंग के माने गये हैं। जबकि शिव जी ने देवी की पूजा को प्रथम स्थान दिया था। औरत की आदरणीयता को ईसाई एवं मुसलमान धर्मों में ममता एवं सेवा से अधिक जोड़ा गया है। स्त्री के वर्णन में 'सेकेण्ड सेक्स' पुस्तक में स्त्री के प्रजननात्मक गुणों का मुख्य रूप से उल्लेख है। स्त्री के कल्याण की कल्पना उसकी शारीरिक-सामाजिक आवश्यकताओं पर ही निर्भर होनी चाहिये इस बात पर इस पुस्तक में अधिक बल दिया गया है।

अठ्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक महिलाओं को गौण यौन का होने के रूप में ही परिचित कराया जाता था। उन्हें बच्चे पैदा करने वाली जाति एवं जीव समझ कर ही उनकी भूमिकायें तय की जाती थीं। पुरुष प्रधान संस्कृति का यह दृष्टिकोण अभी भी महिलाओं की प्रतारणाओं भरी, परतंत्र जीवन की यातनाओं का कारण बना हुआ है। इसके कारण ही महिलाओं की मानवीय जीवनोपयोगी आवश्यकताओं को गौण स्थान एवं महत्त्व प्राप्त हुआ है। उन्हें परिवार एवं बच्चों की देख-रेख के उत्तरदायित्वों की भूमिकाओं से इतना बाँध दिया गया कि वे सामाजिक, शिक्षण, व्यावसायिक, आर्थिक एवं राजनीति के क्षेत्र में क्षमतावान होते हुए भी पिछड़ी रह गईं। आधुनिक भारत में स्त्रियों की स्थिति की समीक्षा करते हुए निघत सईद खान एवं कमला भसीन ने लिखा है 'आज भी दुनियाँ में शायद ही कोई ऐसा समाज हो जहाँ स्त्री-पुरुषों में पूर्ण समानता हो, उन्हें बराबर के अधिकार, अवसर व इज्जत प्राप्त हों। हिन्दुस्तान व इसके पड़ोसी देशों में तो लगभग हर क्षेत्र में स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं। समाज में व घर के अन्दर भी उन पर तरह-तरह के दबाव व बन्धन हैं। बहुत से परिवारों में तो बेटी का पैदा होना ही अपशकुन माना जाता है। जहाँ पैदाइश से ही लड़के-लड़कियों में भेद हो वहाँ लड़कियाँ

भला कैसे अपने व्यक्तित्व को निखार सकती हैं। उन्हें तो बराबर के प्यार, देख-रेख, पोषण, बीमारी में पूरी देख-भाल के लिये भी तरसना पड़ता है।

अठ्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं उन्नीसवीं शताब्दी में मानव कल्याण सम्बन्धी व्यवस्थाओं एवं विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। मानवीय आवश्यकताओं को वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक धूरियों पर आँकना प्रारम्भ हुआ। सामाजिक सुधार, स्वतन्त्रता आन्दोलनों एवं गणतांत्रिक राजनैतिक विचारों का युग प्रारम्भ हुआ। महिलाओं की स्थिति भी इनसे अछूती न रही। इस आधुनिक युग के प्रारम्भ में अंग्रेज सरकार एवं कुछ भारतीय समाजसुधारकों ने महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार हेतु कई कदम उठाये। बंगाल में राजाराममोहनराय ने सती प्रथा बन्द करवाने के लिये कानून बनवाया। महाराष्ट्र में स्त्रियों को दासता के चक्र से छुड़ाने के लिये ज्योतिब्रा फुले ने स्त्री शिक्षा का अभियान अपनी पत्नी की शिक्षा से और फिर पत्नी सावित्री बाई को शिक्षिका बनाने से प्रारम्भ किया। स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार दिलाने वाला 1937 का कानून भी राजाराममोहनराय के प्रयत्नों से पारित हुआ। अंग्रेजी सरकार द्वारा स्त्रियों को मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। भारतीय कांग्रेस पार्टी ने प्रारम्भ से ही स्त्रियों की सदस्यता मान्य की और 1917 में एनी बेसेन्ट को अपना पहला महिला अध्यक्ष चुना। 1949 में महिलाओं के लिये प्राँविशियल असेम्बली में कुछ जगहें भी निश्चित की गयीं। कल्याणकारी संस्थाओं ने सेवा सदन और विधवा गृहों की स्थापना की। स्त्रियों के व्यापक अनैतिक व्यापार को रोकने के लिये भी 1923 में कानून पारित किया गया। युवा महिला ईसाई संघ, कस्तूरबा गाँधी ट्रस्ट, अखिल भारतीय महिला भोजन सभा आदि संस्थाओं की भी स्थापना महिला कल्याण के लिये की गयी। 1946 में अन्तर्जातीय विवाह के बीच आने वाली अड़चनों को समाप्त करने के पक्ष में भी कदम उठाये गये। 1923 में लीगल प्रैक्टिशनर ऐक्ट पारित हुआ (महिलाओं के लिये)। इसके द्वारा महिला वकीलों के खिलाफ की जाने वाली गतिविधियों पर रोक लगाने का प्रयास किया गया। 1935 के भारत सरकार के कानून द्वारा औरतों को सरकारी पदों पर भर्ती की छूट दी गयी। महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू एवं सभी राष्ट्रीय नेताओं ने औरतों की शिक्षा एवं उनकी स्वतन्त्रता पर जोर दिया और उनके कल्याण सम्बन्धी कानून बनवाये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा एवं अन्य प्रयासों द्वारा महिलाओं की उन्नति एवं कल्याण के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था 'लोगों में जागृति लाने के लिये हमें पहले

महिलाओं को जागृत करना होगा। स्त्रियों के आगे बढ़ने से परिवार आगे बढ़ेगा, गाँव आगे बढ़ेंगे और पूरा देश उन्नति करेगा।'

स्वतन्त्र भारत में स्त्रियों के कल्याण के लिये उन्हें हर स्तर पर समान अधिकार एवं उन्नति के मौके उपलब्ध कराने के लिये चतुर्दिक प्रयास हुये। ये

प्रयास न केवल सरकारी मंत्रालयों द्वारा किये गये बल्कि इनमें समाज कल्याक सम्बन्धी शैक्षिक संस्थायें, बुद्धिजीवीवर्गों, राजनैतिकनेताओं और स्वयं औरतों ने भी भाग लिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद महिला संगठनों एवं समाज सेवियों ने महिलाओं के विकास कार्य को एक चौतरफे आन्दोलन का रूप दिया। सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस आन्दोलन के मूल दर्शन में हुआ। अब तक के महिला कल्याण सम्बन्धी क्रिया-कलाप सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन एवं कानूनी संरक्षण से अधिक सम्बन्धित रहे। किन्तु बीसवीं शताब्दी के अर्द्धांश तक महिलाओं के व्यक्तित्व विकास द्वारा सामाजिक परिवर्तन को अधिक विज्ञापित किया गया। महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, रमाबाई आदि ने महिलाओं की व्यक्तिगत् उन्नति के लिये कार्यक्रमों की आवश्यकता पर बल दिया। बुद्धिजीवी समाज, जो इस समय तक पाश्चात्य साहित्य के काफी नजदीक आ गया था, स्त्री में एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व निरूपित करने के पक्ष में था। शरत्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि ने अपने साहित्य द्वारा स्त्री के प्राकृतिक गुणों एवं शक्तियों को निखारने का प्रयास किया। अमृता प्रीतम ने तो नारी के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करते हुए उसके व्यक्तित्व को व्यावहारिक देवत्व के रूप में स्थापित किया।

दूसरी ओर समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने स्त्री की पूर्णता का अध्ययन उसके व्यक्तिगत्, विकासशील गुणों एवं आवश्यकताओं के आधार पर करना प्रारम्भ किया। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये स्त्री शिक्षा, महिलाओं के अधिकारों में वृद्धि, नये आधुनिक व्यवसायों में उनकी भर्ती, स्त्रियों के संगठन, आर्थिक आत्मनिर्भरता, सामाजिक रूप से शोषित स्त्रियों का उत्थान एवं उनको सामान्य विकास के अवसर प्रदान करना, परिवार कल्याण सम्बन्धी ज्ञान बढ़ाना एवं परिवार में उनकी स्थिति मजबूत और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करना आदि प्रयास किये गये। इन प्रयासों का विस्तृत ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है :—

स्त्री शिक्षा :

आधुनिक युग में महिलाओं की प्रगति में शिक्षा को उच्च स्थान एवं प्राथमिकता दी गई। रवीन्द्रनाथ जी ने व्रती बालिका संगठनों द्वारा गाँव-गाँव में

लड़कियों की शिक्षा का आह्वान किया। उन्होंने शान्ति निकेतन नाम की संस्था भी स्त्रियों को हर प्रकार की शिक्षा सुलभ कराने की दृष्टि से प्रारम्भ की। अखिल भारतीय स्त्री शिक्षा फण्ड (संघ) खोला गया जिसके द्वारा नयी दिल्ली में गृहविज्ञान की शिक्षा के लिये लेडी इरविन कॉलेज खोला गया। लखनऊ, दिल्ली, मद्रास, बम्बई बनारस आदि शहरों में कन्या शालायें एवं विद्यालय खोले गये। आर्य कन्याशाला, सरस्वती सदन, सावित्री बाई फूले लड़कियों की पाठशाला, लेडी इरविन कॉलेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में महिला महाविद्यालय, ईसा बेला महिला कॉलेज, दयानन्द महिला कॉलेज आदि शिक्षण संस्थाओं ने महिलाओं की शिक्षा की देशव्यापी जिम्मेदारी ली और हर सम्भव शहर में लड़कियों तथा महिलाओं के लिये शिक्षण संस्थायें प्रारम्भ की।

भारतीय संविधान द्वारा आश्वासन दिया गया कि 18 वर्ष तक के बालक बालिकाओं को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जायेगी। लड़कियों को स्कूल की सभी सुविधायें प्रदान की गयीं जो लड़कों को प्राप्त थीं। तृतीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक 62 प्रतिशत बालिकाओं के स्कूल जाने का अनुमान लगाया गया था। विश्वविद्यालय में स्त्री सम्बन्धी विषयों के विभाग खोले गये व स्त्री शिक्षण संस्थायें खोलने के लिये सरकारी अनुदान को भी प्रारम्भ किया गया।

गाँवों में शिक्षा के प्रसार के लिये समुदाय विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत् बालवाड़ियों की व्यवस्था, प्राथमिक शिक्षा के लिये स्कूल एवं माध्यमिक-मैट्रिक शिक्षा के लिये भी स्कूल खोले गये। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा गाँवों में महिला प्रशिक्षण एवं प्रारम्भिक शिक्षण कार्यक्रमों को अनुदान की सहायता से प्रोत्साहित किया गया। प्रौढ़ शिक्षण कक्षाओं के संचालन द्वारा ग्रामीण एवं शहरी गरीब निरक्षर महिलाओं के लिखने-पढ़ने की व्यवस्था की गयी। समाज कल्याण परिषद् ने सन् 1958 में प्रौढ़ महिलाओं के लिये शिक्षा की योजना चलाई जिसे सघन प्रशिक्षण कार्यक्रम का नाम दिया गया; इसके दो उद्देश्य रखे गये : (1) योग्य और जरूरतमन्द औरतों को रोजगार के अवसर देना, (2) विभिन्न ग्रामीण समाज कल्याण योजनाओं के संचालन के लिये कार्यकर्ता तैयार करना। यह योजना स्वीकृत शिक्षा संस्थाओं अथवा स्वयं सेवी कल्याण संगठनों द्वारा चलाई जा रही है। इन्हें 15 से 30 वर्ष की आयु-समूह की महिलाओं के लिये माध्यमिक एवं मैट्रिक की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के शिक्षण पाठ्यक्रम चलाने के लिये अनुदान दिये जाते हैं। प्रवेशार्थियों के लिए प्रतिमाह 45 रुपये का भुगतान किया जाता है। इनको काम दिलाने के प्रयत्न भी ये

संस्थायें करती थीं। मातृत्व व शिशु कल्याण सम्बन्धी देशव्यापी कार्यक्रम जो यूनिसेफ एवं विश्व स्वास्थ्य संगठन के साथ मिलकर चलाया गया उसमें मातृत्व के विकास सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था अनौपचारिक समूहों में चर्चाओं एवं आंगनवाड़ियों के संगठन के माध्यम से की गयी। आज स्त्रियों के लिये सभी शिक्षण संस्थाओं में पढ़ने की सहूलियत एवं अधिकार हैं। इसके अलावा कुछ खास महिला विश्वविद्यालय भी शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत् हैं। महिलायें किसी भी व्यवसाय का प्रशिक्षण आम विद्यालयों में ले सकती हैं।

सामाजिक अधिकार के प्रयास :

स्त्रियों को समाज में पुरुषों के समान अधिकार एवं सहूलियतें दिलाने के लिये कई काम किये गये। संवैधानिक रूप से भारत को कल्याणकारी राज्य की संज्ञा दी गयी। इसके अनुसार सभी बालिकाओं को समान मौके प्राप्त कराने के लिये सरकार कटिबद्ध हुई। इस संवैधानिक नीति के तहत ही भारत सरकार महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार लाने हेतु कई कानून बना चुकी है और बनाती चली जा रही है। भारतीय सविधान इस बात को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि पुरुष व महिलाओं के साथ समानता पूर्वक व्यवहार किया जायेगा। महिलाओं के साथ समाज में होने वाले दुर्व्यवहार से उनकी सुरक्षा के लिए संविधान अनुबन्धों की रचना करता है। संविधान सामान्यजन को महिलाओं के सम्मान को बनाये रखने के लिये प्रेरित करने वाले कदम भी उठाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बने अनेक कानूनों में 1948 का हिन्दू कोड बिल सबसे महत्त्वपूर्ण है। स्त्रियों को पुरुषों के समान हक दिलाने के लिये इस कानून का अनुमोदन किया गया था। किन्तु कुछ विरोधों के कारण यह पारित न हो सका। इसके अन्तर्गत् कई अधिनियमों का समागम था जो एक के बाद एक पारित किये गये। हिन्दू विवाह कानून 1955 के अनुसार बहु विवाह प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। तलाक देने का अधिकार स्त्री पुरुष दोनों को दिया गया है। विशेष अकल्याणकारी अवस्था में स्त्री को इस कानून के तहत अधिकार है कि वह कानूनन पति से अलग हो जाय। 1979 में संशोधित रूप में इसमें तलाक की जटिलताओं को सरल किया गया है। हिन्दू गोद एवं निर्वाह कानून 1956 के अनुसार स्त्रियाँ अपने निजी नाम से भी किसी बच्चे को गोद ले सकती हैं। पति के लिये गोद लेने के समय पत्नी की स्वीकृति आवश्यक है। हिन्दू नाबालिग एवं संरक्षण कानून 1956 के अनुसार पाँच वर्ष से छोटा बच्चा पिता के संरक्षण में न रह कर माता की देख-रेख में रखा जाता है। हिन्दू उत्तराधिकार कानून के अनुसार विधवाओं का उनकी सम्पत्ति के ऊपर

पूर्ण अधिकार माना गया है। इसके अतिरिक्त माँ और लड़कियों को लड़के के साथ सम्पत्ति में समान हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। इन कानूनों के अलावा सामाजिक संरक्षण प्रदान करने वाले अन्य कानून भी बनाये गये हैं। केन्द्र-पारित कानूनों में सीता कानून बहुत उल्लेखनीय है। इसे सप्रे- शन आफ इम्मॉरल ट्रैफिक एक्ट कहा गया है। लड़कियों के अनैतिक व्यापार के विरुद्ध यह कानून बनाया गया था। इसके अलावा स्त्रियों के स्वास्थ्य एवं बीमा सम्बन्धी कानून और मातृत्व सम्बन्धी कानूनों द्वारा भी इन्हें सहूलियतें प्रदान की गयी हैं। भारतीय मुसलमान औरतों को महिला अधिकार सम्बन्धी कई कानूनों, खास कर हिन्दू विवाह कानून से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। मुस्लिम औरतों के लिये मुसलमान धर्म के कानून अभी तक अधिक प्रभावशाली बने हुए हैं। शाहबानो केस के कारण भी कोई खास फरक़ नहीं आया। निकाह, तलाक, दहेज, बहुपत्नी प्रथा अभी भी धार्मिक रीति-रिवाजों के आधार पर ही व्यवहृत हैं।

भारतीय मुसलमान औरतें अंग्रेजी शिक्षा के प्रति उदासीन रहीं। 1876 में बदरूद्दीन तैय्यब जी ने स्वयं सहायता संस्था का प्रारम्भ किया। इन्हीं के सम्बन्धियों ने बाद में लड़कियों के लिए स्कूल एवं तीमारदारी केन्द्र खोले। बीसवीं शताब्दी में कई शहरों में मु स्लम औरतों की संस्थायें खुलीं 1916 में बेगम भोपाल ने अखिल भारतीय मुस्लिम महिला संघ की स्थापना की। 1917 में अब्रू बेगम ने बहु-पत्नी प्रथा के विरोध में प्रस्ताव रखा जो उस समय के मुस्लिम महिलाओं द्वारा विरोधित हुआ। प्रस्ताव का विरोध करने वालों में बेगम अब्दुल्ला एवं बेगम शेख भी थीं। किन्तु मुस्लिम औरतों के संगठन ने स्वतन्त्रता संग्राम में खुलकर हिस्सा लिया।

आम कानूनों के कारण मुसलमान महिलाओं में जागृति आई है और वे भी विभिन्न व्यवसायों में, शिक्षण के साथ कार्यरत् हैं। उन्हें धार्मिक, राजनीतिक, आदि सुविधायें देश का नागरिक होने के नाते प्राप्त हैं। इनका उल्लेख सम्ब- न्धित सेवाओं की विस्तृत जानकारी के साथ किया जा रहा है।

वेश्यावृत्ति से बचाव के प्रयास :

वेश्यावृत्ति के लिये लड़कियों को बहला-फुसलाकर उन्हें वेश्यालयों में बेच देने का व्यापार भारत में नया नहीं है। इसके कारण निरपराध भोली-भाली लड़कियाँ जीवन भर के लिये लांछित जीवनयापन करने के लिये लाचार हो जाती हैं! शहरों और प्रवासी जीवन की बाढ़ के साथ ही इस व्यापार में भी तेजी आयी है। गाँव एवं शहर की कम उम्र, गरीब एवं अनजान लड़कियों को

इस घृणित व्यवसाय के लिये ज्यादा संख्या में वेश्यालयों में बेचा गया। इस अत्याचारी व्यवसाय में स्त्रियों की सुरक्षा के लिये स्त्रियों के अनैतिक व्यापार (दबाव) कानून (पहला 1925) 1956 में संशोधित किया गया। संशोधित रूप में यह कानून लड़की एवं लड़कों दोनों को अनैतिक व्यापार में फँसाये जाने से बचाने के लिये बनाया गया। देवदासी प्रथा पर रोंक लगाने के लिये मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, आदि ने कानून बनाये। सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य पर एक परामर्शदात्री समिति की नियुक्ति की गयी एवं उसके परामर्श पर नैतिक स्वास्थ्य तथा उत्तर रक्षा कार्यक्रम (सोशल एण्ड मॉरल हाइजिन ऐण्ड आफ्टर केयर प्रोग्राम) के शीर्षक से इन्हें केन्द्र संचालित कार्यक्रमों के अन्तर्गत द्वितीय योजना में भी सम्मिलित किया गया। इसके अनुसार अब सभी राज्यों में जिला स्तर पर शरणालय एवं स्वागत केन्द्रों की स्थापना की गई है। इनमें इन्हें पुनर्स्थापन के योग्य बनाया जाता है।

महिलाओं के लिये आवास की सुविधायें :

बाल विवाह प्रथा, आर्थिक निर्भरता एवं अशिक्षा के कारण 18वीं शती में महिलाओं में विधवाओं की संख्या बढ़ी थी। प्लेग और हैजे के प्रकोप एवं सूखा पड़ने पर भी भारी संख्या में लोगों की मृत्यु हो गयी थी, फिर राजनैतिक युद्धों में भी लोग मारे गये थे। पुरुष-प्रधान समाज में कई महिलायें अनाथ हो गई थीं। अकेले पुरुष को तो महिलायें घरों में पाल लेती थीं और हैं किन्तु अकेली महिला को पति बिना घर में पतिता, कुलटा आदि सम्बोधनों के साथ अन्य कई शारीरिक व मानसिक अत्यचार सहने पड़ते थे। परिवारों में इनका रहना भी अशुभ समझा जाता था। इस समय निराश्रित विधवाओं की संख्या एवं आवास की समस्या को हल करने के लिये कई विधवा आश्रम खोले गये। 1906 एवं 1912 के बीच देश भर में बहुत से हिन्दू विधवा गृहों की स्थापना हुयी; जैसे मैसूर मे विधवा गृह 1907 में, कलकत्ता में शिल्प आश्रम 1907, में बंगलोर में विधवा गृह 1910 में, ढाका में श्रीमती दत्ता द्वारा स्थापित दत्ता विधवा गृह और मद्रास में ब्राह्मण विधवा छात्रावास 1912, फिरोजपुर और भटिन्डा में देव समाज, जालन्धर में आर्य समाज और बम्बई में दिगम्बर समाज व जैन लोगों ने विधवागृहों की स्थापना की। कलकत्ता में शशिपद बैनर्जी का कलकत्ता-विधवा आश्रम आदि निर्मित हुये।

स्वतन्त्रता के बाद आवास की सुविधाओं की आवश्यकता कार्यरत् एवं विस्थापित औरतों के लिये भी बहुत आवश्यक हो गयी थी। शहरों में औरतें काफी संख्या में काम करने लगी थीं। गाँव से शहर में नौकरी पाने की लालसा रखने वाली स्त्रियों को आवासीय प्रबन्ध न होने के क़ारण गाँव या छोटे कस्बों

में कई प्रतारणाओं का शिकार होना पड़ता था। इन समस्याओं के निराकरण लिये कई संस्थाओं एवं सरकार ने छात्रावासों की व्यवस्था का कार्य प्रारम्भ किया। आधुनिक कामकाजी स्त्रियों को आवासीय सुविधाओं का वर्णन कामकाजी स्त्रियों की समस्याओं के सम्बन्ध में किया जायेगा।

कामकाजी स्त्रियों के लिये सुविधायें :

आज मध्यम एवं उच्चवर्ग की अनेक स्त्रियाँ शहरों में नौकरी-धन्धे में लगी हैं। नौकरी करने वाली स्त्रियाँ आजकल प्रत्येक कार्यालय में कार्यरत् हैं। यद्यपि नौकरी करने से उन्हें आर्थिक स्वावलम्बन एवं व्यक्तिगत् विकास का मौका मिलता है और वे अधिक स्वतन्त्र भी अनुभव करती हैं फिर भी उन्हें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। महिलायें आजकल वास्तुकार, अभियन्त्र सर्वेक्षक, विधि वेत्ता, लेखपाल, लेखापरीक्षक, सम्पादक, पत्रकार तथा तत्सम्बन्धी कार्यकर्ता, ड्राफ्ट्समैन, वैज्ञानिक तथा अभियान्त्रिकी तकनीशियन, प्रशासक एवं सरकारी कर्मचारी, अध्यापिका आदि के रूप में कार्यरत् हैं।

कार्यक्षेत्र में सर्वप्रथम तो महिलाओं को साथ-साथ दो भूमिकाएँ निभाने का भार वहन करना पड़ता है। पहला घर का और दूसरा दफ्तर का। नौकरी करते हुये भी घर के कामों में महिलाओं को कोई अन्यथा सहायता नहीं मिलती है बल्कि आर्थिक रूप से कुछ प्राप्त होने की वजह से घर के लोगों की अपेक्षायें उनसे कुछ ज्यादा ही प्राप्त करने की हो जाती हैं। माता-पिता कमाऊ कन्याओं के विवाह की जिम्मेदारी को बड़े सुधारवादी ढंग से टालते हैं और कमाऊ लड़की को लड़की न कहकर लड़का भी कहा जाने लगा है। किन्तु ऐसा लड़का जो घर छोड़कर नहीं जायेगा लेकिन गृहस्थी के भी सारे काम जो पति के घर में लड़की करती है वह उसे अपने घर में करते रहना पड़ेगा। साथ ही अपनी शादी-शुदा सहेलियों के ताने एवं ईर्ष्या का शिकार भी होना पड़ता है। यदि घर में भाई एवं उनकी पत्नियाँ हैं तो उनसे भी दबकर रहना पड़ता है जो उनके ऊपर चौतरफा नैतिक बन्धन थोपते रहते हैं। शादी-शुदा नौकरी करने वाली औरतों की कठिनाइयाँ भी यौन आधारित भेदभाव से पूर्ण रहती हैं। इन कठिनाइयों में निम्नलिखित मुख्य रूप से महिलाओं के मानसिक तनाव का कारण बनती हैं :—

विरोधी भूमिकाओं की स्थिति में महिला को घर एवं दफ्तर दोनों ही जगह की जिम्मेदारियाँ निभानी पड़ती हैं। कार्य स्थल पर पुरुष उच्च कर्मचारियों एवं अन्य सहकर्मियों के नारी सम्बन्धी पूर्वाग्रहों का शिकार एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से उनकी वासना युक्त दृष्टिकोण की टिप्पणियों का व कभी-कभी नाजायज व्यवहारों का शिकार भी होना पड़ता है। दोहरी मान्यता वाले पुरुष

वर्ग के व्यवहार की लक्ष्य, पुरुषों के साथ काम करने वाली महिलायें, आयेदिन पतियों के संशय का भी शिकार होती हैं। अनेक विद्वानों द्वारा किये गये अध्ययन से जाहिर होता है कि अधिकांश पति-पत्नी द्वारा नौकरी करने की वजह से पारिवारिक जीवन में आई तबदीली को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं। समाज में परिवार सहायक सेवाओं की कमी के कारण परिवार वाली स्त्रियों को बच्चों की देख-रेख की चिन्ता करनी पड़ती है। काम पर आने-जाने के लिये सुविधाओं की कमी की कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ती हैं। यदि कामकाजी औरत अपने गुणों एवं दक्षता के कारण उन्नति करने का प्रयत्न करती है तो उसे अपने से कम दक्ष एवं कम आत्म सम्मान वाली सहकर्मियों के राजनीतिक कुचक्रों का भी शिकार होना पड़ता है। साथ हो समान कार्य के लिये असमान वेतन महिलाओं के कार्यकारी जीवन का एक और काँटा है। महिलाओं से कार्यकारी सदस्य के व्यवहार की अपेक्षा न करके कार्य-स्थलों पर भी उन्हें हमेशा उनके महिला होने का एहसास हीनता की भावना का निर्माण करने की दृष्टि से कराते रहा जाता है। महिलाओं की दक्षता को पुरुषों से कम दिखाने के लिये आजकल पदोन्नति के समय प्रायः कम योग्यता प्राप्त महिलाओं को दक्ष एवं अच्छी योग्य महिलाओं के मुकाबले आसानी से ऊँचे पद दे दिये जाते हैं। इस प्रकार से महिलाओं पर पुरुषों की प्रभुता बनाये रखना आसान होता है और योग्य महिलाओं को अवसर न मिलने के कारण उनमें हीनता की ग्रन्थि का निर्माण प्रारम्भ होता है। रोजे म्विस्ट का कहना है 'आर्थिक जीवन में हाल में जो तबदीली आयी है उससे मम्बन्धित कुछ सामाजिक परिस्थितियों से तलाक को बढ़ावा मिलता है। उदाहरण के रूप में आज के दफ्तरी कामों की व्यवस्था को देखा जा सकता है। व्यावसायिक पुरुष व महिला अधिकारी को अपने निजी संबंध को मधुर बनाये रखना पड़ता है, इस वजह से उनका वैवाहिक जीवन खतरे में पड़ जाता है। संक्षिप्त में कामकाजी औरतों की मुख्य समस्यायें पुरुष-प्रधान दृष्टिकोण, महिलाओं को यौन तृप्ति का केन्द्र मानना, उनकी आर्थिक उन्नति से ईर्ष्या, घर एवं कार्यालय दोनों ही जगह की जिम्मेदारियाँ निभाने की दोहरी भूमिका, सहायक सेवाओं की कमी, स्त्रियों का सम्मान एवं आत्म बल ऊँचा उठाने में सहायक नेतृत्व की कमी आदि मुख्य हैं। इन समस्याओं के चलते कई कठिन मानसिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्यायें भी खड़ी होती हैं। हीन भावना के कारण समायोजन सम्बन्धी प्रयासों में कमी और उदासीनता आती है। दोहरी भूमिकाओं के दबाव से मानसिक द्वन्द्व की अनुभूति होती है, तनाव पैदा होता है। पारिवारिक कलह, मनोशारीरिक बीमारियाँ, विवाह-विच्छेद एवं यौन सम्बन्धी प्रतारणाओं के कारण अपराधी भावना की ग्रन्थि पैदा होती है।

व्यावसायिक समाज कार्य के क्षेत्र में महिलाओं को इन कठिनाइयों से निकाल कर उनमें विश्वासपूर्ण नेतृत्व का निर्माण करने एवं समायोजन की शक्ति पैदा करते हुए एक अधिक सुखी जीवन जीने में मदद करने के लिये महिला एवं परिवार कल्याण सम्बन्धी परामर्शदात्री केन्द्र खोले गये हैं। इन केन्द्रों में इस प्रकार की समस्याग्रस्त महिलाओं को वैयक्तिक सेवा कार्य व सामूहिक कार्य द्वारा निदानात्मक सेवायें प्रदान की जाती हैं।

वैयक्तिक सेवा कार्य :—वैयक्तिक सेवा कार्य के प्रयोग से महिलाओं की मनोसामाजिक सहायता आधुनिकतम तरीकों से की जाती है। सामाजिक कठिनाइयों में पहल के सेवाओं के पुंज के द्वारा कई सेवायें एक साथ महिलाओं को अचानक कठिनाइयों से निकालने के लिये प्रदान की जाती हैं। पर्यावरण में रद्दोबदल, मनोबल विकास तकनीकों के प्रयोग से परिवार के सदस्यों, कार्मिक महिलाओं एवं कार्यकारी सहकर्मियों के दृष्टिकोण में, कार्यकर्ता उनसे बातचीत करके, सकारात्मक परिवर्तन लाता है और नकारात्मक भावनाओं को सकारात्मक रूप देने का भी प्रयास करता है। इसके लिये वह कई बार महिलाओं से संबंधित पाठशालाओं विद्यालयों, कार्यालयों, परिवारों के सदस्यों से सम्पर्क स्थापित करता है, उनसे साक्षात्कार करता है और सलाह देता है।

समूह कार्य द्वारा सहायता :

इस पद्धति के अनुसार कार्यकर्ता एक प्रकार की समस्याग्रस्त महिलाओं के समूह बनाकर उनमें भावनात्मक सम्भावनाओं को प्रोत्साहित करता है; सभी सदस्यों को बोलने का अवसर देता है। इस प्रकार उद्घाटन, समाजीकरण, समक्ष और योजनात्मक तकनीकों का उपयोग करते हुये महिलाओं को एक कम तनावपूर्ण सरल मानसिक स्थिति का आभास करवाता है। तादात्मीकरण, कथन, नेतृत्व विकास आदि तकनीकों के प्रयोग से समायोजन एवं व्यक्तित्व विकास के प्रयत्नों को पुनः सक्रिय किया जाता है।

इनके अलावा सामुदायिक स्तर पर महिला विकास कार्यक्रम एवं योजनायें संगठित एवं संचालित करना, सामाजिक स्तर पर क्रिया द्वारा महिला संगठनों को प्रेरित करके समाज पर प्रभाव डालना एवं सरकार को कानून बनाने के लिये प्रभावित करना भी समाज कार्य की संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ है। महिलाओं की जरूरतों एवं समस्याओं के बारे में शोध कार्य भी कई समाज कार्य संस्थायें कर रही हैं, जैसे—काशी विद्यापीठ, समाज कार्य विभाग, लखनऊ, दिल्ली स्कूल ऑफ सोशल वर्क, इन्दौर स्कूल, मातृ सेवा संघ, तिरपुड़े कॉलेज ऑफ सोशल वर्क इत्यादि।

अनेक दृष्टि से पिछड़े परिवारों की स्त्रियों की समस्यायें अलग होती हैं। इस वर्ग की अधिकांश महिलायें गरीबी की शिकार होती हैं। साथ ही महिला होने के कारण दोहरी समस्याओं से बँधी होती हैं। इन महिलाओं में अधिकांश स्वतन्त्र रूप से कुछ न कुछ कार्य अपनी जीविका चलाने के लिये करती ही रहती हैं। सरकार द्वारा बनाये गये सामाजिक-सुधार कानूनों से इन महिलाओं को बहुत कम फायदा हुआ है। इनके ऊपर जीवन का दबाव बहुत अधिक होने से प्रतिकारात्मक चेतना कम हो जाती है। इन महिलाओं के व्यवसाय प्रायः घरों में बर्तन माँजना, खोमचे लगाना, सब्जी-भाँजी बेचना, कपड़े लेकर बर्तन बेचना, बीड़ी बनाना, टिकुली बनाना, पत्तलें बनाना आदि हैं। शहरों में रहने वाली गरीब औरतें बड़ी मात्रा में विस्थापित परिवारों की होती हैं और रोजाना मजदूरी पर घर बनाने या कारखानों में मजदूरों का काम करती हैं। इनकी मुख्य समस्यायें अपर्याप्त मजदूरी, दलालों द्वारा धोखा-धड़ी, काम की दुःखदायी स्थितियाँ, खराब मशीनों पर काम करना, अधिकारियों द्वारा प्रताड़ित किये जाना आदि हैं। इसके साथ ही घर पर अत्यधिक काम के अलावा पतियों द्वारा पीटे जाने की कठिन एवं कष्टकारी स्थितियों का भी सामना करना पड़ता है।

ग्रामीण गरीब महिलायें भी प्रायः खेती के काम में लगी रहती हैं और घर के कामकाज भी करती हैं। गाँवों की स्थिति में पिछड़ेपन के कारण इनका काम कठिन एवं अधिक रहता है। परम्परागत् समाज के कारण इन महिलाओं के साथ बलात्कार, शारीरिक अत्याचार एवं अशिक्षा के कारण मजदूरी की कम दरों का मिलना आदि मुख्य समस्यायें हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अशिक्षा, शोषण, वैमनस्य की शिकार महिलायें अधिकारों को भी कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करती हैं, ये शारीरिक कमजोरियों, बीमारियों से प्रायः अस्वस्थ रहती हैं।

आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग की शहरी एवं ग्रामीण महिलाओं की समस्याग्रस्त स्थितियों को परिवर्तित करने के लिये श्रमशक्ति आयोग ने कई सुझाव दिये हैं :—

1. महिला मजदूरों के व्यक्तिगत् पंजीकरण किये जायें;
2. उनको संगठित उद्योगों में कार्य करने वाली महिलाओं को मिलने वाली सभी सुविधायें दी जायें;
3. न्यूनतम मजदूरी दर सरकार की ओर से तय किया जाना चाहिये;.
4. कानूनों को लागू करने सम्बन्धी कानून बनाये आयें;
5. गरीबी दूर करने के देशव्यापी कार्यक्रम को अधिक प्रभावी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये;

6. बाल शिक्षण, बाल कल्याण एवं देख-रेख को महिलाओं के विकास कार्य-क्रमों का एक अभिन्न अंग बनाया जाये;
7. इन संगठनों को पूर्ण बढ़ावा देने के लिये सुविधायें दी जायें;
8. महिलाओं को एक व्यक्ति होने के आधार पर सुविधायें प्रदान की जायें;
9. स्त्रियों को सम्मिलित मालकियत दी जाय;
10. महिलाओं द्वारा चलाये जाने वाले परिवारों को विशेष सुविधायें एवं महत्त्व दिया जाना चाहिये;
11. स्वास्थ्य एवं आवास सम्बन्धी सुविधायें मालिकों की तरफ से आवश्यक रूप से दिलवाई जायें ।

सुविधायें :

1976 में 'ईरा', समान वेतन कानून पारित किया गया जिसके अनुसार स्त्री एवं पुरुषों को समान कार्य के लिये समान वेतन का विधान किया गया । इस कानून के द्वारा लिंग के आधार पर किये गये भेद-भाव को गैर कानूनी ठहराया गया है । इससे औरतों को स्त्री होने के नाते काम प्राप्त करने या काम की मजदूरी की निश्चित दर प्राप्त करने में जिस भेदभाव का सामना करना पड़ता था उससे उनका बचाव हो सकता है । स्त्रियों को लैंगिक भेदों के आधार पर होने वाले काम से या काम पर नियुक्ति सम्बन्धी विसंगतियों से बचाने के लिये इस कानून में 1987 में फिर से संशोधन किया गया ।

कामकाजी औरतों को सुविधा :

स्वतन्त्रता के बाद पहले पहल 250 महिलाओं को रख सकने की व्यवस्था से युक्त एक महिला आवास गृह की शुरूआत नयी दिल्ली में हुई । इसके बाद केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने कम आय के काम करने वाली महिलाओं की आवासीय सुविधा की ओर ध्यान दिया । सरकार स्वैच्छिक संस्थाओं को महिलाओं के लिये आवास की व्यवस्था करने एवं पर्यटक महिलाओं के लिये भी आवास की व्यवस्था करने के लिये अनुदान देती है । 1962 में इस क्षेत्र में एक नयी योजना शुरू की गयी जो फिर से 1920 में संशोधित की गई । संशोधित स्वरूप में इस योजना द्वारा आवासीय स्थानों के साथ शिशु पालन गृहों की स्थापना का भी प्राविधान किया गया । इस योजना के अनुसार स्वैच्छिक संस्थाओं को आवास गृहों के निर्माण के लिये 50 प्रतिशत जमीन का मूल्य और 75 प्रतिशत, निर्माण कार्य की लागत का, सरकार की ओर से अनुदान के रूप में दिया जाता है । इसके अनुसार तैयार मकान खरीद कर उसमें या किराये के भवन में भी आवास गृह चलाये जा सकते हैं । इन आवास-गृहों में हर माह 2500 रुपये तक आय पाने वाली महिलाओं को रहने की सुविधा दी जाती है ।

1972-73 से अब तक 560 आवास गृहों को अनुदान दिये जा चुके हैं। ये आवास गृह 4865 बच्चों को और 35000 कामकाजी औरतों को रहने की सुविधा दे रहे हैं (1990)।

अन्य कानूनी सुविधायें :

न्यूनतम वेतन कानून 1948 के अनुसार कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिये मजदूरी की दर निश्चित कर दी जाती है। इससे कम दर मिलने पर स्त्रियाँ काम से इन्कार कर सकती हैं या बराबर दर मिलने की माँग कर सकती हैं। सन् 1948 के कारखाना कानून के अन्तर्गत् स्त्रियों के लिये पृथक शौचालय और सफाई की अन्य सुविधायें प्रदान करने की आवश्यकता का प्राविधान किया गया है। बोझा ढोने और उठाने से उत्पन्न होने वाले खतरों को समाप्त करने के लिये कारखाना कानून और खान कानून के अन्तर्गत् भारत सरकार ने औरतों द्वारा उठाये जाने वाले बोझ का अधिकतम वजन निश्चित कर दिया है। कारखाने के किसी भी भाग में कपास बाँटने के लिये औरतों को नहीं रखा जा सकता। ऐसा करना कानूनन अपराध ठहराया गया है।

मातृत्व लाभ कानून :

इस कानून के अनुसार गर्भवती स्त्रियों को बच्चा पैदा होने के छः हफ्ते पहले व छः हफ्ते बाद तक या कुल मिलाकर 3 महीने का वेतन के साथ अवकाश लेने का अधिकार है।

बागान कानून :

कई चाय उगाने वाले राज्यों में बहुतांश में महिला मजदूर काम करती हैं। इनकी संख्या 50 प्रतिशत से भी अधिक है। बागान कानून के कारण मजदूरों को मालिकों की तरफ से जरूरी सुविधायें देना आवश्यक ठहराया गया है जिसमें काम के घन्टे नियत करना, बीच में खाने की छुट्टी देना आदि मुख्य हैं। 1981 में इस कानून को संशोधित किया गया जिसमें श्रमिकों के लिये आवासीय व्यवस्थाओं की सहूलियत को भी जोड़ा गया। इससे विस्थापित एवं दूर से आने वाली महिला मजदूरों को काफी फायदा हो सकता है। इन विशेष कानूनों के अलावा भी अन्य कानून हैं जो संगठित संस्थाओं में कार्यरत् महिलाओं को सुरक्षा एवं सेवायें प्रदान करते हैं, जैसे—क्षतिपूर्ति कानून, स्वास्थ्य बीमा कानून, सामाजिक सुरक्षा कानून आदि।

सामान्य स्त्रियों के लिये कानून एवं विकास के अन्य प्रयास :

दहेज कानून :

दहेज प्रथा के कारण स्त्रियों को बहुत अपमान एवं प्रतारणामय जीवन जीना पड़ता है; दुःखदायी यातनायें सहनी पड़ती हैं। अब तो साल में दहेज से सम्बन्धित कारणों से मरने वाली स्त्रियों की संख्या 4000 (1990) तक पहुँच गयी है। इसके कारण उसे अनेक प्रतारणाओं के साथ पति के घर में जीवन बिताना पड़ता है। इसके कारण विवाह-विच्छेदों की संख्या भी बढ़ गयी है। इस प्रथा पर नियन्त्रण की दृष्टि से दहेज विरोधी कानून 1961 बनाया गया। इस कानून को 1984 में पुनः संशोधित किया गया। इस कानून के अनुसार दहेज लेने व देने वाले के लिये दण्ड का विधान किया गया है। सजा जेल और आर्थिक दण्ड के रूप में नियत की गयी है।

इन्डीसेन्ट रिप्रेजेन्टेशन ऑफ विमेन (प्राहिबिशन) ऐक्ट, 1986

व्यावसायिक विज्ञापनों एवं अन्य विज्ञापनों में भी स्त्रियों के अनावृत्त शरीर को असभ्य ढंग से चित्रित करना लोगों को अपने बिकाऊ वस्तुओं की तरफ खींचने के लिये आधुनिक काल में आम बात हो गयी है। इसके विरोध में कई महिला संस्थाओं के प्रदर्शन हुए। फलस्वरूप इन्डीसेन्ट रिप्रेजेन्टेशन ऑफ वोमेन (प्राहिबिशन) ऐक्ट 1986 को संशोधित किया गया। इस कानून के अनुसार महिलाओं के चित्रों को असभ्य ढंग से प्रदर्शित करने वालों के लिये सजा नियत की गयी। इस कानून में स्त्रियों के चित्रों का असभ्य प्रदर्शन, किताबों, विज्ञापनों, पोस्टरों आदि में किये जाने वाले असभ्य प्रदर्शन की रोक-थाम के लिए वैधानिक उपाय किये गये।

सती प्रथा की 1987 में राजस्थान में हुई पुनरावृत्ति ने पूरे भारतीय समाज को एक बार फिर से चुनौती दी। 1987 में 1923 से 37 के बीच बनाया गया सती प्रथा उन्मूलन कानून फिर से संशोधित किया गया। इस कानून के अनुसार दहेज लेने व देने वाले के लिए सजा का विधान किया गया। इस कानून के अनुसार सती प्रथा के प्रचारकों एवं इसके पालन या बढ़ावा देने वाले किसी भी तरह के प्रयास कर्त्ता को कड़ा दंड देने का विधान किया गया है। इस प्रकार के अपराधी को 1 साल से सात साल तक की सजा एवं 5000 रुपये से लेकर 30 हजार रुपये तक का आर्थिक दंड भी निश्चित किया गया है। औरतों को शारीरिक अत्याचारों के प्रकोप से बचाने के लिए क्रिमिनल लॉ के अन्तर्गत् आने वाले कानूनों को और भी कड़ा किया गया है। द इन्डियन पीनल कोड और क्रिमिनल प्रोसीजर कोड कानूनों को संशोधित करके उनमें बलात्कार एवं

स्त्रियों के ऊपर शारीरिक अत्याचार करने के लिये अपराधी लोगों के विरुद्ध दंड का प्राविधान किया गया है। इन्डियन पेनल कोड में औरतों के ऊपर पति एवं अन्य किसी सम्बन्धी द्वारा अत्याचार के विरुद्ध भी दंड का प्राविधान किया गया। इसमें दहेज सम्बन्धी मृत्यु को एक अपराध के रूप में जोड़ा गया। स्त्रियों के विशेष मुकदमों की सुनवाई के लिए पारिवारिक न्यायालयों की व्यवस्था का प्राविधान फैमिली कोर्ट ऐक्ट 1984 में किया गया।

समाज में महिलाओं के प्रति समभाव चेतना जागृत करने के प्रयास :

महिलाओं की समस्याग्रस्त एवं शोषित स्थिति से उनका बचाव करने के लिये समाज में महिलाओं के प्रति आदर एवं बराबरी का स्थान दिलाने के लिये ज्योतिबा एवं सावित्री बाई फुले, रमा बाई, राजाराम मोहन राय, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, चैतन्य महाप्रभू, रामकृष्ण परमहंस, एनीबेसेन्ट, ईश्वरचन्द विद्यासागर एवं अन्य बहुत से समाज सुधारकों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। जनता में महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण बदले और समाज उन्हें समानता का हक देते हुए उन्हें आदर की दृष्टि से देखे, इसका प्रयास महिला आन्दोलनों द्वारा प्रारम्भ से ही किया जाता रहा है। इन प्रयासों में जुलूस निकालना, पत्र निकालना, कानून पास करवाना एवं कानून को लागू करवाने के लिये जनता में चेतना निर्माण करना, सभाओं का आयोजन करना, चर्चा गोष्ठियाँ करना, नाटक, पथ नाट्य आदि तरीकों से आम लोगों को महिलाओं के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण पैदा करना सम्मिलित रहा है।

सरकार ने भी जन-जागृति के लिये महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों की रोकथाम के लिये शिक्षा का कार्यक्रम शुरू किया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् सरकारी विभागों एवं स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा महिला सम्बन्धी कानूनों, सुविधाओं, सेवाओं, विचारों का साहित्य निर्माण एवं प्रसार किया जाता है। इस कार्य के लिये सरकार कार्यरत संस्थाओं को चेतना प्रशिक्षण शिविर, छोटी किताबें छपवाकर उन्हें बाँटने और प्रसार करने, चेतना जगाने वाले कार्यक्रमों के प्रचार के लिए 90 प्रतिशत तक खर्च का अनुदान देती है। राष्ट्रीय जनसहयोग एवं बाल विकास संस्थान में एक महिला विभाग जोड़ा गया है। इसका काम महिलाओं से सम्बन्धित समस्याओं का पता लगाना और महिला कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत् विशेषज्ञों की राय से नये कार्यक्रमों का सुझाव देना है। सरकार ने महिला एवं बाल कल्याण विभाग में महिलाओं के विकास की योजना बनाने के लिये एक विशेष समूह की स्थापना की है। इस समूह ने 9 अक्टूबर 88 से महिला राष्ट्रीय भविष्यगत् योजना की रूपरेखा का

प्रारम्भ किया। इसके सुझावों का महिला विकास कार्यक्रमों के लिये उपयोग किया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार ने एक महिला राष्ट्रीय समिति का भी गठन किया है। इसमें 19 सदस्य हैं। इसके अलावा महिला कैदियों के लिए एक विशेष राष्ट्रीय विशेषज्ञ समिति का भी गठन किया गया है।

आर्थिक विकास सम्बन्धी प्रयास

महिलाओं के आर्थिक विकास में स्वरोजगार योजनाओं का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कई ऐसी स्वतन्त्रता प्रचारक संस्थाओं ने स्वरोजगारी महिलाओं के प्रोत्साहन का कार्य किया इन संस्थाओं में 'सेवा' संस्था अहमदाबाद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस समय इस संस्था के कार्यस्वरूप पर आधारित कई संस्थायें भारत के विभिन्न नगरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत् हैं। महिला स्वरोजगार से सम्बन्धित एक केन्द्रीय निगम भी बनाया गया है। जिसकी अध्यक्षा 'सेवा' अहमदाबाद की संस्थापक एवं राज्य सभा सदस्या इला भट्ट थीं। इन निगम ने जुलाई 1982 को अपनी रिपोर्ट प्रधान मंत्री को सौंपी। इस रिपोर्ट में गरीब महिलाओं के कार्य एवं रहन-सहन की स्थितियों का विस्तृत ब्योरा है। सरकार ने महिलाओं से सम्बन्धित सुविधाओं के लिये एक केन्द्रीय संसाधन केन्द्र खोलने का भी निश्चय किया है। इस केंद्र का काम स्त्रियों के बारे में हर प्रकार के तथ्य इकट्ठा करना और उनका प्रचार करना है। देश के पच्चीस विश्वविद्यालयों में महिला अध्ययन केन्द्र खोलने के लिये विशेष अनुदान की व्यवस्था की गई है। महिला उद्यमियों के लिये भी एक केंद्रीय समिति गठित की गई है।

महिला विकास निगम

यह योजना राज्य सरकारों को महिला विकास सम्बन्धी निगमों की स्थापना के लिये मदद देने के लिये बनाई गई है। इस निगम द्वारा व्यक्तिगत् एवं संस्थागत् महिलाओं को महिला विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों का संचालन करने के लिये सरकार सुविधा प्रदान करेगी। ये कार्यक्रम विशेषतः व्यापार प्रशिक्षण लाभ एवं बाजार सम्बन्धी प्रकल्पों को महिलाओं में अधिक प्रचलित करने के लिये सहायक सिद्ध होंगे। तमिलनाडु, केरल एवं कर्नाटक के अलावा इस प्रकार के निगम आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, चंडीगढ़ एवं अन्य कई राज्यों में गठित किये गये हैं। इन सरकारी प्रयासों के अलावा भी आर्थिक स्वावलंबन की समर्थक संस्थाओं ने महिलाओं के आर्थिक विकास के कई काम किये हैं। भारतीय महिला सम्मेलन, महिला राष्ट्रीय परिषद्, श्री निकेतन, सेवासदन, सैनिक महिला संगठन, ईसाई युवा महिला संगठन,

कस्तूरबा स्मारक न्यास आदि स्वैच्छिक संस्थाओं ने महिलाओं के लिये उद्योग एवं लघु उद्योगों सम्बन्धी प्रशिक्षण कक्षाओं की शुरूआत की। गाँधी की विचारधारा से चलाये जा रहे कई ग्राम स्वराज्य प्रकल्पों जैसे प्रेम आश्रम रेनूकूट, मसूरी, गया आदि अनेक अनेक स्थानों पर महिलाओं को चर्खा आदि का प्रशिक्षण दिया गया। अन्य कई गृह उद्योगों बड़े प्रशिक्षण कक्षाएँ अलग स्तर पर अलग स्थानों पर चलाई गई। इन उद्योगों में अम्बरचर्खा से कताई, सिलाई कटाई, टोकरी निर्माण, बाँस के विभिन्न काम, चटाई निर्माण की नेवाड़ और ब्रश निर्माण तथा कहीं-कहीं मछली फँसाने के जाल आदि के प्रशिक्षण, सूत की कताई, खिलौना निर्माण, हाथ करघा की बुनाई, छपाई, रंगाई, सिल्क की बुनाई, ऊन निर्माण, धुआँ विहीन चूल्हा, बीड़ी, ब्रश, बांस की टिकली आदि कामों से फायदा हुआ, द्वितीय योजना काल में इस प्रकार के कार्यक्रमों का और अधिक विकास हुआ तथा केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने इनसे मिलते-जुलते, कतिपय अन्य कार्यक्रमों तथा बड़े उद्योगों से सम्बन्धित सहायक छोटी इकाईयों, हाथ करघा प्रशिक्षण एवं उत्पादन इकाइयों, हस्तकला प्रशिक्षण, उत्पादन तथा विक्रय इकाईयों तथा अम्बर चर्खा प्रशिक्षणालयों के निर्माण कार्य की शुरुआत की तथा इस प्रकार के कार्यक्रम चलाने वाले स्वैच्छिक संस्थाओं को अनुदान भी दिया। तृतीय योजना में इन कार्यकमों पर डेढ़ करोड़ रुपया व्यय करने का प्राविधान रहा है जिनमें से सर्वाधिक एक सौ दस लाख रुपया ऐसी 225 इकाईयों के लिये हैं जो कि स्वैच्छिक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त 25 लाख रुपया ऐसी 12 इकाइयों के लिये है जो कि बड़ी औद्योगिक इकाइयों की सहायक हैं। नौ लाख रुपया 60 हजार हस्त करघा इकाइयों के लिये, तीन लाख रुपया 61-62 में स्थापित होने वाली हस्त उद्योग की 25 इकाईयों के लिये तथा 3 लाख रुपया इसी अवधि में स्थापित होने वाली 3 जूट की बँटाई एवं बुनाई की इकाईयों के लिये था। इसके अतिरिक्त राज्यों के ऐसी उत्पादक इकाइयों से सम्बन्धित केन्द्रों पर 20 लाख रुपये की राशि केन्द्र ने अलग से खर्च करने की व्यवस्था की थी ऐसे कुछ केंद्र सरकार स्वयं भी चलाती है। इस क्षेत्र में 1982-83 में सरकार ने एक और कार्यक्रम चलाया। इस कार्यक्रम को रोजगार एवं आय बढ़ाने वाले उत्पादन केन्द्र का नाम दिया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् गरीब महिलाओं को उत्पादन एवं रोजगार सम्बन्धी प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई एवं उन्हें स्वयं ऐसे रोजगार स्थापित करने में मदद दी गई जो स्थायी रूप से महिलाओं की आमदनी का स्रोत बन सकें। यह कार्यक्रम निगमों, सरकारी विभागों, स्वैच्छिक संस्थाओं आदि की सहायता से संचालित किया गया। इसके

लिये साधन की सहायता नार्वेजियन एजेन्सी फार इन्टरनैशनल डेवलपमेंट ने दिया। 1966 में कठिनाई में पड़ी औरतों के व्यावसायिक प्रशिक्षण का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। यह प्रशिक्षण कार्यक्रम किसी भी स्वैच्छिक संस्था द्वारा चलाया जा सकता है या किसी स्थानीय संस्था जैसे पंचायत नगर परिषद्, महिला मंडल आदि द्वारा। इसके लिये 90 प्रतिशत तक का खर्चा केंद्र व राज्य सरकारें दोनों मिलकर करती हैं या अनुदान कार्यरत् संस्थाओं को देती हैं।

ड्वाक्रा योजना

इस योजना के अनुसार सरकार द्वारा स्वैच्छिक संस्थाओं को महिलाओं एवं बच्चों के विकास के लिये कार्यक्रम चलाने की सुविधा एवं प्रोत्साहन दिया जाता है। इस परियोजना के कुछ उद्‌देश्य इस प्रकार हैं :——ग्रामीण महिलाओं में उनके विकास और अधिकारों की चेतना जागृत करने के लिये महिला दलों की स्थापना को प्रोत्साहन देना; इनके समूहों द्वारा महिलाओं के आर्थिक विकास के कार्यक्रम चलाये जाने को भी आर्थिक मदद देकर प्रोत्साहित करना; उनके लिये रोजगार के सुअवसर उपलब्ध कराना और अवसरों में वृद्धि के लिये उपाय करना; महिलाओं को उत्पादक इकाईयाँ प्रारम्भ करने के लिये आर्थिक सहायता देना; सेवारत बच्चों की देख-रेख के लिये पालन एवं शिशु गृहों की व्यवस्था करना। यह कार्यकम युनिसेफ की सहायता से चलाया जाता है।

आज तक सभी राष्ट्रीयकृत बैंक और नाबार्ड भी महिलाओं को कम ब्याज दर पर उद्यम शुरू करने के लिये ऋण देता है।

स्वास्थ्य एवं मातृत्व कल्याण कार्यक्रम :

इस समय तक नियोजक एवं बुद्धिजीवी वर्ग ने स्त्रियों के स्वास्थ्य को उसके होने वाले बच्चे के स्वास्थ्य से जोड़कर देखना प्रारम्भ कर दिया है। यद्यपि इस विचारधारा का एक बड़ा श्रेयांश मनोविज्ञान के क्षेत्र में होने वाले अध्ययनों को प्राप्त है। नियोजन स्तर पर इस ज्ञान को मानकर उसका उपयोग नियोजक ही कर सकते हैं। स्किनर के व्यवहारवादी सिद्धान्त ने मानव व्यवहार स्थापन, व्यवस्थापन, निरूपण में पर्यावरण के महत्व को बहुत ही महत्त्वपूर्ण बना दिया था। इसका असर स्वास्थ्य सेवाओं पर भी पड़ा। बच्चे के विकास का पहला पर्यावरण माँ के गर्भ को माना गया और माँ का स्वास्थ्य यदि ठीक है तो बच्चा भी स्वस्थ होगा, इस विचार ने नियोजकों को औरतों के स्वास्थ्य के बारे में कदम उठाने को बाध्य किया। इसके फलस्वरूप प्रसूताओं के स्वास्थ्य कल्याण के लिये अनेक छोटी-बड़ी स्वैच्छिक कल्याणकारी संस्थाओं ने महिलाओं के स्वास्थ्य का कार्यभार सँभाला। इन संस्थाओं में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, अखिल

भारतीय क्रिश्चियन युवा महिला संस्था, भारतीय रेडक्रास सोसायटी, पूना सेवा सदन समाज, मातृ शिशु कल्याण समाज, बम्बई, अखिल भारतीय शिशु कल्याण परिषद् आदि प्रमुख रही हैं। इन प्रमुख संस्थाओं के अलावा केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा मदद प्राप्त कई स्थानीय और छोटी संस्थाओं ने भी इस क्षेत्र में कार्य किया है।

कुछ संस्थायें जो समाज कार्य प्रशिक्षण से जुड़ी थीं उन्होंने भी इस कार्य में सहयोग दिया। इन स्वैच्छिक संस्थाओं ने गर्भवती महिलाओं के स्वास्थ्य के लिये स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना की, उनके लिये प्रसूति गृहों की व्यवस्था की, दवाइयों एवं डाक्टरी इलाज की सहूलियतें प्रदान कीं। कई संस्थाओं ने औरतों को स्वास्थ्य प्रशिक्षण भी दिया। इसके लिये समूह चर्चाओं एवं मनोरंजनात्मक कार्यक्रमों का संचालन भी किया। कई युवतियों के कल्याण सम्बन्धी संस्थाओं ने युवतियों के विकास के लिये मनोरंजन एवं शिल्प कला को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और उनका संचालन युवती संगठनों द्वारा किया गया।

महिलाओं के स्वास्थ्य के लिये सरकारी सेवाओं का भी नियोजन एवं कार्यान्वयन किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले तक बहुत ही कम राज्यों ने इस दिशा में कार्य किया था। स्थानीय सरकारी स्तर पर मात्र बम्बई में और मद्रास में नाम मात्र के कार्य हुए थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के बाद इस क्षेत्र में गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया गया। सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने इन कार्यों को अपने मातहत विकसित और पालित किया। मातृत्व सम्बन्धी सेवाओं के लिये विश्व स्वास्थ्य संगठन एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ के क्रियाकलापों ने बहुत गहरा प्रभाव डाला। मातृत्व केन्द्रों को इन संस्थाओं के द्वारा निश्चित शर्तों पर दवायें, उपकरण एवं आहार आदि उपलब्ध होते थे। उस समय युनिसेफ द्वारा 700 ऐसे केन्द्रों को सहायता दी जाती थी। इन संगठनों की सहायता से इस क्षेत्र के संगठनों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला।

1956 के सरकारी आर्थिक वर्ष के समापन तक विभिन्न राज्य सरकारों ने केन्द्रीय सहयोग से 674 मातृत्व उपकेन्द्रों की शुरूआत ग्रामीण क्षेत्रों में की। इसके अतिरिक्त रेलवे, प्रतिरक्षा एवं श्रम आदि मंत्रालयों ने भी अपने क्षेत्रों में मातृत्व केन्द्रों की स्थापना तथा संचालन का कार्य किया। 1955 में बम्बई प्रदेश सरकार द्वारा मातृत्व एवं शिशु स्वास्थ्य कार्यालय की स्थापना तथा तत्पश्चात् केन्द्रीय सरकार, विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा युनिसेफ के संयुक्त प्रयास से प्रारम्भ मातृत्व एवं शिशु स्वास्थ्य अभियान का गर्भवती महिलाओं के कल्याण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य मंत्रालय

ने मातृत्व केन्द्रों की संख्या 4500 कर दी और प्रत्येक के मातहत शहरों में दस हजार से 25 हजार की जनसंख्या रखो गई। इनमें से ढाई हजार को 'युनिसेफ' की सहायता प्राप्त थो। अन्य मंत्रालयों ने भी इस दिशा में प्रगति की। 1961 तक ग्रामीण क्षेत्रों में 2916 ऐसे केन्द्र खुल गये थे। रेडक्रास सोसायटी ने भी अधिक केन्द्र तथा गृहों के संचालन की व्यवस्था की। कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक न्यास ने भी अनेक ग्रामीण मातृत्व सेविका केन्द्र खोले। तृतीय पंचवर्षीय योजना में हर ग्रामीण प्रखण्डों में कम से कम एक ऐसे केन्द्र की स्थापना का लक्ष्य रखा गया। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य कार्यक्रमों एवं सेवाओं के अन्तर्गत् प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना की गई। 1980 तक पूरे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में 1940 स्वास्थ्य केन्द्रों की सहायता से महिला स्वास्थ्य सेवायें प्रदान की जाती रही हैं। इनके अलावा 121864 उप स्वास्थ्य केन्द्रों, 1666 सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों एवं 5.86 प्रशिक्षित दाइयाँ भी स्वास्थ्य सेवाओं के संचालन में कार्यरत् रही हैं। इन सभी केन्द्रों द्वारा महिलाओं की सामान्य स्वास्थ्य सम्बन्धी जरूरतें भी पूरी की जाती हैं। भविष्य में स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं को और भी विस्तृत करने का सुझाव है। इन सुझावों के अनुसार निकट भविष्य में सरकार द्वारा प्रत्येक 30,000 जनसख्या पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और 5000 पर एक उपकेन्द्र खोले जाने का प्रयास किया जा रहा है। यह प्रयास है कि सन् 2,000 तक प्रत्येक 30,000 जनसंख्या पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोल दिया जाये।

परिवार नियोजन भी महिला विकास एवं महिलाओं के स्वास्थ्य से जुड़ा हुआ है। इस क्षेत्र में भी स्वैच्छिक एवं सरकारी दोनों ही प्रकार की संस्थाओं द्वारा कार्य हुए हैं और हो रहे हैं। महिलायें परिवार संचलक होती हैं। उनके सुख-दुःख पर परिवार का सुख अवलम्बित रहता है। महिलाओं के गर्भधारण एवं प्रजनन की स्थिति को उनके लिये स्वास्थ्यप्रद बनाने, परिवार में बच्चों की संतुलित संख्या रखने व महिलाओं के सुस्वास्थ्य की अधिक गुंजाइश पैदा करने के उद्देश्य से परिवार कल्याण नियोजन की योजना चलायी जा रही है। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नियोजन समिति, पारिवारिक स्वास्थ्य अध्ययन एवं प्रगति समाज, जिसका नाम अब परिवार नियोजन समाज हो गया है, परिवार नियोजन परिषद् तथा भारतीय रेडक्रास सोसायटी आदि इस क्षेत्र के कार्यों के प्रारम्भिक उद्गम हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रम के लिये 65 लाख रुपये की व्यवस्था की गई थीं। इस योजना की अवधि में ग्राम क्षेत्रों में 21 तथा शहरी क्षेत्रों में 126 परिवार नियोजन केन्द्र देश भर में खोले गये। इसके अतिरिक्त पहले से

कार्यरत् 205 परिवार नियोजन केन्द्रों को आर्थिक सहायता दी गईं, विज्ञापन, पत्रिकायें आदि छपवाकर भी बाँटी गईं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 363·25 लाख रुपये कार्यरत् संस्थाओं के लिये, 15·75 लाख रुपये प्रशिक्षण के लिये 50 लाख रुपये गवेषणा के लिये तथा 8 लाख रुपये संगठन के कार्यों के लिये खर्च किये गये। इस अवधि में 1864 ग्रामीण तथा 330 शहरी स्वास्थ्य केन्द्रों पर भी परिवार नियोजन सेवाओं की व्यवस्था की गई। परिवार नियोजन कार्यक्रमों के प्रचार एवं प्रसार के भी कई प्रयत्न किये गये। तृतीय पंचवर्षीय योजना में 50 करोड़ रुपये का खर्च निश्चित किया गया था। जल्दी बच्चे होने और अधिक बच्चे होने से औरतों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ता है। इस कुप्रभाव से स्त्रियों के स्वास्थ्य की रक्षा करने हेतु सरकार ने यह निश्चित किया कि 1970 तक लगभग आधे से अधिक उत्पत्ति-आयु के दम्पतियों में से 41·9 प्रतिशत को विभिन्न गर्भ निरोधक तरीकों के प्रयोग द्वारा गर्भ धारण से बचाया जा सकेगा। परिवार कल्याण के क्षेत्र में स्वास्थ्य सम्बन्धी एवं स्वास्थ्यवर्धक गर्भपात कानून महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अन्तर्गत् अस्वास्थ्यकर गर्भ को गिराने की अनुमति दी गई है। इसे मेडिकल टरमिनेशन ऑफ प्रेगनेन्सी ऐक्ट 1961 के नाम से जाना गया। स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय ने छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत् स्थान प्रकल्प के नाम से परिवार कल्याण सेवाओं को और विस्तृत एवं व्यापक रूप से लोगों तक पहुँचाने के लिये इसे पिछड़े इलाकों में लागू किया। यह कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय दानी संस्थाओं की मदद से चलाया गया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य पिछड़े इलाकों में परिवार नियोजन सम्बन्धी सेवायें पहुँचाते हुए उन इलाकों में इससे सम्बन्धित ढाँचा खड़ा करने का था ताकि भविष्य में इन जगहों पर परिवार कल्याण सम्बन्धी सेवाओं का सरल रूप से संचालन हो सके।

परिवार नियोजन के लिये महिलाओं को प्रेरित करने के लिये भी सरकार ने विज्ञापन आदि पर जोर दिया एवं विचार गोष्ठियों के संचालन के लिये ऐच्छिक संस्थाओं को मदद दी। सरकार की सहायता से दो पत्रिकायें 'हमारा घर एवं 'जन स्वास्थ्य रक्षक' भी निकाली जा रही हैं।

शहरों में राजकीय एवं स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा चलाये जा रहे महिला कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों में परिवार नियोजन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

परिवार नियोजन के स्थान पर अब इसका नाम 'परिवार कल्याण' रखा गया है। केन्द्रीय सरकार के स्वास्थ्य केन्द्रों में परिवार नियोजन केन्द्र की व्यवस्था है। नगर निगम द्वारा भी स्वास्थ्य केन्द्रों में परिवार नियोजन केन्द्रों का संचालन किया जा रहा है। परिवार नियोजन के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी होने वाली समस्याओं की चिकित्सा की पूरी व्यवस्था इन परिवार नियोजन केन्द्रों में रहती है। इस कार्यक्रम के कारण महिलाओं को घर में हर वर्ष बच्चे पैदा करने से राहत मिली है और वे अब सामाजिक कार्यों एवं व्यक्तिगत विकास की ओर अधिक ध्यान दे सकती हैं। किन्तु इन सबके लिये समाज में अभी ठीक से सुविधायें नहीं प्राप्त हैं। अतः कई महिलाओं को मानसिक उलझन का भी सामना करना पड़ता है।

राजनीति एवं महिलायें :

भारतीय इतिहास में प्रत्यक्ष राजनीति में भाग लेने वाली महिलाओं के उदाहरणों की कमी नहीं है। स्वतंत्रता आन्दोलन में भी महिलाओं ने पुरुषों के साथ भाग लिया था। किन्तु वस्तुस्थिति का यदि परीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि एक दो महिलाओं को छोड़कर बाकी सभी निर्णायक पद पुरुषों के ही जिम्मे पड़े हैं। 1960 के प्रारम्भ में भारत में 30 महिला न्यायाधीश थीं और लोकसभा में बाईस महिलायें सदस्य थीं। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित कई वर्षों तक लगातार रूस, इंगलैंड एवं स्पेन में भारत की उच्चायुक्त रहीं; 1953-54 में वे संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षा भी बनी। श्रीमती इन्दिरा गाँधी पहले कांग्रेस की अध्यक्षा बनीं और बाद में 1966 में वे भारत की प्रधानमंत्री बनी। उनके शासन काल में राष्ट्रीय स्तर पर महिला समिति बनाई गयी एवं महिलाओं को राजनीति में कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रखा गया। उन्होंने विशेषकर गरीब महिलाओं के लिये विशेष कार्यक्रमों के बनाये जाने पर जोर दिया। भारत की राजनीति में राजकुमारी अमृतकौर, सुशीला नैय्यर एवं पद्मजा नायडू के नाम भी उल्लेखनीय हैं। भारत के ग्रामीण विकास में समुदाय विकास कार्यक्रमों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पंचायती राज में औरतों की सदस्यता अनिवार्य रखी गई किन्तु नाम के लिये। पिछले दशक में स्त्रियों की निर्णयात्मक भागीदारी को फिर से महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा है। इस दिशा में प्रयास भी प्रारम्भ है। राजीव गाँधी ने पंचायतों में 30 प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिये आरक्षित करने का सुझाव रखा था। सत्ता विकेन्द्रीकरण एवं पंचायती राज संस्थाओं में 30 प्रतिशत महिलाओं के सहभागी होने से निश्चित ही महिलाओं की निर्णयात्मक शक्ति को सक्रियता मिलेगी और वे समाज के विकास में अधिक योगदान दे सकेंगी। इस प्रयास के कारण उनकी राजनीतिक

स्थिति भी सुधरेगी और मजबत होगी। कई राज्यों में यह कार्यक्रम कार्यान्वित भी हुआ है।

तीन मई 1989 को पंचायती राज विभाग की ओर से महिलाओं की निर्णय स्तर पर साझेदारी को बढ़ावा देने के लिये महिलायें एवं पंचायती राज विषय पर एक केन्द्रीय बैठक बुलाई गई थी। इस सभा में पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद् की सदस्याओं, सभापतियों एवं अन्य सम्बन्धित महिलाओं ने भाग लिया।

राष्ट्रीय महिला निगम की प्रस्तावना :

1989 में राष्ट्रीय महिला निगम कानून पारित हुआ। अभी निगम घोषित होने वाला है। (1990 जनवरी)

वर्तमान स्थिति एवं सामाजिक संगठनों के प्रयास :

भारत में महिलाओं की उन्नति के लिये किये गये प्रयासों के विस्तृत अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस क्षेत्र में राजकीय एवं स्वैच्छिक संस्थाओं ने सराहनीय प्रयास किये हैं। इन प्रयासों के फलस्वरूप आज शहरों एवं गाँवों में स्त्रियों का जीवन स्तर उन्नत हुआ है। शहरों में उच्च वर्ग एवं मध्यम वर्गों में तो 50 वर्ष की आयु तक की शिक्षित महिलाओं का प्रतिशत 70 से 80 तक पहुँच गया है। लेकिन कुल मिलाकर देखा जाये तो महिलाओं में शिक्षा का प्रतिशत बहुत ही कम केवल 11 प्रतिशत है। 10 से 11 प्रतिशत महिलायें ही लिखना पढ़ना जानती हैं।

कार्यालयों में, उद्यमों में, कारखानों में, स्कूल एवं विद्यालयों में, सभी स्तरों पर महिलायें सेवारत् हैं। इसके अलावा खेतों में, तकनीकियों के प्रयोग में भी औरतों ने हिस्सा लेना प्रारम्भ कर दिया है। अभी तक औरतें सिर्फ रक्षा विभाग के स्वास्थ्य विभाग में ही भर्ती की जाती थीं अब सेना में भी उनकी भर्ती प्रारम्भ हो गई है। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ महिलायें कार्यरत् न हों। कई व्यवसायों में जिनमें महिलाओं को कमजोर समझकर नहीं रखा जाता था, अब कानूनी तौर पर उनकी भर्ती के रास्ते खुल गये हैं और महिलायें कार्यरत् हैं। हर व्यवसाय के लिये कार्य पाने वाली उत्सुक महिलाओं की पंक्ति लगी रहती है। नर्सिंग, कार्यालय कर्मचारी, पुलिस, सिनेमा, नृत्य शालायें आदि अनेक कार्यों में लड़कियाँ तेजी से रुचि लेने लगी हैं एवं इन कामों में सेवारत् होने को गर्व का कारण समझती हैं। शिक्षा, विमान उड़ान जैसे कठिन कार्यों को भी अब औरतें सीखती हैं और उनमें कार्यरत् भी हैं। पर्वतारोही महेन्द्रपाल एवं दौड़ाक 'उषा' के नाम महिलाओं के गर्व के कारण बने हैं।

उद्यमी औरतों में भी अब प्रतियोगिता बढ़ रही है। छोटे-छोटे स्वरोजगार इकाईयों के सहारे जीविकायापन के उदाहरण भी बढ़ रहे हैं।

मध्यम परिवारों में विधवाओं, लड़कियों एवं अन्य महिलाओं की स्थिति बहुत हद तक सुधर गई हैं। लड़कियों को अब सभी दृष्टियों से उपयोगी समझा जाता है। महिला कल्याण के क्षेत्र में प्रारम्भ से समझी जाने वाली समस्यायें आज की समस्यायें नहीं रहीं पर अन्य कई नई समस्याओं ने जन्म ले लिया है।

शहरों में पर्दा प्रथा बहुत कम हुई है पर गाँवों में बहुत अंश में अभी भी बनी हुई है। गरीब वर्ग की अधिकांश महिलायें दिन भर काम में लगी रहती हैं। उनकी स्थिति में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। प्रशिक्षण एवं शिक्षा के क्षेत्र में दी गई सुविधायें उच्च एवं मध्यम वर्ग की लड़कियों एवं महिलाओं को शिक्षित कर सकी हैं; गरीबी से निकलने के अधिकार के बिना बाकी सभी अधिकार निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं।

सामान्य अधिकारों के वातावरण के बावजूद भी महिलाओं को व्यावहारिक जीवन में गौण स्थान प्राप्त है। बड़ी संख्या में पुरुषों द्वारा शोषण से ये अत्याचार का शिकार होती हैं। सती प्रथा, बाल विवाह, देवदासी, वेश्यावृत्ति, विज्ञापनों में देह के प्रदर्शन, नौकरियों में यौन संबंधी टीका टिप्पणियों की शिकार, यौन अत्याचार, बलात्कार, बहुओं को जलाना, गर्भ में ही बालिका की हत्या, जैसे नारी विरोधी ज्ञघन्य क्रिया-कलाप समाज में चेतना बढ़ने के बाद भी मुंह उठाये हुये हैं। प्रत्येक वर्ष 4000 बलात्कार के मामले रिकार्ड किये जाते हैं। इनमें पुलिस के द्वारा बलात्कार, गरीब औरतों पर बलात्कार, सरकारी कर्मचारियों द्वारा, मिलिटरी के लोगों द्वारा बलात्कार, घरों में पत्नी के पति के अन्यथा लोगों द्वारा बलात्कार आदि मुख्य प्रकार हैं। छोटी उम्र की लड़कियों का पिता या अन्य सम्बन्धियों द्वारा बलात्कार भी इसमें शामिल है। दहेज के लिये औरतों को जलाने की घटनायें भी बढ़ रही हैं। सिर्फ दिल्ली में एक स्थल में दहेज के कारण हुई मृत्यु संख्या दो सौ से भी अधिक पंजीकृत की गई। पतियों द्वारा औरतों को पीटने की घटनायें तो एक प्रकार से सामान्य मानी जानी हैं।

घर गृहस्थी में लगी औरतें तो साधारणतः अपनी परम्परागत भूमिकाओं से कुछ हद तक समायोजन स्थापित कर चुकी होती हैं फिर भी उन्हें बच्चों की देखरेख एवं रिश्तेदारों, दोस्तों की मेहमानदारी के लिये बदलते मूल्यों एवं नई तकनीकियों एवं विचारों के अनुरूप व्यवहार करने में एक प्रकार के सांस्कृतिक-आर्थिक द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है। आर्थिक रूप से सम्पन्न स्त्रियाँ

प्रायः शिक्षित होती हैं और उनके पति आधुनिक प्रशासन के ढाँचे वाले कार्यालयों एवं पदों पर काम करते हैं। इन परिस्थितियों में औरतों से यह अपेक्षा की जाती है कि रिश्तेदारों की खुशी के लिये वे एक तरफ़ तो परम्परागत् व्यवहार करें और कार्यालयों एवं पतियों की कार्यकारी उन्नति के लिये वे आधुनिक ढंग का व्यवहार करें। इन दो प्रकार की सामाजिक अपेक्षाओं का दबाव उनमें मानसिक द्वन्द्व पैदा करता है और वे हीन भावना से ग्रसित होने लगती हैं। कई बार अपने पतियों की उन्नति के लिये उन्हें कार्यालय के उच्च पदाधिकारियों को प्रसन्न करने के लिये कई ऐसे व्यवहार करने पड़ते हैं जिनको वे नैतिक रूप से पसन्द नहीं करती हैं।

घरों में रहने वाली शिक्षित महिलायें कामकाजी स्त्रियों के प्रति ईर्ष्यालु भी होती हैं एवं एक प्रकार की हीन भावना से ग्रसित होती हैं। प्रमिला कपूर ने अपनी पुस्तक कामकाजी भारतीय नारी में लिखा है "आर० एस० के विशेष अध्ययनों से पता चलता है कि नौकरी नहीं करने वाली महिलायें नौकरी करने वाली स्त्रियों से घृणा करती हैं तथा यही समझती हैं कि प्रत्येक नौकरी करने वाली स्त्री का अपने पुरुष सहकर्मियों के साथ अवैध सम्बन्ध होता है। चूंकि नौकरी करने वाली स्त्रियाँ अधिक साज-शृंगार करती रहती हैं इसलिए दूसरी स्त्रियां उनसे डाह करती हैं। उन्हें यह भय भी सताता है कि उनके पति भी कहीं अन्य स्त्रियों के आकर्षण में न आ जायें। उन्हें नौकरी करने वाली स्त्रियों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, रहन-सहन, के उच्च स्तर, आर्थिक स्वावलम्बन निजी आय तथा उनकी स्वतन्त्रता से जलन होती है। स्वयंहीनभावना से ग्रस्त होने की वजह से वे नौकरी करने वाली स्त्रियों की निन्दा और बुराई करती रहती हैं।"

शहरों की चमक दमक एवं बढ़ती हुई महँगाई के कारण एवं विभक्त कुटुम्ब प्रणाली के कारण भी स्त्रियों को गृहस्थी चलाने के लिए कई बार कोई मददगार नहीं मिलता और उन्हें अकेले ही सभी गृहस्थी के काम करने पड़ते हैं। इन कामों की आवश्यकता तो मूलभूत होती है किन्तु इन कामों को काम नहीं समझा जाता न ही इनका आर्थिक मूल्यांकन होता है। कई बार ऐसे अधिक काम के भार से औरतें कई खतरनाक बीमारियों जैसे टी० बी० आदि का शिकार भी हो जाती हैं। पुरुषों के बाहरी औरतों के साथ सम्बन्धों के कारण एवं एकाकीपन के कारण भी गृहस्थ स्त्रियों में मानसिक तनाव एवं हीन भावनायें पनपती हैं। नई जरूरतों के कारण दहेज की दरें भी बहुत बढ़ गई हैं। जो औरतें काम नहीं करती हैं उनके ऊपर दहेज सम्बन्धी अत्याचार भी अधिक होते हैं।

एकाकीपन के कारण स्त्रियाँ पतियों के साथ घूमने जाने की इच्छा रखती हैं किन्तु पति के काम से थके आने के बाद उन्हें अधिकांशतः अपनी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है।

बाहर कार्य करने की इच्छा एवं कुशलता के बाद भी उन्हें नौकरी नहीं मिलती है। कमला भशीन एवं निधत सईद खाँन ने नारीवाद पुस्तक में इस समय की स्त्रियों की समस्याओं के बारे में लिखा है—

आज भी दुनिया में शायद ही कोई ऐसा समाज हो जहाँ स्त्री-पुरुष में पूर्ण समानता हो, उन्हें बराबर के अधिकार, अवसर, इज्जत व सत्ता प्राप्त हो। हिन्दुस्तान व पड़ोसी देशों में तो लगभग हर क्षेत्र में स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं। समाज में व घर के अन्दर भी उन पर तरह-तरह के दबाव व बन्धन हैं। बहुत से परिवारों में तो बेटी का पैदा होना अपशकुन माना जाता है। आज भी अधिकांश घरों में लड़कों को पढ़ने भेजा जाता है और लड़कियों को घर के काम में जोता जाता है। बाहर नहीं जाना, अकेले नहीं जाना, ऊँची आवाज में बातें नहीं करना, खेल नहीं खेलना मुँह खोलकर सबके सामने नहीं जाना उनके लिये हिदायतें हैं। सीखने समझने, आगे बढ़ने का हर दरवाजा गोया उनके लिये बन्द है। फूल जैसी बच्चियाँ धूप, हवा, पानी की कमी से वक्त से पहले ही मुरझा जाती हैं।

स्त्रियाँ दोहरी नैतिकता का शिकार हैं। जो पुरुषों के लिये जायज है उनके लिये नाजायज। स्वतंत्रता का अधिकार तो उन्हें है ही नहीं। उन्हें हमेशा किसी पुरुष के अधीन रहना पड़ता है। पति की मारपीट और मर्दों की छेड़खानी, बलात्कार का डर उनकी किस्मत है। काम करने की जगह उनके साथ भेदभाव किया जाता है। घर और देश के कानून उन्हें बराबरी का हक नहीं देते। सभी धर्म पुरुष को श्रेष्ठ मानते हैं।

महिला मुक्ति आन्दोलन :

इस प्रकार की विकट स्थितियों से महिलाओं को निकालने के लिये पिछले दशक में दो प्रकार के नेतृत्व एवं विचारधाराओं के लोगों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। एक तो महिला मुक्ति संगठनों एवं दूसरे रचनात्मक सामाजिक कार्यकर्ताओं ने महिला मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत इंग्लैंड में स्टुअर्ट मिल के महिलाओं के लिये मताधिकार की मांग के बाद महिलाओं द्वारा इस प्रयास को आगे बढ़ाने वाली गतिविधियों से 1823 के लगभग हुई थी। कालांतर में ये आन्दोलन नौकरी में समानता, लेजिस्लेटिव असेम्बली में महिलाओं के लिये जगहों की मांग से सम्बद्ध हुये। हाल के लगभग दो-तीन दशकों में यह

आन्दोलन 1960 के लगभग कई देशों में एक क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तित हुआ। इन आन्दोलनों का दर्शन मानव विकास के लिये क्रान्ति एवं नागरिक अधिकारों की मांग के दर्शन से ही उत्पन्न हुआ था। 1960 के समय अमेरिका के अश्वेत संगठन एवं योरप के वाम समुदाय और फ्रांस की 1968 की गतिविधियों ने इन पर काफी प्रभाव डाला। इन आन्दोलनों के पीछे महिलाओं के व्यक्तिगत् जीवन के कटु अनुभव थे। इनमें यौन सम्बन्धों के अनुभव, समयौन सम्बन्ध, सम्बन्ध विच्छेद आदि मुख्य थे। इनके आधार पर ही मुक्ति आन्दोलनों के विषय समयौन सम्बन्धों की मान्यता, सम्बन्ध विच्छेद कानून में संशोधन और महिलाओं को गर्भपात के अधिकार से सम्बन्धित थे। एकलिंगी स्वायत्तता वाले परिवार, पुरुषों की बराबरी के काम, एक पत्नीव्रत आदि भी इन मुक्ति आन्दोलनों के विषय रहे हैं। भारत और बाकी एशियाई देशों पर भी इनका प्रभाव पड़ा। चीन, जापान, मलेशिया, हांगकांग, जर्मनी, इटली, फ्रांस, सिंगापुर आदि देशों में भी इन विषयों से सम्बन्धित कानून पास हुये और स्त्री मुक्ति आन्दोलनकारी संगठनों की स्थापना हुयी। कमला भशीन के अनुसार आज के नारीवाद के अन्तर्गत् घर के भीतर स्त्री पर पुरुष के दबाव और अधिकार के विरुद्ध संघर्ष परिवार द्वारा उनके शोषण के विरुद्ध संघर्ष, कार्य स्थान में उनकी गिरी हुई स्थिति, समाज, संस्कृति और धर्म के द्वारा दिये गये नीचे दर्जे के विरुद्ध संघर्ष तथा बच्चे पैदा करने और पालने के साथ-साथ उत्पादन के दोहरे बोझ के विरुद्ध संघर्ष भी शामिल है। इसके अलावा नारीवाद इस धारणा को भी चुनौती देता है कि चूँकि स्त्रियों और पुरुषों के शरीर में थोड़ा फर्क है इसलिये उनके कार्य स्थिति तथा स्वभाव में फर्क जरूरी है।'

आज लाखों औरतें राजनैतिक दलों की कृषक संगठनों, ट्रेड यूनियनों, पर्यावरण आन्दोलनों, मानव अधिकार सम्बन्धी संगठनों आदि की सक्रिय सदस्य हैं व उनमें से कई इन सभी संगठनों में नारीवादी सोच पेश करती हैं। औरतों की विशेष समस्याओं को उठाती हैं और कानूनों में माँगों के अनुकूल सुधार लाने प्रयत्न एवं लोगों में जागृति का प्रयास हर सम्भव तरीके से करती हैं। वे औरतों के ऊपर होने वाले अत्याचारों का दमन व उनसे उनका बचाव करने वाले दबाव समूह बना कर सकती हैं। इन नारी मुक्ति संगठनों में सेवा गुजरात, गांधी शान्ति केन्द्र, जागोरी, बहनें, स्त्री मुक्ति आदि मुख्य हैं। इन संगठनों की मुख्य संचालिकाओं के नामों में श्रीमती इला भट्ट, श्रीमती कमला भशीन, श्रीमती मृणाल पाण्डे, रजियाबेगम आदि मुख्य हैं। राजनैतिक दलों की मुख्य महिलायें

श्रीमती प्रमिला दण्डवते, श्रीमती मन्जू सुरेन्द्र मोहन लीलाताई चितले, मेनका गांधी, सरोज खापर्डे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। फिल्मों में स्त्री मुक्ति की भूमिका निभाने वालों में स्मिता पाटिल एवं शबाना आजमी मुख्य हैं।

महिलाओं की उन्नति के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1990 को महिला वर्ष घोषित किया था और फिर उसे महिला दशक में परिवर्तित कर दिया था। महिलाओं के स्वास्थ्य के लिये, उनकी राजनैतिक स्थिति में सुधार के लिए संघ ने समय-समय पर कई सूचनायें घोषित की हैं। 1902 और 1910 के बीच हुयी सभाओं में शादी-ब्याह के कानूनों एवं 'अवैध व्यापार' के कानूनों के दमन के बारे में चर्चा हुई। 1935 में लीग ऑफ नेशन्स ने औरतों की स्थिति के बारे में कमीशन की नियुक्ति पर चर्चा की पर युद्ध के कारण वह स्थगित हुआ। बालिकाओं की स्थिति में सुधार की दृष्टि से सार्क की ओर से 1988 में बालिका वर्ष के निमित्त गोष्ठी का आयोजन दिल्ली में किया गया था।

इन संस्थाओं एवं संगठनों ने मानसिक दृष्टिकोण को महिला समानता के पक्ष में मोड़ने के लिये कई कार्य किये :—

1. आर्थिक स्वावलम्बन के लिये छोटे एवं बड़े स्तर पर उद्योगों की व्यवस्था करना और उनमें महिलाओं को काम देना;
2. हर स्तर पर महिला संगठन स्थापित करना;
3. संगठन के द्वारा अत्याचार के विरुद्ध संगठित दबाव से अत्याचार को समाप्त करना;
4. महिला समस्या सम्बन्धी चर्चा का सत्र संचालित करना;
5. समाज में महिलाओं के लिये एक सभ्य एवं सुसंस्कृत पर्यावरण पैदा करने के लिये लोक कलाओं के माध्यम से सामाजिक जागृति लाना;
6. महिलाओं द्वारा महिलाओं की रक्षा तथा सुरक्षा का प्रबन्ध करना।

रचनात्मक कार्यकर्ताओं के कार्य :

पिछले दो दशकों में भारत के युवा वैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों में मानव अधिकारों के प्रति एक नयी चेतना का विकास हुआ है। अमीर-गरीब के अन्तर, महिलाओं एवं मजदूरों के शोषण, बच्चों के ऊपर अत्याचार, औद्योगीकरण एवं यांत्रिक आधुनिकीकरण के पर्यावरण पर होने वाले कुप्रभावों जैसे विषयों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया है। इससे प्रभावित होकर इस वर्ग के लोगों ने इन समस्याओं के निराकरण की दिशा में रचनात्मक कार्य प्रारम्भ किये हैं। इन प्रयासों की मुख्य मान्यतायें रही हैं :—

आधुनिकीकरण प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित होना चाहिये। स्थानीय संसाधनों का प्रयोग महिलाओं की उन्नति एवं आर्थिक स्वावलंबन का आधार हो। महिला विकास ग्राम विकास से सम्बन्धित हो। सहज एवं स्थानीय माध्यमों से तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाय। सबसे निर्धन को सबसे पहला अवसर मिले।

विचारों की समर्थक संस्थाओं ने स्थानीय प्रकल्पों द्वारा गाँव एवं शहरी झोपड़ पट्टियों में रहने वाली महिलाओं को साधारण प्रशिक्षण देकर उन्हें स्वास्थ्य सेविकायें, सहकारी कृषक, सहकारी बुनकर, ट्रैक्टर चालक, रोप तैयार करने वाली, वृक्ष रक्षक आदि बनाया। उनके प्रशिक्षण से गाँव एवं बस्ती का कल्याण करते हुये उनकी आर्थिक स्थिति को ऊँचा करने का भी प्रयास किया। मनोरंजन के लिये सांस्कृतिक एवं महिला मण्डलों को स्थापना की। इन संस्थाओं में तिलोनिया इंस्टीच्यूट ऑफ़ सोशल वर्क। इण्डियन इंस्टीच्यूट ऑफ़ यूथ वेलफेयर, नागपुर रामकृष्णमिशन आदि मुख्य हैं। मुख्य नेतृत्व देने वालों में रागिनीबहन (रेनूकूट), मेधा पाटेकर, बेकर राय राजस्थान, डॉ० मिसेस अरोके अहमदनगर, मनोहर गोलपेलवार, नागपुर डॉ० मिसेस प्रकाश आमेट, डॉ० मिसेस बंग, गढ़चिरौली आदि मुख्य हैं।

महिला विकास, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर :

महिलाओं को समानता के अधिकार दिलाने के लिये 19वीं सदी में सभी देशों में महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये। इंग्लैंड में महिलाओं की शिक्षा के लिये 1906 में कालेज खोले गये, 1928 में उनको मत देने का कानूनी अधिकार प्राप्त हुआ। विवाहित, अविवाहित एवं पढ़ी-लिखी औरतों में मत देने एवं कौंसिल की सदस्य बनने के बारे में जो भेद किया गया था उसे समाप्त किया गया। विवाहिता महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार, अविवाहित, विधवाओं एवं सम्बन्ध विच्छेदित औरतों की एक व्यक्ति के नाते मिलने वाले अधिकार के समान ही अधिकार दिया गया 1947 में कारखानों में काम करने वाली औरतों के लिये फैक्टरी ऐक्ट के अनुसार काम का समय 10 घंटे निश्चित किया गया। खदान कानूनों ने महिलाओं की नियुक्ति वर्णित की। ट्रेड यूनियनों की सदस्याओं की हैसियत से कई और सुविधायें वस्त्र बनाने के कारखाने में दी गई। 1960 तक आयुर्विज्ञान में औरतों की भरती एवं नियुक्ति को स्वीकृति मिली। लैंगिक असमानता कानून 1919 के अनुसार महिलाओं को कई व्यवसायों में काम मिलने लगा। 1955 में रायल कमिशन ने समान वेतन की योजना लागू की। लेकिन सुरक्षा कानून, पेंशन आदि में अभी भी असमान व्यवहार किया जाता है। मातृत्व आदि की सुविधायें भी उन्हें मिलती

हैं। सर्वप्रथम अमेरिका में औरतों को सभी व्यवसायों में प्रशिक्षित होने एवं नौकरियों में लगने का अवसर प्राप्त हुआ 1931 से लड़कियों के लिये माध्यमिक शिक्षण निःशुल्क कर दिया गया। 1949 में पहली बार महिला डाक्टर बनी। 1820-90 के बीच विवाहित औरतों को एक व्यक्ति की हैसियत से सम्पत्ति अधिकार के कई कानून पास किये गये। 1880-90 के अन्तर्गत् समान वेतन कानून कई राज्यों में लागू हुआ। 1964 में समान रोजगार के मौके का कानून पास हुआ इसमें महिलाओं को सभी कामों के लिये नियुक्ति की स्वीकृति मिली। 1920 में महिलाओं को मत देने व सरकार की सदस्य बनने के अधिकार प्राप्त हो गये थे। महिलाओं की उच्च पदों पर नियुक्ति अभी एक तिहाई की संख्या में है।

इसी प्रकार के कानून जर्मनी, फ्रांस, इटली, रोम, स्पेन आदि में भी पास हुये और काम में समानता, मत देने का अधिकार, व्यवसायों में समान कार्य, समान वेतन आदि की सुविधायें महिलाओं को मिलने लगीं।

अरब देशों में लेबनान, सीरिया, संयुक्त अरब आदि देशों में भी लड़कियों को शिक्षण की सुविधा है। 1929 में उच्च शिक्षा की छूट मिली। मत देने का अधिकार पहले सिर्फ मैट्रिक पास लड़कियों को ही था लेकिन 1951 में इज़राईल ने समान अधिकार कानून पास किया और दो साल के लिये राष्ट्रीय सेवाओं में महिलाओं के भाग को आवश्यक भी बताया। मुसलमान देशों में महिला सम्पत्ति के अधिकार कुछ संकीर्ण ही रहे।

भारत, चीन एवं पाकिस्तान की अपेक्षा वर्मा, थाईलैंड इन्डोनेशिया आदि देशों में महिलाओं की स्थिति अधिक स्वतंत्र थी। उन्हें सम्पत्ति के अधिकार पहले से ही थे। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने इन देशों में महिलाओं की उन्नति के लिये कई प्रयास किये। वर्मा में 1935 में मताधिकार एवं सरकार में औरतों का स्थान निश्चित किया गया। थाईलैंड में भी इसी समय ये अधिकार महिलाओं को मिले। चीन में तो कम्युनिस्ट पार्टी का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य महिलाओं को स्वाधीनता दिलाना रहा है। उन्हें प्रारम्भ से ही सेना में भर्ती, मताधिकार आदि प्राप्त थे। बीसवीं सदी के पाश्चात्य आन्दोलनों का असर इन पर भी पड़ा और कार्य एवं शिक्षा के लिये इन्हें अधिक सहूलियतें मिलीं।

जापान में औद्योगिक प्रगति के साथ महिलाओं की स्थिति में बहुत अन्तर हुआ। उन्हें शिक्षा के अवसर मिले और कारखानों में कार्यरत् महिलाओं की सुविधा के लिये कई कानून बनाये गये। सभी व्यवसायों में आज जापान में स्त्रियों को कार्यरत् होने की स्वतन्त्रता है और वे हैं भी। 1947 के कानून ने

उन्हें राजनैतिक समान हक भी दिये हैं। कार्यरत् महिलाओं को मासिक अवकाश, मातृत्व अवकाश आदि कानूनी सुविधायें भी प्राप्त हैं।

अफ्रीका के देशों में समान कार्य समान वेतन कानून लागू है पर व्यवहार में नहीं है। सूडान और साउथ अफ्रीका में मत देने के अधिकार का प्रश्न स्त्री-पुरुषों दोनों के लिये समान रूप से बना हुआ है।

सन्दर्भ

कपूर प्रमिला, कामकाजी भारतीय नारी, राजपाल ऐण्ड सन्स, नयी दिल्ली, 1976।

कारमैक मार्गरेट, हिन्दू वोमेन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1961।

डिसूजा अल्फ्रेड, वोमेन इन कन्टेम्पोरेरी इण्डिया, मनोहर पब्लिशर्स दिल्ली, 1975।

गाँधी एम.के. वोमेन ऐण्ड सोशल इनजस्टिस, नवजीवन प्रकाशन घर, अहमदाबाद 1958।

हाथी ए. चन्द्र लेखा, चेंजिग इस्टेटस ऑफ वोमेन इन पोस्ट इन्डीपेन्डेंस इण्डिया, एलाइट प्राइवेट लि० बंगलोर पब्लिशर्स 1969।

जेना मात्सन एवरेट, वोमेन ऐण्ड सोशल चेन्ज इन इण्डिया, हेरिटेज पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1981।

जी० रेहाना, वोमेन इन इण्डियन सोसायटी, साग पब्लिशर्स, नयी दिल्ली, 1988।

आप्टेकर ए.एस०, द पोजीशन ऑफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, द कल्चरल पब्लिकेशन हाऊस, बनारस 1938।

शास्त्री राजाराम, समाज कार्य, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1970।

कमला भसीन, निघत सईद खान, नारीवाद यह है क्या ? वोमेन ट्रेनिग ऐण्ड कम्युनिकेशन सेन्टर, नयी दिल्ली, 1989।

भानुजी पत्रिका के 1980-90 के बीच के कई प्रकाशन।

'श्रम शक्ति' रिपोर्ट आफ द नेशनल कमिशन आन सेल्फ एम्प्लॉयड वोमेन ऐण्ड वोमेन इन इनफार्मल सेक्टर, नई दिल्ली, 1988।

●

अध्याय–10

युवा कल्याण

किसी भी देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति, कल्याण के लिये चाहे वह विकासशील देश हो या विकसित देश, उस राष्ट्र के अनुशासित कर्तव्यनिष्ठ समाज, समुदाय, परिवार एवं स्वयं अपने प्रति कर्तव्यों से पूर्ण एवं समर्पित युवक-युवतियों का वही महत्व है जो मानव शरीर में प्रवाहित रक्त का मानव के लिये।

जब कभी भी ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक आदि घटनाओं ने राष्ट्र, समाज के जीवन मूल्यों, व्यवस्थाओं, शान्ति, संगठन एवं सुरक्षा को प्रभावित किया है, चाहे वे 20वीं शदी की हों या फिर प्राचीन काल की हों, देश के युवाओं ने सदा ही ऐतिहासिक एवं क्रान्तिकारी भूमिका निभायी है। सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन करने, पर्यावरण एवं परिस्थिति विज्ञान में सुधार करने तथा उसे बनाये रखने या राष्ट्रीय जागृति पैदा करने, देश की एकता और अखण्डता को सुरक्षित रखने में युवकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। युवा कार्य तथा युवा शक्ति के प्रयासों एवं भावनात्मक एकता से एक नये भारत का निर्माण किया जा सकता है।

इतिहास के अनुसार युवाओं ने देश को आगे बढ़ाने में सदैव महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। नये विचारों के प्रति उनका खुलापन एवं ग्रहणशीलता, उनके दृढ़ विश्वास, उनकी आदर्शवादिता, उत्साह तथा शक्ति ने उन्हें परिवर्तन के लिये क्रियाशील सचल दस्तों के रूप में स्थान दिया है। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में भारतीय युवकों द्वारा निभायी गयी ऐतिहासिक भूमिका स्वतन्त्र भारत में उनकी क्रान्तिकारी भूमिका की केवल शुरूआत थी। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का संघर्ष ही नहीं था अपितु सामाजिक परिवर्तन लाने के प्रयासों का एक अंग था। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत के विभिन्न आन्दोलनों में युवकों का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

सभी मानव समाजों ने अपने युवकों के कल्याण के लिये बहुत समय एवं संसाधन लगाये। यह निवेश उनके अपने व्यवस्थित उत्तर जीवन के लिये आवश्यक समझा गया क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी को यह सुनिश्चित करना होता है कि

उत्तरवर्ती पीढ़ी उसके द्वारा हस्तान्तरित विरासत को परिरक्षित एवं संजोये रखेगी। यह उन अभिवृत्तियों एवं मूल्यों को नवयुवकों में अन्ततः स्थापित करके ही सुनिश्चित किया जा सकता है जिन्हें पुरानी पीढ़ी ने अपने लिये महत्त्वपूर्ण माना था। इनके संचरण के लिये समुचित संस्थागत व संगठनात्मक पद्धतियाँ निकाली गयी थीं। उनके इस विरासत का परिरक्षण करने की आवश्यकता के अतिरिक्त भूतकाल में अनेक समाजों को अपने उत्तरदायित्व की समस्याओं का सामना भी करना पड़ता था।

भारत में संयुक्त परिवार एवं जाति व्यवस्था ने यह सुनिश्चित किया कि युवा पीढ़ी सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों के ढाँचे में ठीक बैठे।

1947 में राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति भारतीय युवकों की प्रगति में एक निश्चित अवस्था को अंकित करती है। स्वतन्त्रता ने कुछ आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक शक्तियों को उन्मुक्त किया जो बाद में इस प्रकार सृजित नयी परिस्थितियों का सामना करने के लिये भारतीय युवकों के व्यवहार एवं समाज की अनुक्रिया पर गहरा संघात डालने वाली थीं। यह भारतीय नगरीय युवक विशेषतः विश्वविद्यालयी युवकों के सम्मानित रूप से राजनैतिक कारकों के रूप में युग के आगमन को भी अंकित करता है।

स्वतन्त्रता के पूर्व पहले ही महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस आदि से प्रेरित बृहत संख्या में भारतीय युवक भारत के राजनैतिक क्षितिज पर उदित हुये थे।

स्वतन्त्रता संग्राम में युवकों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सत्ता का विरोध, कक्षाओं का बहिष्कार, आन्दोलनों का आयोजन आदि देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई के वैध साधन माने जाते थे। नगरीय युवक विशेषतः विद्यार्थी युवकों ने इस नवीन भूमिका को पसन्द किया। राष्ट्रीय नेतृत्व ने उन्हें देशभक्ति के कार्य की पूर्ति के रूप में इसके लिये प्रोत्साहित किया। उनके द्वारा यह पाया गया कि भारत की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् युवक आन्दोलन के मार्ग को त्याग कर परम्परागत् अनुशासनिक पद्धतियों को अपना लेंगे पर ऐसा नहीं हुआ। अनावश्यक रूप से राजनैतिक पार्टियाँ विद्यार्थी युवक नेतृत्व को महत्त्व देती रहीं और उन सभी ने विद्यार्थी शाखायें संगठित कीं। विश्वविद्यालयी एवं महाविद्यालयी छात्रों के संघों के चुनाव प्रभाव डालने के लिये शक्ति परीक्षण के अवसर हो गये। ऐसा नहीं है कि सभी नगरीय युवक या विद्यार्थी सक्रिय एवं वाचाल हुये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बेहतर जीवन की प्रत्याशायें जागृत की गयीं।

तत्कालीन प्रधानमन्त्री, पं० जवाहरलाल नेहरु ने अनुभव किया कि लोग भविष्य के सपने पर नहीं जी सकते जब तक कि उनको इसके निर्माण की चिन्ता या अनुभूति न हो। वह लोगों को स्वयं अनुभवावृत होते हुए विकास कार्य से जोड़ना चाहते थे। वे युवकों को छोटी-छोटी बातों के लिये आन्दोलन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से विलग करना चाहते थे। नेहरुजी ने यह भी अनुभव किया कि सहभागिता एवं आत्मानुशासन मात्र सरकारी अभिकरणों द्वारा ही प्रोन्नत नहीं किये जा सकते। नेहरु जी द्वारा प्रदत्त समर्थन से विकास प्रक्रिया में व्यापक जनसहयोग की संलग्नता के सम्वर्धन हेतु स्वैच्छिक राष्ट्रीय संगठन के रूप में भारत सेवक समाज की स्थापना हुई। भारत युवक समाज नामधारी एक युवक शाखा विशेष रूप से युवा शक्तियों के जुटाव के लिये स्थापित की गयी।

भारत में सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों ही माध्यमों से युवकों के कल्याण के कार्य किये गये। युवक कल्याण के अनेक कार्यक्रमों को चलाने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं में युवक इसाई संघ, युवती इसाई संघ, भारत सेवक समाज, इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त देश भर में फैले अनेक छोटे-छोटे संगठन तथा संस्थायें भी स्थानीय तौर पर युवकों के कल्याण के अनेक-कार्यक्रमों को संचालित करती हैं; केन्द्रीय तथा राज्य स्तर की विभिन्न सरकारें अपने अनेक विभागों यथा—शिक्षा, स्वास्थ्य आदि द्वारा युवकों के कल्याण के अनेक कार्यक्रमों का संचालन करती हैं। विद्यालय एवं विश्वविद्यालय भी अनेक प्रकार के पाठ्येतर कार्यक्रमों के संचालन द्वारा युवा छात्र-छात्राओं के लिये कल्याणकारी व्यवस्थायें करते हैं।

1950 के दशक में कार्य शिविर आन्दोलनों ने राष्ट्र निर्माण के कार्य में युवा शक्तियों को लगाने एवं उनमें सहभागिता का बोध कराने का प्रयास किया। डा० सी० डी० देशमुख ने अनिवार्य राष्ट्रीय सेवा प्रारम्भ करने का सुझाव दिया। इस सुझाव में अन्तर्निहित अभ्याग्रहों में से एक यह भी था कि कक्षा में शिक्षा को शारीरिक क्रम के साथ समाकलित करने से छात्र श्रम के महत्त्व को भली प्रकार समझ सकेंगे। यह भी आशा की गयी कि यह विद्यार्थियों को आन्दोलनात्मक गतिविधियों से विलग कर सकेगा।

इस अवधि का युवक कल्याण से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विकास राष्ट्रीय कैडेट कोर (एन० सी० सी०) की स्थापना था। महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में राष्ट्रीय कैडेट कोर रक्षा मन्त्रालय द्वारा प्रशंसित था। सफलतापूर्वक इस कार्यक्रम को पूरा करने वाले विद्यार्थियों को सशस्त्र सेनानियों की नियुक्तियों में

अधिमान्यता दी गयी तथा कक्षाओं में प्रवेश एवं अन्य सरकारी एवं गैर सरकारी प्रतिष्ठानों में कुछ विशिष्ट पदों पर नियुक्ति में वरीयता प्रदान की गयी। यह अपेक्षा की गयी कि इस प्रकार सुरक्षा सेवायें बेहतर प्रशिक्षित अधिकारियों का दल विकसित करने में समर्थ होंगी। द्वितीय यह भी आशा की गयी कि वृहत् संख्या में विद्यार्थियों को अनुशासित सहभागिता द्वारा विद्यार्थियों में कानून को अपने हाथ में लेने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति पर लगाम दी जा सकेगी।

इस समय सरकार द्वारा प्रारम्भ किया गया दूसरा प्रमुख युवा कार्यक्रम ग्रामीण युवा गोष्ठी गृहों (यूथ क्लब) की वृहत् संख्या, में स्थापना थी। 1952 में प्रारम्भ किये गये सामुदायिक कार्यक्रम में ग्राम में परिवर्तन अभिकर्ता के रूप में युवकों के जुटाव पर अधिक बल दिया गया। ग्रामीण युवा क्लबों, युवक मण्डल, युवती मण्डल से कृषि और सामान्यतः ग्रामीण जीवन में आधुनिकता का सन्देश प्रसारित करने में सहायता करने की अपेक्षा की गयो। क्लबों की गृह वाटिका स्थापित करने के लिये प्रोत्साहित किया गया। सफलता प्राप्त करने वाले क्लबों को पुरस्कार दिये गये। इनके द्वारा ग्रामीण युवक खेल कूद को भी प्रोत्साहित किया गया। शासकीय तन्त्र को ग्रामीण युवा क्लबों को संगठित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। 1960 के दशक में जब यह अपनी चरम सीमा पर था, देश में लगभग 1,8000 क्लब विद्यमान थे तथापि वस्तुतः प्रभावकारी एवं कार्यरत् क्लबों की संख्या इससे कम थी। ग्रामीण विकास योजना का अनुवर्तन करते हुए नगरीय सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी नगरीय क्षेत्रों में विकास कार्यक्रमों में सामुदायिक सहभागिता का सम्वर्द्धन करने के लिये प्रारम्भ किया गया। यह कार्यक्रम स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा प्रशसित था तथा नगरपालिका निकायों द्वारा क्रियान्वित किया जाता था। युवा गोष्ठी गृहों की स्थापना का भी प्रावधान था किन्तु प्रगति नगण्य रही।

इस काल में कुछ गैर शासकीय तथा विद्यार्थी संगठनों का भी उदय हुआ। भारत युवा कृषक संघ (यंग फार्मर्स ऐसोसियेशन ऑफ इण्डिया) कुछ साहसिक युवा लोगों द्वारा स्थापित किया गया। संगठन को पर्याप्त सरकारी समर्थन प्राप्त हुआ। यूथ हॉस्टल्स ऐसोशियेशन ऑफ इण्डिया (भारतीय युवा छात्रावास संघ) युवकों में साहसिक कार्य की भावना को सशक्त करने तथा राष्ट्रीय स्वीकरण के सम्वर्द्धन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय युवा आन्दोलन के रूप में अस्तित्व में आया। युवा ईसाई संघ, युवती इसाई संघ, (वाई० एम० सी० ए० तथा वाई० डब्ल्यू० सी ए०), स्काउट एवं गाइड आन्दोलन एवं कुछ और जो पहले से ही विद्यमान थे, ने अपने क्रिया-कलापों का विस्तार किया। अनेक युवा एवं

विद्यार्थी संगठन राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अस्तित्व में आये। लगभग सभी राजनैतिक दलों ने युवा शाखायें स्थापित किया। धार्मिक सम्बन्धों पर आधारित युवा एवं विद्यार्थी निकाय उदित हुए।

यह वह काल था जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय समूहों द्वारा सम्बद्धताओं पर आधारित युवा और विद्यार्थियों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को स्थापित करने के प्रयास किये गये। इसके लिये राजनैतिक, सामुदायिक समूहों एवं अन्य द्वारा प्रयास किये जा रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ध्रुवीकरण भारत में भी परिवर्तित हुआ फिर भी यह अधिक काल तक अपने अस्तित्व की रक्षा न कर सका और न ही इसमें पर्याप्त शक्ति थी जिस पर भरोसा किया जा सके। प्रारम्भिक गति पाने के बाद भी युवा आन्दोलन के क्रियाकलापों हेतु युवकों को जुटाने में अधिक गतिशीलता नहीं प्राप्त हो सकी।

1960 के दशक के अन्त में एक बार पुनः युवकों के महत्त्व के प्रति जागृति प्रदर्शित हुई। पश्चिम में नवयुवकों ने विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया था और इसकी प्रतिध्वनि भारत में भी सुनाई पड़ी। नगरीय युवकों में बढ़ती हुई अशान्ति, असन्तोष के विषय में समाज के सभी वर्गों को चिन्ता हुई। इसे स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने वर्ष 1969 में युवकों के लिये एक राष्ट्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना की। शिक्षा मंत्रालय का नाम पुनः परिवर्तित होकर शिक्षा एवं नवयुवक सेवा मंत्रालय पड़ा तथा अनेक राज्य सरकारों ने इसका अनुसरण किया तथा राज्य युवा सलाहकार बोर्ड एवं युवा कल्याण निदेशालय स्थापित किये। 1969 में अन्ततः देशमुख समिति के प्रतिवेदन को कार्यान्वित किया गया। महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय के छात्रों के लिये राष्ट्रीय सेवा योजना का संगठन किया गया। अन्तिम रूप से कार्यान्वित योजना मूल प्रस्तावित योजना से बहुत भिन्न थी। प्रतिवेदन में एक वर्ष की अनिवार्य सेवा प्रस्तावित थी। स्वयं सेवकों के लिये यह ऐच्छिक कार्यक्रम बनाया गया था; राष्ट्रीय सेवा योजना का कुल मिलाकर यह मूल उद्देश्य था, जैसा कि मूलतः प्रकाशित था; 'शैक्षिक संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण करते हुए समाज की सेवा करना।' यह उद्देश्य रखा गया था कि छात्रों की सामाजिक चेतना को जागृत किया जाय और उन्हें अवसर प्रदान किया जाय कि वे शैक्षिक परिसरों के आस-पास के लोगों के साथ मिलकर सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्य कर सकें। छात्र समाज सेवा के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें तथा मिल-जुलकर समूह समुदाय के साथ कार्य करने का नवीन अनुभव प्राप्त कर सकें। राष्ट्रीय सेवा योजना का प्रतीक चिह्न उड़ीसा के कोणार्क सूर्य मन्दिर के रथ के चक्र पर आधारित है। सूर्य

मन्दिर के ये विशाल चक्र सृजन, संरक्षण और निर्मुक्ति के आवर्तन को अभिव्यक्त करते हैं तथा स्थान एवं काल से परे जीवन में गति का महत्त्व बताते हैं। चक्र जीवन के गतिशील चक्र को व्यक्त करता है; यह निरन्तरता एवं परिवर्तन का प्रतीक है और राष्ट्रीय सेवा योजना समाज में परिवर्तन लाने और उसे उन्नत करने के लिये निरन्तर आगे बढ़ने के लिये प्रयास करने का द्योतक है। 1981-82 में 3800 महाविद्यालयों के लगभग 5 लाख विद्यार्थी जनकल्याण, पर्यावरण सुधार, स्वास्थ्य सेवाओं, व्यावसायिक प्रशिक्षण, निर्माण कार्यों, समाज के कमजोर वर्गों के उत्थान, राहत एवं पुनर्वास सम्बन्धी कार्यों से संलग्न किये गये।

युवकों के कल्याण हेतु 1972 में नेहरु युवक केन्द्र स्थापित किये गये। 1981-82 तक 255 केन्द्र स्वीकृत किये गये थे तथा इनमें से 192 ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया नेहरु युवक केन्द्रों का मुख्य उद्देश्य विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में गैर विद्यार्थी युवकों हेतु क्रियाकलापों का विकास करने के लिये जिले में केन्द्र बिन्दु के रूप में कार्य करना था। प्रारम्भ किये गये क्रिया-कलापों में युवा नेतृत्व, प्रशिक्षण शिविर, सामुदायिक सेवा हेतु शिविर, सांस्कृतिक एवं मनोरंजनात्मक सेवायें तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि थे।

गैर शासकीय मोर्चे पर एक महत्त्वपूर्ण कदम युवा संगठनों व युवकों की सेवाओं, युवाओं से सम्बन्धित विषयों पर शोध एवं प्रलेखीकरण की आवश्यकता की जागृति के सम्वर्द्धन हेतु युवा नेताओं एवं कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के एक राष्ट्रीय केन्द्र के रूप में 1969 में विश्व युवक केन्द्र का खुलना था। सन् 1978 में युवा कल्याण के सम्वर्द्धन हेतु अन्य अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये गये जैसे राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का प्रारम्भ।

वर्तमान कार्यक्रम

सम्पूर्ण भारत में अनेक शासकीय एवं गैर शासकीय अभिकरणों द्वारा सम्प्रति किये जा रहे सभी युवक कार्यक्रमों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना कठिन है क्योंकि एक तो आंकड़े उपलब्ध नहीं है दूसरे एक मंत्रालय सभी कार्यक्रमों का प्रभारी नहीं है। मानव संसाधन विकास कृषि, श्रम एवं रोजगार, स्वास्थ्य एवं प्रतिरक्षण मंत्रालय जैसे कुछ मंत्रालय हैं जिनके पास युवा कल्याण कार्यक्रम हैं। अधिकांश केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रम राज्य सरकारों द्वारा क्रियान्वित किये जाते हैं। महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय कार्यक्रमों की सूची अधोलिखित है :— (1) राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, (2) नेहरु युवक केन्द्र, (3) राष्ट्रीय सेवा

योजना, (4) राष्ट्रीय कैडेट कोर, (5) राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (6) स्काउट ऐण्ड गाइड, (7) युवा मण्डल, (8) नवयुवक कृषक क्लब व फॉर्मर्स यूथ एक्स्चेन्ज प्रोग्राम, (9) ग्रामीण युवक क्लबों के नेताओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम, (10) विद्यालयी बच्चों एवं ग्रामीण युवकों हेतु शारीरिक शिक्षा एवं खेलकूद के कार्यक्रम (11) पर्वतारोहण, (12) योग के कार्यक्रम, (13) सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ियों, कलाकारों को पारितोषिक, सम्मान देने का कार्यक्रम, (14) ग्रामीण महिलाओं हेतु कार्यात्मक साक्षरता, (15) पुस्तकालय सहायता कार्यक्रम, (16) नाटक, संगीत, कुश्ती, कला, (17) शरीर प्रदर्शन, (18) सामूहिक आवास, (19) अभिरुचि केन्द्र, (20) ग्रामीण व्यायामशाला, (21) श्रमिक शिक्षा केन्द्र, (22) बाढ़ एवं सूखा पीड़ित सहायता, (23) विश्वविद्यालय चलचित्र परिषद (24) मनोवैज्ञानिक परामर्श केन्द्र, (25) दक्षता प्रशिक्षण कार्यकम (26) युवा छात्रावास एवं साहसिक कार्यक्रम, (27) पत्राचार एवं दूरवर्ती शिक्षा, (28) महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय नियोजन मंच, (39) युवक कल्याण सम्बन्धी गवेषणा तथा युवकों के कल्याण के कार्यक्रमों का संचालन करने वाले कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण आदि की व्यवस्थायें।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में ऐसे प्रावधान किये गये थे जिनसे युवक कल्याण के क्षेत्र के विभिन्न कार्यक्रमों को विकसित और समन्वित किया जा सके। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन कार्यक्रमों पर 1.05 करोड़ रुपये, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 4.90 करोड़ रुपये, तृतीय पंचवर्षीय योजना में 5.84 करोड़ रुपये खर्च किये गये। बाद की योजनाओं में यह धनराशि बढ़ती गयी। प्रथम पंचवर्षीय योजना अवधि में लगभग 1470 श्रम एवं समाज सेवा सम्बन्धी शिविर लगाये गये थे जिनमें ढाई लाख युवक-युवतियों ने हिस्सा लिया तथा 137 अभियान चलाये गये। युवक आवास गृह निर्माण तथा युवक मेला, यात्रा शिविरों का संगठन किया गया।

अनुशासन की व्यापकता एवं दृढ़ता की दृष्टि से एन० सी० सी, ए० सी० सी०, भारत स्काउट्स एण्ड गाइड्स आन्दोलन को विकसित और अधिक संगठित किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना अवधि के अन्त तक एन० सी० सी० के जवानों की कुल संख्या 110 हजार तथा ए० सी० सी० के लड़के-लड़कियों की संख्या 7,00,000 हो गयी। इस संख्या में बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में निरन्तर वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त भारत स्काउट ऐण्ड गाइड्स के सदस्यों की कुल संख्या 5,70,000 थी जिनमें 90 हजार लड़कियाँ तथा 480 हजार लड़के थे। वर्तमान समय में इसमें लड़के-लड़कियों की सदस्य संख्या काफी बढ़ गयी है तथा युवकों का रूझान इसमें निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

इन सभी ऐसी योजनाओं जिनका संचालन प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्रारम्भ किया गया था बाद की योजनाओं में भो चालू रखने की व्यवस्था की गयी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि के अन्त तक विभिन्न विद्यालयों के अन्तर्गत् 576 ऐसे कार्य अभियान चलाये गये जिनमें कि कुशल-अकुशल छात्रों एवं अध्यापकों ने मिल-जुलकर काम करके अनेक दर्शक कक्ष, अध्ययन कक्ष, तरण-ताल एवं व्यायामशालाओं आदि का निर्माण किया। खेलकूद के विकास के लिये एक राष्ट्रीय खेलकूद संस्थान की स्थापना की गयी। शिक्षा मंत्रालय द्वारा शारीरिक एवं सांस्कृतिक संगठनों को आर्थिक सहायता दी गयी। सन् 1960 तक राष्ट्रीय अनुशासन योजना का प्रसार 662 शैक्षणिक संस्थाओं में हुआ था और इससे लाखों छात्र-छात्रायें लाभान्वित हुए। तृतीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा मन्त्रालय द्वारा केन्द्रीय शैक्षणिक एवं व्यावसायिक निदेशन निदेशालय की स्थापना की गयी। इस निदेशालय ने अध्यापकों एवं परामर्शदाताओं के प्रशिक्षण तया विद्यालयों में परामर्श सम्बन्धी सेवाओं आदि के कार्यक्रम चलाये। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय खेलकूल संस्थान को और अधिक विकसित करने तथा उसमें खेलकूद प्रशिक्षण तथा राष्ट्रीय शारीरिक क्षमता-विकास की गतिविधियों को और अधिक सबल बनाने की चेष्टा की गयी।

यद्यपि भारत ग्राम प्रधान देश है और यहाँ के 85 प्रतिशत नवयुवक ग्रामीण अंचलों में निवास करते हैं और शेष 15 प्रतिशत के लगभग शहरों में, फिर भी भारत में नवयुवकों के अधिकांश कार्यक्रमों की व्यवस्था शहरी अंचलों में ही की जाती रही हैं। गाँव के युवकों के लिये यद्यपि कतिपय कार्य किये जा रहे हैं किन्तु वे नवयुवकों की बहुसंख्या के उत्थान एवं विकास में पूर्णरूपेण अनेक कारणों से अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त युवकों के लिये संचालित कार्यक्रम आमतौर से विद्यार्थी नवयुवकों के लिये रहे हैं जबकि दो तिहाई नवयुवक ऐसे हैं जो गैर छात्र हैं, जिनके लिये कल्याणकारी कार्यक्रमों की महती आवश्यकता है। अब इस दिशा में कदम उठाये जा रहे हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर युवकों के कल्याण के अनेक कार्यक्रमों की व्यवस्था सामुदायिक विकास एवं सहकार मंत्रालय ने की जिनमें युवक क्लब चलाये गये व युवक शिविर लगाये गये। ए०सी०सी०, एन०सी०सी० के माध्यम से खेलकूद का भी प्रबन्ध किया गया। बहुत से राज्यों में खेलकूद समारोहों का आयोजन हुआ। इन कार्यों में इस मन्त्रालय ने शिक्षा मन्त्रालय का भी सहयोग प्राप्त किया।

श्रम एवं रोजगार मन्त्रालय ने भी अपने रोजगार दफ्तरों के माध्यम से व्यावसायिक निदेशन एवं युवक संगठन आदि की सेवायें दीं।

केन्द्रीय प्रयासों के अतिरिक्त राज्य सरकारों के शिक्षा, श्रम, समाज कल्याण तथा सामुदायिक विकास आदि मन्त्रालयों ने भी युवक कल्याण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों का प्रारम्भ एवं संचालन किया है तथा इस क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। शारीरिक शिक्षण, खेलकूद, क्रीड़ांगन निर्माण, ए० सी० सी०, एन० सी० सी०, छात्रगृह, आवासीय छात्र शोध केन्द्र तथा छात्र सहायता निधि पर धन व्यय किया गया। छात्रों को औषधि सहायता की दृष्टि से स्वास्थ्य केन्द्रों को खोलने तथा उनकी दशा में सुधार करने के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता देता है। छात्रों को कला, संगीत एवं सांस्कृतिक आदि अनेक पाठ्येतर क्रिया-कलापों की क्षमताओं में समुचित विकास का अवसर प्रदान करने की दृष्टि से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आर्थिक सहायता देता है। उसकी मदद से विश्वविद्यालय काष्ठ-शिल्प धातुशिल्प विद्युतीय सामग्रियों, चित्र उतारने एवं खिलौने बनाने इत्यादि के प्रशिक्षण की व्यवस्था करते हैं।

निर्धन, पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों के छात्रों को उनके शैक्षणिक शुल्क, पुस्तकों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था में आर्थिक सहायता प्रदान करने की दृष्टि से छात्र सहायता निधि की व्यवस्था की गयी है तथा अध्ययन कार्य सम्पूर्ण करने के लिये अन्य सुविधायें दी जाती हैं। छात्रों को पढ़ाई के अतिरिक्त समय में मनोरंजन प्रदान करने की दृष्टि से छात्र गृहों तथा आवासीय छात्र केन्द्रों की व्यवस्थायें की जाती हैं। इनमें सामूहिक अध्ययन कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, अन्तर्कक्षी खेलों, जलपान कक्षों तथा जलाशयों आदि की व्यवस्था होती है।

यद्यपि ये अनेक व्यवस्थायें विश्वविद्यालय के छात्रों के लिये की गयी हैं पर ये अपेक्षित फलदायी नहीं रही हैं। इनकी पूर्ण सफलता में बाधा मुख्यतः विश्वविद्यालयों के पास समुचित निधि का न होना, उपयुक्त समय का अभाव, उपयुक्त प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव, छात्रों में जागरूकता और अभिरुचि का अभाव तथा कहीं-कहीं विश्वविद्यालय की अरुचि या उदासीनता रही है।

छठीं पंचवर्षीय योजना (1980-85) ने दर्शाया कि युवकों के चार प्रमुख पक्ष थे जिन पर समन्वयनात्मक रूप से विचार करना आवश्यक था। उदाहरणार्थ विकास, एकता, संगठन तथा राष्ट्र निर्माण के क्रिया-कलापों में उनकी संलग्नता और सहभागिता के सम्वर्द्धन हेतु उनका उपयोग। इन पक्षों का विस्तृत ब्यौरा तैयार करने हेतु सामंजस्य स्थापित करने और राष्ट्रीय युवा नीति के

रूप में रणनीति का विकास करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में ये मार्गदर्शक सिद्धांत होने चाहिए :—(i) सभी युवकों को अधिकाधिक समान अवसर प्रदान करना, (ii) उनकी प्रतिभा को उन्मुक्त करना जो बहुधा समाज में दमित हो जाती हैं, (iii) कार्य और सेवा द्वारा सुसंगत एवं दक्षताओं व शिक्षा के उच्चतर सामान्य स्तर को सुनिश्चित करना, (iv) युवकों को बचपन व किशोरावस्था से होकर प्रौढ़ावस्था तक तथा विद्यालयों से कार्य और सेवाजगत में निर्विघ्न संक्रमण को सुनिश्चित करना, (v) उनकी शक्तियों, आदर्शवाद एवं महत्त्वाकांक्षाओं को विकासात्मक कार्य परियोजनाओं एवं कार्यक्रमों में लगाना।

राष्ट्रीय युवा नीति जो देश के युवाओं की आकांक्षाओं और इच्छाओं के प्रति अधिक अनुरूप हो सके तथा उनकी शक्ति को राष्ट्र निर्माण के क्रियाकलापों में लगा सके, तैयार करने के लक्ष्य से नई सरकार की कार्य योजना के एक भाग के रूप में 18-20 मई 1990 को नई दिल्ली में एक राष्ट्रीय युवा नेता सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन का उद्‌घाटन 18 मई को तत्कालीन मानव संसाधन विकास राज्य मन्त्री चिमन भाई मेहता द्वारा किया गया तथा समापन भाषण तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह द्वारा 20 मई को दिया गया।

इस सम्मेलन में 18 राज्यों एवं 3 संघशासित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व कर रहे 162 युवक प्रतिभागियों ने भाग लिया। राष्ट्रीय सेवा योजना, भारत स्काउट व गाइड तथा नेहरू युवक केन्द्रों के अतिरिक्त समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व कर रहे युवा एवं स्वैच्छिक संगठनों ने परिचर्चाओं में सक्रिय रूप से भाग लिया। असम, हिमांचल प्रदेश, केरल, उत्तर प्रदेश, त्रिपुरा तथा पश्चिम बंगाल के युवा कार्यक्रम मंत्री भी सम्मेलन में उपस्थित हुए और परिचर्चाओं में अपना योगदान दिया। परिचर्चा में निम्नलिखित विषयों पर विचार-विमर्श हुआ :—(i) नई युवा नीति के दृष्टिकोण, (ii) रोजगार एवं स्व-रोजगार अवसरों के सृजन हेतु नये प्रयास, (iii) स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका, (iv) राष्ट्रीय युवा कार्यक्रमों का समन्वयन और प्रबन्ध, (v) युवा कार्यक्रमों के द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण। समर्पित युवा शक्ति से समाज का नव निर्माण करना इस कार्य योजना का मुख्य लक्ष्य था।

नयी राष्ट्रीय युवा नीति के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए प्रधान मंत्री ने कहा कि नीति सशक्त होनी चाहिये और कार्य योजना समर्पित होनी चाहिये। अन्ततः सभी मामलों में लोगों तथा लोक संगठनों का पूर्णतः साथ होना आवश्यक है। समस्यायें अनेक हैं, जैसे—गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी,

कुपोषण, आवास की समस्यायें, प्राकृतिक आपदाओं पर मनुष्य का न तो नियंत्रण है और न इनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी ही की जा सकती है। विभिन्न भागों तथा राष्ट्र की अप्रत्याशित एवं नियंत्रित आपदाओं को दृष्टिगत् रखते हुए नीति की पुनरीक्षा करना तथा इसे समायोजित करना आवश्यक है ताकि नीति का प्रभावी कार्यान्वियन हो सके। देश के युवाओं युवतियों के कल्याण को उच्च प्राथमिकता देते रहने के लिये सरकार कृतसंकल्प है। सरकार कमजोर वर्गों, दलितों और शोषितों की रक्षा के अधिकारों के लिये वचनबद्ध है। आठवीं योजना में कुल मिलाकर यह प्रयास होगा कि ऐसी परिस्थितियाँ तैयार की जायें जिनमें लोगों को विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत उत्पादनकारी कार्य प्राप्त हो सकें। भूमि सुधार कानून को संविधान की 9वीं अनुसूची में शामिल करने का सरकार ने निश्चय किया ताकि तकनीकी आधार पर न्यायालयों द्वारा कानून को रद्द न किया जा सके और शोषित किसानों एवं अन्य कमजोर वर्ग के लोगों को उस भूमि के अधिकार से वंचित न किया जा सके जिसे वे कई पीढ़ियों से जोतते चले आ रहे हैं।

20 से 24 अगस्त 1990 तक एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रमों के युवा कार्यकर्ताओं हेतु विश्व युवक केन्द्र ने एक पाँच दिवसीय प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किया।

एन० एस० एस० गणतंत्र दिवस परेड शिविर—7-31 जनवरी 1990 तक एक 25 दिवसीय गणतन्त्र दिवस परेड शिविर व भारत स्काउट और गाइड शिविर आयोजित किये गये जिसमें 25 राज्यों तथा 3 केन्द्र शासित क्षेत्रों से 90 विश्वविद्यालयों और तीन महाविद्यालयों का प्रतिनिधित्व करने वाले 150 लड़कों तथा 150 लड़कियों सहित 308 एन० एस० एस० स्वयं सेवकों तथा 21 कार्यक्रम अधिकारियों ने भाग लिया। शिविर को राष्ट्रीय सेवा ग्राम नाम दिया गया। छात्रों को 10 कुटीरों में रखा गया। प्रत्येक कुटीर में प्रत्येक राज्य या क्षेत्र से कम से कम 2 छात्रों को रखा गया जो एक लघु भारत को दर्शाता था। शिविर का प्रबन्ध स्वयं छात्रों एवं कार्यक्रम अधिकारियों द्वारा किया गया। 26 जनवरी गणतंत्र दिवस परेड में 285 स्वयं सेवकों ने भाग लिया।

क्षेत्रीय सम्मेलन—असम, मेघालय, अरुणाचल, मणिपुर, त्रिपुरा, उड़ीसा, बिहार तथा पश्चिम बंगाल राज्यों के कार्यक्रम समन्वयकों, राज्य सम्पर्क अधिकारियों तथा क्षेत्रीय केन्द्रों के प्रधानों का एक क्षेत्रीय सम्मेलन 15-16 फरवरी 1990 को आर० के० मिशन आश्रम, बंगाल में आयोजित किया गया। इसमें कार्यक्रमों के क्रियान्वयन तथा दो वर्षों के दौरान की गयी

प्रगति की समीक्षा की गयी। योजना को सुदृढ़ बनाने, अनुदान देने, कार्यक्रम क्रियान्वयन, अनुरक्षण तथा पर्यवेक्षण में आने वाली बाधाओं को समाप्त करने के लिये आवश्यक निर्णय लिये गये।

दूरवर्ती प्रशिक्षण पाठ्यक्रम—एशिया केन्द्र, चण्डीगढ़ में प्रशिक्षण पा रहे एन० एस० एस० युवाओं के लिये 21-22 फरवरी 1990 को युवा छात्रावास, त्रिवेन्द्रम में एक व्यक्तिगत् सम्पर्क कार्यक्रम आयोजित किया गया।

राष्ट्रीय एकीकरण शिविर—देश के विभिन्न भागों के 12 विश्वविद्यालयों के 250 एन० एस० एस० युवाओं का एक राष्ट्रीय एकीकरण शिविर 18-23 फरवरी 1990 को जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली में आयोजित किया गया तथा युवाओं ने व्यक्तित्व विकास कार्यक्रम, ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा, परिचर्चाओं, संगोष्ठियों, सांस्कृतिक क्रियाकलापों में भाग लिया।

युवा समारोह—एक राज्य स्तरीय एन० एस० एस० युवा समारोह भण्डारकर कालेज, कुण्डापुर में आयोजित किया गया जिसमें कर्नाटक के विभिन्न कॉलिजों के 500 एन० एस० एस० से युवाओं ने भाग लिया। युवाओं द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम, साक्षरता, स्पर्धायें, परिचर्चायें आदि आयोजित की गयीं।

साहस कार्यक्रम—1-2 फरवरी 1990 को 350 एन० एस० एस० युवाओं ने कोल्लर से कोट चादरी मिल्स तक ट्रैकिंग कार्यक्रम में भाग लिया।

कार्यात्मक साक्षरता का बृहत् कार्यक्रम (एम० पी० एफ० एल०) :

अब तक एम० पी० एफ० एल० कार्यक्रम के अन्तर्गत् 3,32,735 युवाओं को शामिल किया जा चुका है। 4,002 मास्टर ट्रेनरों को प्रशिक्षित एवं 4,26,906 शिक्षार्थियों को इसमें शामिल किया गया है।

विकलांगों का पुनर्वास :

बेलग्राम में तथा इसके आस-पास कॉलिजों के एन० एस० एस० एककों ने अन्य अभिकरणों के सहयोग से 12-16 मार्च 1980 को शारीरिक-विकलांग व्यक्तियों के लिये पुनर्वास शिविर आयोजित कर 250 विकलांग व्यक्तियों को उपयुक्त सहायता प्रदान की।

विश्वविद्यालय युवा समारोह :

युवा कार्यक्रम और खेल विभाग ने अन्तरविश्वविद्यालय क्षेत्रीय और राष्ट्रीय युवा समारोहों की शृंखला आयोजित की जो अक्टूबर 1989 से फरवरी 1990

तक भारतीय विश्वविद्यालय संघ (ए० आई० यू०) द्वारा आयोजित की गई थी जिसमें क्षेत्रीय समारोहों से चुने गये प्रतियोगियों ने राष्ट्रीय समारोह में भाग लिया। इनमें 5 मुख्य सांस्कृतिक स्पर्धायें :—संगीत, नाटक, नृत्य, ललित कला और साक्षरता सम्मिलित की गयी थीं जिन्हें फिर 18 उपस्पर्धाओं में विभाजित किया गया। युवा समारोहों का मुख्य अंग सांस्कृतिक-स्पर्धायें थीं जो देश की एकता और अखण्डता के लिये भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख मौलिक मूल्यों को दर्शाती हैं तथा रूढ़िवाद, धर्मान्धता, हिंसा, अन्धविश्वास, भाग्यवाद आदि के उन्मूलन को प्रदर्शित करती हैं।

स्काउट और गाइड :

अखिल भारतीय बाल स्काउट संघ, नजवगढ़ के लगभग 200 बाल स्काउटों ने 4-11 फरवरी 1990 को नजबगढ़ में एक राष्ट्रीय एकीकरण शिविर आयोजित किया जिसका विषय 'शान्ति और सद्भाव' था। स्काउटों को प्राथमिक उपचार, समाज सेवा स्वास्थ्य और स्वच्छता तथा वृक्षों एवं वन्य जीवों की सुरक्षा में प्रशिक्षित किया गया। इसमें 300 से अधिक गैर स्काउट युवाओं ने भी भाग लिया।

भारतीय युवा छात्रावास संघ :

12-19 जनवरी, 1990 तक एक युवा मिलन, नई दिल्ली में आयोजित किया गया जिसमें 20 राज्यों से 100 प्रतिभागियों ने भाग लिया। एक राष्ट्रीय साइकिल रैली व एकीकरण शिविर बंगलोर में आयोजित किया गया जिसमें लगभग 850 युवा लड़के-लड़कियों ने भाग लिया।

उद्यमशील विकास में प्रशिक्षण :

भारतीय युवा कल्याण संस्थान, नागपुर ग्रामीण युवाओं के लिये ग्रामीण उद्यमशील प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की एक श्रृंखला आयोजित कर रहा है। इस समय लगभग 60 युवा इन कार्यक्रमों में भाग ले रहे हैं। पाठ्यक्रम मुर्गी-पालन, डेयरी विकास, स्कूटर मरम्मत, फोटोग्राफी, काष्ठशिल्प, बैग बनाना, घड़ी मरम्मत पर आयोजित किये जाते हैं। इनमें व्यावसायिक और उद्यमशील विकास पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। प्रशिक्षण के पश्चात् ग्रामीण युवाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने ग्रामों अथवा शहरों में जाकर अपना व्यवसाय अथवा उद्यम शुरू करगें। संस्थान के पास प्रशिक्षणोत्तर सहायता सेवा है तथा वह सरकारी और अन्य वित्तीय संस्थाओं के विभिन्न अभिकरणों से सहायता प्राप्त करने में ग्रामीण युवाओं की सहायता करता है।

खिलाड़ियों के लिये राष्ट्रीय कल्याण कोष :

खिलाड़ियों के लिये राष्ट्रीय कल्याण कोष योजना सम्पूर्ण भारत में लागू की गयी है। कोष का लक्ष्य—(i) ऐसे उत्कृष्ट खिलाड़ियों को जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश का गौरव बढ़ाया है किन्तु अपने कड़े प्रशिक्षण और अन्य कारणों से अयोग्य हो गये हैं, उन्हें चिकित्सा, उपचार या मासिक पेंशन या दोनों, देकर सहायता प्रदान करना, (ii) प्रशिक्षण या प्रतियोगिता के दौरान घायल होने वालों को उपयुक्त सहायता देना, (iii) अभावग्रस्त परिस्थितियों में खिलाड़ियों और उन पर आश्रितों की सहायता उनकी विपत्ति को दूर करने के लिये व कल्याण के लिये कोष का संचालन करना (iv) सक्रिय एकल खिलाड़ी या उनके समूह के लिये कोष का उपयोग करना।

साक्षरता सम्मेलन एवं अन्तर्राष्ट्रीय साक्षरता वर्ष :

वर्ष 1990 को अन्तर्राष्ट्रीय साक्षरता वर्ष मानकर 8 सितम्बर को साक्षरता दिवस मनाया गया। निरक्षरता को दूर करने एवं निचले स्तर से लेकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साक्षरता की प्राप्ति के लिये प्रयास करने हेतु सक्षम युवकों का आह्वान किया गया। केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने वर्ष 1990 में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन हेतु 96 करोड़ रुपये का प्रावधान किया। मंत्रालय ने भारत ज्ञान विज्ञान जत्था समिति को साक्षरता की प्रगति एवं साक्षरता कार्यक्रमों में जनसहभागिता को बढ़ाने के लिये 2 41 करोड़ रुपये का अनुदान दिया।

युवकों को रोजगार देने के लिये कार्य योजना :

युवकों को राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने के लिये वर्ष 1990-91 में एक लाख युवकों को रोजगार प्रदान करने हेतु पंजाब के राज्यपाल ने एक कार्य योजना का अनुमोदन किया है। पंजाबी युवकों के औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार को बढ़ावा देने के लिये सरकार इन युवकों को रोजगार देने वाले प्रतिष्ठानों को आर्थिक सहायता देने के अतिरिक्त प्रशिक्षण की सुविधा भी उपलब्ध करायेगी; सीमा क्षेत्रों में कुछ योजनाओं के लिये सरकार एक लाख से दो लाख तक का ऋण देगी तथा स्व-रोजगार के लिये आर्थिक सहायता देगी। विभिन्न प्रशासनिक, निरीक्षकीय तथा अन्य पदों पर महिलाओं के पर्याप्त प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिये सरकार ने सभी मंत्रालयों को एक अधिसूचना जारी किया कि उन पदों की पहचान की जाय जो केवल महिलाओं के उपयुक्त हैं।

नवीन ग्रामीण रोजगार योजना :

1990 में सरकार ने ग्रामीण रोजगार के लिये 3000 करोड़ रुपये की 'ग्रामीण रोजगार योजना' प्रारम्भ करने का निश्चय किया। यह योजना पहले से चल रही जवाहर रोजगार योजना से पृथक स्वतन्त्र योजना हैं तथा चरणबद्ध रूप में इसका क्रियान्वयन किया जायेगा। चालू वर्ष में इस योजना के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु 500 ग्रामों की पहचान की गयी है।

अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्र :

अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में इनके युवकों को विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करने की सरकार की योजना है। ये केन्द्र व्यावसायिक मार्गदर्शन देंगे तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों को उनके रोजगार के लिये उपलब्ध अवसरों से भिज्ञ करने हेतु संचार के आधुनिक साधनों का उपयोग करेंगे।

काम का अधिकार :

काम के अधिकार को मौलिक अधिकार बनाने के विषय पर सरकार ने 1990 में विचार किया किन्तु अभी इसे वास्तविक रूप नहीं दिया जा सका है। इसके अन्तर्गत् सरकार प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार प्रदान करने का संवैधानिक उत्तरदायित्व लेगी और कार्य प्रदान न करने की दशा में व्यक्ति को बेरोजगार ऋण देगी। चूँकि रोजगार दफ्तरों एवं अन्य स्रोतों से उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार इस समय देश में बेरोजगार युवकों की संख्या 350 लाख है अतः पाँच वर्षों में इस पर 39,000 करोड़ रुपये व्यय का अनुमान लगाया गया।

भारतीय खेल प्राधिकरण, राष्ट्रीय खेल संघ :

भारत के नवयुवकों में खेलकूद में अभिरुचि उत्पन्न करने, उन्हें विभिन्न राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय खेलों के लिये उचित प्रशिक्षण देने तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भाग लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह भारतीय खेल प्राधिकरण के अध्यक्ष थे।

महिला खेल समारोह :

14 से 18 मार्च को कटक (उड़ीसा) में चौदहवाँ राष्ट्रीय महिला खेल समारोह (1989–90) आयोजित किया गया। एथलेटिक्स, बैडमिन्टन,

बास्केटबाल, हाकी, कबड्डी, खो-खो, तैराकी, टेबुल टेनिस, टेनिस, बॉस्केटबॉल और वॉलीबॉल में विभिन्न राज्यों के 1576 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

नौसेना जलयात्रा संस्थान :

भारतीय नौसेना ने फ्लैग ऑफिसर कमाण्डर इन चीफ, वेस्टर्न नेवल कमाण्ड के तत्वावधान में नौसेना जल यात्रा संस्थान की स्थापना की जिसका उद्देश्य 8 से 20 वर्ष आयुवर्ग के युवाओं में पाल नौकायन का सम्वर्द्धन करना, प्रतिभाशाली युवाओं को दक्ष नाविक बनने के लिये प्रशिक्षित करना, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धाओंमें पदक जीतने के लिये उन्हें सक्षम बनाने के लिये प्रशिक्षण में सहायता प्रदान करना आदि है। यह प्रशिक्षार्थियोंको विभिन्न प्रकार के भत्ते एवं सहायक अनुदान देता है।

जनवरी-मार्च 1990 के दौरान राष्ट्रीय खेल संघों के विभिन्न खेलों के सम्बन्ध में प्रस्तावों का अनुमोदन किया गया। तीरन्दाजी, बैडमिन्टन, बॉस्केटबाल, मुक्केबाजी, कैरम, शतरंज, क्रिकेट, घुड़सवारी, फुटबाल, गोल्फ, हॉकी, मोटर, रेस, भारोत्तलन, निशानेबाजी, टेनिस, वॉलीबॉल, व कुश्ती से सम्बन्धित खेल संघों को वित्तीय सहायता दी गयी।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्कृष्ट योगदान तथा विशिष्ट प्रदर्शन करने वालों को राष्ट्रीय सम्मान, पद्मश्री, पद्मभूषण, से सम्मानित किया जाता है। 18 जनवरी (1990) को नयी दिल्ली में आयोजित एक समारोह में तीन महिलाओं एवं एक स्वैच्छिक संगठन सहित 12 युवाओं को वर्ष 1988–89 के लिये चतुर्थ राष्ट्रीय युवा पुरस्कार प्रदान किये गये।

युवक एवं साक्षरता :

निरक्षरता किसी भी राष्ट्र, समाज और स्वयं व्यक्ति के विकास के मार्ग में रोड़ा है। आज देश के युवाओं को शिक्षा के समान अवसर सुलभ नहीं हैं। देश का लगभग 50 प्रतिशत युवक निरक्षर हैं। प्राथमिक स्तर पर भी औसत सीमित है। मानक अधिक व्यापक है और औपचारिक स्कूली ढाँचा निर्धनों, ग्रामीण बच्चों की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय साक्षरता वर्ष मनाने के क्रम में विश्व युवक केन्द्र ने 25–27 जुलाई 1990 को 'साक्षरता की प्रगति में युवकों की भूमिका' विषय पर एक परिचर्चा का आयोजन किया जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण साक्षरता की प्रगति में देश की युवा शक्ति का उपयोग करना था। प्रौढ़ शिक्षण, राष्ट्रीय सेवा योजना, प्रौढ़ शिक्षा विभाग से सम्बद्ध युवा तथा समाज कल्याण अभिकरणों का प्रतिनिधित्व करने वाले 28 प्रति-

निधियों ने इस परिचर्चा में भाग लिया। परिचर्चा में शत्-प्रतिशत साक्षरता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न पक्षों पर विचार-विमर्श किया गया। जिन क्षेत्रों में निरक्षरता पूर्ण रूप से व्याप्त हैं उनमें राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के तहत व्यापक स्तर पर छात्रों की निरन्तर सेवा लेने पर सरकार गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है। इस कार्य के लिये आवश्यक उपकरण की व्यवस्था सरकार करेगी। छात्रों को उनकी सेवा के लिये मानदेय दिया जायगा। पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों को साक्षर बनाने के विशेष प्रयास किये जा रहे हैं। साक्षरता कार्यक्रमों का उद्देश्य उन लोगों को इसमें समाविष्ट करना है जो औपचारिक शिक्षा से वंचित रहते हैं। गैर विद्यालयी युवकों के लिये अनौपचारिक शिक्षा की योजनायें संचालित की जा रही हैं। बीसवीं शताब्दी के अन्त तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत् 50 प्रतिशत लोगों को लाभ पहुँचने की आशा की जाती है।

यदि देश का प्रत्येक शिक्षित युवक, छात्र, अध्यापक या अन्य व्यक्ति केवल एक या पाँच निरक्षर व्यक्ति को साक्षर बनाने का नैतिक दायित्व इस दिशा में स्वीकार करें तो साक्षरता अभियान कार्यक्रमों को शत्-प्रतिशत सफलता मिल सकती है। लोगों को इस बात की अनुभूति कराना आवश्यक है कि 'निरक्षरता जन्मजात या ईश्वरीय अभिशाप नहीं अपितु मानव द्वारा निर्मित परिस्थितियों का परिणाम है।'

हाल ही में युनेस्को द्वारा एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें आगामी 10 वर्षों में निरक्षता के विरुद्ध संघर्ष हेतु नीतियों, रणनीतियों एवं कार्यक्रमों पर विचार किया गया। सम्मेलन द्वारा की गयी संस्तुतियाँ संक्षेप में अधोलिखित हैं :—(i) प्राथमिक विद्यालयों में प्रवेश के बाद किन्हीं कारणों से विद्यालय न जाने वाले छात्रों की संख्या पर नियंत्रण लगाना; इसके लिये अभिभावक, अध्यापक एव सम्पूर्ण समुदाय से सम्पर्क तथा उन्हें मार्गदर्शन, मंत्रणा देना, (ii) मध्यकालीन आहार की व्यवस्था करना, (iii) विभिन्न स्तरों पर साक्षरता कार्यक्रमों में गैर सरकारी तथा स्वैच्छिक अभिकरणों को संलग्न करना, (iv) पुरुष तथा स्त्री एवं बालक तथा बालिकाओं के बीच प्राथमिक विद्यालयों में अन्तर, भेदभाव को समूल नष्ट करना, (v) महिला संगठनों के साथ प्रभावकारी नीति का निरूपण, (6) सीखने की मूलभूत आवश्यकताओं की पहचान करने में युवकों एवं प्रौढ़ों को संलग्न करना।

राष्ट्रीय साक्षरता अभियान से जुड़े अनेक संगठनों ने सन्तोषप्रद कार्य किये हैं। इस दिशा में युवक कल्याण संघ के० अइयमपल्लम, के० एन०

पुरम, कोयम्बटूर, तमिलनाडु ने 15–35 वर्ष की आयु के सैकड़ों ग्रामीण लोगों को साक्षर बनाने के साथ ही सार्वजनिक वाचनालय, पुस्तकालय, प्राथमिक विद्यालय का संचालन तथा विभिन्न प्रकार की सुविधायें, प्रेरणायें देकर विद्यालय छोड़ देने की प्रवृत्ति को रोकने के प्रशंसनीय प्रयास किये हैं।

विगत् उपागमों, कार्यक्रमों की समीक्षा :

स्वातन्त्र्योत्तर अवधि में युवा कल्याण कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण यह प्रदर्शित करता है कि कुछ अपवादों के साथ युवा कल्याण कार्यक्रमों का उपागम किसी भी प्रकार से सतत् नहीं था और न ही निश्चित। युवक एक समस्या के रूप में समझा जाता था, जिसे सुलझाना आवश्यक था। एन० सी० सी० और एन० एस० एस० आदि का प्रयोजन नवयुवकों को आन्दोलन के मार्ग से हटाकर रचनात्मक क्रिया-कलापों में लगाना था। ग्रामीण युवा को उत्पादकता अनुस्थापक के रूप में भी समझा गया। इन कार्यक्रमों ने सरकार के लिये एक सशक्त भूमिका परिकल्पित की। यह नहीं कहा जा सकता कि युवकों के प्रति गैर शासकीय अभिकरणों का उपागम महत्त्वपूर्ण रूप में सरकारी उपागम से भिन्न था। यह सच है कि कुछ उत्साही नवयुवकों द्वारा स्थानीय युवा क्लबों की स्थापना और युवाओं एवं सामान्य समुदाय के लिये क्रियाकलाप करने के यदा-कदा उदाहरण मिल जाते हैं। बहुधा इस प्रकार के प्रयास दीर्घ जीवी नहीं प्रतीत होते। अनेक वयोवृद्धों विशेषतः राजनीतिज्ञों ने युवा संगठनों को स्थापित किया और उनपर सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन की छाप लगायी। इसने युवा नेतृत्व का अवमूल्यन किया। यह वयोवृद्ध लोगों द्वारा युवाओं के शोषण का एक प्रकरण है।

दुर्भाग्यवश कभी-कभी नवयुवक इन वृत्तिक नेताओं के हाथ में स्वयं इच्छित उपकरण होते रहे हैं। बहुत से गैर सरकारी युवा सेवा अभिकरण जो वयोवृद्ध लोगों द्वारा प्रायोजित एवं प्रबन्धित होते रहे हैं, ने युवकों के लिये क्रियाकलापों का आयोजन किया है। वाई० एम० सी० ए०, रामकृष्ण मिशन, भारत स्काउट्स और गाइड इस प्रकार के दृष्टान्त हैं। ये युवकों को अर्थपूर्ण सेवा प्रदान करने का अच्छा कार्य करते हैं फिर भी इनके अधिकांश कार्यक्रमों में युवकों की संलग्नता मुख्यतः सम्बन्धित संगठन के लाभार्थियों के रूप में ही रही। इस प्रकार पितृवाद युवा कल्याण के सरकारी उपागम की ऐसी विशेषता है, जो गैर सरकारी अभिकरणों के उपागमों में भी समान रूप से पायी जाती है।

फिर भी इस क्षितिज पर नयी प्रवृत्ति उदित हो रही है। प्रतिबद्ध युवकों ने

एकजुट होने, ग्रामीण समुदायों में रहने, लोगों को उनकी शक्ति का उपयोग करने में समर्थ बनाने हेतु संगठित करने और उनके उत्थान के लिए उनके साथ मिलकर कार्य करने का प्रयास किया है। मूल सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन के साधन के रूप में युवकों का उपयोग उनके कार्य का मुख्य तत्त्व है। ऐसे समूहों की संख्या कम है फिर भी इनकी उपस्थिति पर ध्यान दिया जाने लगा है और यह भविष्य के लिये एक शुभ शकुन है।

वर्तमान उपागम को समीक्षा की आवश्यकता :

युवकों के कल्याण हेतु सर्वाधिक चिन्ता जो आज हमारे नेताओं द्वारा प्रदर्शित की जा रही है स्वागत के योग्य है किन्तु इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि वर्तमान उपागम अधिक लाभांश नहीं उत्पन्न कर पा रहा है। युवकों में असन्तोष और उनका प्रगटीकरण पूर्व की अपेक्षा वर्तमान में अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसी दशा में देश के भविष्य के लिये वर्तमान कार्यक्रमों एवं नीतियों पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। इस सांख्यकीय तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि देश की जनसंख्या का महत्त्वपूर्ण भाग 15 से 30 वर्ष की आयु वर्ग के नवयुवकों से निर्मित है। ज्ञान के विस्फोट एवं भारतीय परम्परागत् समाज पर आधुनिकीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण के संघात के कारण नवयुवकों की बड़ी तादात की अभिवृत्तियाँ एवं मूल्य तथा पुरानी पीढ़ी जो अभी भी बहुत कुछ अपना वर्चस्व बनाये है की अभिवृत्तियों एवं मूल्यों से काफी भिन्न हैं पर युगों पुरानी जाति एवं संयुक्त परिवार प्रथाओं पर तीव्र प्रहार किया जा रहा है।

नवयुवकों की अनेक भिन्न-भिन्न आवश्यकतायें हैं और इन भिन्न आवश्यकताओं यथा-शिक्षा, रोजगार, निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी की पूर्ति में असफलता अनेक दूसरी समस्याओं को जन्म देती हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् होने वाले संवैधानिक परिवर्तनों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। युवक चुनावों में केवल मत देने के लिये ही अर्ह नहीं हुए हैं और केवल राजनैतिक पार्टियों के भाग्य का फैसला ही नहीं करते अपितु निम्नतम से लेकर उच्चतम राजनैतिक पदों को धारण करने के अधिकारी हैं। इसलिये जो सम्बन्ध नवयुवक विकसित करते हैं वे बड़े राजनैतिक महत्त्व के हो जाते हैं। ये सम्बन्ध सिनेमा, समाचार-पत्र, दूरदर्शन, आदि जन सम्पर्क के माध्यमों द्वारा विकृत हो सकते हैं।

नवीन परिप्रेक्ष्य :

युवा नीति के दो पहलू हैं—युवकों के लिये और युवकों की एक नीति

तथा युवकों की एक ऐसी नीति जो नवीन मूल्यों एवं महत्त्वाकांक्षाओं पर आधारित नये समाज की रचना का प्रयास करे।

नवयुवक की देखभाल और ध्यान ही विषय नहीं है अपितु उचित और अनुचित के उनकी दृष्टिकोण पर आधारित नवीन सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का पथ अन्वेषण भी है।

नवीन युवा नीति के अन्तर्गत् सर्वप्रथम युवाओं की आवश्यकताओं की पहचान करनी होगी। कुछ आवश्यकताएँ जैसे—शिक्षा की आवश्यकता सम्पूर्ण देश में एक समान होगी परन्तु अन्य आवश्यकतायें स्थानानुसार भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। आवश्यकताओं में इस व्यापक विविधता एवं इसके परिणाम-स्वरूप युवकों की जनसंख्यानुरूप समस्याओं में भिन्नता को जीवन के यथार्थ के रूप में स्वीकार करना चाहिए। केन्द्रीय नियोजन प्रक्रिया के हम जिस प्रकार अभ्यस्त हो गये हैं और युवकों के कल्याण के उन कार्यक्रमों को हम राष्ट्रीय अभिकरणों के आधार पर तैयार करने में प्रवृत्त होते हैं जो वर्तमान विविधताओं के होते हुए भी सम्पूर्ण देश में समान नियमों एवं विनियमों के अनुसार कार्यान्वित होने की अपेक्षा रखते हैं।

समन्वित उपागम के अन्तर्गत् विभिन्न मदों में प्राप्त संसाधनों को प्रभावकारी योजना निर्माण हेतु समेकित करना है। यह युवकों के विकास व स्वपूर्ति हेतु बेहतर अवसरों को प्राप्त करने में सहायक होगा। गैर सरकारी अभिकरणों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है और सरकारी तथा गैर सरकारी प्रयासों को समन्वित करने की भी आवश्यकता है।

यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि सभी क्षेत्रों में सरकार ही कार्य करती हुई दिखलाई पड़े। यहाँ तक कि स्वैच्छिक संगठन भी अधिकाधिक सरकारी सहायता की आशा करते हैं। यदि सरकार ही सभी कुछ करती है तो स्वैच्छिक संगठनों का योगदान क्या होगा सरकार को, सम्बन्धित लोगों को और समुदाय को त्रिपक्षीय विकास माध्यम के स्थान पर एकजुट होकर सर्वसम्मति से राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कार्य करना चाहिये।

प्रायः ऐसा होता है कि नवयुवकों में सहयोगी जीवन और जनतान्त्रिक मूल्यों का विकास नहीं हो पाता और वे स्वयं अपने कार्यक्रमों का निर्धारण एवं संचालन नहीं करते। इसके अतिरिक्त विभिन्न परिस्थितियों, कारणों के परिणामस्वरूप वे स्वयं को अनेक शारीरिक, मानसिक व्याधियों से ग्रस्त बना लेते हैं जिसके फलस्वरूप उनका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाता है। युवा कल्याण के कार्यक्रमों को ऐसा मोड़ देने की आवश्यकता है जो उनके सर्वांगीण

विकास को अधिकाधिक सरल बना सके। यह कार्य अन्य उपायों के अतिरिक्त बहुत से सन्दर्भों में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की सेवाओं को उपलब्ध करके किया जा सकता है।

समय की पुकार है कि देश के युवक भारत की अविभाज्यता की सुनिश्चितता एकता, विभिन्न संस्कृतियों, विचारों एवं रीति-रिवाजों के सम्मिश्रण के प्रतीक के रूप में पहचान बनाने की दिशा में सचेतन, निष्ठा पूर्ण एवं उत्साह-पूर्वक काम करें जिससे पृथकतावाद, साम्प्रदायिकता भाषा-विवाद तथा देश और समाज के विकास के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाली अन्य बुराइयों को समाप्त किया जा सके। युवाओं को भारत की प्राचीन संस्कृति के महत्त्वपूर्ण आदर्शों अर्थात् सहिष्णुता, त्याग, प्रेम, सौहार्द्र से पूर्णतः ओत-प्रोत होना चाहिये।

●

अध्याय–11

विद्यालयीय समाज कार्य

व्यक्ति के वैयक्तिक व सामाजिक विकास में शिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, शिक्षा हमारी भावनाओं को अनुशासित करती है, हमारे सोच एवं समझ को विवेकशील बनाती है, हमारी भावनाओं को नियमित करती है, हमारे व्यवहार को निर्देशित करती है और अन्तिम रूप में हमारी आत्म-शक्तियों का विकास करती है जिससे हम अपने चारों ओर व्याप्त सामाजिक वास्तविकता को समझने एवं उसके साथ समायोजन स्थापित करने में सक्षम होते हैं। शिक्षा, चाहे वह औपचारिक हो अथवा अनौपचारिक, पूर्व समय से ही समाज में संचार के एक महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रयुक्त रही है। आने वाली प्रत्येक पीढ़ी को लिखित अथवा मौखिक संचार के साधनों के माध्यम से पूर्व-पीढ़ी के अनुभव, ज्ञान तथा उपलब्धियाँ प्राप्त होती रही हैं। समाज में एकता एवं निरन्तरता स्थापित करने वाले मूल्यों, परम्पराओं एवं आदर्शों को शिक्षा के माध्यम से ही लोगों तक पहुँचाया जाता है तथा वे इसी के माध्यम से अपने व्यवहार में इन मूल्यों, परम्पराओं एवं आदर्शों को आत्मसात् करते हैं।

एक प्रजातांत्रिक समाज की सफलता के लिए आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त हो ताकि वह समाज के सदस्य के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर सके। सही माने में प्रजातन्त्र की स्थापना उस समाज में नहीं हो सकती है जहाँ पर समुदाय के सदस्य पूर्णरूप से सूचित एवं सचेत नहीं हैं। सूचना का अभाव व्यक्तियों में अभिरुचि की विहीनता को पनपाता है। व्यक्तियों के कल्याण एवं भलाई के लिए तथा एक न्माययुक्त एवं शोषण विहीन समाज की स्थापना के लिए किये गये प्रयास चाहे वे कानून के रूप में क्यों न हों, अनुपयुक्त एवं निष्प्रभावी साबित होते हैं, अगर व्यक्ति पूर्णरूप से इनसे परिचित नहीं है। इस कार्य के लिये व्यक्तियों को शिक्षित होना परम् आवश्यक है। आधुनिक विश्व में व्यक्तियों को अच्छे नागरिक बनने हेतु प्रयास करना बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अच्छी नागरिकता वर्तमान समय की माँग है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्तियों में अच्छी नागरिकता का विकास किया जा सकता है तथा उन्हें उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों के विषय में जानकारी प्रदान की जा सकती है। आज की सामा-

जिक संरचना इतनी जटिल हो गयी है कि व्यक्ति द्वारा परिवार में सीखे हुए सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों के साथ तथा जटिल सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश में व्यक्तियों द्वारा स्थापित सम्बन्धों के आदर्श के रूप में कार्य नहीं कर सकते हैं; अतः पारिवारिक जीवन सम्बन्धी शिक्षा की संवृद्धि राष्ट्रीय तथा विश्व नागरिकता की शिक्षा द्वारा की जानी चाहिये। चूँकि परम्परा पर आधारित शिक्षा व्यक्तियों के दृष्टिकोण में व्यापकता नहीं लाती है अतः वे अच्छे नागरिक नहीं बन पाते हैं। अर्नेस्ट बारकट के अनुसार नागरिकता की शिक्षा वास्तविक रूप से अधिकार एवं कर्तव्य, जो कि हम सब लोगों से सम्बन्धित होते हैं तथा हमारे देश की सरकार को बनाने, प्रेरित करने तथा चलाने में सहायक होते हैं, की निष्पत्ति के लिये स्वयं शिक्षा की एक प्रक्रिया है।[1] कार्ल मनहिम ने भी विस्तृत ''जानकारी'' की आवश्यकता पर बल दिया है। उनके अनुसार शिक्षा व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार से करने के लिये प्रेरित करती है कि उसमें पूरी स्थिति समझते हुए एक व्यापक दृष्टिकोण का विकास हो सके।[2]

पूर्व समय से ही दार्शनिकों एवं शिक्षाविदों ने शिक्षा के सामाजिक प्रभावों तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर शैक्षिक संस्थाओं के प्रभाव पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। जब से समाजशास्त्र की स्थापना एक विषय के रूप में हुई तब से इसने शिक्षा तथा ज्ञान के समाजशास्त्रीय आधार पर अपनी चिन्ता व्यक्त की है। समाजशास्त्रीय ज्ञान में यह सामान्य विचारधारा रही है कि मौजूदा सामाजिक तथा सांस्कृतिक अभिलाषायें शैक्षिक संस्थाओं को पारिभाषित करती रही हैं तथा इसके विपरीत शिक्षा प्रत्येक समाज के अपने सामाजिक सम्बन्धों का जाल बनाने के लिय महत्त्वपूर्ण मूल्यों एवं आदर्शों के निर्धारक के रूप में कार्य करती है।

विद्यालयीय शिक्षा :

विद्यालय शिक्षा को एक औपचारिक प्रक्रिया में ढालते हैं। इनके माध्यम से व्यक्ति को शिक्षा उसके बचपन से लेकर वयस्क होने तक प्रदान की जाती है। यद्यपि विद्यालयीय शिक्षा को ज्ञान का एकमात्र भण्डार तथा इसे प्रदान करने की एकमात्र संस्था के रूप में नहीं देखा जा सकता है क्योंकि अन्य माध्यमों से व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु यह सच है कि विद्यालयीय शिक्षा व्यक्ति के जीवन को काफी हद तक प्रभावित करती है।

आधुनिक समय मे शिक्षा एक संघर्षशील एवं आत्मानुसंधान-काल से गुजर रही है क्योंकि आजकल के युवाओं में शिक्षा के प्रति उदासीनता बढ़ती जा

रही है। इसके प्रमुख कारणों में शिक्षा का उपयोगी एवं अर्थपूर्ण न होना, गरीबी की समस्या, जाति तथा वर्ग सम्बन्धी संघर्ष, कुछ स्थानों पर शिक्षार्थियों में बढ़ती नशाखोरी, अपराध, शिक्षा में उसकी आशा से कम उपलब्धि, पीढ़ियों में संघर्ष इत्यादि हैं। पीढ़ियों में आपसी संघर्ष के कारण विद्यार्थियों में खुला विरोध देखने को मिलता है। विद्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार, शिक्षार्थियों के प्रति धार्मिक एवं जातिगत् विभेद, विद्यालयीय शिक्षा प्रदान करने वाले तरीकों में नीरसता इत्यादि के कारण विद्यालय छोड़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है। विद्यालय में भौतिक सुविधाओं, जैसे विद्यालय भवन का अभाव, शिक्षण सामग्री का अभाव, दोषपूर्ण शिक्षण व्यवस्था इत्यादि भी विद्यार्थियों को कम प्रभावित नहीं करती हैं। इसके अतिरिक्त विद्यालयों के अध्यापकों एवं प्रशासकों में व्याप्त गुटबन्दी तथा झगड़े एवं उनमें आपसी खींचतान भी छात्रों के लिये कष्ट का कारण बनती है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि यदि समय पर इन समस्याओं में सुधार का कोई उचित कदम नहीं उठाया गया तो स्थिति और बिगड़ जायेगी। अतः समय रहने विद्यालयीय कर्मचारियों एवं प्रशासकों से यह आशा की जाती है कि वे इन समस्याओं को सुलझाने के लिए उचित प्रयास करें लेकिन यह सम्भव है कि उनके प्रयास उचित एवं पर्याप्त न हों क्योंकि ये समस्यायें राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित हैं।

विद्यालयों के समक्ष यह समस्या है कि वे समस्त विद्यार्थियों जिनकी योग्यता एवं अभिरुचि अलग-अलग है, को सीमित साधनों में ही शिक्षा प्रदान करें। इसके लिये पूर्व तैयारी का भी समय विद्यालयों के पास नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा एक सामाजिक संस्था है जो कि सामाजिक परिवर्तन तथा नवप्रवर्तन के लिये प्रतिबद्ध रहती है। अतः विद्यालयों का यह दायित्व बनता है कि वे विद्यार्थियों को वयस्कों की भूमिका निभाने के लिए तैयार करें तथा इसके साथ-साथ यह भी विद्यालयों से आशा की जाती है कि वे विद्यार्थियों में उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिकता का विकास करेंगे जो कि एक प्रजातांत्रिक समाज के लिए परम् आवश्यक है।

आधुनिक समय में विद्यालयीय शिक्षा से यह अपेक्षा की गई है कि वह प्रजातांत्रिक समाज में बच्चों को इस योग्य बनाएँ कि उन्हें उनकी क्षमता का भान हो सके तथा वे राष्ट्रीय जीवन में पूर्णरूप से भागीदार बन सकें। प्रायः विद्यार्थियों की सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न होती है, इससे विद्यालयों को विभिन्न भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये विद्यालयों को सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपनी शैक्षिक प्रणाली में परिवर्तन लाना आवश्यक हो जाता है क्योंकि सीखना परिवर्तन है तथा शिक्षा एक प्रक्रिया है जो

सीखने वाले में परिवर्तन लाती है।[3] परन्तु विद्यालयों की यह समस्या है कि आधुनिक समय की माँग बदल रही है लेकिन विद्यालय उन्हीं मूल्यों एवं परम्पराओं पर चल रहे हैं जिनकी आधुनिक समय में या तो आवश्यकता नहीं है या तो जिनके महत्त्व में पर्याप्त कमी आ गई है। शिक्षा के क्षेत्र में नौकरशाही ने स्थिति और बिगाड़ दी है क्योंकि इससे शिक्षा के क्षेत्र में लोचशीलता का अभाव होता जा रहा है तथा इसके कारण निरर्थकता को बढ़ावा मिलता है। शिक्षा की आलोचना इसलिए की जाती है क्योंकि यह आधुनिक वातावरण में परिस्थितियों, संरक्षकों एवं विद्यार्थियों की भावनाओं एवं आशाओं के अनुरूप नहीं है। इस कारण से शिक्षा के क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तनों तथा नवप्रवर्तनों का होते रहना आवश्यक है।

विद्यालय का उद्‌देश्य केवल अपने विद्यार्थियों को औपचारिक शिक्षा ही नहीं प्रदान करना है जिससे वे उपाधि तथा प्रमाणपत्र प्राप्त करने योग्य हो सकें, बल्कि उनमें यह विश्वास भी जगाना है कि वे किसी भी सामाजिक समस्या का समाधान प्राप्त करने में शिक्षा की शक्ति का प्रयोग कर सकें। फ्रेडरियन के अनुसार विद्यालय से सूचना प्रदान करने के अतिरिक्त बच्चे को अपने मस्तिष्क एवं शरीर का प्रयोग करने में सहायता प्रदान करनी चाहिए ताकि उसके अन्य व्यक्तियों के साथ सन्तोषजनक सम्बन्ध विकसित हो सकें।[4] बच्चे का विद्यालयीय अनुभव उसके सामाजिक वातावरण के साथ समन्वित किया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति की जिन्दगी में बचपन के वर्ष निर्माण के वर्ष होते हैं। बचपन का महत्त्वपूर्ण भाग विद्यालय में व्यतीत होता है, इसलिए विद्यालय बच्चे के समायोजन अथवा असमायोजन और उसके व्यक्तित्व के निर्माण में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कुछ विद्यार्थियों द्वारा अपने अध्यापक की भूमिका को आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है; इस कारण बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में अध्यापक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त सामान्यतः सम्पूर्ण समुदाय के लिए विद्यालयों ने अपनी भूमिका निभायी हैं तथा नागरिकों की शैक्षिक स्थिति में सुधार किया जाता रहा है, परन्तु दलित तथा पिछड़े वर्ग के बच्चों को विभेदकारी स्थितियों से निपटने के लिए तैयार ।करने में विद्यालयीय शिक्षा असफल रही है। इसके अतिरिक्त इसमें संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार की कमियाँ रही हैं।

शिक्षा की उपाधि अथवा प्रमाण-पत्र व्यावसायिक व्यवस्था का आधार

है। समाज के बदलते प्रतिमान, संचार के साधनों का विकास, प्रौद्योगिकी में होने वाले उत्तरोत्तर परिवर्तनों एवं नवीन प्रयोगों इत्यादि कारणों से युवकों से अपेक्षाएँ बढ़ गयी हैं तथा उनकी भी समाज से अपेक्षाएँ बढ़ गई हैं। उनकी व्यावसायिक अपेक्षाओं में भी वृद्धि हुई है। शिक्षा इन अपेक्षाओं के अनुरूप व्यावसायिक व्यवस्था प्रदान करने में असफल रही है। इन कारणों से उनमें कुण्ठा का विकास हुआ है तथा हिंसा का भी विकास हुआ है।

विद्यार्थियों के माता-पिता एवं अभिभावकों द्वारा उनसे उच्च मानक की आशा करना भी एक समस्या बन गयी है क्योंकि व्यावसायिक शिक्षा में अच्छे विद्यार्थी ही प्रवेश कर पाते हैं अतः प्रत्येक अभिभावक यह चाहता है कि उसके बच्चे व्यावसायिक शिक्षा में जायें। इस प्रवृत्ति से भी अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं।

विद्यार्थी व्यक्तिगत् अन्तरों की समस्या से ग्रस्त होते हैं क्योंकि उनकी पृष्ठ-भूमि, उनके गुण तथा उनकी अभिरुचियाँ एवं उनकी क्षमताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इन पारस्परिक अन्तरों के कारण जो विद्यार्थी कक्षा के मानक के अनुरूप नहीं होता है उसमें कुण्ठा एवं विचलन की भावना के आ जाने की सम्भावना हो जाती है। इस प्रकार के बच्चों के लिये विशेष कक्षा या विद्यालय की आवश्यकता पड़ सकती है जिससे अनेक समस्याओं का जन्म होता है।

विद्यालय एक मानव सेवा प्रदान करने वाला संगठन है जो कि बच्चे में परिवर्तन लाने के साथ-साथ उसे समाज की परिस्थितियों एवं वास्तविकताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए तैयार करता है। इसी प्रकार से वह बच्चो का समाजीकरण करने के साथ-साथ सामाजिक नियन्त्रण की एक संस्था के रूप में कार्य करता है। बच्चे पर विद्यालय का सामाजिक नियन्त्रण तभी तक बना रहता है जब तक वह उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहता है; परन्तु, वर्तमान समय में परिवर्तन की तीव्रता एवं अन्य संरचनात्मक कारणों से विद्यालय बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। विद्यालयों के स्थान पर शिक्षा प्रदान करने के अन्य केन्द्र बन गए हैं, शिक्षक कक्षा में शिक्षा प्रदान करने के स्थान पर धन की लालसा में अपने घरों पर शिक्षा प्रदान करने लगे है या अन्य केन्द्रों पर शिक्षा देने जाने लगे हैं जिसके कारण विद्यार्थी में विद्यालयीय शिक्षा में अविश्वास उत्पन्न हो रहा है तथा बच्चे पर विद्यालय का नियन्त्रण कम होता जा रहा है। इस परिस्थिति में विद्यालय न तो एक समाजी-करण प्रदान करने वाली संस्था के रूप में और न ही एक सामाजिक नियन्त्रण

की संस्था के रूप में कार्य कर पा रहा है। इससे भी अनेक समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न विद्यालयों में चलाये जा रहे पाठ्यक्रमों, अध्यापन के मानकों, अध्यापकों के स्तरों, विद्यालय में प्राप्त सुविधाओं, अनुशासन के स्तरों इत्यादि में भी भिन्नताएँ पायी जाती हैं। इन भिन्नताओं के कारण विद्यालयों में सीखने सम्बन्धी वातावरण में अन्तर आ जाता है। यह अन्तर भी बच्चों द्वारा विद्यालय से सामंजस्य स्थापित करने को प्रभावित करता है। इसके साथ-साथ असामंजस्यता से ग्रस्त बच्चों के प्रति विद्यालय द्वारा किये गये कार्य भी महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि कुछ विद्यालयों में इस प्रकार के बच्चों के प्रति पूर्ण चिन्ता व्यक्त की जाती है तथा इन्हें विद्यालय के साथ-साथ सामंजस्य की स्थिति में लाने के लिए प्रयास किया जाता है जिन्हें कभी-कभी सुधारात्मक उपायों की संज्ञा दी जाती है और कुछ विद्यालयों में इस प्रकार के बच्चों के प्रति उदासीनता दिखाई जाती है जिससे समस्या और गम्भीर रूप धारण कर लेती है; कुछ विद्यालयों में इस प्रकार के विद्यार्थियों को विद्यालय छोड़ने पर मजबूर किया जाता है। एक विद्यालय द्वारा किसी विद्यार्थी का विचलित व्यवहार प्रदर्शित करने वाले रूप में घोषित होने पर उस विद्यार्थी की पहचान, उसकी महत्ता एवं उसकी प्रतिष्ठा पर असर पड़ता है तथा उसका समायोजन तथा असमायोजन उसके प्रति किये जा रहे व्यवहार पर निर्भर करता है।

आई० ए० शैरिफ, टी० वी० एल०वी० रमनैय्या तथा टी० मुरलीधर[5] ने बच्चों में असमायोजन के कारणों से सम्बन्धित सूची तैयार की है जो इस प्रकार है :—

1. वातावरण से सम्बन्धित कारक :

[अ] विद्यालय के अन्तर्गत् :—

(i) विद्यालय से अनुपस्थिति का दोहराया जाना,

(ii) विद्यालय परिवर्तित होते रहना,

(iii) विद्यालय का ठीक न होना,

(iv) कक्षा का ठीक न होना,

(iv.1) कार्य का अत्यन्त कठिन होना,

(iv.2) कार्य का अत्यन्त सरल होना,

(v) अध्यापक का व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण न होना,

(vi) अन्य विद्यार्थियों का व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण न होना।

(आ) घर के अन्तर्गत् :—

(क) गरीबी एवं इससे सम्बन्धित कारक :

(i) बहुत गरीब, (ii) गरीब, (iii) आरामदायक जीवन व्यतीत करने वाले, (iv) धनी, (v) घर में अधिक भीड़-भाड़, (vi) मनोरंजन की सुविधाओं का अभाव।

[ख] पारिवारिक सम्बन्धों का त्रुटिपूर्ण होना :

(i) पिता की मृत्यु अथवा उसकी अनुपस्थिति,

(ii) पिता द्वारा परिवार छोड़ देना,

(iii) माता की मृत्यु,

(iv) माता द्वारा परिवार छोड़ देना,

(v) माता की मृत्यु,

(vi) माता के कार्य पर जाने के कारण परिवार से बाहर रहना,

(vii) सौतेले अथवा पालक माता-पिता,

(viii) अवांछित सन्तान होना,

(ix) केवल एक ही बच्चा होना तथा

(x) पूर्व-विद्यालय की दशाओं का त्रुटिपूर्ण होना।

[ग] अनुशासन इत्यादि का त्रुटिपूर्ण होना :

(i) आवश्यकता से अधिक कठोर अनुशासन, (ii) कमजोर अनुशासन, (iii) नियन्त्रण के विषय में सहमति न होना, (iv) लगाव की कमी, (v) अन्य भाई-बहनों से असहमति एवं जलन तथा (vi) माता-पिता का मानसिक समस्याओं से ग्रस्त होना।

[घ] विद्यालय एवं घर के बाहर :

(i) मनोविनोद की आवश्यकता से अधिक सुविधायें,

(ii) मनोविनोद की त्रुटिपूर्ण सुविधायें,

(iii) अवांछित तथा हानिकारक साथ तथा

(iv) साथी का अभाव।

[ङ] समस्याग्रस्त घर एवं परिवार :

(i) लैंगिक अनैतिकता, (ii) झगड़े की स्थिति तथा

(iii) शराब का सेवन।

[इ] शारीरिक कारक :

[क] विकास से सम्बन्धित :

(i) अर्द्ध-विकसित, (ii) अधिक विकसित तथा (iii) कुछ विशेषताओं का पाया जाना।

[ख] व्याधि की समस्याएँ :

(i) सामान्य रूप से खराब स्वास्थ्य,

(ii) वर्तमान विशेषीकृत रोग तथा कमियाँ,

(iii) पूर्ण विशेषीकृत रोग तथा कमियाँ,

(iv) मानसिक कमियाँ एवं (v) मनो सामाजिक विकार।

[ई] बौद्धिक कारक :

[क] आन्तरिक समस्याएँ :

(i) सामान्य बुद्धिमत्ता से सम्बन्धित, (ii) मानसिक कमी, (iii) सुस्ती तथा (iv) आवश्यकता से अधिक अपने को बुद्धिमान समझना।

[ख] विशेषीकृत योग्यतायें :

मुख्य रूप से अर्जित की गई समस्यायें :

(क) सामान्य शैक्षिक पिछड़ापन,

(ख) विशेषीकृत शैक्षिक पिछड़ापन,

(i) पढ़ने से सम्बन्धित,

(ii) लिखने से सम्बन्धित,

(iii) उच्चारण से सम्बन्धित।

[उ] संवेगात्मक कारक :

[क] स्पष्ट दीखने वाले आन्तरिक कारक :

(1) सामान्य संवेगात्मक

(i) अस्थिर एवं (ii) स्वभाव में कमी

(2) स्वभाव में कमी का परिलक्षण :

(i) आवश्यकता से अधिक बहिर्मुखी तथा

(ii) आवश्यकता से अधिक अन्तर्मुखी।

(3) विशेषीकृत संवेगों का पाया जाना :

(i) कायरता, (ii) क्रोधी स्वभाव, (iii) कामुकता तथा

(iv) घुमक्कड़पन।

[ख] मुख्य रूप से अर्जित कारक :

(1) विकासशील अथवा सामान्य :

(i) अधिकतर किशोरों में व्याप्त अस्थिरता, (ii) वैयक्तिक भावुकता तथा (iii) अवैयक्तिक भावुकता।

(2) मनस्तंत्रिका ताप :

(i) हिस्टीरिया, (ii) मनोग्रन्थियाँ एवं बाध्यतायें, (iii) दुश्चिन्ता की

स्थिति, (iv) तंत्रिका ताप, दुर्बल संयोग तथा (v) मनोविकृति तथा पूर्व मनस्तापी ।

(3) आदतन संवेगात्मक प्रतिक्रिया :

(i) संघर्ष, (ii) प्रतिगमन, (iii) अध्यवसाय, (iv) हीनता की भावना, (v) श्रेष्ठता की भावना, (vi) असुरक्षा की भावना, (vii) चिड़चिड़ापन, (viii) जलन, (ix) अन्य परिवेदनायें तथा (x) असंयमता ।

[उ] नैतिक कारक :

(1) नैतिक संघर्ष तथा (2) धार्मिक संघर्ष ।

विमल तथा शेफर्ड[6] ने बच्चों के असामाजिक व्यवहार को निम्नलिखित एक सूची प्रस्तुत की है :

(i) अत्यधिक व्यग्रता, एक क्षण भी शान्त न बैठना,
(ii) अन्य बच्चों की तुलना में अधिक चिल्लाना,
(iii) हकलाहट से ग्रस्त होना,
(iv) बोलने में अक्सर कष्ट का अनुभव करना,
(v) झूठ बोलने की आदत होना,
(vi) एक अथवा एक से अधिक अवसरों पर वस्तुओं की चोरी करना,
(vii) बहुत साधारण तरीके से ही डर जाना,
(viii) उँगली तथा नाखूनों को कुतरते रहना,
(ix) अँगूठा तथा अँगुली को चूसते रहने की आदत होना,
(x) अत्यन्त चिड़चिड़ेपन से ग्रस्त होना,
(xi) एक वर्ष में एक अथवा कई बार स्वभाव से सम्बन्धित आवेगों से ग्रस्त होना,
(xii) कक्षा में सहयोगपूर्ण स्वभाव का प्रदर्शन करना,
(xiii) बहुत शर्मीला होना तथा अन्य बच्चों के साथ मिलकर कार्य न करना,
(xiv) अपने विद्यालय को मैला करना,
(xv) चेहरे अथवा शरीर पर खिंचाव की स्थिति रहना,
(xvi) अन्य बच्चों की तुलना में अधिक परेशान होना,
(xvii) दूसरे बच्चों के प्रति आक्रामक व्यवहार अपनाना,
(xviii) बहुत चुपचाप अथवा खिंचे-खिंचे रहना,
(xix) व्यवहार को क्षण-क्षण पर बदलते रहना,
(xx) विद्यालयीय कार्य में अभिरुचि न लेना,
(xxi) विद्यालय आने में भय का अनुभव करना,

इन कारणों से बच्चों में असमायोजन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिससे उसके पूर्ण विकास पर खराब असर पड़ सकती है जो उसे एक अच्छा नागरिक बनने में अनेक बाधायें उत्पन्न करता है।

शिक्षा व्यवस्था, विद्यालय तथा बच्चों के समस्याग्रस्त होने के कारण समाज कार्य सेवाओं की आवश्यकता होती है क्योंकि समाज कार्य तथा शिक्षा दोनों अपने उद्देश्यों में व्यक्तित्व का विकास तथा सामाजिक परिवर्तन को वर्णित करते हैं। यह समानता समाज कार्य को शिक्षा के क्षेत्र में उपयोगी बनाती है। औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षिक परिवेशों में समाजकार्य की शैली तथा प्रविधियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। औपचारिक शिक्षा की प्रक्रिया विद्यालय के स्तर से प्रारम्भ होती है अतः समाजकार्य की भूमिका पर किसी भी प्रकार का चिन्तन प्रारम्भिक शिक्षा से आरम्भ किया जा सकता है।

विद्यालयीय समाजकार्य का अर्थ :

कास्टिन के अनुसार विद्यालयीय समाजकार्य का तात्पर्य 'विद्यालय के मुख्य उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य ने समाजकार्य सिद्धान्तों एवं शैली का प्रयोग करना है।"[7]

फ्लोरेन्स पोले ने विद्यालयीय समाज सेवाओं को पारिभाषित करते हुए कहा कि विद्यालयीय कार्यक्रम में वे सेवायें आती हैं जो बच्चे को सामाजिक एवं संवेगात्मक समायोजन के विभिन्न पहलुओं में सहायता पहुँचाती हैं। इसमें मनोवैज्ञानिक तथा मनश्चिकित्सकीय सेवायें, उपस्थिति सम्बन्धी सेवायें, व्यावसायिक सलाह तथा विद्यालयीय समाजकार्य सेवायें सम्मिलिति हैं।[8]

इस प्रकार के विद्यालयीय समाजकार्य के अन्तर्गत विद्यालय में बच्चे की समस्याओं के कारणों का पता लगाते हुए इन्हें हल करने का प्रयास किया जाता है ताकि उनका पूर्ण सामंजस्य विद्यालय से हो सके। इस प्रक्रिया में समाजकार्य-शैली, निपुणताओं एवं सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। अतः विद्यालयीय समाजकार्यकर्ता विद्यालय के कार्यक्रमों में एक सहयोगी तथा पूरक के रूप में कार्य करता है।

विद्यालयीय समाजकार्य के उद्देश्य :

कास्टिन के अनुसार विद्यालयीय समाज कार्य का प्रमुख उद्देश्य बच्चों को सहायता पहुँचाना है ताकि उनमें पर्याप्त क्षमता एवं योग्यता, निरन्तर सीखने की तत्परता एवं परिवर्तन को आत्मसात् करने की योग्यता का विकास हो सके। विद्यालयीय समाजकार्य का संकेन्द्रण सीखने, सोचने तथा समस्या समाधान तथा परम्परागत् क्षेत्रों, जैसे सम्बन्धों, संवेगों, सम्प्रेरणा तथा व्यक्तित्व पर है।[9]

इस प्रकार से मौलिक रूप में विद्यालयीय समाजकार्य का प्रमुख उद्देश्य विद्यालय को अध्यापन, सीखने तथा योग्यता प्राप्त करने योग्य वातावरण प्रदान करना है। इस कारण से विद्यालयीय समाजकार्य के अन्तर्गत घर, विद्यालय एवं समुदाय के मध्य सहयोग स्थापित करके विद्यालय को एक केन्द्र बिन्दु के रूप में प्रयोग में लाया जाता है तथा इसके अतिरिक्त विद्यालयों को व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से सेवायें प्रदान की जाती हैं।

विद्यालयीय समाजकार्य के क्षेत्र :

प्रमुख रूप से विद्यालयीय समाजकार्य चार क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं : (1) विद्यालय व्यवस्था, (2) वाह्य समुदाय, (3) विद्यार्थियों की विशेषतायें, (4) विद्यार्थियों द्वारा महसूस की जाने वाली सामाजिक दशायें।

इस प्रकार से विद्यालयीय समाजकार्य विद्यालय को इस योग्य बनाता है कि वह बच्चे की विशिष्ट व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर ध्यान दे सके तथा प्रत्येक बच्चे को सफलता एवं उपलब्धि हेतु समान अवसर प्रदान किये जा सकें। इनके साथ-साथ इसमें समुदाय में स्थित अन्य संस्थाओं के साथ विद्यालय के सम्बन्धों पर भी ध्यान दिया जाता है।

विद्यालयीय समाजकार्य का विकास :

सन् 1906-1907 में विद्यालयीय समाजकार्य सर्वप्रथम तीन नगरों-न्यूयार्क, बोस्टन, हार्टफोर्ड में एक ही साथ किन्तु स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ हुआ। विद्यालय सम्बन्धी ये कार्यक्रम सामाजिक संस्थाओं द्वारा पोषित थे तथा इनको 'अतिथि अध्यापक कार्यक्रम' कहा जाता था। तभी से इन विद्यालयों में ये कार्य-क्रम विद्यालय व्यवस्था का एक अंग बन गये। 1914 में रोचेस्टर तथा न्यूयार्क शिक्षा परिषद् ने अतिथि अध्यापक की इस सेवा को पोषित किया।

कास्टिन के अनुसार, विद्यालयों में समाजकार्य अनिवार्य उपस्थिति 'कानूनों के मार्ग, बच्चों में पाये जाने वाले वैयक्तिक अन्तरों के विषय में नवीन ज्ञान, बच्चों के जीवन में विद्यालय तथा शिक्षा के महत्त्व के विषय में महसूस करने तथा घर एवं समुदाय में स्थित बच्चे के जीवन के लिये शिक्षा की उपयोगिता के प्रति चिन्ता के प्रत्युत्तर के रूप है।"[10]

इसके अतिरिक्त सेटेलमेन्ट हाउसेस में कार्यरत् सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इस बात पर बल दिया कि विद्यालयों को बच्चों के जीवन से अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इस कारण उन्होंने समाजकार्य की शैली के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1920 के दशक में कामनवेल्थ कोष

द्वारा प्रायोजित विद्यालयीय समाजकार्य के अनेक प्रदर्शन किये गये जिनसे इसमें काफी प्रगति हुई। इस काल में बाल-अपराध पर बल दिया जाता था।

1930 के दशक में बाल भगोड़ेपन तथा बाल अपराध पर कम बल दिया गया तथा इसके स्थान पर विद्यालय के वातावरण व परिप्रेक्ष्य में बच्चे पर व्यक्तिगत् रूप से बल दिया गया। 1940 तक विद्यालय तथा पड़ोसी दशाओं एवं सामाजिक परिवर्तन से हटकर व्यक्तित्व की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में चिकित्सीय अभिगम पर बल दिया जाने लगा। इस समय सामाजिक वैयक्तिक कार्य की शैली प्रयोग में लायी जाने लगी।

1960 एवं 1970 के मध्य विद्यालयीय समाजकार्य के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। समाजकार्य वृत्ति तथा शिक्षाशास्त्र ने उन सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं से ग्रस्त बच्चों, जिनके कारण वे शैक्षिक अवसरों के लाभ से वंचित रहते हैं, के विषय में आपस में सहयोग करना प्रारम्भ किया। सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा सामूहिक कार्य शैली पर बल दिया जाने लगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अमेरिका में प्रारम्भिक अवस्था में विद्यालयीय समाजकार्य का विकास एवं इसके लिए वित्तीय प्रबन्ध विद्यालय के बाहर स्थित स्रोतों द्वारा किया जाता था लेकिन वर्तमान समय में यह विद्यालय का एक अंग है तथा राज्य के कानूनों द्वारा इसे संरक्षित किया गया है।

भारतवर्ष में विद्यालयीय समाजकार्य का विकास बहुत ही धीमी गति से हुआ।

1960 के दशक के अन्तिम चरण में दिल्ली के एक विद्यालय में पूर्णकालिक सामाजिक कार्यकर्त्ता की नियुक्ति की गयी। इसके बाद अन्य विद्यालयों में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता सेवायोजित किये गये। नई दिल्ली नगर महापालिका समिति के विद्यालयों में विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता सेवायोजित किये गये जो प्राथमिक स्तर के बच्चों को अपनी सेवायें प्रदान करते हैं। ये कार्यकर्ता मुख्य रूप से व्यक्तित्व एवं वातावरणीय असमायोजन, चोरी, असफलता, भगोड़ेपन, बाल अपराध एवं व्यवहार अथवा आदतों से सम्बन्धित असमानता जैसी समस्याओं का हल ढूंढ़ते हैं। इनके द्वारा वैयक्तिक कार्यपद्धति का प्रयोग किया जाता है। आवश्यकतानुसार बच्चों को परामर्श भी दिया जाता है। बच्चों को निर्देश प्रदान करने वाली संस्थाओं में आवश्यकता पड़ने पर बच्चों को भेजा जाता है तथा आवश्यकतानुसार बच्चों के माता-पिता तथा अध्यापकों के साथ सम्पर्क स्थापित किया जाता है। आर्थिक कठिनाई के समय बच्चों का शिक्षा शुल्क माफ किया जाता है तथा अन्य प्रकार की वित्तीय सहा-

यता प्रदान की जाती है। विद्यालयीय समाज कार्यकर्ता बच्चों को वाह्य समुदाय की समस्याओं के निराकरण के लिए भी सहायता करते हैं। इसके लिये विशेष शिविरों का आयोजन किया जाता है। इनके अतिरिक्त उपयुक्त विषयों पर गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में विद्यालयीय समाजकार्य की स्थिति बहुत ही दयनीय है। विद्यालयों में सामाजिक कार्यकर्ता की सेवाओं की महत्ता को आज भी नहीं समझा जा रहा है।

विद्यालयीय समाजकार्य के लक्ष्य समूह :

प्राथमिकता के आधार पर इसके निम्नलिखित लक्ष्य समूह को सहाते हैं :–

(1) पूर्व-विद्यालय के बच्चे :

इस प्रकार के बच्चों की दैनिक देखभाल तथा इनकी पूर्व-विद्यालय शिक्षा पर बल बढ़ता जा रहा है। इस श्रेणी के बच्चों के लिये अनेक कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। इनको दैनिक देखभाल की सेवाओं की संज्ञा दी गयी है। ये सेवायें बच्चों के पारिवारिक देखभाल की पूरक सेवा के रूप में कार्य करती हैं। इस प्रकार की सेवाओं को उपलब्ध कराने में सामाजिक कार्यकर्ता महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं तथा उनके प्रयासों से विद्यालय बाल कल्याण कार्यक्रम का एक केन्द्रबिन्दु बन सकता है।

(2) उपेक्षित एवं वंचित बच्चे :

6 से 12 वर्ष तक की आयु के घर में रहने वाले बच्चे विद्यालयीय समाजकार्य के लक्ष्य होते हैं क्योंकि ये अभिभावकों द्वारा प्रायः उपेक्षित होते हैं तथा ये आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक वंचना से ग्रस्त होते हैं। इनके परिवारों में परस्पर विश्वास का अभाव होता है, बच्चों की आवश्यकताओं को नगण्य समझा जाता है तथा इनमें अन्तरवैयक्तिक सम्बन्ध ठीक नहीं होते हैं। इस प्रकार के परिवारों को समस्याग्रस्त परिवारों की संज्ञा दी जाती है तथा इनमें रहने वाले बच्चों को तुरन्त सहायता प्रदान करने की आवश्यकता होती है जो कि विद्यालय के परिप्रेक्ष्य में एक प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा दी जा सकती है।

(3) वंचित मध्यमवर्ग समूह के बच्चे :

इस प्रकार के बच्चे मध्यम वर्ग के परिवारों के होते हैं जिनका विकास माता या पिता के न रहने पर बच्चे को आवश्यकता से अधिक संरक्षण प्रदान करने से, बच्चे पर कठोर अनुशासन रखने के कारण, माता-पिता की निरंकुशता इत्यादि के कारण ठीक से नहीं हो पाता है। इस प्रकार के बच्चों की सहायता विद्यालय के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है।

(4) समस्याग्रस्त बच्चों का वातावरण :

विद्यालय के परिप्रेक्ष्य में समस्याग्रस्त बच्चों के पूर्ण वातावरण-अभिभावक, परिवार, पड़ोस, मित्रगण आदि के विषय में जानकारी करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस कारण से विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को वातावरण का अध्ययन, विवेचन एवं इसमें परिवर्तन लाने के प्रयास भी करने पड़ते हैं।

विद्यालयीय समाजकार्य के अभ्यास से सम्बन्धित मॉडल :

एक सैद्धान्तिक मॉडल एक योजना अथवा नक्शा है जिसके माध्यम से वास्तविक संसार के एक भाग, जिससे एक प्रकार के अभ्यास को स्पष्ट किया जाता है, द्वारा आशय निकाला जाता है।[12] चिन के अनुसार मॉडल वही है जैसा मस्तिष्क कहता है तथा जो अभ्यासकर्ता के लिये निदान एवं योजनाबद्ध कार्यकलाप के लिये महत्वपूर्ण है। एक अच्छे सिद्धान्त की तुलना में कोई भी वस्तु उतनी अभ्यास योग्य नहीं है।[13] इस प्रकार किसी वृत्तिक प्रक्रिया के लिये आवश्यक है कि उसको अभ्यास में लाने का तरीका निश्चित हो। विद्यालयीय समाजकार्य अभ्यास में सम्बन्धित मडल इसके कार्यकलापों को विभिन्न प्रकार की स्थितियों में सुनिश्चित करते हैं तथा इसकी उपयोगिता एवं प्रभावपूर्णता में वृद्धि करने में अपना योगदान देते हैं। यहाँ कुछ विशिष्ट मॉडलों के विषय में वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(1) पारम्परिक नैदानिक मॉडल :

इस मॉडल का प्रमुख केन्द्र सामाजिक एवं संवेगात्मक कमियों या बाधाओं से ग्रस्त विद्यार्थी होते हैं। ये बाधायें या कमियाँ विद्यालय के अन्तर्गत् विद्यार्थी को अपनी क्षमतानुसार उपलब्धि में अवरोध डालती हैं। इसके अनुसार विद्यालयीय समाजकार्य, जिसे अभ्यागत् अध्यापक का कार्य भी कहा जाता है, को एक विशेषीकृत सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य के रूप में देखा जाता है। यह विद्यालय के कार्यक्रम का एक भाग है तथा इसकी पहचान विद्यालय कार्यक्रम से की जाती है। यह बच्चों को व्यक्तिगत् रूप से सहायता प्रदान करने की शैली है जिससे वे विद्यालय द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का ठीक प्रकार से प्रयोग कर पाते हैं।

इस मॉड़ल का प्रमुख उद्देश्य पहचान किये गये विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना है कि वे विद्यालय के परिप्रेक्ष्य में अधिक प्रभावकारी ढंग से कार्य कर सकें तथा अपने विद्यालयीय अनुभव का अधिकतम उपयोग कर सकें।

इसके अनुसार विद्यालयीय समाजकार्य के मुख्य लक्ष्य समूह विद्यार्थी एवं उनके माता-पिता या अभिभावक होते हैं।

इसमें समस्या का पर्यवेक्षण मनो-विश्लेषणात्मक सिद्धान्त, अहम् मनोविज्ञान एवं वैयक्तिक कार्य सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। इसमें इस विचारधारा के आधार पर कार्य किया जाता है कि बच्चे की संवेगात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ, अभिभावक, माता-पिता, बच्चे तथा उसके पारिवारिक सम्बन्धों के कारण उत्पन्न होती हैं। इसमें विद्यालय को सुधारात्मक संस्था के रूप में देखा जाता है।

इस मॉडल में कर्ता के प्रयास, व्यूह रचना तथा प्रविधि वैयक्तिक सेवा कार्य शैली के इर्द-गिर्द घूमती है। कर्त्ता के पारम्परिक कार्य इस प्रकार हैं :—

1. विद्यालय में समस्याग्रस्त बच्चों के लिये वैयक्तिक कार्य सेवायें उपलब्ध कराना;
2. अध्यापकों तथा अन्य विद्यालयकर्मियों के अन्तर्वृत्तिक सम्बन्धों का पता लगाना;
3. अभिभावकों तथा बच्चों के माता-पिता को वैयक्तिक सेवा कार्य सेवायें प्रदान करना;
4. समुदाय में कार्यरत् सामाजिक संस्थाओं के साथ कार्य करना तथा
5. समुदाय के लिये कार्यक्रमों की व्यवस्था करना।

यहाँ पर कार्यकर्ता की मुख्य भूमिकायें सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य से सम्बन्धित होती हैं। इसका अभिप्राय है कि विद्यार्थी एवं उसके माता-पिता के साथ उन्हें सामर्थ्य प्रदान करने तथा सहायता करने वाले कार्यकलाप करना तथा विद्यालय में सहायक तथा मंत्रणा देने वाली सेवायें प्रदान करना है। ये सेवायें बच्चे को व्यक्तिगत् रूप से विकसित करने में सहायक होनी चाहिये।

विद्यालयीय समाजकार्य के इस मॉडल की काफी आलोचना की गयी लेकिन फिर भी इसका पर्याप्त महत्त्व है क्योंकि (1) इसमें विद्यालय की मौजूदा दशाओं को लिया जाता है तथा विद्यार्थियों को व्यक्तिगत् रूप से इन्हीं दशाओं से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया जाता है; (2) इस मॉडल का प्रयोग उपस्थिति सम्बन्धी कार्यों जिनमें समस्याग्रस्त बच्चों के लिये गृहभ्रमण तथा उनके माता-पिता से साक्षात्कार करना सम्मिलित है, में किया जाता रहा है तथा (3) यह मॉडल उच्च-मध्यम वर्गीय क्षेत्रों में स्थित विद्यालयों के लिये समुदाय के विघटन तथा समुदाय के परिवर्तन की स्थिति में उपयुक्त है।

इस प्रकार से यह मॉडल व्यवस्था को बनाये रखने में विश्वास रखता है तथा इसके माध्यम से विद्यालय, समुदाय के बच्चों के माता-पिता तथा विद्यार्थी

को विद्यालय की वर्तमान दशाओं एवं परिस्थितियों को स्वीकार करने तथा इनके साथ समायोजन स्थापित करने के लिये तैयार किया जाता है।

विद्यालय में परिवर्तन लाने से सम्बन्धित मॉडल :

इसको संस्थात्मक परिवर्तन मॉडल भी कहा जाता है। मॉडल में प्रमुख बल विद्यालय की अकार्यात्मकता, विशेषरूप से विद्यालयीय आदर्शों एवं परिस्थितियों से सम्बन्धित, पर दिया जाता है। इसका प्रमुख लक्ष्य उन विद्यालयीय आदर्शों एवं परिस्थितियों में परिवर्तन लाना है जो विद्यार्थियों की सामाजिक एवं शैक्षिक क्रियाशीलता में बाधा उत्पन्न करती हैं तथा जिनकी परिणति विद्यार्थियों के लिये कठिनाइयाँ उत्पन्न करने के रूप में होती हैं। इसमें सम्पूर्ण विद्यालय को सेवार्थी के रूप में देखा जाता है तथा इससे सम्बन्धित समस्त व्यक्ति, विद्यार्थी, अध्यापक, प्रशासकीय कार्मिक, संरक्षक इत्यादि समाजकार्य हस्तक्षेप का लक्ष्य होते हैं।

इस मॉडल के विकास में विचलन सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अवधारणा ने काफी योगदान दिया है। विचलन से ग्रस्त बच्चे विद्यालय में अपने कार्य नहीं कर पाते तथा उन्हें कठिनाई का अनुभव होता है क्योंकि इसके कारण उनकी भूमिकायें अनिश्चित हो जाती हैं। विद्यालय में अध्यापक से बातचीत करके तथा बच्चों से साक्षात्कार द्वारा उनकी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी विद्यालय की नीतियाँ एवं आदर्श विद्यार्थी की उपस्थिति के मार्ग में तथा क्रियाशीलता में बाधक हो जाते हैं।

विन्टर तथा सॉरी[14] के अनुसार इस मॉडल का मौलिक परिप्रेक्ष्य है विद्यार्थियों की खराब निष्पत्ति के प्रतिमान को विद्यालय की दशाओं में उनकी विशेषताओं की अन्तः क्रियाओं के परिणामों के रूप में देखा जाना। इस अवधारणात्मक विश्लेषण के आधार पर विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ताओं से निम्नलिखित कार्यों को सम्पन्न करने की अपेक्षा की जाती है :—

1. विद्यालय की दशाओं को पूर्णरूप से ध्यान में रखना चाहिए। केवल विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित करने के प्रयासों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए;
2. अध्यापकों एवं प्रशासकों को विद्यालय से सम्बन्धित उन अभ्यासों तथा प्रबन्धों; जो कि अनजाने में 'सीखने एवं समायोजन में कमी लाते हैं, को पहचानने में मदद करना चाहिये;
3. विद्यालय के अन्दर विद्यार्थियों की कठिनाइयों के स्रोतों के साथ कार्य करने के साथ-साथ विशेष व्यक्ति की सेवा करने की शैली का पता लगाना चाहिये।

इसमें विद्यार्थियों के साथ प्रत्यक्ष रूप से कार्य करने, विशेषरूप से समूह कार्य करने के साथ-साथ अध्यापकों, प्रशासकों, परिवारों तथा संस्थाओं के साथ वकालत, मन्त्रणा, मध्यस्थता एवं बातचीत करना सम्मिलित है। वीट्स[15] ने कहा है कि विद्यालयीय समाजकार्य का प्रमुख कार्य असमर्पणीय शैक्षिक व्यवस्था में बदलाव लाना है। उन्होंने निम्नलिखित क्रियाकलापों को उचित बताया है :—

1. विद्यार्थियों को अपने विद्यालय से सम्बन्धित समस्या को स्पष्ट रूप से समझने तथा इसके निदान में सहायता पहुँचाना;
2. व्यक्तिगत् अथवा समूह के माध्यम से जनसेवक के विरुद्ध शिकायतों एवं परिवेदनाओं को सुनने वाले के रूप में सेवा प्रदान करना;
3. अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं प्रशासकों के अनौपचारिक समूह बनाना ताकि वे अपने झगड़ों के सम्बन्ध में आवाज उठा सकें तथा उन्हें आपस में तय कर सकें तथा
4. विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा प्रशासकों को परिवर्तन के अभिकर्ता और समस्या समाधान कर्त्ता टोली के रूप में संगठित करना। ये अभिकर्ता और टोलियाँ विद्यालय को एक व्यवस्था के रूप में देखें, इसकी कठिनाइयों को जानें तथा परिवर्तन की प्रक्रिया को चलायें।

इस मॉडल में वकालत पर बल दिया जाता है तथा विद्यालय प्रमुख लक्ष्य के रूप में होता है। इस कारण कार्यकर्ता को अधिक कुशलता एवं होशियारी से कार्य करना पड़ता है क्योंकि उसे विद्यालय की शक्ति-संरचना के साथ भी कार्य करना पड़ता है। इससे उसके कार्यकलाप में विघ्न डालने उसे निष्प्रभावी बनाने, उसे रास्ते से हटा देने के प्रयास भी किये जा सकते हैं। इस कारण उसे संगठनात्मक व्यवहार एवं प्रभावकारी सौदेबाजी की निपुणताओं से युक्त होना आवश्यक है।

इस मॉडल की प्रमुख कमी है कि यह विद्यार्थी की समस्याओं के लिए विद्यालय को ही उत्तरदायी मानता है जबकि उसकी समस्याओं के अन्य कारक जैसे परिवार की स्थिति, उसमें व्यक्तिगत् कमी, गरीबी इत्यादि भी हो सकते हैं। इसमें अन्य व्यवस्थाओं, विशेषकर सामुदायिक एवं पारिवारिक व्यवस्थाओं, जो कि समस्याओं का कारण हो सकती है, पर ध्यान नहीं दिया जाता है। परन्तु इस मॉडल ने सामाजिक कार्यकर्ता की, एक व्यवस्था बनाये रखने वाले अभिकर्ता के रूप से हटकर एक परिवर्तन लाने वाले अभिकर्ता के रूप में पहचान करायी है। इसने सामाजिक कार्यकर्ताओं को मनोचिकित्सकीय विचारधारा से हटकर भी सोचने एवं समझने का मार्ग प्रशस्त किया है।

सामुदायिक विद्यालय मॉडल :

इस अभिगम में बढ़ती हुई अभिरुचि के प्रमुख कारण हैं :—विद्यालय एवं समुदाय के मध्य बढ़ती हुई बाधायें, बड़े शहरों में स्थित विद्यालयों की समस्याओं की पूर्व स्वीकृति एवं उन पर ध्यान केन्द्रीकृत करना तथा बाल अपराध, विद्यालय में व्याप्त ह्रास एवं अवरोध की समस्या, बेरोजगारी से ग्रस्त युवा एवं दलित समूहों के प्रति प्रदर्शित की जा रही चिन्ता।

नीबो[16] के अनुसार कोई विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता सामुदायिक संगठन के प्रयोग के बिना सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता है। यह मॉडल मुख्य रूप से वंचित एवं दलित समुदाय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।

सामुदायिक विद्यालय मॉडल के प्रमुख उद्देश्य विद्यालय के प्रति सामुदायिक समझ तथा सहयोग का विकास करना, विद्यालय सम्बन्धी कार्यक्रमों को विकसित करना, दलित विद्यार्थियों को सहायता पहुँचाना तथा विद्यालय में बच्चों में सीखने एवं सामाजिक कार्यात्मकता को क्षमताओं को प्रभावित करने वाली विभेदकारी एवं अपवंचनयुक्त दशाओं में सुधार लाना।

इस मॉडल के अन्तर्गत् विद्यालयीय समाजकार्य का मुख्य लक्ष्य विद्यालय के चारों ओर स्थित समुदाय है। यह समुदाय विद्यालय के साथ अन्तःक्रिया किया करता है तथा विद्यार्थियों को विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजता है। इस प्रकार से इसमें समाजकार्य हस्तक्षेप के लिये समुदाय को विद्यालय की तुलना में लक्ष्य के रूप में अधिक प्राथमिकता प्रदान की जाती है। इसमें विद्यार्थियों एवं विद्यालय के कार्मिकों को प्रभावित करने वाली गरीबी, पिछड़ापन, अपवंचन एवं अन्य सामाजिक दशायें कठिनाई के स्रोत के रूप में देखी जाती हैं। विद्यालय कार्मिकों में सांस्कृतिक विभेदों तथा गरीबी के प्रभावों के ज्ञान का अभाव होता है तथा इसके लिये उन्हें विशेषीकृत ज्ञान प्रदान करने की आवश्यकता होती है ताकि वे प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य कर सकें।

हौरीहन[7] ने सामुदायिक सामाजिक कार्यकर्ता के लिये निम्नलिखित कार्य बताये हैं :—

1. बच्चों तथा उनके माता-पिता के विषय में, बच्चों द्वारा अपने घर में महसूस की जाने वाली समस्याओं के विषय में, माता-पिता की समस्याओं के सम्बन्ध में, समुदाय की समस्याओं, जिनके साथ बच्चों एवं उनके माता-पिता को जूझना पड़ता है, के बारे में तथा इन समस्याओं की गहराई के बारे में ज्ञान प्राप्त करना;
2. समुदाय की गतिकी एवं मौजूदा सामाजिक कारकों को विद्यालय के कार्मिकों को बताना तथा स्पष्ट करना;

3. अपने को सामुदायिक क्रिया-कलाप में लगाना;
4. समुदाय के सदस्यों को प्रश्न पूछने, मुद्दा को उठाने तथा उन क्रियाओं को पुनः संचरित करने का, जिनके कारण समुदाय बच्चों एवं युवा व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल रहता है, अवसर विकसित करना तथा
5. विद्यालय में तथा उसके द्वारा चलाये गये कार्यक्रमों के विषय में समुदाय को बताना, इनमें समुदाय से सहायता प्राप्ति में मदद करना तथा विद्यालय के शैक्षिक कार्यक्रमों को समझने में सहायता पहुँचाना।

इस मॉडल की आलोचना में कहा जाता है कि इसको अभ्यास में लाने के लिए सामाजिक कार्यकर्ताओं को अपनी निपुणताओं में विकास करना होगा तथा उनमें एक विशेष प्रकार की अभिवृत्ति का विकास करना होगा।

इसके अतिरिक्त इस मॉडल को कार्यरूप में लाने के लिये समुदाय का सहयोग प्राप्त करना अपेक्षित एवं आवश्यक होता है, परन्तु समुदाय का सामाजिक कार्यकर्ता को कितना सहयोग प्राप्त होगा, यह निश्चित नहीं होगा। इसकी सीमा का निर्धारण एक विचारणीय प्रश्न है। इसके अलावा कार्यकर्ता की पहचान तथा वफादारी का मामला भी उठाया जाता है क्योंकि यदि वह विद्यालय के कार्य-कलाप को लेकर समुदाय की वकालत करता है तो उनके निष्क्रिय होने का खतरा रहता है क्योंकि विद्यालय में वह नौकरी करता है। इस कारण से एक सफल कार्यकर्ता बनने के लिये आवश्यक है कि वह समुदाय तथा विद्यालय दोनों के लिए अलग-अलग दोहरी पहचान बनाने तथा उसे समुदाय की वकालत करने एवं मंत्रणा देने, दोनों की निपुणताओं से युक्त हो। अतः इस मॉडल को कार्यरूप में लाने के लिये विद्यालय कार्मिकों को प्रशिक्षण प्राप्त रहना चाहिए।

सामाजिक अन्तःक्रिया मॉडल :

सामाजिक अन्तःक्रिया का तात्पर्य सामान्यतः संचार की प्रक्रिया के माध्यम से व्यक्तियों तथा समूहों के कार्यों को परस्पर प्रभावित करना है। इसमें व्यक्तियों को स्वयं की अन्तःक्रिया को सम्मिलित किया जाता है। यह मॉडल स्वार्ज के समाजकार्य अभ्यास के मॉडल पर आधारित है जो मध्यस्थता करने वाले मॉडल के रूप में जाना जाता है। यह व्यक्ति तथा उसको पोषित करने वाले समूहों के मध्य सम्बन्ध पर बल देता है। स्वार्ज ने इस सम्बन्ध को 'सहजीवी' कहा है जिसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिये दूसरे की आवश्यकता होती है।

स्वार्ज के अनुसार कर्त्ता का यह कर्तव्य है कि वह प्रक्रिया में इस प्रकार मध्य-

स्थता करे कि व्यक्ति एवं उसका समाज परस्पर आवश्यकता की पूर्ति के लिये आपस में एक-दूसरे के सहयोग की स्थिति में बने रहें। इस विचारधारा को विद्यालय पर लागू करने पर कर्ता विद्यार्थी को विद्यालय, परिवार एवं सामुदायिक व्यवस्थाओं का एक भाग समझता है जो एक-दूसरे से अन्तःक्रिया करते रहते हैं तथा एक को दूसरे की जरूरतें पड़ती रहती हैं। इस मॉडल में बच्चे को प्रभावित करने वाली शक्तियों के विषय में कर्ता की जानकारी इसे विभिन्न व्यवस्थाओं को प्रभावित करने वाली शक्तियों एवं सम्बन्धों को निर्देशित करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का अवसर प्रदान करती है।

स्वार्ज के अनुसार मध्यस्थता के मॉडल में कर्ता का मुख्य कर्तव्य है : (1) सामान्य पृष्ठभूमि की खोज करना; (2) अवरोधों का पता लगाना तथा चुनौती प्रदान करना; (3) इस प्रकार की सूचना एकत्रित करना जो सेवार्थी को उपलब्ध न हों; (4) अपनी दृष्टि में विकास करना—इस क्रिया में कर्ता व्यक्तियों में स्वयं की अभिरुचि प्रदर्शित करता है तथा अन्य आवश्यक सामाजिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओं के साथ अन्तःक्रिया करना व (5) स्थिति की माँगों तथा सीमाओं का पता लगाना।

इस मॉडल के प्रयोग में कर्ता को समाजकार्य वृत्ति के मूलभूत मूल्यों की जानकारी होनी चाहिए तथा इसके अतिरिक्त उसे विद्यालय से अन्तःक्रिया करने वाली विभिन्न व्यवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिये। इसके लिये कर्ता को रचनात्मक, नवीन प्रयोगकर्ता एवं उद्देश्यपरक होना चाहिए। उसमें व्यक्तियों, परिवारों, लघुसमूहों एवं व्यवस्थाओं, संस्थाओं इत्यादि की आपसी अन्तःक्रिया को समझने की निपुणता होनी चाहिए।

इस मॉडल की प्रमुख विशेषता है कि यह लक्ष्य समूह के साथ अन्तः क्रिया में आने वाली मुख्य व्यवस्था के साथ कार्य करने में कर्ता को लगाये रखता है। इसके अन्तर्गत विद्यालय, परिवार, समुदाय, अध्यापक और बच्चे के मध्य सम्बन्ध बनाये रखने में विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता की अहम् भूमिका को स्वीकार किया गया है।

इस मॉडल में वकालत पर कम बल दिया गया है। कर्त्ता विभिन्न व्यवस्थाओं को सेवार्थी के रूप में देखता है तथा उनकी कार्यात्मकता बनाये रखने का प्रयास करता है, उनमें सामान्यता की खोज करता है, अवरोधों को दूर करता है तथा इस प्रकार अच्छे संचार तथा अच्छे सम्बन्धों को बनाये रखने का मार्ग प्रशस्त करता है। इसमें मध्यस्थता से अधिक बल दिया जाता है जबकि इसको प्रयोग में लाए जाने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि शक्ति से युक्त, केन्द्र

परिवर्तन का विरोध करते हैं अतः शक्ति रहित व्यक्तियों के लिये वकालत की आवश्यकता पड़ सकती है ।

प्रत्यक्ष सेवायें प्रदान करना :

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा प्रायः अप्रत्यक्ष रूप से सेवाएँ प्रदान की जाती हैं जिनमें मंत्रणा, अधीक्षण एवं प्रशासन सम्बन्धी सेवायें सम्मिलित होती हैं । ये सेवायें बच्चे को सामाजिक एवं संवेगात्मक समायोजन के विभिन्न पहलुओं में सहायता पहुँचाती हैं । इनमें मनोवैज्ञानिक तथा मनोचिकित्सकीय सेवायें, उपस्थिति सम्बन्धी सेवा में व्यावसायिक सलाह तथा विद्यालयीय समाजकार्य की अन्य सेवायें सम्मिलित हैं । इनका प्रमुख उद्देश्य अध्यापक के कार्य में पूरक के रूप में कार्य करना है । इनके माध्यम से अध्यापक के कार्य कोअधिक प्रभावकारी बनाया जाता है । ये कार्य अध्यापकों को बच्चों के बारे में समझने में सहायता प्रदान करके तथा बच्चों तथा उनके माता-पिता को सफल विद्यालयीय उपलब्धियों में अवरोध उत्पन्न करने वाली समस्याओं से निपटने के लिये प्रत्यक्ष सहायता उपलब्ध करा कर किया जाता हैं ।

इसको एक मॉडल की संज्ञा नहीं दी जा सकती है क्योंकि इसमें विभिन्न मॉडलों में प्रयुक्त पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है जिनमें मन्त्रणा पर विशेष रूप से बल दिया जाता हैं । इसके अतिरिक्त अधीक्षण, प्रशासन, वकालत इत्यादि का भी प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाता है ।

इन सेवाओं को प्रदान करने वाले व्यक्ति विद्यालय के कर्मचारी होते हैं । बच्चे को अपनी शैक्षिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सामाजिक एवं संवेगात्मक समस्याओं से निपटने के लिए ये कर्मचारी अपने विशेषीकृत ज्ञान का प्रयोग करते हैं तथा उन्हें सहायता पहुँचाते हैं । ये समस्यायें बच्चे को प्राप्त शैक्षिक अवसरों के प्रयोग में विरोध उत्पन्न करती हैं ।

विद्यालय के सन्दर्भ में समाज कार्य हस्तक्षेप का एक सर्व समावेशी अभिगम

समाजकार्य अभ्यास के बदलते प्रतिमान :

वर्तमान समय में सामाजिक कार्यकर्ता को एक व्यक्ति की वैयक्तिक समस्याओं के निराकरण, उसके सामूहिक सम्बन्धों में सुधार लाने वाले तथा उसकी सामुदायिक स्थिति का विश्लेषण करने वाले के रूप में ही नहीं देखा जाता है बल्कि उसके अभ्यास के क्षेत्र में पर्याप्त व्यापकता आई है । इस तीव्रगति से परिवर्तनशील समाज ने सामाजिक कार्यकर्ता के उत्तरदायित्व को बढ़ा दिया है । उसे किसी भी प्रकार की समस्या के निदान के लिए उसके कारणों, उससे सम्बन्धित

सभी सम्बन्धों तथा उसके निराकरण की समस्त सम्भावनाओं का पता लगाना पड़ता है। उसे व्यक्ति के साथ-साथ सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विषय में जानकारी हासिल करनी पड़ती है ताकि आवश्यकतानुसार व्यक्ति एवं समाज दोनों में परिवर्तन लाया जा सके।

समाज कार्यकर्त्ता की विभिन्न व्यावसायिक भूमिकाएँ :

समाजकार्य के बदलते प्रतिमानों तथा इसके अभ्यास की गहनता एवं व्यापकता के कारण सामाजिक कार्यकर्ता को विभिन्न वृत्तिक भूमिकायें निभानी पड़ती हैं। उसे सामाजिक विश्लेषणकर्ता, सामाजिक अनुसन्धानकर्ता, सामाजिक कार्यक्रम समायोजनकर्ता, सामाजिक रणनीति निर्धारणकर्ता, समाजकार्य सहायक, सामाजिक वकील, सामाजिक आलोचक, सामाजिक रक्षक, सामाजिक मध्यस्थ, सामाजिक संघर्षकर्त्ता, सामाजिक प्रशासक, समाजकार्य मंत्रणा देने वाला, समाज कार्य शिक्षक, सामाजिक सुधारक, सामाजिक सलाहकार इत्यादि के रूप में कार्य करना पड़ता है। इन भूमिकाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक कार्य-कर्त्ता को अपनी कुशलताओं, अपने ज्ञान, अपनी रणनीति एवं अपने कार्य करने की शैली में पर्याप्त परिवर्तन समय-समय पर लाना पड़ता है जिससे समाज में होने वाले नवीन परिवर्तनों का वह सामना कर सके।

विद्यालय के सन्दर्भ में समाजकार्य :

विद्यालय के सन्दर्भ में समाजकार्य का प्रमुख उद्देश्य विद्यालय-व्यवस्था की समस्याओं एवं आवश्यकताओं पर प्रभाव डालना है। यह प्रभाव तभी पड़ेगा जब सामाजिक कार्यकर्त्ता विद्यालय के सन्दर्भ में निम्नलिखित प्रकार से कार्य करने हेतु अपने को तैयार करेगा तथा सक्षम बनायेगा :

1. विद्यालयीय समाजकार्य अभ्यास का केन्द्रीय तत्व समाजकार्य की पद्धति या प्रणाली न हो करके समस्या होना चाहिये जिससे विद्यालय के सन्दर्भ में समाजकार्य अभ्यास केवल सामाजिक वैयक्तिक कार्य या सामाजिक सामूहिक कार्य तक ही सिमट कर न रह जाए बल्कि वह अपने इस पुराने बन्धन को तोड़कर समाजकार्य अभ्यास में अधिक व्यापकता एवं गहनता ला सके। इस प्रकार एक अस्तित्व के रूप में समाजकार्य अभ्यास पूर्णरूप से न तो केवल वैयक्तिक सेवाकार्य से ही सम्बन्धित है और न ही सामूहिक सेवाकार्य से और न ही सामुदायिक संगठन से ही, इस कारण विद्यालयीय समाजकार्य में शिक्षार्थी को व्यक्तिगत रूप से ही न देखते हुए, उसको विद्यालय-व्यवस्था का एक अंग के रूप में देखना होता है जिसमें उसके समस्त प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों की विवेचना करनी पड़ती है। इस

प्रकार विद्यालयों के अन्तर्गत सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका व्यक्ति एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के मध्य अन्तर्सम्बन्धों के विश्लेषण से सम्बन्धित होती है। अतः समाजकार्य की प्रणालियों पर आधारित अभ्यास इसके विषय क्षेत्र को कम करता है तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता के कौशल एवं सामर्थ्य पर प्रश्न चिन्ह लगाता है; इस कारण समाजकार्य का अभ्यास समस्या पर आधारित होना चाहिए।

2. विद्यालय में समस्या पर आधारित समाजकार्य अभ्यास में विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्त्ता विद्यालय को एक व्यवस्था के रूप में देखता है तथा इससे सम्बन्धित विभिन्न आवश्यकताओं से अपने आपको सम्बन्धित करता है तथा विद्यालय एवं समुदाय की समस्याओं को प्रभावकारी ढंग से हल करता है। इस प्रकार से विद्यालय को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में समझा जाता है जिसमें अन्तःक्रिया करने वाले तथा अन्तर्सम्बन्धित व्यक्तियों एवं कार्यों में एकता लायी जाती है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित कार्यों को प्राथमिकता प्रदान की जाती है :

(अ) प्रत्यक्ष शैक्षिक एवं सामाजिक सेवाओं को उपलब्ध कराने की सुविधा प्रदान करना तथा चयनित विद्यार्थियों के लिये समूह कार्य सेवायें उपलब्ध कराना;

(आ) शिक्षार्थियों के वकील के रूप में ऐसे कार्य करना जिसमें अभ्यास चयनित शिक्षार्थियों की वरीयता प्राप्त आवश्यकताओं पर केन्द्रीकृत किया जाता है;

(इ) संयुक्त रूप से मुख्य समस्याओं को पहचानने हेतु विद्यालय प्रशासकों से मंत्रणा करना जिससे एक नियोजित सेवा अभिगम का विकास किया जा सके, सामुदायिक संस्थाओं के साथ सामुदायिक कार्यकारी सम्बन्धों के विकास में सहायता करना एवं विद्यालय सम्बन्धी नीति निर्माण में सहायता प्रदान करना ताकि बच्चों एवं युवा व्यक्तियों के कल्याण को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया जा सके;

(ई) एक ऐसे वातावरण की स्थापना के लिये प्रयास करना जिसमें बच्चे अपने जीवन को सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों का विश्लेषण करते हुए सीखने हेतु स्वतन्त्र एवं प्रेरित हों, समस्याग्रस्त बच्चे को सहायता पहुँचाने हेतु सहपाठियों का उपयोग करना अथवा कक्षा में सम्बन्धों के प्रबन्ध में सहायता उपलब्ध कराना;

(उ) शिक्षार्थियों एवं विद्यालय के विषय में सोचने हेतु माता-पिता तथा समुदाय को संगठित करना एवं विद्यालय तथा समुदाय के सम्बन्धों में सुधार लाना;

(ऊ) विद्यालय एवं समाजकार्य के विवेचनीय क्षेत्रों जैसे बाल-कल्याण, सुधारात्मक सेवाएं, मानसिक स्वास्थ्य एवं गरीबों के लिये वैधानिक सेवाएं इत्यादि के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना एवं बनाए रखना। ये सुविधाएं विद्यालय के बच्चों एवं उनके परिवारों को अधिक प्रभावकारी सुविधायें उपलब्ध कराती हैं व समुदाय के संगठनात्मक प्रतिमान के समाज कल्याण कार्यक्रमों एवं साधनों के नियोजित परिवर्तन में सहायता प्रदान करती हैं तथा

(ए) शिक्षार्थी तथा सेवा प्रदान करने वाले कार्मिक को निर्देशन देने वाले सलाहकारों, मनोवैज्ञानिकों, परिचारिकाओं एवं उपस्थिति से सम्बन्धित अधिकारियों के मध्य अन्तर्विषयी कुशलताओं के समन्वय में नेतृत्व प्रदान करना।

3. इस अभिगम में भी समाजकार्य वृत्ति के मौलिक मूल्यों पर बल देना पड़ता है। व्यक्ति की महत्ता पर बल देते हुए उसकी समस्याओं के कारणों की खोज की जाती है तथा उसका निराकरण व्यक्ति के चारों ओर फैली व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है तथा आवश्यकतानुसार व्यक्ति एवं व्यवस्था दोनों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है जिससे दोनों के मध्य अर्थपूर्ण अन्तर्सम्बन्ध की स्थापना हो सके तथा इसमें दिन-ब-दिन बढ़ोत्तरी हो सके।

4. समस्या पर आधारित अभ्यास में सामाजिक कार्यकर्त्ता को अपनी भूमिका से सम्बन्धित व्यवस्थाओं के प्रकार के विषय में ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है; अपनी भूमिका की निष्पत्ति के सन्दर्भ में योजनाबद्ध परिवर्तन अथवा समस्या समाधान प्रक्रिया के विभिन्न रूपों के बारे में ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, उसे आँकड़ों के संकलन, विश्लेषण एवं हस्तक्षेप के प्रयोग में लायी जाने वाली विश्लेषणात्मक एवं अन्तर्कार्यात्मक कुशलताओं की भी आवश्यकता पड़ती है।

5. विद्यालयीय समाजकार्य अभ्यास में विद्यालय एवं उसके पड़ोस की मूल समस्याओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है, अतः समाजकार्य सम्बन्धी क्षेत्रीय कार्य के लिए स्थान निर्धारण में इसका ध्यान रखना चाहिए। सहायता उपलब्ध कराने की योजना को इस प्रकार कार्यान्वित किया जाना चाहिए कि शिक्षार्थी, उसके माता-पिता, अध्यापकों, प्रशासकों एवं सम्पूर्ण समुदाय की, जहाँ विद्यालय स्थित है, मूल आवश्यकताओं को समझा जा सके तथा भविष्य में कार्य करने के लिए आधारभूत ज्ञान के रूप में इनका प्रयोग किया जा सके। विद्यालय में सामाजिक कार्यकर्त्ता

सेवा प्रदान करने के सन्दर्भ में अनेक प्रकार की भूमिकायें निभाता है जिनमें समस्या को जानने वाले, सामाजिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण करने वाले, परिवर्तन हेतु योजना निर्माण करने वाले इत्यादि की भूमिकायें प्रमुख हैं। यद्यपि ये भूमिकायें समस्या के सन्दर्भ में भिन्न हो सकती हैं परन्तु मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि विद्यालयीय सामाजिककार्यकर्त्ता समस्या को पूर्णरूपेण समझ सके तथा इसके समाधान हेतु किए गए प्रयासों को समस्या समाधान की सम्पूर्णता के परिप्रेक्ष्य में देख सके।

6. विद्यालयीय सामाजिककार्यकर्त्ता को विद्यालय-समुदाय-अध्ययनकार्य प्रदान किया जाना चाहिए। इस अध्ययन से कर्ता को विद्यालय तथा समुदाय की समस्याओं के विषय में बोध हो जाता है तथा उसे इस बात की भी जानकारी हो जाती है कि यह बोध किस प्रकार से उनकी समाज सेवा की भूमिका को भली प्रकार सम्पन्न करने में सहायता पहुँचा सकता है। इस उपकरण के माध्यम से विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्त्ता को विद्यालय एवं समुदाय के विभिन्न आयामों के विषय में जानकारी प्राप्त हो जाती है जिससे वह विद्यालय, समुदाय एवं विद्यार्थियों की समस्याओं को पहचान कर केवल एक वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता के रूप में नहीं बल्कि एक सम्पूर्ण सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपने हस्तक्षेप को प्रभावपूर्ण मूल्यांकन के लिए अपनी शैली को योजनाबद्ध कर सकता है।

7. इस अभिगम में यह आवश्यक है कि विद्यालय का प्रमुख विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को बच्चों में सीखने को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों को समझने में सहायता करे। इससे विद्यालय के प्रमुख के ज्ञान एवं निपुणता का उपयोग हो जाएगा। विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा विद्यालय के कार्मिकों तथा समुदाय के सदस्यों के साथ अनौपचारिक सभाओं एवं साक्षात्कारों के माध्यम से आँकड़ों का संकलन किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि कर्मचारीगण द्वारा रुकावट उत्पन्न करने अथवा अस्वीकार करने से बचना चाहिए।

8. विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को विद्यालय के विषय में सूचना एकत्रित करनी पड़ती है जिसमें कर्मचारीगण की संख्या एवं बनावट, उनमें प्रचलित अनौपचारिक सम्बन्धों के जाल, उनकी मान्यतायें, विद्यालय के कार्यक्रम एवं अभ्यास तथा विद्यार्थियों की संरचना प्रमुख है। समुदाय के विषय में विशेषीकृत सूचना एकत्र करनी पड़ती है जिसमें समुदाय की शक्ति, कमजोरी तथा साधन के विषय में सूचना एकत्रित करना प्रमुख है।

विद्यालय के कार्मिकों से बातचीत द्वारा विभिन्न मुद्दों के मध्य प्राथमिमिकता का पता लगाया जा सकता है तथा इनके समाधान की सम्भावनाओं को खोजा जा सकता है ।

9. आंकड़ों के संकलन के पश्चात् विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को इन आँकड़ों का विश्लेषण करना पड़ता है तथा रचनात्मक रूप से कल्पना करते हुए विद्यालय, समुदाय तथा विद्यार्थियों द्वारा महसूस की जा रही समस्याओं की पहचान करनी पड़ती है । इससे कर्ता को सेवार्थी-व्यवस्था के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा इस सन्दर्भ में व्यक्ति एवं सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है । इस प्रकार से वर्तमान समस्या एवं संकटपूर्ण स्थिति पर बल देते हुए समीपवर्ती भविष्य में निरोधात्मक एवं विकासात्मक दोनों ही पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए समाजकार्य अभ्यास को आगे बढ़ाया जाता है ।
10. इस प्रकार के हस्तक्षेप के लिये विद्यालय कर्मचारीगण का सहयोग आवश्यक होता है तथा इसका प्रमुख आयाम निरोधात्मक होता है जिसमें यह व्यवस्था होती है कि विद्यार्थियों को ऐसी सहायता प्रदान की जाय जो उनको तो लाभ पहुँचाये ही तथा आने वाली पीढ़ियों को भी प्रभावित करे ।

विद्यालय के सन्दर्भ में सामाजिक व्यवस्था अभिगम का प्रयोग :

वर्तमान समय में सामाजिक व्यवस्था अभिगम का प्रयोग प्रत्येक क्षेत्र में किया जा रहा है । इस अभिगम में मुख्य रूप से बल इस पर दिया जाता है कि किसी भी व्यवस्था के अनेक अंग होते हैं जिनको उपव्यवस्थायें कहा जाता है । ये उप-व्यवस्थायें एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा ये एक वृहत् व्यवस्था का निर्माण करती हैं ।

विद्यालय के सन्दर्भ में इस व्यवस्था के प्रयोग के विषय में निम्नलिखित चरण हो सकते हैं—

1. विद्यालय के लक्ष्यों को निर्धारित करना । विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता ऐसी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करता है जिनसे विद्यालय को अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता मिलती है । इनको इच्छित उत्पादन या उपलब्धि कहा जा सकता है;
2. समस्या के समाधान एवं ऐसे प्रतिबन्ध, जिसके अन्तर्गत व्यवस्थाओं को चलना चाहिए, को प्रमाणित करने वाली भिन्नताओं को जानने से सम्बन्धित स्थिति का विश्लेषण करना जिन्हें निवेश की संज्ञा दी जा सकती है;

3. अत्यन्त प्रभावपूर्ण व्यवस्था की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के विकल्पों को पारिभाषित करना तथा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चर से इसे सम्बन्धित करना जिसे संसाधक कहा जा सकता है तथा
4. पुनर्निवेश करके व्यवस्था एवं नियन्त्रण व्यवस्थाओं की स्थापना करना तथा उद्देश्यों की उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था को परीक्षित करना; इसे पुन-र्निवेश की संज्ञा दी जा सकती है।

इस प्रकार निवेश, संसाधक, उत्पादन तथा उत्पादन से पुनर्निवेश का चक्र चलता रहता है तथा स्थापित व्यवस्था अपने कार्य में रत् रहती है तथा इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति होती रहती हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) निवेश :

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को सर्वप्रथम निवेश पर अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है क्योंकि इसी के आधार पर विद्यालय अपने लक्ष्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसरित होता है जिसे उत्पादन या उपलब्धि कहा जा सकता है। इन निवेश—चरों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) निर्धारक जो कि विद्यालय व्यवस्था के नियंत्रण के बाहर होते हैं लेकिन इसको अत्यधिक प्रभावित करते हैं तथा

(आ) अंगभूत, जो कि विद्यालय व्यवस्था के अंग होते हैं तथा जिन्हें बदला जा सकता है। विद्यालय-सामाजिक कार्यकर्ता जो कि संसाधकों का एक अंग होता है, निवेश चर के साथ विभिन्न प्रकार के तरीकों से सहसम्बन्ध स्थापित करता है ताकि उत्पादन अधिक-से-अधिक हो सके। इसके लिए उस संगठन की व्यवस्था के साथ उसे अपनी भूमिका की पहचान बनानी पड़ती हैं ताकि वह व्यवस्था के सम्पूर्ण संसाधन में अपना मार्ग पा सके। अन्तिम रूप से, विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता पुनर्निवेश का प्रयोग करता है जिससे वह विद्यालय से सम्बन्धित उत्पादन या उपलब्धि की माप करता है एवं विद्यालय द्वारा किस सीमा तक अपने लक्ष्य की प्राप्ति की गयी है, इसका मूल्यांकन करता है तथा अपने अभ्यास का संसाधक के रूप में भी मूल्यांकन करता है। विद्यालय का समुदाय के अन्य अंगों जैसे कल्याणकारी संस्थाओं, राजनैतिक संरचना एवं परिवारों से अन्तःक्रिया लक्ष्य के रूप में होती है जिसे समुदाय के साथ कार्य करते हुए ध्यान में रखना चाहिए।

निवेश के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि व्यवस्था को अन्य व्यक्तियों, संस्थाओं अथवा वातावरण द्वारा गतिमान एवं शक्तिमान बनाया जा

सकता है। यहाँ पर परिवार का प्रकार एवं सामुदायिक विशेषताएँ, विद्यार्थी, अध्यापक, विद्यालय के कार्यक्रम तथा इनकी विशेषताएँ एवं इनके वित्तीय संसाधनों को लागत के उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता विद्यालय व्यवस्था में एक निवेश के रूप में होता है जब वह इसमें भाग लेता है।

विद्यालययीय सामाजिक कार्यकर्ता को निवेश के विषय में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए तथा इसका कौन-सा भाग निर्धारक है तथा कौन सा भाग अंगभूत, स्पष्ट होना चाहिए क्योंकि निर्धारक पर ध्यान केन्द्रित करने का परिणाम विद्यालय की दशा में परिवर्तन देर से लाना है जबकि अंगभूतों के माध्यम से परिवर्तन शीघ्र आता है।

उत्पादन या उपलब्धि :

विद्यार्थी विद्यालय के सबसे महत्त्वपूर्ण उत्पादन होते हैं, अतः विद्यालय का उद्देश्य शिक्षित एवं समाजीकृत विद्यार्थियों का सृजन है। एक शिक्षित विद्यार्थी से अपेक्षा की जाती है कि वह तार्किकता, निर्णय एवं रचनात्मकता की कुछ कुशलताओं से युक्त हो। एक समाजीकृत विद्यार्थी वह है जो समाज की मान्यताओं व मूल्यों को स्वीकार करता है, जिसमें सामाजिक सम्बन्धों को स्थापित करने की कुछ कुशलतायें पायी जाती हैं तथा जो अच्छे शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य से युक्त है। इस प्रकार के विद्यार्थियों के निर्माण हेतु विद्यालय को कभी-कभी स्वयं अपने में बदलाव लाना पड़ता है। विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को केवल विद्यालयों के लक्ष्यों की ही जानकारी नहीं होनी चाहिए बल्कि वास्तविक उपलब्धियों का भी ज्ञान होना चाहिये। कार्यकर्ता को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि विद्यालय ही केवल वह स्थान है जहाँ पर शैक्षिक एवं समाजीकृत बनाने में अन्य संस्थायें जैसे परिवार एवं समुदाय अपना पर्याप्त प्रभाव डाल सकती है। इस प्रकार से विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता विद्यालय को अपने लक्ष्यों तक पहुँचने में पर्याप्त सहायता पहुँचाता है। इस सन्दर्भ में कर्ता विद्यालय समाजकार्य के लक्ष्य भी निर्धारित कर सकता है जो कि विद्यालय के सम्पूर्ण लक्ष्यों के एक भाग के रूप में हो सकता है। इस प्रकार विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता व्यवस्था के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु कार्य करता है तथा अपने प्रयास के आधार पर इन लक्ष्यों की प्रकृति में सुधार करता है तथा इनके क्षेत्र में वृद्धि करता है।

संसाधक :

निवेश को उत्पादन के रूप में परिवर्तित करने की प्रक्रिया को संसाधक

की संज्ञा दी जाती है। अध्यापकों, प्रशासकों एवं विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा किया गया कार्य इस श्रेणी में रखा जाता है क्योंकि इनके प्रयासों का प्रमुख लक्ष्य शिक्षित एवं समाजीकृत विद्यार्थियों का निर्माण एवं विद्यालय व्यवस्था में आवश्यक एवं इच्छित परिवर्तन करना होता है। संसाधकों के प्रभाव के लिए आवश्यक है कि विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता अपने प्रयासों के साथ-साथ अध्यापकों एवं प्रशासकों द्वारा किये गये प्रयासों का समय-समय पर मूल्यांकन करता रहे जिससे इनके द्वारा की गयी प्रगति का आँकलन किया जा सके। इन वर्णित प्रयासों के अतिरिक्त समुदाय में विद्यमान साधनों का पर्याप्त उपयोग किया जाना चाहिए तथा इसके लिए विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता विद्यालय से सम्बन्धित समस्त कर्मचारियों एवं विद्यार्थियों को गतिमान कर सकता है।

संसाधक की प्रभाविता उत्पादन की प्रकृति को प्रभावित करती है, अतः विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को इसके विषय में, इनकी उपलब्धता तथा क्षमता के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना चाहिए ताकि इस प्रकार का उत्पादन किया जा सके जिससे विद्यालय के लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव हो सके।

पुर्निवेश :

सूचना निवेश, संचार एवं पुर्निवेश एक-दूसरे के पर्यायवाची हो सकते हैं। इसमें उत्पादन या उपलब्धि के विषय में सूचना प्राप्त करके इसे नवीन निवेश के रूप में पुनः प्रतिस्थापित किया जाता है ताकि विद्यालय अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।

परम्परात्मक रूप से विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता वैयक्तिक उपचार पर बल देता है। समुदाय, विद्यालय की विशेषताओं एवं कार्यक्रमों, प्रशासन एवं वित्तीय साधनों से प्राप्त अन्य निवेशों के परीक्षण से यह स्पष्ट हो गया है कि सामाजिक कार्यकर्ता विद्यालय के सम्पूर्ण परिवेश में हस्तक्षेप करके सम्पूर्ण समुदाय की कार्यात्मकता को बढ़ा सकता है।

विद्यालयीय समाजकार्य के सन्दर्भ में मनश्चिकित्सीय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका :

सामान्यतः, मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता केवल रोग अथवा इसके लक्षणों तक सीमित नहीं रहता है बल्कि समस्याग्रस्त अथवा रोगी व्यक्ति से सम्बन्धित पूर्व स्थिति से आबद्ध रहता है। इस कारण से ऐसा कार्यकर्ता विद्यालय से सम्बन्धित कर्मचारीगण तथा विद्यार्थियों में व्याप्त समस्याओं को जानने एवं उनके समाधान के प्रति उन्हें प्रेरित करता है तथा उनमें विश्वास पैदा करता है।

परिवर्तन के लिये योजना का निर्माण करने तथा उसको कार्यान्वित करने में मनश्चिकित्सीय सामाजिक कार्यकर्ता बहुआयामी सेवाओं को प्रदान करने वाले की भूमिका निभाता है तथा परिवर्तन के लिये एक स्वीकृत अभिकर्ता के रूप में माना जाता है। मनश्चिकित्सीय सामाजिक कार्यकर्ता जो कि व्यवहार एवं अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों को आंकने के प्रशिक्षण से युक्त होता है तथा अपने कौशल एवं मनश्चिकित्सीय पृष्ठभूमि के कारण एक निष्पक्ष अधिकार विहीन पर्यवेक्षक के रूप में कार्य कर सकता है एवं विद्यालय, समुदाय की भावनाओं, उसकी आवश्यकताओं एवं समस्याओं के समन्वित समाधानों को विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं प्रशासकों के साथ सुनने, पर्यवेक्षित करने तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता द्वारा पता लगा सकता है। इसका प्रभाव यह होता है कि मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता के लिये सूचना एवं संचार की योग्यता महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में कार्य करती है।

मध्यस्थता की इन कुशलताओं से युक्त मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता विद्यार्थियों एवं अध्यापकों तथा प्रशासकों के मध्य कड़ी के रूप में कार्य कर सकता है तथा उनके मध्य व्याप्त अन्तरों को कम कर सकता है तथा संघर्षों को समाप्त कर सकता है।

भारतवर्ष में मनश्चिकित्सीयकार्यकर्ता की भूमिका को बहुत ही सीमित रूप में समझा जाता है क्योंकि इससे यह अर्थ लिया जाता है कि यह कुछ समस्याओं से ग्रस्त व्यक्तियों से ही सम्बन्धित होता है। इस प्रकार से विद्यालय के सन्दर्भ में इसका अर्थ हुआ कि कुछ समस्याओं से ग्रस्त विद्यार्थियों से ही मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता का सम्बन्ध है। इस सीमित भूमिका को विस्तृत करने का प्रमुख उत्तरदायित्व मनश्चिकित्सीय कार्यकता का है ताकि विद्यार्थियों में यह विश्वास जन्म ले ले कि वह उन्हें विभिन्न प्रकार की सेवायें प्रदान करेगा। इसके लिये आपसो विश्वास की भावना की स्थापना आवश्यक है जिसमें निःसन्देह अत्यधिक समय लग सकता है। लेकिन यह विश्वास स्थापित हो जाने पर आगे कार्य आसान हो जाता है क्योंकि यदि एक बार यह परम्परा बन जाती है तो साल-दर-साल समस्याग्रस्त विद्यार्थी इसका लाभ उठाते हुए सहायता प्राप्त कर सकते हैं। मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता की प्रतिष्ठा, कुशलतायें विश्वसनीयता एवं गोपनीयता के दूरगामी परिणाम होते हैं तथा इनका विकास सेवा रूपी शाखाओं में होता है जिससे उनकी प्रतिष्ठा विद्यालय तथा समुदाय, दोनों ही स्थानों में बढ़ती जाती है। इस अभिगम के प्रयोग का परिणाम यह होता है कि मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता एवं विद्यार्थियों में एक संचार की श्रृंखला की

स्थापना हो जाती है जिससे अन्तिम रूप से एक विद्यालयीय समाजकार्य की स्थापना होती है।

विद्यार्थियों के समुदाय को मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता द्वारा कई तरीकों से प्रभावित किया जा सकता है। वे इस प्रकार के वातावरण की स्थापना में सफल हो सकते हैं जिसमें विद्यार्थी मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता से सहायता लेने में हिचकिचाये नहीं तथा मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं को अपनी रोजाना की जिन्दगी का एक भाग समझे न कि इनसे दूर भागने का प्रयास करे। विद्यार्थियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति के विकास का परिणाम होता है कि वे अपने सम्पूर्ण जीवन में मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग करने में हिचकिचाते नहीं हैं।

वैयक्तिक सेवा कार्य एवं सामाजिक सामूहिक कार्य की विधियों अतिरिक्त निम्नलिखित प्रविधियों के माध्यम से मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता अपनी प्रतिष्ठा में वृद्धि कर सकता है तथा विद्यार्थियों को सहायता पहुँचाने वाले एक विश्वसनोय व्यक्ति के रूप में दृश्य हो सकता है :—

1. मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र से सम्बन्धित जैसे मादक दवाओं का सेवन, विद्यार्थियों में असन्तोष की भावना एवं किशोरावस्था की समस्याओं सम्बन्धी विषयों पर कक्षाओं अथवा विद्यार्थियों के समूहों के समक्ष अपने विचार रखना;
2. गठित की गई विद्यार्थी-परिषदों, विद्यार्थी-शिक्षक समूहों एवं विद्यार्थी-समूहों में एक पर्यवेक्षक एवं सलाहकार के रूप में कार्य करना तथा इनमें निष्पक्ष भूमिका निभाना ताकि वह विद्यार्थी समस्याओं के समाधान के लिये एक प्रभावकारी वकील की भूमिका निभाने वाले, सलाहकार तथा सम्बन्ध स्थापित करने वाले की भूमिका को सम्पादित करने वाले के रूप में कार्य कर सके;
3. विद्यार्थी समुदाय से सम्बन्धित अन्य क्रियाओं एवं समूहों के कार्यकलापों में भाग लेना। इसमें विद्यालय के स्वैच्छिक कार्यक्रम अथवा विद्यार्थियों के कल्याण के लिये उनके द्वारा चलाई जा रही योजना की स्थापना एवं कार्यान्वयन सम्मिलित है तथा
4. विद्यालयीय समाजकार्य सेवाओं के प्रचार में समुदाय के नेताओं की सहायता प्राप्त करना ताकि किसी प्रकार की समस्या से ग्रस्त विद्यार्थी स्वयं को सहायता हेतु उपस्थित कर सके।

इन कियाकलापों के माध्यम से यदि मनश्चिकित्सीय कार्यकर्ता एक बार विश्वसनीय वृत्तिक व्यक्ति के रूप में विद्यालय में प्रतिस्थापित हो जाता है तो

वह विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के मध्य एक संचार श्रृंखला के रूप में कार्य कर सकता है। इस स्थिति में वह विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के मध्य शान्तिपूर्ण जनसंचार का एक सम्पर्क सूत्र हो जाता है जिससे उनके मध्य तनाव कम होता है तथा वह परिवर्तन लाने में सक्षम हो जाता है और परिवर्तन लाने वाले अभिकर्ता के रूप में उसे मान्यता मिल जाती है।

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता की परम्परागत भूमिका में वैयक्तिक कार्य एवं सामूहिक कार्य का प्रयोग किया जाता रहा है तथा माता-पिता, अध्यापकों अथवा संस्थाओं द्वारा एक पूर्व-निश्चित प्रक्रिया के अनुसार समस्याग्रस्त बच्चों को कार्यकर्ता के पास सहायता हेतु भेजा जाता रहा है। इस परम्परागत अभिगम के कारण कार्यकर्ता की भूमिका केवल विद्यालय परिक्षेत्र में आसानी से स्थित मानसिक स्वास्थ्य संस्था तक सीमित रही है तथा कभी-कभी इसको समुदाय से भी जोड़ने का प्रयास किया जाता है। इस अभिगम के प्रयोग से कार्यकर्ता का प्रभाव विद्यार्थियों के केवल कुछ प्रतिशत तक ही सीमित रह जाता है क्योंकि कर्ता की सहायता लेने हेतु वे ही बालक आते हैं या भेजे जाते हैं जिनका व्यवहार काफी स्पष्ट रूप से समस्याग्रस्त दीखता है। लेकिन बहुत से विद्यार्थी शर्मीले होते हैं तथा जिनका व्यवहार पर्याप्त स्पष्ट नहीं होता है और वे इस प्रकार की संस्था में नहीं भेजे जाते हैं। अतः वर्तमान समय में विद्यालयीय समाजकार्य के क्षेत्र में व्यापकता लाने की आवश्यकता है ताकि अधिक से अधिक विद्यार्थी कार्यकर्ता के सम्पर्क में आ सकें। इसके लिये सामाजिक कार्यकर्ता को प्रबन्धक, निदान कर्त्ता व सहायक के रूप में भूमिका निभाने कर्त्ता व तथा पूर्ण व्यवहार प्रदर्शन में कुशलताओं से युक्त होना चाहिए। चिकित्सकों के पास समस्याग्रस्त बच्चों को भेजने की भी आवश्यकता पड़ सकती है, अतः कर्ता को समुदाय में अथवा इसके बाहर विद्यमान सेवा सुविधाओं के विषय में जानकारी होनी चाहिए।

इस प्रकार विद्यालयीय समाजकार्य अभ्यास की परम्परागत शैली में अधिकतर वैयक्तिक सेवा कार्य तथा सामूहिक कार्य का प्रयोग करते हुए विद्यार्थियों की समस्याओं का निदान किया जाता है लेकिन इस अभिगम में सेवार्थी स्वयं सामाजिक कार्यकर्ता के पास नहीं आ पाता है। उसे अध्यापक, माता-पिता या समुदाय के व्यक्तियों द्वारा समस्या-निदान-समाधान के लिये भेजा जाता है। परन्तु यदि सामाजिक कार्यकत्ता एक बार परम्परागत शैली से हटकर अधिक लचीला, रचनात्मक, योग्यतापूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन करते हुए विद्यालय एवं समुदाय में अपनी प्रतिष्ठा बना लेता है तो विद्यार्थी स्वयं उसके पास अपनी समस्याओं को लेकर आने लगते हैं, दूसरे वह विद्यालय एवं समुदाय दोनों में प्रभावकारी ढंग से परिवर्तन ला सकता है। इस प्रकार के अभ्यास

में यह आवश्यक है कि वैयक्तिक कार्य, व्यक्तिगत समस्याओं के सन्दर्भ में मंत्रणा प्रदान करने तथा विद्यालयगत समस्याओं का अनुमान लगाने, व्यवस्थाओं में परिवर्तन लाने तथा रहने एवं सीखने के वातावरण को ठीक रखने के उद्देश्य से समुदाय एवं विद्यालय के वृहत् परिवेश में नवीन परिवर्तन लाने हेतु किये गये प्रयासों के मध्य सामंजस्य लाया जाए।

एक तरफ विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता तो विद्यार्थियों की व्यक्तिगत समस्याओं के निदान की दिशा में प्रयास हेतु उत्तरदायी समझा जाता है तथा दूसरी ओर विद्यालय तथा समुदाय उससे यह अपेक्षा करते हैं कि वह उनमें नवीन परिवर्तन लाने हेतु ऐसी योजना बनाने की मंत्रणा लेगा जिससे बहुसंख्य विद्यार्थी प्रभावित होंगे। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि सामाजिक कार्यकर्ता अपनी क्रियाओं की प्राथमिकता के आधार पर सूची तैयार कर ले जिससे उसके प्रयासों का उपयोग अधिकतर प्रभावकारी ढंग से हो सके। इन प्राथमिकताओं एवं प्रयासों का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

इस प्रकार से विद्यालय के सन्दर्भ में समाज कार्य अभ्यास के वृहत् आधार की आवश्यकता होती है तथा सामाजिक कार्यकर्ता के प्रनि विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं समुदाय में विश्वास एवं सम्मान की भावना का विकास होना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक कार्यकर्ता में मानसिक स्वास्थ्य-समस्याओं का पता लगाने, इनके कारणों को जानने एवं निदान प्रस्तुत करने की दक्षता होनी चाहिये जिससे वह सामाजिक समस्याओं, सामुदायिक सम्बन्धों से सम्बन्वित समस्याओं इत्यादि का हल प्रस्तुत करने में सफल हो सके तथा विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के साथ विद्यालय एवं समुदाय के सन्दर्भ में पूर्व-सम्बन्ध स्थापित करने में दक्षता प्राप्त कर सके।

सारांश

1. विद्यालयीय समाजकार्य सामान्य समाजकार्य की एक उप-विशिष्टता है जिसका विकास वृत्ति के रूप में रहा है, परन्तु समाजकार्य के लिये यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके माध्यम से सामाजिक कार्यकर्ता बच्चों के विकास से सम्बन्धित होता है जो कि भविष्य के नागरिक होते हैं तथा राष्ट्र की उन्नति उन्हीं पर निर्भर करती है। बाल्यावस्था में किये गये कल्याणकारी कार्य के दूरगामी परिणाम होते हैं। सामाजिक कार्यकर्ता विद्यार्थियों में सीखने की प्रवृत्ति को बढ़ाने की दिशा में जो भी कार्य करता है उसका भविष्य में बच्चे पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

विद्यालयीय समाजकार्य में केवल विद्यार्थी की व्यक्तिगत समस्याओं पर ही ध्यान नहीं दिया जाता है बल्कि परिवार, विद्यालय-व्यवस्था तथा समुदाय पर

भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है जो बच्चे की शिक्षा तथा समाजीकरण दोनों के लिये आवश्यक होता है।

विद्यालयीय समाजकार्य में एक प्रशिक्षित कार्यकर्ता बच्चे के माता-पिता, अध्यापक एवं समुदाय के मध्य एक सम्पर्क सूत्र के रूप में कार्य करता है क्योंकि परिवार द्वारा बच्चे की शैक्षिक निष्पत्ति, व्यावहारिक चातुर्य इत्यादि के विषय में वे अपेक्षायें की जाती हैं जो बच्चे की भावनाओं, क्षमताओं इत्यादि को प्रभावित करती हैं। इस सम्बन्ध में सामाजिक कार्यकर्ता के प्रमुख कार्य होने हैं कि वह बच्चे की पढ़ने की प्रक्रिया के विषय में माता-पिता को जानकारी प्रदान करे, माता-पिता-समुदाय के मध्य सम्बन्धों को सुधारे, उच्चस्तर प्राप्ति हेतु माता-पिता तथा बच्चों में लगन पैदा करे तथा विद्यालय के सन्दर्भ में चलाए जा रहे कार्यक्रमों का मूल्यांकन करे। यद्यपि ये उद्देश्य अत्यन्त व्यापक हैं लेकिन यदि सामाजिक कार्यकर्ता अपने को वृत्तिक रूप में इनकी प्राप्ति हेतु प्रवृत्त है तो वह अवश्य ही इन लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल होगा।

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका

फ्रीडलैण्डर[19] के अनुसार विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता चार प्रकार के व्यक्तियों के साथ कार्य करता है : (1) बच्चा, (2) परिवार, (3) विद्यालय के कर्मचारीगण तथा (4) समुदाय।

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता बच्चे में व्याप्त असमायोजन को दूर करने का प्रयास करता है तथा इसके लिये वह बच्चे के समायोजन तथा विद्यालय की आवश्यकताओं के लिये हानिकारक बच्चे, माता-पिता, अध्यापक एवं सामुदायिक समूहों की प्रवृत्तियों में सकारात्मक परिवर्तन लाने का प्रयास करता है।

विद्यालय में सामाजिक कार्यकर्ता को प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—

(1) वैयक्तिक कार्य सेवायें प्रदान करना

विद्यालय के सन्दर्भ में वैयक्ति सेवा कार्य की महत्ता पहले से ही है क्योंकि वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता समस्याग्रस्त बच्चों, उनके माता-पिता तथा अध्यापकों को सहायता पहुँचाने के लिये पर्याप्त ज्ञान एवं निपुणता से युक्त होता है। इसमें बच्चे, उनके माता-पिता तथा अध्यापकों के साथ कार्य करना सम्मिलित है। कर्ता बच्चे तथा अध्यापक दोनों की भूमिका–निष्पत्ति तथा भूमिका सम्बन्धी आकांक्षाओं का परीक्षण करता है ताकि बच्चे तथा अध्यापक दोनों की आकांक्षायें वास्तविकता पर आधारित की जा सकें। इस प्रकार से कर्ता बच्चों तथा माता-पिता की भूमिका-निष्पत्ति तथा भूमिका सम्बन्धी आवश्यकताओं का परीक्षण

करता है तथा इनका ईमानदारी के साथ स्पष्टीकरण उनकी आकांक्षाओं को वास्तविकता के करीब लाता है ।

संक्षिप्त रूप से विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता बच्चे, माता-पिता तथा अध्यापक, तीनों पक्षों की व्याख्या करता है तथा इन तीनों पक्षोंको उनकी आवश्यकताओं, स्रोतों एवं क्षमताओं के मध्य तादात्म्य स्थापित करने में सहायता पहुँचाता है ।

(2) विद्यालय में व्याप्त ह्रास एवं अवरोध की समस्या को सुलझाना

भारतवर्ष में बच्चों की विद्यालयों में संख्या ह्रास तथा अवरोध की समस्या, दोनों काफी बड़ी समस्यायें हैं । कार्यकर्ता को इनकी मात्रा समझने तथा व्याख्या करने में रुचि लेनी पड़ती है । इस समस्याओं के कई कारण हो सकते हैं जिनमें गरीबी, टूटे परिवार, असन्तोषजनक विद्यालय की दशायें, बाल-अपराध एवं पलायन इत्यादि प्रमुख हैं । इस समस्याओं से निपटने के लिये कार्यकर्ता को बच्चों, उनके माता-पिता, उनके अध्यापकों तथा विद्यालयों के बाहर कार्यरत सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं एवं साधनों का सहयोग लेना पड़ता है । इसमें परामर्श एवं अन्यारोपण की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है ।

(3) अनुपस्थिति की समस्या

बच्चे का विद्यालय से अनुपस्थित रहना भी भारतवर्ष के विद्यालयों में एक समस्या है । इसके कई कारण हो सकते हैं, जिनमें गरीबी, बच्चे से घर पर काम लेना, साधनों का अभाव, आवागमन के साधनों का अभाव, व्यक्तित्व सम्बन्धी कमियाँ, बच्चे की शिक्षा के प्रति उदासीनता आदि प्रमुख कारण हैं । इस प्रकार के बच्चों से कर्ता व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क स्थापित करता है तथा वह स्थिति के अनुरूप उस समस्या को सुलझाने में सफल हो सकता है ।

(4) सामुदायिक साधनों का प्रयोग

कार्यकर्ता को समुदाय के उपलब्ध सरकारी एवं गैर सरकारी साधनों का ज्ञान होना चाहिए तथा बच्चों की समस्याओं के अनुरूप उनका प्रयोग करने की उसमें निपुणता होनी चाहिए ।

(5) विद्यालय को संरचना एवं कार्यात्मकता के विषय में जानकारो

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता के लिए आवश्यक है कि वह विद्यालय के प्रशासकीय कार्यों के विषय में ज्ञान रखे तथा आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करने की क्षमता रखे । विद्यालय की संरचना तथा इसकी कार्यात्मकता बच्चों की आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए ।

(6) सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग के बच्चों के लिए सहायता पहुँचाना

विद्यालय में कार्यरत सामाजिक कार्यकर्ता का प्रमुख उत्तरदायित्व इस वर्ग के बच्चों को सहायता पहुँचाना है। इसके लिये आवश्यक है कि इस प्रकार के बच्चों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समझी जाये तथा उन्हें अपने स्तर को उठाने में सहायता प्रदान की जाये। इसके लिये आवश्यक है कि बच्चे में आत्मविश्वास की भावना का विकास हो तथा उनकी समस्याओं के समाधान के लिए विशेष सामाजिक सुविधायें प्रदान की जायें। अपने वृत्तिक लगन, ज्ञान, निपुणता एवं व्यक्तित्व द्वारा विद्यालय परिवेश में कार्यरत सामाजिक कार्यकर्त्ता समुदाय के बाह्य साधनों तथा बच्चों के पास उपलब्ध आंतरिक साधनों को गतिशील बनाता है। बच्चों में व्याप्त समायोजन सम्बन्धी समस्याओं को उनमें विद्यमान सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में देखकर कार्यकर्त्ता उन्हें हल करने का प्रयास करता है।

(7) सम्प्रेषण सेवायें उपलब्ध कराना

सामाजिक कार्यकर्ता को उन विशेषीकृत संस्थाओं एवं विशेषज्ञों के विषय में जानकारी रखनी चाहिए जिनकी आवश्यकता उन बच्चों के लिये होती है। वह इस प्रकार के बच्चों को ऐसी संस्थाओं अथवा इस प्रकार के विशेषज्ञों के पास भेज सकता है।

(8) सामूहिक समायोजन में वृद्धि करना :

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा विद्यालयीय बच्चों में सामाजिक भागीदारी तथा रचनात्मक सामूहिक अन्तःक्रिया की क्षमता में वृद्धि करने के उद्देश्य से विद्यालय परिवेश में सामूहिक कार्यकलापों को आयोजित करना चाहिए। इसमें मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करना, कहानी सुनाना इत्यादि किया जा सकता है। निर्देशित सामूहिक अन्तःक्रिया के माध्यम से बच्चों में परस्पर सम्बद्धता, लगाव एवं पहचान की भावनाओं का विकास किया जा सकता है जिसका परिणाम उनके सामाजिक समायोजन में वृद्धि तथा व्यक्तित्व के विकास के रूप में हो सकता है। इस प्रकार की अन्तःक्रिया अन्तर्मुखी स्वभाव वाले बच्चों के लिए लाभदायक होती है। समस्त सामूहिक क्रियाओं में विद्यालय के अध्यापकों का सहयोग अपेक्षित है।

(9) बच्चों में वैज्ञानिकता तथा आधुनिकता की अभिवृत्ति को जगाना एवं विकसित करना :

बच्चों में वैज्ञानिकता एवं आधुनिकता की अभिवृत्ति से तात्पर्य है उनमें

धर्मनिरपेक्षता, विवेकशीलता, प्रजातन्त्र, समाजवाद, नवीन प्रयोग एवं अभिमुखीकरण सामर्थ्य तथा नियोजन को आदत के रूप में लाना, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में विश्वास, व्यक्ति की महत्ता तथा न्याय के वितरण में विश्वास इत्यादि।

(10) विद्यालय एवं समुदाय में परस्पर सहयोग में वृद्धि :

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता का यह भी कर्तव्य है कि वह विद्यालय तथा समुदाय के मध्य सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना को तथा इन्हें मजबूत करने की दिशा में अपने प्रयास सुनिश्चित करे। इसके लिए अध्यापकों एवं बच्चों के संरक्षकों का सहयोग लिया जा सकता है।

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता की निपुणताएँ :

विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को विद्यालय के सन्दर्भ में बच्चों, अध्यापकों, बच्चों के माता-पिता, बच्चों के मित्रों, समुदाय के सदस्यों इत्यादि से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। इस कारण उसे पर्याप्त निपुणताओं से युक्त होना चाहिए। ऐसी कुछ निपुणतायें इस प्रकार हैं :—

1—चयनित विद्यालय में बच्चों को व्यक्तिगत रूप से सहायता पहुँचाने, उनसे वृत्तिक रूप से सम्बन्ध स्थापित करने तथा उनकी आन्तरिक शक्तियों को गतिमान बनाने की निपुणता से विद्यालयीय सामाजिक कार्यकर्ता को युक्त होना चाहिए। इससे सामाजिक वैयक्तिक कार्य एवं सामूहिक कार्य सेवायें प्रदान करने में सरलता होती है।

2—बच्चों के माता-पिता से सहयोग प्राप्त करने की योग्यता एवं माता-पिता तथा बच्चों को उनमें परस्पर विचार आकांक्षायें एवं भूमिका निष्पत्ति की व्यवस्था करने की क्षमता कार्यकर्ता में होनी चाहिए। कार्यकर्ता में माता-पिता के समूहों को सलाह देने तथा बढ़ते हुए बच्चे की व्यक्तित्व सम्बन्धी आवश्यकताओं के विषय में उन्हें ज्ञान प्रदान करने की निपुणता होनी चाहिये।

3—कार्यकर्ता में बच्चों की मित्र मण्डली के साथ सामंजस्य तथा उसके प्रभाव को पता लगाने की योग्यता होनी चाहिये।

4—कार्यकर्ता में बच्चे की योग्यताओं, विद्यालय द्वारा दिये जाने वाले कार्यों तथा अध्यापकों की अपेक्षाओं के मध्य सामंजस्य बनाये रखने की योग्यता होनी चाहिए।

5—कार्यकर्ता में यह योग्यता होनी चाहिए कि बच्चों तथा उनके माता-पिता पर प्रभाव डालने वाली घातक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दशाओं को वह समझ सके तथा इन दशाओं में सामाजिक क्रिया के माध्यम से सुधार लाने के लिये समुदाय का सहयोग प्राप्त कर सके।

6--बच्चों को लाभ पहुँचाने वाले सामाजिक एवं सामुदायिक साधनों एवं सेवाओं को गतिमान बनाने की योग्यता कार्यकर्ता में होनी चाहिए।

7--कार्यकर्ता में विद्यालय तथा समाजकार्य के महत्वपूर्ण क्षेत्रों, जैसे बाल कल्याण, सुधारात्मक सेवाएँ, मानसिक स्वास्थ्य इत्यादि के साथ सम्बन्ध बनाये रखने में निपुणता होनी चाहिए।

8--विद्यार्थियों को सेवायें प्रदान करने वाले. कर्मियों जैसे निदेशक, सलाहकार. मनोवैज्ञानिक इत्यादि के मध्य अन्तशासिकीय समन्वय लाने हेतु नेतृत्व करने की योग्यता भी उसमें होनी चाहिए।

विद्यालयगत समाज कार्य को एक मित्र किंतु अधिक व्यवहारपूर्ण दृष्टि से देखने पर इसका अधोवर्णित स्वरूप दिखायी देता है। वह शाला में छात्रों को यदि कोई समस्या हो भी तो वे शैक्षणिक होती है, जिसे सुलझाना प्राचार्य तथा शिक्षकों का दायित्व होता है। वहाँ सामाजिक कार्यकर्ता की क्या आवश्यकता है ?' विद्यालयीय समाज कार्य जिसे विद्यालयगत् अथवा शालेय समाजकार्य भी कहा जाता है, की चर्चा चलने पर प्रायः इस प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं। इनके उत्तर में भी एक प्रश्न किया जा सकता है—क्या शाला के परिवेश में छात्रों द्वारा अनुभव की जाने वाली सभी समस्याएँ मुख्यतः शैक्षणिक होती हैं ? क्या उनमें से अनेक समस्याओं की जड़ें सामाजिक या अधिक परिस्थितियों में नहीं होती ? इन प्रश्नों के उत्तर से शालेय समाजकार्य की आवश्यकता भी स्पष्ट हो जायेगी।

यों तो विद्यालयीय शिक्षा का उद्देश्य शैक्षणिक प्रक्रिया के माध्यम से छात्रों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना होता है लेकिन अनेक छात्र विद्यालय के अन्दर अथवा उसके बाहर विद्यमान परिस्थितियों के कारण शैक्षणिक अवसरों का पूरा लाभ नहीं ले पाते। डा० गौरी रानी बनर्जी[21] द्वारा प्रस्तुत सुजाता के विवरण से यह बात स्पष्ट होती है :

सुजाता बम्बई की एक कन्य शाला की आठवीं कक्षा की छात्रा हैं। उम्र 14 वर्ष। उसको निम्नलिखित शैक्षणिक समस्याओं का उल्लेख किया गया है :—

1. गृह कार्य करके नहीं लाती;

2. कक्षा में अस्थिर-चित्त होकर बैठती है और अध्यापिका द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर नहीं देतीं;

3. शाला में अपनी उपस्थिति तथा अध्ययन में नियमित नहीं है तथा

4. अर्द्धवार्षिक परीक्षा में अंग्रेजी, गणित तथा संस्कृत में अनुत्तीर्ण हुई है।

स्थूल रूप से देखने पर ये चारों समस्यायें शैक्षणिक दिखाई देती हैं किन्तु इस छात्रा की पारिवारिक पृष्ठभूमि की छान-बीन किये जाने पर जो कारण सामने आये वे शैक्षणिक तो नहीं थे लेकिन वे उसके शैक्षणिक विकास में बाधा बने हुए थे।

सुजाता जब सात वर्ष की थी तो उसकी माँ की मृत्यु हो गई थी। पिता ने दूसरी शादी कर ली और सुजाता अपने मामा, मामी और नानी के घर रहने आ गई। पिता पूना में रहते थे और बच्ची में ज्यादा रुचि नहीं लेते थे। माँ के मरने पर दूसरी शादी कर लेने और उसे 'भुला' देने के कारण सुजाता पिता से घृणा करती है। इधर मामा की आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं है और जब-तब वे उसे पिता के घर भेजने की बातें करते हैं जो वह यह नहीं चाहती। वह मामा से भी डरती है और उनसे दूर ही रहती है। इन परिस्थितियों में सुजाता खुद को असुरक्षित समझती है। यद्यपि मामी उसकी अच्छी देख-भाल करती हैं और नानी से तो उसे बेहद लगाव है फिर भी उसे लगता है कि वह अकेली है; उसे कोई नहीं चाहता। इससे वह चिड़चिड़ी, जिद्दी, एकान्तप्रिय, आक्रामक एवं हीनभावना से ग्रस्त हो गई है और इसी कारण वह अपनी पढ़ाई-लिखाई में मन नहीं लगा पाती। यों उसकी बुद्धिलब्धि (आई० क्यू०) 90 है पर वह शाला में लगातार पिछड़ती जा रही है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि छात्र-छात्राओं की अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक समस्याएँ होती हैं, जो शालेय परिवेश में कभी शैक्षणिक समस्याओं के रूप में और कभी अपने मूल रूप में ही प्रकट हो जाती हैं।

भारतीय प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता संघ ने नई दिल्ली की एक उच्चतर माध्यमिक शाला में अपनी एक परियोजना प्रारम्भ करते समय उन छात्र-छात्राओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया था जो विभिन्न समस्याओं से ग्रस्त होते हैं तथा जिन्हें सहायता की आवश्यकता होती है। वर्गीकरण[22] निम्नानुसार है :—

1. अनियमित तथा शाला त्यागी बालक;

2 धीमी रफ्तार से सीखने वाले तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए छात्र; जरूरी नहीं कि उनकी बुद्धि लब्धि (आई० यू०) कम हो;

3. गरीब छात्र, जिनकी समस्याए धनाभाव मूलक है;

4. ऐसे छात्र जिनका आचरण समूह के अन्य सदस्यों से भिन्न है—

एकाकी, औरों से कटे हुए या आक्रामक, चिड़चिड़े, हमेशा कुढ़ते रहने वाले, शिक्षक की सत्ता को नकारने वाले या खुद पर विशेष ध्यान दिये जाने की अपेक्षा रखने वाले;

5. वे छात्र जिनके आचरण में अचानक ऐसी विकृति आ जाती है जिसका तत्काल कोई कारण नजर नहीं आता;

6. वे छात्र जो अपनी क्षमताओं के अनुरूप सामान्यतः प्रगति नहीं कर पा रहे हैं;

7. वे छात्र जिनकी पारिवारिक स्थिति जटिल कही जा सकती है और

8. चोरी करने वाले, शाला से भाग जाने वाले छात्र जिनकी अनुशासनहीनता शिक्षकों तथा प्राचार्य के लिये समस्या बन जाती है।

डान नोलन[23] ने शालेय परिवेश में छात्रों की समस्याओं को और भी संक्षेप में, निम्नांकित पांच वर्गों में ही प्रस्तुत किया है :—

1. सीखने की अक्षमताओं से सम्बन्धित समस्याएँ, पढ़ने, सीखने, याद रखने तथा समझने की कठिनाई;

2. अधिक समय तक एकाग्रचित्त न हो पाना, या शीघ्र ध्यान बँट जाना;

3. व्यवहार सम्बन्धी समस्यायें—निष्क्रिय अन्तर्मुखी, शिकायत रहित व्यवहार से लेकर शारीरिक रूप से आक्रामक व्यवहार तक;

4. संवेगात्मक विक्षोभ से सम्बन्धित समस्यायें, जैसे बालक का अपराधबोध से पीड़ित होना या वास्तविक तथा कल्पना जगत् के बीच भेद न कर पाना;

5. बालक के बौद्धिक, सामाजिक, संवेगात्मक और/अथवा शारीरिक विकास में विलम्ब होने से उत्पन्न समस्यायें।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शाला शून्य में स्थापित कोई एकाकी केन्द्र नहीं, बल्कि एक सामाजिक संस्था है जहाँ पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं की तथाकथित शैक्षणिक समस्याओं के सामाजिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलू भी होते हैं। दुर्भाग्य से इन पहलुओं पर बालकों तथा शिक्षकों का या तो ध्यान नहीं जाता और यदि जाता भी है तो इसके लिये वे एक-दूसरे को दोषी ठहराते हैं। उदाहरण के लिये स्कूल से भागने वाले छात्र के शिक्षकगण उसके कमजोर पारिवारिक नियंत्रण को तथा माता-पिता शाला के अरुचिकर वातावरण को उत्तरदायी ठहरा सकते हैं। आमतौर पर या तो ऐसी समस्याओं की उपेक्षा कर दी जाती है या छात्र को दण्डित करके कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली जाती है। परिणामतः समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है और उसका दुष्परिणाम

छात्र को भोगना पड़ता है। प्रश्न उठता है कि इन समस्याओं का निराकरण करना किसकी जिम्मेदारी है। इससे जुड़ा हुआ एक और प्रासंगिक प्रश्न भी है। शिक्षा का परम् लक्ष्य छात्र के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है। लेकिन क्या हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली जो किताबों के पन्नों तथा कक्षा की दीवालों के भीतर सिमट कर रह गई है, ऐसा करने में सक्षम है? क्या उसमें एक सन्तुलित तरीके से छात्रों का बौद्धिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा शारीरिक विकास करने की क्षमता है? यदि नहीं तो उसकी कमियों की पूर्ति किस प्रकार की जायेगी?

स्पष्ट है कि यदि शिक्षा का लक्ष्य छात्रों की विभिन्न शैक्षणिक सामाजिक तथा मानसिक समस्याओं को दूर करके उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है तो वर्तमान शिक्षा पद्धति के माध्यम से उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। या उसे पूरी तरह बदलना होगा या फिर उसको कमियों की पूर्ति के लिये कुछ अतिरिक्त प्रयास करने होंगे।

शालेय समाज कार्य ऐसे ही प्रयासों पर आधारित एक कार्यक्रम है।

शालेय समाज कार्य की शिक्षा तथा समाज कार्य की प्रक्रियाओं का मिलन स्थल कहा जा सकता है। समाज कार्य का विकास एक अन्तर्वैयक्तिक वृत्ति के रूप में ही हुआ है। अपनी ज्ञान राशि के निर्माण में उसने अनेक विषयों तथा वृत्तियों से आवश्यक सामग्री का चयन किया है। उसके सेवार्थियों के अनेक रूप हैं और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अलग-अलग परिवेशों में उसने सम्बन्धित वृत्तियाँ का सहयोग दिया है।

चिकित्सकीय समाज कार्य का क्षेत्र इसका एक उदाहरण है जहाँ चिकित्सा तथा समाज कार्य की वृत्तियाँ अपने समान सेवार्थी, अर्थात् रोगी के हित के लिये परस्पर सहयोग करती हैं। इस दृष्टिकोणों से शालेय छात्र भी एक सेवार्थी के रूप में देखा जा सकता है और तब वह शिक्षा तथा समाज कार्य पद्धतियों का समान केन्द्र बिन्दु बन जाता है। इसी केन्द्र बिन्दु को शालेय समाज कार्य का उद्‌भव-स्थल कहा जा सकता है।

"शाला तथा समाज कार्य" नामक ग्रन्थ की लेखिका मार्गरेट राबिंसन के शब्दों में "शिक्षा तथा समाज कार्य की सीमायें प्रायः एक दूसरे से घुल-मिल जाती है", विशेषतः उन स्थलों पर जो सर्वाधिक संकटपूर्ण तथा असुरक्षित हैं।[24] के आगे लिखती हैं "शिक्षक तथा सामाजिक कार्यकर्ता उन्हीं बालकों तथा परिवारों से सम्बन्धित होते हैं जो आम तौर पर अपनी शैक्षणिक सम्भावनाओं का पूरा उपयोग नहीं कर पाते तथा सामाजिक रूप से टूट चुके होते हैं।[25]

शालेय समाज कार्य को एक सैद्धान्तिक आधार देने में कांस्टिन तथा फ्लोरेन्स पूल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनके द्वारा शालेय समाज कार्य को निम्नानुसार पारिभाषित किया गया है—

कांस्टिन—शाला के मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु समाज कार्य के सिद्धान्तों तथा विधियों का प्रयोग ही शालेय समाज कार्य है।[26]

कांस्टिन ने शाला के मुख्य उद्देश्य अर्थात् ज्ञानार्जन तथा व्यक्तित्व विकास को पुनः तीन उपखण्डों में बाँटा है—

छात्रों की योग्यता, निरन्तर सीखते रहने की तत्परता तथा परिवर्तन के अनुरूप खुद को समायोजित करने की क्षमता का विकास।

अपने सिद्धान्तों के आधार पर, अपनी विभिन्न विधियों के माध्यम से शालेय समाज कार्य इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु शिक्षण प्रक्रिया में अपना योगदान देता है। कांस्टिन के अनुसार आज शालेय समाज कार्य के अन्तर्गत् सीखने, चिन्तन करने तथा समस्याओं के समाधान के अतिरिक्त संवेग, अभिप्रेरणा तथा व्यक्तित्व जैसे परम्परागत क्षेत्रों पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है।[27]

फ्लोरेन्स पूल : शालेय समाज कार्य की एक अन्य विशेषज्ञ फ्लोरेन्स पूल ने शालेय समाज कार्य को शाला में प्रदान की जाने वाली विभिन्न सेवाओं का एक अंग निरूपित करते हुए एक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की है :—

शालेय कार्यक्रम के अन्तर्गत् प्रदान की जाने वाली वे सेवायें जो बालक के सामाजिक तथा संवेगात्मक समायोजन में सहायक होती हैं, शालेय सामाजिक सेवायें कहलाती हैं।[28]

इन सेवाओं में पूल ने शालेय समाज कार्य के अलावा निम्नांकित सेवाओं को भी शामिल किया है—मनोवैज्ञानिक तथा मनोचिकित्सकीय सेवायें, उपस्थिति-सेवायें, तथा व्यावसायिक परामर्श। उनके अनुसार ये समस्त सेवायें शिक्षक के कार्य की पूरक हैं तथा उसके कार्य को और प्रभावशाली बना सकती हैं। अपने छात्रों को ज्यादा अच्छी तरह से समझने में ये शिक्षक की सहायता करती हैं। आवश्यकतानुसार ये बच्चों तथा उनके पालकों को सीधी सहायता भी प्रदान करती हैं ताकि बच्चों की सफल शालेय उपलब्धि के मार्ग में आड़े आने वाली समस्याओं को दूर किया जा सके और वे उपलब्ध शैक्षणिक सुविधा का अधिकतम उपयोग कर सकें। पूल के अनुसार शालेय सामाजिक कार्यकर्ता शाला के विशेषज्ञ-दल का ही एक सदस्य है जो शाला के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अन्य विशेषज्ञों से अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करता है तथा उनके साथ मिलकर कार्य करता है।[29]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शालेय समाज कार्य शालेय परिवेश में प्रदान की जाने वाली सामाजिक सेवाओं का एक अंग है जिसके अन्तर्गत् वृत्तिक समाज कार्य के सिद्धान्तों के आधार पर, उसकी विधियों के माध्यम से, छात्रों-शिक्षकों, पालकों तथा सम्पूर्ण समुदाय की सहायता की जाती है ताकि छात्र शिक्षा के लक्ष्य प्राप्त कर सकें और उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके।

आमतौर पर शालेय समाज कार्य का उद्‌गम लक्ष्य अमेरिका को माना जाता है, लेकिन ऐतिहासिक प्रमाण इंग्लैण्ड के पक्ष में है। आज जिसे शालेय सामाजिक कार्यकर्ता कहा जाता है, उसके आदिरूप 'शाला उपस्थित अभ्यागत' ने इंग्लैण्ड में सन् 1870 में ही कार्य करना शुरू कर दिया था।[30] सन् 1903 में (और बाद में 1933 में भी) इंग्लैण्ड के शालेय छात्रों को उनके पालकों तथा बाल श्रमिक नियोक्ताओं के शोषण से बचाने के लिये 'शाला पूछताछ अधिकारी नियुक्त किये गये। सन् 1907 में जब वहाँ की शालाओं में जरूरतमन्द बालकों को मुफ्त भोजन देने तथा 1908 में उनके स्वास्थ्य परीक्षण तथा अन्य कल्याणकारी उपायों का प्रावधान किया गया तो उनके क्रियान्वयन की देखरेख का दायित्व भी शाला पूछताछ अधिकारी को ही दिया गया। सन् 1918 तथा 1921 में निर्मित शिक्षा कानूनों के माध्यम से उक्त अधिकारी को छात्र कल्याण सम्बन्धी और व्यापक कर्तव्य सौंपे गये। सन् 1944 के शिक्षा कानून में उसका नाम बदल कर शिक्षा कल्याण अधिकारी रखा गया और एक विधि-सम्मत 'शिक्षा कल्याण सेवा' प्रारम्भ की गयी जो इंग्लैण्ड के शालेय समाज कार्य के क्षेत्र में तो मील का पत्थर सिद्ध हुई ही, विश्व में भी अपने ढंग की वह एक ही व्यवस्था है। सन् 1944 के शिक्षा कानून और परवर्ती प्रयत्नों के अन्तर्गत शालेय छात्रों के कल्याण की जिम्मेदारी शाला के अधिकारियों तथा पालकों पर संयुक्त रूप से डाली गयी है तथा उसके समुचित क्रियान्वयन का दायित्व शिक्षा कल्याण अधिकारी को सौंपा गया है। आज इंग्लैण्ड में शालेय समाजकार्य एक कानून समर्थित कार्यक्रम के रूप में स्थापित हो चुका है।

इंग्लैण्ड में शालेय समाज कार्य का विकास जहाँ मुख्यतः कानून के समर्थन से हुआ वहीं अमेरिका में इसका श्रेय स्वैच्छिक सामाजिक संगठनों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं को दिया जाना चाहिए।

अमेरिका में शालेय समाज कार्य का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में हुआ। आज जिसे शालेय समाज कार्य की पारम्परिक पद्धति कहा जाता है, उसकी शुरूआत सन् 1906-7 में बोस्टन, हार्टफोर्ड तथा न्यूयार्क शहरों की

शालाओं में हुई।[31] उस समय शालेय सामाजिक कार्यकर्ता को 'अतिथि अध्यापक' कहा जाता था और उपर्युक्त तीन शहरों के सामाजिक अभिकरण वहाँ की शालाओं में किये जाने वाले समाज कार्य के लिये धनराशि प्रदान करते थे।

सन् 1914 में रोचेस्टर (न्यूयार्क) के सार्वजनिक शिक्षा मण्डल ने अपने नियमित बजट में 'अतिथि अध्यापक' सेवाओं के लिये धनराशि की व्यवस्था करके मानो इस बात का संकेत किया कि शालेय समाज कार्य की प्राथमिक जिम्मेदारी सामाजिक अभिकरणों की नहीं बल्कि शैक्षणिक संस्थाओं की है। दूसरे दशक के अन्त तक अमेरिका में ये सेवाएँ एक ऐसे स्तर सक पहुँच चुकी थीं कि सन् 1919 में अमेरिकी अतिथि–अध्यापक संघ की स्थापना की गयी जिसने अगले 25 वर्षों तक शालेय समाज कार्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।[32]

वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण शालेय समाज कार्य का तेजी से विकास हुआ ?

हांस्टिन के अनुसार इसके चार प्रमुख कारण थे—

(1) शालाओं में छात्रों की अनिवार्य उपस्थिति के कानून;

(2) बालकों के व्यक्तित्व की भिन्नता के बारे में नया ज्ञान;

(3) बालकों के जीवन में विद्यालय तथा शिक्षा के महत्त्व का अहसास तथा

(4) घर एवं समुदाय में बालक के जीवन को शिक्षा-समस्या की सुसंगति के बारे में लोगों की चिन्ता।[33]

अमेरिका के सामुदायिक केन्द्रों में काम करने वाले तत्कालीन सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अपने कार्य के दौरान उन कार्यकर्ताओं ने पाया कि तत्कालीन शिक्षा प्रणाली का उन परिस्थितियों से विशेष मेल नहीं था जो छात्रों के कक्षा से बाहर के जीवन को प्रभावित करती हैं। उन्होंने न केवल शिक्षा को बालकों के सम्पूर्ण जीवन से जोड़ने की वकालत की बल्कि दोनों में तालमेल बिठाने की विधियों का आवश्यकतानुसार आविष्कार भी किया।[34]

सन् 1920 के पश्चात् शालेय समाज कार्य का देशव्यापी विस्तार किया गया। कॉमनवेल्थ कोष के सौजन्य से अमेरिका के तीन समुदायों में शालेय समाज कार्य की प्रदर्शन-परियोजनाएं शुरू की गयीं। ये इतनी उपयोगी साबित हुई कि सन् 1930 में जब उक्त कोष ने आर्थिक सहायता देना बन्द किया तब 30 में से 21 परियोजनाएँ स्थानीय वित्तीय स्रोतों के बल पर चलती रहीं। बीस के दशक में जहाँ बाल अपराध तथा बालकों के शाला से भागने की समस्या पर

ध्यान केन्द्रित किया गया था वहाँ तीस के दशक में शालेय परिवेश में बालक की वैयक्तिकता पर तथा वृत्तिक विधियों के परिष्कार पर जोर दिया गया। चालीस के दशक में विद्यालय तथा सामुदायिक परिस्थितियों और सामाजिक परिवर्तन के बजाय छात्र के व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाने लगा इसके लिये व्यक्तिगत समाजकार्य की विधि का मुख्यरूप से उपयोग होने लगा।[35] इसी दशक के दौरान सन् 1945 में अमेरिकी अतिथि अध्यापक संघ का नाम बदलकर 'राष्ट्रीय शालेय समाज कार्यकर्ता संघ' कर दिया गया। सन् 1945 में जब 'राष्ट्रीय सामाजिक कार्यकर्ता संघ' की स्थापना हुई तो उसके अन्तर्गत् 'शालेय शिक्षा परिषद' का गठन किया गया। सन 1946 में राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य संस्थान ने शालेय समाज कार्य सम्बन्धी प्रशिक्षण में अपना योगदान देना प्रारम्भ किया जो सन् 1974 तक जारी रहा।[36]

सन् 1960 तथा इसके बाद के दशकों में शालेय समाज कार्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है—

1. अपनी सामाजिक तथा संस्कृतिमूलक समस्याओं के कारण शैक्षणिक सुविधाओं का समुचित उपयोग न कर सकने वाले बालकों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है;

2. शालेय परिवेश में व्यक्तिगत समाजकार्य के अलावा सामूहिक कार्य तथा सामुदायिक संगठन विधियों का भी अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा है तथा

3. पूर्व में जहाँ शालेय समाजकार्य की प्रेरणा तथा आंशिक धनराशि शाला के बाहर से विभिन्न सामाजिक अभिकरणों से आयी थी वहाँ अब शालेय समाज-कार्य को शिक्षा प्रणाली का एक अंग मान लिया गया है तथा तत्सम्बन्धी कानून के अनुसार उसी रूप में सम्पूर्ण व्यवस्था की जाती है।

एक वैयक्तिक सामाजिक कार्यकर्ता की सेवाओं का केन्द्र यद्यपि उसका सेवार्थी होता है लेकिन आवश्यकतानुसार उसे अपने सेवार्थी के परिवार, साथियों तथा समुदाय के अन्य अभिकरणों से भी सम्पर्क करना पड़ सकता है। इसी प्रकार एक सामूहिक सामाजिक कार्यकर्ता अथवा सामुदायिक संगठन कार्यकर्ता को प्रायः व्यक्तियों अथवा विशेष समूह पर भी ध्यान देना होता है। शालेय सामाजिक कार्यकर्ता की स्थिति इससे भिन्न नहीं है। कहने को उसकी सेवाओं का केन्द्र शालेय छात्र है लेकिन उसका कार्यक्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है।

यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि शालेय समाजकार्य का क्षेत्र शैक्षणिक समाजकार्य की अपेक्षा सीमित है। शैक्षणिक समाजकार्य के क्षेत्र में जहाँ नर्सरी और के० जी० कक्षाओं से लेकर विद्यालय, महाविद्यालय, विश्व-

विद्यालय, अभियांत्रिकी तथा चिकित्साविज्ञान संस्थान जैसी वृत्तिक संस्थाएँ और औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के कार्यक्रम भी आते हैं, वहाँ शालेय समाजकार्य के क्षेत्र में केवल प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय आते हैं। यहाँ शालेय समाजकार्य का विवेचन इन्हीं सेवाओं के अन्तर्गत किया गया है।

फ्रिड्लैण्डर[37] के अनुसार शालेय सामाजिक कार्यकर्ता को चार पक्षों के साथ काम करना होता है—

(1) छात्र,

(2) परिवार,

(3) शाला का कर्मचारी-मण्डल तथा

(4) समुदाय।

उनके अनुसार शालेय सामाजिक कार्यकर्ता का कार्य बालक के कुसमायोजन को दूर करना है। इसके लिये उसे बालकों, पालकों, शिक्षकों तथा समुदाय के समूहों की उन अभिवृत्तियों को परिवर्तित करने का प्रयास करना पड़ता हैं जो बालक के समायोजन तथा शाला की अपेक्षाओं की दृष्टि से हानिकारक होती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शालेय समाजकार्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसके व्यापक क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य करने के लिये कार्यकर्ता में कतिपय बुनियादी ज्ञान तथा कुशलताओं का होना आवश्यक है। स्किडमोर तथा ठैकरे[38] ने शालेय सामाजिक कार्यकर्ता में निम्नांकित ज्ञान तथा कुशलताओं का होना आवश्यक माना है :—

1. शाला के निम्नलिखित पहलुओं की जानकारी—

(क) शाला का शैक्षणिक दर्शन तथा मूल्य,

(ख) छात्रों में ज्ञान, सामाजिक प्रतिमानों तथा मूल्यों के संचरण का उद्देश्य,

(ग) छात्रों की समस्याओं के निराकरण की विधियों तथा उनके जीवन की गुणवत्ता के विकास में रुचि,

(घ) छात्रों को सौन्दर्य-बोधात्मक सांस्कृतिक तथा व्यावसायिक अनुभव प्रदान करने की व्यवस्था

(ङ) प्रत्येक छात्र की शक्ति तथा सीमाओं पर ध्यान दिये बगैर उसकी शैक्षणिक, संवेगात्मक तथा सामाजिक क्षमताओं के एकीकरण तथा विकास के लिये वचनबद्धता।

2. कार्यकर्ता के पास परामर्श सम्बन्धी ज्ञान तथा कुशलता भी होनी

चाहिये। यह देखा गया है कि यदि शिक्षकों को उचित परामर्श दिया जाये तो अपने 5 प्रतिशत छात्रों की समस्याओं को बाहर के किसी अभिकरण में सन्दर्भित करने के बजाय वे स्वयं ही उन्हें सुलझा सकते हैं।

3. कार्यकर्ता को व्यक्तियों के साथ काम करने के नये सिद्धान्तों का ज्ञान होना जरूरी है जिसमें व्यवहार परिवर्तन, व्यवहार विश्लेषण, मानवीय सम्बन्धों से ताल्लुक रखने वाली कुशलताओं तथा कार्यक्रम सम्बन्धी सिद्धान्त भी शामिल हैं।

4. कार्यकर्ता को सीखने, समझने तथा अनुभव करने के सिद्धान्त की जानकारी होनी चाहिये। उसमें शैक्षणिक निदान करने तथा सीखने के सुधारात्मक अनुभवों की सिफारिश करने की कुशलता भी होनी चाहिये। कार्यकर्ता के पास सीखने के सिद्धान्तों का ज्ञान तथा उनके प्रयोग की जो कला होती है उसी के आधार पर वह शाला के शिक्षकों से काम की साझेदारी शुरू कर सकता है।

5. कार्यकर्ता को सीखने सम्बन्धी निर्योग्यताओं की जानकारी तथा समझ होनी चाहिये। उनके निदान तथा उनके निराकरण या प्रभाव को कम करने की कुशलता का होना भी जरूरी है।

6. सामाजिक अभिवृत्ति, समाजीकरण, शैक्षणिक तथा कुशलता अर्जित करने वाले समूहों के बारे में भी उसको जानकारी होनी चाहिये।

7. कार्यकर्ता के पास समुदाय के ज्ञान के अलावा शाला के परिवेश के अनुरूप मध्यस्थता, पैरवी एवं सामाजिक संक्रिया सम्बन्धी कौशल भी होना चाहिए। शाला में वांछित परिवर्तन में समुदाय सहायक, बाधक या दोनों ही हो सकता है। उदाहरण के लिये शाला का संचालक मण्डल आमतौर पर रूढ़िवादी ही होता है।

शालेय परिवेश में जो व्यक्ति सामाजिक कार्यकर्ता या परिवर्तन के दूत के रूप में कार्य करना चाहता है उसे अपने समुदाय की रचना तथा कार्यों की जानकारी होनी चाहिये।

8. कार्यकर्ता को संचार तथा शिक्षा के सिद्धान्तों एवं कुशलताओं की भी जानकारी होनी चाहिये।

9. प्रणाली, सिद्धान्त तथा शालेय परिवेश में उनके प्रयोग की जानकारी भी कार्यकर्ता को होनी चाहिये।

शालेय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका की चर्चा करने से पहले इस तथ्य को पुनः रेखांकित करना उचित होगा कि शालेय परिवेश में कार्यकर्ता अकेला

नहीं, बल्कि छात्र के बहुविध विकास के लिये सक्रिय एक दल का सदस्य है। इस दल में उसके तथा शिक्षकों के अतिरिक्त परामर्शदाता, चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक इत्यादि भी हो सकते हैं। उसे यह भी भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि शालेय परिवेश में शिक्षा ही मुख्य है तथा समाजकार्य उसकी सहायक गतिविधियों में से एक है।

शालेय परिवेश में सामाजिक कार्यकर्ता को क्या काम करना है, इस पर कांस्टिन, पिंक, नालेन, स्किडमोर, ठैकरे, डॉ० गौरी रानी बनर्जी, मिर्जा आर० अहमद आदि ने विचार प्रस्तुत किए हैं। इस क्षेत्र में चल रही आधुनिकतम विचारधाराओं के अनुसार अब उसकी भूमिका केवल व्यक्तिगत् समाजकार्य तक सीमित नहीं रह गई है। छात्रों की समस्याओं के निराकरण तथा उनके व्यक्तित्व के विकास के लिये उसे आवश्यकतानुसार समाजकार्य की समस्त विधियों अर्थात् वैयक्तिक समाजकार्य, सामूहिक समाजकार्य, सामुदायिक संगठन, समाज कल्याण प्रशासन, सामाजिक अनुसन्धान, यहाँ तक कि सामाजिक संक्रिया का प्रयोग भी करना पड़ सकता है। शालेय परिवेश में उसकी भूमिका के इन छः पहलुओं का संक्षिप्त विश्लेषण निम्नानुसार हैं :—

(क) व्यक्तिगत स्तर पर

व्यक्तिगत् स्तर पर कार्यकर्ता को कई लोगों के साथ कार्य करना पड़ता है, जिनमें छात्र, शिक्षक तथा पालकगण प्रमुख हैं। इनके साथ उसके मुख्य कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है :—

1. छात्र : शालेय कार्यकर्ता की चिन्ता का प्रमुख विषय पढ़ाई में पिछड़ने वाले, कक्षाओं से भागने वाले तथा शाला त्यागी बालक होते हैं। असामान्य व्यवहार वाले छात्र जैसे अत्यधिक अन्तर्मुखी, उदासीन या आक्रामक व्यवहार वाले बालक भी उसकी सहायता के अधिकारी होते हैं। इनमें से कई बालक पढ़ाई में तेज भी हो सकते हैं, फिर भी इनका असामान्य व्यवहार शालेय कार्यकर्त्ताओं की सेवाओं की अपेक्षा रखता है। यदि छात्र किसी विशेष शारीरिक या मानसिक बाधा, जैसे बहरापन या स्नायु दौर्बल्य से ग्रस्त है तो ऐसे मामले वह विशेषज्ञों तक पहुँचाता है। डॉ० मिर्जा आर० अहमद ने भारत की शालाओं में पढ़ने वाले सामाजिक तथा आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के छात्रों पर विशेष ध्यान दिये जाने की अपेक्षा की है ताकि वे अन्य वर्गों के बालकों के समकक्ष आ सके।[39] कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि समस्याग्रस्त छात्र की समस्या के मूल कारणों का पता लगाकर, औरों की सहायता से, उनका इस प्रकार निराकरण करना कि कि छात्र निर्बाध रूप शैक्षणिक प्रगति कर सके, कार्यकर्ता का प्रमुख कर्तव्य होता है। मूल कारणों का निराकरण प्रारम्भ होते ही

छात्र की पढ़ाई-लिखाई पर उसका असर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। पहिले सुजाता नाम की जिस छात्रा की समस्याओं का विवरण दिया गया है उसके मामले में सामाजिक कार्यकर्ता के सक्रिय होने से क्या लाभ हुआ, यह निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट होता है :—

महिला कार्यकर्ता ने सुजाता के सन्दर्भ में लगभग पाँच महीने काम किया, जिसके तीन प्रमुख उद्देश्य थे—(1) सुजाता की नानी, मामा तथा मामी को उसकी वास्तविक समस्या से अवगत कराना, ताकि उसके प्रति उनकी विचार-धारा बदले, (2) सुजाता को अपने व्यवहार को गहराई से समझने में मदद करना ताकि उसके व्यवहार में वांछित परिवर्तन आ सके, (3) परिवार तथा शाला में उपलब्ध उपयोगी स्रोतों को इकट्ठा करके उनकी सहायता से सुजाता में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करना।

कार्यकर्ता ने सुजाता की नानी से कई बार मिलकर उन्हें समझाया कि किस प्रकार उनके अत्यधिक लाड़ प्यार ने सुजाता के मन में यह भावना पैदा कर दी है कि उनके अलावा उसे कोई प्यार नहीं करता। इसी से वह खुद को असुरक्षित महसूस करती है। मामा और मामी से मिलकर कार्यकर्ता ने उन्हें बताया कि एक असहाय बालिका की सहायता करके वे कितना महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इस आग्रह पर मामा ने सुजाता में रुचि लेना प्रारम्भ किया और मामी ने घर के कामकाज में उससे मदद लेना शुरू किया। यहाँ तक की गर्मी की छुट्टी में मामी अपने बच्चों के साथ सुजाता को भी अपने मायके ले जाने के लिये तैयार हो गई। इससे सुजाता की खुशी का ठिकाना न रहा। उसे लगा कि नानी के अलावा भी उसे प्यार करने वाले लोग हैं और परिवार में उसका भी स्थान है। कार्यकर्त्री उससे नियमित रूप से हफ्ते में दो बार मिलती थी। इससे भी उसे लगा कि उनमें रुचि ली जा रही है। इन भेटों के दौरान कार्यकर्त्री सुजाता को अपनी कड़वाहट और विद्वेषपूर्ण भावना को व्यक्त करने का पूरा मौका देती थी जिससे उसका अन्दरूनी तनाव और चिड़चिड़ापन बहुत कम हो गया। उसने उसे समझाया कि औरों की तरह यदि वह शिक्षिकाओं का प्यार भी पाना चाहती है तो उसे नियमित रूप से विद्यालय जाना होगा और गृह-कार्य भी करना होगा। उधर सुजाता की कक्षा-अध्यापिका से मिलकर कार्यकर्त्री ने उसे पूरा मामला समझाया और अनुरोध किया कि सुजाता द्वारा किये जा रहे संघर्ष में वह भी उसकी सहानुभूतिपूर्वक मदद करे।

इन सारे प्रयत्नों का नतीजा सुखद निकलना ही था। सुजाता वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई। कार्यकर्त्री ने आगे भी उसके साथ कुछ समय तक काम

करने का निश्चय किया ताकि उसकी विचारधारा और अधिक रचनात्मक तथा स्वस्थ हो सके।

(2) परिवार :

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट होता है कि छात्र की समस्या के निराकरण के लिये कार्यकर्ता को छात्र के माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों से भी प्रायः सम्पर्क करना पड़ता है ताकि परिवार में व्याप्त उन कारणों का निराकरण किया जा सके जो छात्र की शैक्षणिक प्रगति में बाधक होते हैं। यह एक मान्य तथ्य है कि माता-पिता के बीच के तनाव, उनके अपराधी या शराबी होने या बालक की उपेक्षा जैसे परिवार-मूलक कारकों तथा उसके शैक्षणिक स्तर के बीच गहरा सह-सम्बन्ध होता है।

(3) शिक्षक :

पढ़ाई में पिछड़ने वाले बालकों की प्रारम्भिक जानकारी कार्यकर्ता को आमतौर पर शिक्षकों से ही मिलती है। इसके पश्चात् छात्र के प्रकरण की गहराई से छान-बीन करके वह समस्या के मूल कारणों से न केवल शिक्षक को अवगत कराता है बल्कि समस्या के समाधान में आवश्यकतानुसार शिक्षकों का योगदान भी प्राप्त करता है।

डा० मिर्जा आर० अहमद[40] के अनुसार 'शालेय सामाजिक कार्यकर्ता को छात्र, माता-पिता तथा विद्यालय की आवश्यकताओं को एक-दूसरे को समझाना होता है तथा इनमें से प्रत्येक की आवश्यकताओं, संसाधनों और क्षमताओं के बीच तालमेल बैठाना होता है।'

(ख) समूह के स्तर पर :

शालेय परिवेश में कार्यकर्ता के सामूहिक समाजकार्य सम्बन्धी ज्ञान और कुशलता के प्रयोग की भी अच्छी सम्भावना होती है। नियंत्रित सामूहिक क्रिया के जरिये कार्यकर्ता छात्रों की अनेक संवेगात्मक तथा सामाजिक समायोजन की समस्याओं को दूर कर सकता है। अन्तर्मुखी तथा एकाकी प्रकृति के छात्रों के लिये सामूहिक समाजकार्य का उपयोग विशेष रूप से उपयोगी होता है।

सामूहिक स्तर पर कार्यकर्ता न केवल छात्रों से बल्कि उनके पालकों से भी सम्पर्क करके उनकी आम समस्याओं पर चर्चा करता है तथा आवश्यक परामर्श देता है। पालक-शिक्षक संघ के मंचों का उपयोग भी इस कार्य के लिये होता है।

(ग) समुदाय के स्तर पर :

फिंक तथा सहयोगी लेखकों के अनुसार शालेय सामाजिक कार्यकर्ता समुदाय को विद्यालय से तथा विद्यालय को समुदाय से जोड़ता है। उसके काम का एक प्रमुख अंग है समुदाय में स्थित समाजसेवा अभिकरणों के संसाधनों को विद्यालय के लिये उपलब्ध कराना। उसे एक ऐसे सामाजिक कार्यकर्ता के नाते, जिसने योग्यता का उपयोग विद्यालय के कामों के लिये करने का निश्चय किया है, समुदाय में उपलब्ध संसाधनों का ज्ञान होना परम् आवश्यक है।[41] उसका यह ज्ञान उन बालकों के मामले में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है जिन्हें विद्यालय के बाहर की किसी विशेष संस्था की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिये यदि शहर में कोई बाल-निदेशन व निदान केन्द्र कार्य कर रहा हो तो उसके दायरे में आने वाली समस्याओं से ग्रस्त छात्रों को वैज्ञानिक परीक्षण तथा उपचार के लिये वहाँ भेजा जा सकता है। कार्यकर्ता को अपने समुदाय के उन विशेष कारकों की जानकारी भी होनी चाहिये जो विद्यालय के वातावरण पर बुरा असर डाल सकते हैं। इन कारकों के बारे में उसे पालकगण, शाला-प्रशासन तथा शासन को सावधान करते रहना चाहिये।

(घ) प्रशासकीय स्तर पर :

शिक्षकों की भाँति शालेय सामाजिक कार्यकर्ता भी शाला का कर्मचारी और शाला प्रशासन का एक अंग होता है। जोसेफ फ्रैम्फर्ड के शब्दों में 'जब विद्यालय के वर्तमान कार्यक्रमों में जगह-जगह खालीपन दिखाई देने लगे या जब कार्यक्रम अपर्याप्त या अनुपयुक्त लगने लगे, तब शाला के केन्द्रीय प्रशासन को इसकी सूचना देना तथा अपने सुझाव प्रस्तुत करना शालेय समाजकार्य विभाग का कर्तव्य होता है। प्रशासन के अनुरोध पर शालेय सामाजिक कार्यकर्ता कार्यशालाओं के आयोजन में भाग ले सकते हैं, समितियों की सदस्यता स्वीकार कर सकते हैं, प्रयोगात्मक या अग्रगामी परियोजनाओं में काम कर सकते हैं और समाजकार्य विद्यालयों के छात्रों के क्षेत्रीय कार्य का पर्यवेक्षण भी कर सकते हैं।'[42]

(ङ) अनुसन्धान :

किसी भी वृत्ति या व्यवसाय के सदस्य की तरह अपने क्षेत्र में नये तथ्यों के उद्घाटन, पुराने तथ्यों की नई व्याख्या या नई-नई परिकल्पनाओं के परीक्षण जैसे कार्यों में भाग लेना या सहयोग देना, दूसरे शब्दों में अनुसन्धान में अपना योगदान देना भी, शालेय सामाजिक कार्यकर्ता का दायित्व है। इस क्षेत्र में वह या तो स्वयं शोध कार्य करता है या अन्य शोधकर्ताओं को अपना सहयोग देता

है। शालेय समाजकार्य के क्षेत्र में नवीनतम जानकारियों का औरों से विनिमय करना उसके दायित्व का ही एक अंग है।

(च) सामाजिक संक्रिया और सामाजिक परिवर्तन :

सामाजिक संक्रिया का अर्थ है जन-समस्याओं पर जन-आक्रमण। यद्यपि सामाजिक संक्रिया को वृत्तिक समाज कार्य की एक विधि के रूप में स्वीकार कर लिया गया है किन्तु शालेय समाजकार्य के क्षेत्र में इसका उपयोग अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है। समुदाय में ऐसी अनेक समस्यायें होती हैं जिनका सीधा कुप्रभाव शालेय छात्रों पर पड़ सकता है। उदाहरणार्थ यदि नगर में शराबखोरी या जुए की समस्या जोरों पर है या अश्लील चलचित्र बिना रोक-टोक सबको दिखाये जाते हैं और विद्यालय के छात्रों पर इसका बुरा असर हो रहा है तो शालेय सामाजिक कार्यकर्ता को क्या करना चाहिए ? क्या वह अपने परम्परागत कामों में व्यस्त रहे या समुदाय में जन-जागृति लाने और समस्याओं के खिलाफ लोगों को आन्दोलन करने हेतु प्रेरणा देने में अपना योगदान दे ? पश्चिमी देशों में अब विद्यालय को केवल पढ़ने-पढ़ाने का कारखाना नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन के केन्द्र के रूप में विकसित करने की चर्चायें चल रही हैं और तदनुसार शालेय समाजकार्य की प्रकृति में भी परिवर्तन लाने की बातें की जा रही हैं। मार्गरेट राबिन्सन के अनुसार 'सामाजिक कार्यकर्ता कदाचित् इस बात से सहमत होंगे कि समाज में साधनों के उचित बंटवारे के लिये सामाजिक परिवर्तन लाना उनके कर्तव्यों में शामिल है लेकिन वे यह भी मानेंगे कि यह एक राजनैतिक कार्य भी है और कुछ यह भी चाहेंगे कि ऐसे कार्यों को राजनीति के दायरे में ही किया जाना चाहिए; फिर भी इस बात के आसार तेजी से दिखने लगे हैं कि ऐसे कार्यों में विद्यालयों की अधिक वजनदार भूमिका होगी....समाज में परिवर्तन के माध्यम के रूप में कार्य करने के लिये विद्यालयों के सामने अनेक अवसर है।[43] जाहिर है कि यदि विद्यालय सामाजिक संक्रिया या सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो उससे शालेय सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका भी प्रभावित होगी और उसे सामाजिक संक्रिया के एक जानकार के रूप में अपना योगदान देना होगा।

भारत में शालेय समाजकार्य बीसवीं सदी के साठ के दशक में प्रारम्भ हुआ। सन् 1961 में टाटा समाज विज्ञान संस्थान ने बम्बई के एक विद्यालय में शालेय समाजकार्य की एक प्रदर्शन परियोजना प्रारम्भ की। परियोजना की सफलता से प्रभावित होकर विद्यालय प्रशासन ने सन् 1964 में एक पूर्णकालिक सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति की। इसी दशक में दिल्ली के एक विद्यालय

में भी पूर्णकालिक सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति की गई जिसका अनुकरण बाद में आठ और विद्यालयों द्वारा किया गया। नई दिल्ली नगर निगम द्वारा संचालित कतिपय विद्यालयों में भी शालेय सामाजिक कार्यकर्ता कार्यरत हैं जो अपनी सेवाएँ मुख्यतः प्राथमिक शाला के छात्र-छात्राओं को प्रदान करते हैं। भारतीय प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता संघ द्वारा दिल्ली में सन् 1978 में एक 'शालेय समाजकार्य समिति' का गठन भी किया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आज देश के अनेक विद्यालयों में शालेय सामाजिक कार्यकर्ता कार्यरत हैं।

भारत में शालेय समाजकार्य के इतिहास के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारे यहाँ इस क्षेत्र में अब तक हुई प्रगति को उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता है और इस क्षेत्र में काम करने की असीम सम्भावनायें हैं। भारत में शालेय समाजकार्य अभी यहाँ-वहाँ हो रहे फुटकर प्रयत्नों के रूप में ही चल रहा है। महानगरों और कुछ बड़े शहरों के प्रायः सुविधा सम्पन्न विद्यालयों में चलाये जाने वाला यह कार्यक्रम अभी छोटे कस्बों तथा गाँव की शालाओं तक नहीं पहुँच पाया है और इसी कारण यह अखिल भारतीय आकार भी ग्रहण नहीं कर पाया है। पाश्चात्य देशों की भाँति यहाँ न तो इसके लिये कोई कानूनी आधार है और न ही सामाजिक अभिकरणों तथा जनसाधारण को इसके महत्त्व तथा उपयोगिता की जानकारी है। यह भी एक तथ्य है कि संविधान के अन्तर्गत 14 वर्ष तक के समस्त बालक-बालिकाओं को निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा दिये जाने के संकल्प के बावजूद अभी भी शाला जा सकने वाले बालक-बालिकाओं का बहुत बड़ा वर्ग शाला जाने से वंचित है। जो बालक-बालिकायें प्राथमिक, माध्यमिक या उच्चतर माध्यमिक स्तर पर औपचारिक शिक्षा प्राप्त कर भी रही हैं वे वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की उन समस्याओं से पीड़ित हैं जिन पर उनका कोई बस नहीं है। भाटिया तथा उनके सहयोगी लेखकों ने 'आधुनिक भारतीय शिक्षा तथा उसकी समस्यायें'[43] नामक ग्रन्थ में वर्तमान प्राथमिक तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की जो समस्यायें गिनाई हैं उनमें वित्तीय तथा साधनों के अभाव से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रमुखता से प्रकाश डाला गया है। उनके अनुसार अनेक शालाओं के लिये समुचित भवन की व्यवस्था भी नहीं है। कुछ शालायें तो खुले स्थानों पर लगती हैं, जबकि कुछ के भवन अपर्याप्त हैं। टाट-पट्टियों, सज्जा-सामान, श्यामपट, लेखन सामग्री, पुस्तकों का अभाव भी सर्वव्यापी है। विशेषतः आदिवासी और दूरस्थ ग्रामीण इलाकों के पालकों में शिक्षा के प्रति आज भी अरुचि है। शिक्षकों की संख्या अपर्याप्त है तथा वे नियमित रूप से शाला में उपस्थित नहीं होते। उनके प्रशिक्षण की उपयुक्तता

पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता हैं । देश के लगभग 40 प्रतिशत विद्यालयों में एक ही शिक्षक कार्यरत है और 'एक शिक्षक शालाओं' को तो अब देश की शिक्षा-व्यवस्था के एक दोषपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार भी कर लिया गया है।

ऐसी स्थिति में शालेय समाजकार्य की व्यावहारिकता के बारे में प्रश्न खड़ा किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे सीमित साधनों को देखते हुए देश में शालेय समाजकार्य का विस्तार पाश्चात्य देशों के नमूने पर नहीं किया जा सकता, लेकिन इससे शालेय समाजकार्य की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती है। यदि हम चाहते हैं कि शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक छात्र के व्यक्तित्व का विकास हो तो उसके मार्ग की सामाजिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक बाधाओं को दूर करने के बारे में कभी न कभी विचार करना ही होगा जो कि शालेय समाजकार्य का क्षेत्र है। फिलहाल इसकी शुरुआत उन विद्यालयों से भी की जा सकती है जो अपेक्षाकृत साधन सम्पन्न हैं तथा जो अपने यहाँ पूर्णकालिक सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति कर सकते हैं। जहाँ ऐसी स्थिति नहीं है वहाँ स्थानीय सामाजिक संस्थायें इस कार्य के लिये धनराशि की व्यवस्था कर सकती हैं। डा० अहमद ने तो विभिन्न क्षेत्रों में 'शालेय समाज सेवा इकाइयां' स्थापित करने का सुझाव दिया है जो अपने इलाके के विद्यालयों को विशेषज्ञ-सेवायें उपलब्ध करवा सकती हैं। इनमें शालेय सामाजिक कार्यकर्ता के अलावा एक-एक, मनोवैज्ञानिक, परामर्शदाता, चिकित्सक, मनोचिकित्सक तथा व्यवसाय मार्गदर्शक नियुक्त किया जाये तथा वित्तीय व्यवस्था शासन और स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा की जाये। इसके अतिरिक्त शालेय शिक्षकों को सामान्य अथवा विशेष अल्प आवधिक पाठ्यक्रमों के माध्यम से भी शालेय समाज कार्य का विशेष प्रशिक्षण दिया जा सकता है ताकि वगैर किसी अतिरिक्त खर्च के इस प्रक्रिया का लाभ छात्र, पालक, स्वयं शिक्षक तथा दूरे समुदाय को मिल सके। लेकिन इन सब के लिये शालेय समाजकार्य की आवश्यकता तथा उसके लाभों के बारे में जन-चेतना जागृत करना आवश्यक है। इस कार्य में समाजकार्य के विभिन्न संगठन जैसे भारतीय समाजकार्य विद्यालय संघ, भारतीय प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता संघ, भारतीय समाज कल्याण परिषद्, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, राज्यों की समाज कल्याण सलाहकार परिषदें, भारतीय बाल कल्याण परिषद्, पालक-शिक्षक संघ इत्यादि पहल कर सकते हैं। भारत में शालेय समाजकार्य की उपयोगिता के बारे में दो राय नहीं हो सकती। जरूरत है इसकी आवश्यकता तथा देश में उपलब्ध सीमित साधनों के बीच तालमेल स्थापित करके विद्यालयीय या शालेय समाजकार्य को क्रमशः विकसित करने की।

संदर्भ-सूची

1. वारकर अर्नेस्ट : एजूकेशन फॉर सिटिजनशिप, 1936, पृ० 9।
2. मनाहिंत कार्ल : डायग्नोसिस ऑफ आवर टाइम, 1943, पृ० 62।
3. लियोनार्ड जी० वी० : एजूकेशन एण्ड एक्टैंसी, डेल पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क, 1968, पृ० 18।
4. फ्रेडरिक्शन एच० : दि चाइल्ड एण्ड हिज वेलफेयर, सैनफ्रान्सिसिको, 1975, पृ० 75।
5. शरीफ आई० ए० : रमनैय्या, टी० वी० सी० एण्ड मुरलीधर, डी० : स्कूल सोशल वर्क, नवरत्न प्रिन्टर्स, मदुराई, 1981, पृ० 4750।
6. माइकेल एस० ऐण्ड शेफर्ड, एम० : कम्परेटिव स्टडी ऑफ चिल्ड्रेन्स विहैवियर ऐट होय ऐण्ड ऐट स्कूल, जरनल ऑफ एजूकेशनल सॉइकोलॉजी, 36, 3, 1966, पृ० 248-254।
7. कास्टिन लेला वी० : "एजूकेशन" इन ब्राइलैण्ड, डोनाल्ड, कास्टिन लेला वी०; अर्थटन, सी० आर० एवं अन्य, कन्टेम्पोरेरी सोशल वर्क, मैकग्रॉहिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क, 1975, पृ० 15।
8. पोले फ्लोरेन्स, स्कूल सोशल सर्विसेज, सोशल वर्क इयर बुक, नेशनल ऐसोसियेशन ऑफ स्कूल सोशल वर्क्स, न्यूयार्क, 1959, पृ० 505।
9. कास्टिन लेला वी०, पूर्व उद्धृत।
10. पूर्व सन्दर्भित, पृ० 153।
11. शरीफ आई० ए०, रमनैय्या, टी० वी० एस० एण्ड मुरलीधर, डी० : पूर्व उद्धृत पुस्तक पर आधारित।
12. कोगन एल एस० : "प्रिंसिपुल्स ऑफ मेजरमेन्ट" इन पोलेनेस्की, एन० ए०, सोशल वर्क रिसर्च, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1960, पृ० 90।
13. विन आर०; दि यूटिलिटी ऑफ सिस्टेम्स मॉडल्स ऐण्ड डेवलपमेन्टल मॉडल्स फार प्रैक्टिसनर्स रिनेहार्ट एण्ड विन्स्टन, न्यूयार्क, 1969, पृ० 198।
14. विन्टर आर० एण्ड सारी, आर० सी०, "मालपरफार्मेन्स इन पब्लिक स्कूल : ए ग्रूपवर्क एप्रोच", सोशल वर्क, वाल्यूम 10, सं० 4, पृ० 4।
15. वीट्स एस०, कांफ्लिक्ट रिजोल्यूशन इन सेकेण्डरी स्कूल, इन विन्टर आर० एण्ड सारी, आर० सी०, पूर्व उद्धृत।
16. शरीफ आई० ए० एवं अन्य, पूर्व से उद्धृत, पृ० 31।
17. पूर्व सन्दर्भित, पृ० 33।

18. स्वार्ज डब्ल्यू०, दि सोशल वर्कर इन ग्रूप, सोशल वेलफेयर फोरम, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, पृ० 157।
19. फ्रीडलैण्डर डब्ल्यू० ए०, इन्ट्रोडक्शन टु सोशल वेलफेयर, प्रेन्टिस हॉल ऑफ इण्डिया प्रा० लि०, नई दिल्ली, 1961, पृ० 370।
20. अहमद एम० आर०, सोशल वर्क इन एजूकेशनल सेटिंग्स, इन साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल वर्क, मिनिस्ट्री ऑफ वेलफेयर, भारत सरकार, वाल्यूम–3, 1987, पृ० 153-154।
21. डॉ० (कु०) गौरी रानी बनर्जी, सोशल वर्क रिसर्च पेपर्स—ऐन इण्डियन कंटेक्स्ट बाम्बे, टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, 1972, पृष्ठ 125-30।
22. डी० पाल चौधरी, बाल कल्याण व विकास, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1980, पृ० 284।
23. डान नोलन, चार्ल्स जॉस्ट्रों, चिल्ड्रेन ऐण्ड दि प्राब्लम ऑव इन्ट्रोडक्शन टु सोशल वेलफेयर इन्स्टीट्यूशन्स, दि डोर्से प्रेस, इलिनोयस, 1978, पृ० 233।
24. मार्गरेट राबिंसन, स्कूल्स ऐण्ड सोशल वर्क, रूटलेज एण्ड वेगनपाल लन्दन, 1978, पृ० 4।
25. वही, पृ० 9।
26. लेला बी० कांस्टिन, 'एजूकेशन', कंटेंपरेरो सोशलवर्क : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल वर्क ऐण्ड सोशल वेलफेयर, मैक्ग्रॉ हिल बुक क०, न्यूयार्क, 1975, पृ० 152।
27. वही, पृ० 152।
28. फ्लोरेन्स पूल, स्कूल सोशल सर्विस, सोशल वर्क इयर बुक, नै० अ० आ० सो० व० न्यूयार्क, 1957, पृ० 505।
29. वही, पृ० 505-506।
30. मार्गरेट राबिंसन, वही, पृ० 165।
31. रेक्स ए० स्किडमोर ऐण्ड एम० सी० थाकरे, इन्ट्रोडक्शन टू सोशल वर्क, प्रेंटिस हाल इन्का० न्यू जर्सी, 1976, पृ० 82।
32. वही, पृ० 82।
33. लेला बी कांस्टिन, वही, पृ० 152-53।
34. एल० डी० वाल्ड, दि हाउस ऑन देल्ही स्ट्रीट, हेनरी हाल, न्यूयार्क, 1915, पृ० 106।

35. मिर्जा आर० अहमद, सोशल वर्क इन एजूकेशनल सेटिंग, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल वर्क, भाग–2, प्रकाशन प्रभाग, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1978, पृ० 152 ।

36. रेक्स ए०, स्किडमोर ऐण्ड एम० जी० ठाकरे, वही, पृ० 82-85 ।

37. वाल्टर ए०, फ्रिडलैण्डर, इन्ट्रोडक्शन टु सोशल वेलफेयर, प्रेन्टिस हॉल ऑफ इण्डिया प्रा० लि०, नई दिल्ली, 1963, पृ० 370 ।

38. रेक्स ए० स्किडमोर ऐण्ड एम० जी० ठाकरे, वही, पृ० 87-88 ।

39. डॉ० मिर्जा आर० अहमद, वही, पृ० 152 ।

40. वही, पृ० 152 ।

41. आर्थर ई० फिंक, सी० डब्ल्यू० ऐण्डर्सन ऐण्ड एम० बी० कैनोवर, दि फील्ड्स ऑफ सोशल वर्क, हाल्ट रिनेहाल्ट ऐण्ड विन्स्टन, इंक, न्यूयार्क, 1968, पृ० 364 ।

42. वही, पृ० 370-71 ।

43. मार्गरेट राबिंसन, वही, पृ० 23 ।

44. के० के० भाटिया ऐण्ड अदर्स, मॉडर्न इण्डियन एजूकेशन ऐण्ड इट्स प्रॉब्लेम्स, प्रकाश ब्रदर्स, लुधियाना, 1981, पृ० 96–105, 164–195 ।

●

अध्याय–12

वृद्ध कल्याण

वृद्धावस्था की अपनी विशेष समस्यायें होती हैं। इनमें से कुछ का सम्बन्ध तो शारीरिक परिवर्तनों से होता है, यथा-शक्ति या बल का ह्रास तथा मानवीय पर्यावरण के परिवर्तन यथा-जीवन साथी, मित्र या परिजनों की मृत्यु और कार्य से अवकाश और समाज का बदला हुआ व्यवहार इसका दूसरा रूप है। आमतौर पर इस उम्र में अधिकांश व्यक्ति किसी-न-किसी रोग से ग्रस्त हो जाते हैं अथवा उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। पाचन, निष्क्रमण एवं रक्त संचार की प्रणालियाँ प्राय इस अवस्था में अनियमित होने लगती हैं। वृद्ध सन्तानोत्पत्ति के योग्य नहीं रह जाते और कभी-कभी हल्के मानसिक असन्तुलन के भी शिकार हो जाते हैं। उनकी देखने, सुनने, स्वाद, निद्रा आदि की क्षमतायें कमतर हो जाती हैं। वृद्ध व्यक्ति दूसरे की बातों और भावनाओं को समझने में असमर्थ होने लगते हैं और आन्तरिक द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाते हैं। उनकी निर्णय शक्ति और इच्छाओं पर नियंत्रण की क्षमता शिथिल हो जाती है। वे कदाचित् अपनी प्रशंसा तो सहज सुन सकते हैं किन्तु अपनी कमजोरियों का उल्लेख उन्हें नागवार लगता है। वे दूसरों द्वारा अपने को वृद्ध और अक्षम समझा जाना पसन्द नहीं करते और चाहते हैं कि उनसे कम उम्र के लोग उनकी सलाह और मशविरे से काम किया करें। इस सन्दर्भ में की गयी अपनी कोई भी उपेक्षा उन्हें कष्ट पहुँचाती है और अपने को वे इससे मानसिक रूप से परेशान पाते हैं। उनका एक विशेष चरित्र होता है नयी पीढ़ी के व्यवहारों की आलोचना करना। वे अपनी भावनाओं और मान्यताओं को नयी पीढ़ी पर थोपना चाहते हैं और प्रायः अपने जीवन की घटनाओं का उदाहरण या दृष्टान्त देकर अपने कथन को सार्थक बनाने की चेष्टा करते हैं। वृद्ध व्यक्तियों में प्रायः नव ज्ञानार्जन और नवमूल्यों की ग्राह्यता की शक्ति कमजोर हो जाती है। समाज के परिवर्तनशील नये तौर तरीकों और मूल्यों से उन्हें चिढ़ होती है और इनको न स्वीकार कर पाने के कारण उनका पारिवारिक और सामाजिक सामंजस्य समस्यापूर्ण हो जाता है। विपरीत परिस्थितियों में उनमें भावनात्मक तनाव देखने को मिलता है। किसी प्रकार की भौतिक कमी उनमें असुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है और सम्पत्ति के प्रति उनका मोह बहुत बढ़ जाता है। कभी-

कभी जीवन के अन्तिम वर्षों में ऐसा भी देखने को मिलता है कि व्यक्ति शंकालु, झगड़ालू, कंजूस और चिड़चिड़ा हो जाता है। विभिन्न धर्मों में वृद्धावस्था की स्थितियों की चर्चा हुई है। वृद्धावस्था के सन्दर्भ में जूडो क्रिश्चियन की अभिवृत्ति का उल्लेख 1901 में प्रकाशित दि ज्यूडिश इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन तथा 1912 में प्रकाशित दि इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन के 'ओल्ड एज' पर लिखे गये निबन्धों में है। ईसाई मतावलम्बियों ने वृद्धावस्था में सहायता के अनेक धार्मिक उपाय निकाले थे। ज्यूज में वृद्धों का परिवार में बहुत सम्मान किया जाता रहा है और ईसाइयों ने इस अभिवृत्ति को सांस्कृतिक उत्तराधिकार स्वरूप ग्रहण किया है। मुसलमानों में वृद्धों की आवश्यकता की पूर्ति धर्म निर्देशित उपकार कार्यों के तहत जकात और खैरात के रूप में की जाती है। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों यथा-पुराण, स्मृति, शुक्रनीति और महाभारत इत्यादि में वृद्धों की भोजन और सेवा आदि से सम्बन्धित अनेक रूपों में विभिन्न प्रकार की सहायता के अनेक निर्देश दिये गये हैं। प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत वाणप्रस्थ और संन्यास आश्रम के दौरान व्यक्ति का जीवन गृहस्थ व्यक्तियों की सहायता पर ही आधारित रहा है। वृद्धावस्था और रुग्णता के कारण अनाथत्व से बचने के अनेक उपाय किये जाते रहे हैं। शुक्राचार्य की शुक्रनीति में ऐसे उल्लेख हैं जिनमें वृद्धावस्था में संचित निधि और पेंशन जैसी ही सुविधाओं की व्यवस्था प्राचीन भारत में होने का एहसास होता है। उनसे ऐसा प्रमाण मिलता है कि जो व्यक्ति चालीस वर्ष तक सेवारत् रहता है उसे सेवानिवृत्ति पर वेतन का आधा जीवन पर्यन्त मिलता रहता है और यह संचित निधि की कटौती या अंशदान द्वारा सम्भव बनाया जाता है। महाभारत में वृद्धों की सेवा के लिये राजाओं को निर्देश है—'उपासिता च वृद्धानाम।' शुक्रनीति में कहा गया है 'प्रव्राजितान पालयेत।' कूर्म पुराण में कहा गया है 'मेकहियेण वर्तनम प्रोक्रम फल मूलैरथापिवो।' अग्निपुराण में वृद्ध और जरूरतमन्द के प्रति राजा के कर्तव्य के सम्बन्ध में उल्लेख है 'अनाथावृद्धानाम……… योगक्षेम चावृत्तिम च तथैव परिक्लेपयाते।' याज्ञवल्क्य स्मृति में गृहस्थों के लिये निर्देश है 'बालस्वामिनी वृद्धा गर्भिनेतुकेन्याकाता सम्भोत्यातिथि भृत्येन्ह च दम्पत्येह सह भोजनम्।'

पाश्चात्य विद्वानो ने वृद्धावस्था को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। एलिजाबेथ बी० हरलॉक के विचार में वृद्धावस्था एक पतनोन्मुख अवस्था है तथा यह दूसरा बाल्यकाल है। उनके अनुसार मानसिक और शारीरिक ह्रासोन्मुख क्षमतायें पहले तो हल्के रूप में होती हैं और इनकी पूर्ति पूर्व के ज्ञान के उपयोग से हो जाती है। वृद्धावस्था के साथ व्यक्ति में कम शक्ति और प्रति-

क्रिया की गति में शिथिलता आ सकती है किन्तु वह इसकी पूर्ति कौशल विकास करके कर सकता है। वृद्धावस्था की ऐसी स्थिति जबकि ह्रास की गति धीमी और क्रमागत हो तथा ऐसे ह्रास की क्षतिपूर्ति की जा सके तो उसे जरा-गमन अथवा वार्धक्य की अवस्था कहते हैं। यह अवस्था प्रायः पचास से पैंसठ वर्ष के बीच की होती है। इसके बाद की अवस्था जराजीर्ण अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति व्यक्तिगत भेद के अनुसार कमोवेश भुलक्कड़, लापरवाह, सामाजिक रूप से विमुख तथा एकाग्रचित्तता की कमी से ग्रस्त हो जाता है।

पॉल वी० लैम्कर ने वृद्धों की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि वृद्धावस्था में शारीरिक गिरावट की गति अपेक्षाकृत तेज हो जाती है और लम्बी बीमारी तथा अक्षमताओं की उपस्थिति में वृद्धि हो जाती है। "एजिंग इन वेस्टर्न सोसाइटी" नामक पुस्तक में 'हेल्थ ऑफ दि एजिंग' अध्याय में पैटर्सन आदि ने वृद्धावस्था की दशा का उल्लेख करते हुए कहा है कि पेशियों की गतिविधि एवं शारीरिक चयापचय में गिरावट के कारण आमतौर पर वृद्धावस्था में नौजवान व्यक्ति की अपेक्षा सम्पूर्ण कैलोरी की आवश्यकता कम हो जाती है। रक्त स्तम्भक यांत्रिकी जो कि शरीर की विभिन्न प्रणालियों के नियमित संचालन को सुनिश्चित करती है की क्षमता में उम्र बढ़ने के साथ-साथ शिथिलता आती है और वृद्ध व्यक्ति को स्वयं आन्तरिक और वाह्य पर्यावरण में परिवर्तन से दबाव महसूस होता है। प्रायः साठ वर्ष से ऊपर के व्यक्ति में शारीरिक शक्ति की आवश्यकताओं में कमी आने से मांसपेशियों की गतिविधियों में भी कमी आ जाती है और उसकी पाचन प्रणाली कमजोर होने लगती है। इस अवस्था में आक्सीजन की खपत भी घटने लगती है। वृद्ध व्यक्ति प्रायः नौजवान की तुलना में अधिक सर्दी महसूस करते हैं। गर्मी से बचाव की प्रणाली भी वृद्धावस्था में कम कारगर होती है। कैनन के अनुसार सर्दी सहने की क्षमता में कमी का कारण ऊष्मा उत्पादन क्षमता में कमी हो सकती है। थ्यूलिस के अनुसार वृद्ध व्यक्ति में शरीर का तापमान सामान्य से कुछ कम हो सकता है और इनमें कुछ अंश तक रक्त की कमी भी हो सकती है। उच्च रक्तचाप और धमनी सम्बन्धी विकार भी वृद्धावस्था में प्रायः देखने को मिलते हैं। रक्त कोशिकाओं में परिवर्तन से रक्तचाप सम्बन्धी कुस्थिति भी पैदा होती है तथा स्नायु सम्बन्धी लोच में भी कमी आती है। सम्पूर्ण शारीरिक गतिविधियों में संरचनागत् परिवर्तन की अपेक्षा ग्रहणशीलता तथा समंजन की क्षमता में अधिक गिरावट के कारण कतिपय मौलिक प्रणालीगत व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी हृदय में रक्त संचार सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। यह भी देखा जाता है कि ऐसे व्यतिक्रम का सम्बन्ध गुर्दे के कार्य से सम्बन्धित होता है। विभिन्न

प्रकार की रुधिर कोशिकाओं का एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्ध होता है तथा एक की कमजोरी का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। गुर्दा भी इस अवस्था में सामान्य रूप से काम नहीं कर पाता जिससे रुधिर सम्बन्धो विकार उत्पन्न होते हैं। कतिपय ग्रन्थियों में स्रावों की कमी से व्यक्ति की बाहरी त्वचा रूखी और झुर्रीदार हो जाती है। पाचक रसों और अम्लों की कमी से आँत की क्षमता क्षीण हो जाती है और इस अवस्था में फेफड़ों के ऊतकों की लोच में कमी आ जाती है और इससे श्वांस सम्बन्धी विकार भी उत्पन्न होते हैं। अधिकांश वृद्ध व्यक्तियों में खाँसी और जुकाम सम्बन्धी विकार देखे जाते हैं जो हल्के मौसमी परिवर्तन से भी उत्पन्न हो जाते हैं। स्नायुतन्त्र सम्बन्धी विकृतियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न निष्कर्ष निकाले गये हैं किन्तु प्रायः देखा जाता है कि शारीरिक झटकों की स्थिति में स्नायु सम्बन्धी सन्तुलन बिगड़ जाता है अर्थात् वृद्धावस्था में स्नायुदौर्बल्य भी दृश्य है। वृद्धावस्था में आँख की पुतलियाँ धँस जाती हैं, व्यक्ति झुक जाता है, जोड़ों में दर्द महसूस करता है और ये परिस्थितियाँ इस तथ्य के प्रमाण हैं कि वृद्ध व्यक्ति की संवेदनशीलता क्षीण हो जाती है और उसके स्नायुतन्त्र शिथिल पड़ जाते हैं। उसकी स्पर्श, घ्राण और श्रवण शक्ति भी क्षीण हो जाती है। वृद्धावस्था में जैसे-जैसे संवेदन संक्रिया शिथिल पड़ती जाती है वैसे-वैसे बौद्धिक क्षमता में ह्रास होता जाता है। वृद्धि व्यक्ति संवेदक उत्तेजनाओं पर विशेषतः चक्षु पर अधिक आश्रित होते हैं। जब वह देख सकने में अक्षम होते हैं तो उनका जीवन दुरूह हो जाता है' और वे आँख के बजाय स्पर्श पर अधिक आश्रित होते हैं। केन्द्रीय स्नायु यांत्रिकी की संक्रियां में गिरावट से शरीर और बुद्धि का सन्तुलन बिगड़ जाता है जिससे दिनचर्यागत् समस्यायें उत्पन्न होती हैं। वृद्धावस्था में मलमूत्र प्रणाली सम्बन्धी शिथिलता भी आ सकती है और इन पर नियन्त्रण भी कमजोर होने लगता है। वृद्ध व्यक्तियों की चलने-फिरने की क्षमता भी कम हो जाती है और वे अधिक पराश्रित हो जाते हैं। इन्हें सीढ़ियों पर चढ़ने में भी तकलीफ होती है। वृद्ध व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के रोगाणुओं से लड़ने की क्षमता कम हो जाती है और वे जल्दी ही किसी बीमारी के शिकार हो सकते हैं तथा उनकी बीमारी भी ठीक होने में अपेक्षाकृत अधिक समय लेती है। रोगमुक्ति के बाद भी आवश्यक शक्ति संचार की गति धीमी होती है। उनकी स्वाद शक्ति भी कमजोर हो जाती है जिससे उन्हें भोजन सरस नहीं लगता और उसके पाचन में कठिनाई होती है। वय-वृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति से भूल होने की सम्भावना भी बढ़ती जाती है। काम व्यक्ति के जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है और उसकी अनेक संक्रियायें इससे सम्बन्धित होती हैं। हरलाक के अनुसार जीवन के छठे दशक में काम

क्षमता शिथिल होने लगती है और वय-वृद्धि के साथ यह शिथिलता बढ़ती जाती है। इस काम-शैथिल्य के साथ घबड़ाहट, भारीपन, भावात्मक अस्थिरता भाग्यवादिता, शारीरिक एवं मानसिक आराम-पसन्दगी, चिड़चिड़ापन, ध्यान विचलन, एकान्तप्रियता आदि बढ़ जाती है। थकान इस अवस्था की एक निश्चित उपलब्धि है। जॉर्ज लेह्नर आदि ने वृद्धावस्था में तीन प्रकार के भय का वर्णन किया है :—1–पराश्रयिता एवं अनुपयोगिता का भय, 2–बीमारी का भय और 3–एकाकीपन का भय। इनके अन्तर्गत् क्रमशः सेवानिवृत्ति, बेरोजगारी, आर्थिक असुरक्षा, मानसिक चैतन्यता में कमी, मानवी कौशल में कमी, सहारे के लिये बच्चों पर निर्भरता, श्रवण, दृश्य, स्वाद, श्वांस, पाचन, वाणी, निष्क्रमण, स्मृति, ऊर्जा आदि की क्षमताओं में कमी और नाना प्रकार के रोगों से सम्भावित ग्रस्तता और बीमारी, अशक्तता तथा अनुपयोगी जीवन के कारण धीरे-धीरे सभी के सम्पर्कों में कमी का भय, जीवनसाथी एवं मित्रों की मृत्यु, तिरस्कार, निराशा, पद और प्रस्थिति में गिरावट आदि सम्मिलित हैं। यद्यपि वृद्धावस्था में अनेक शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु विभिन्न संस्कृतियों में इनका समाहार भी होता है और वृद्धों की अनेक पारिवारिक और सामाजिक उपयोगितायें हैं। उनके ज्ञान और अनुभव का लाभ नयी पीढ़ी को सुलभ होता है। उनकी मनो-शारीरिक कठिनाइयों और आर्थिक अक्षमताओं में सहायता और सम्बल देकर उनके जीवन को अधिक सार्थक, उपयोगी और मानवोचित बनाने की चेष्टायें सदा से विभिन्न धर्मों, समाजों और राष्ट्रों ने स्वैच्छिक और राजकीय आधारों पर की हैं।

विभिन्न देशों में वृद्धावस्था में व्यक्ति की सहायता हेतु अनेक कार्यक्रम चलते हैं। इन्हें सेवा सम्बन्धी, सर्वव्यापी या सार्वभौमिक तथा साधनों पर आधारित श्रेणियों में रखा जा सकता है। विभिन्न देशों में सहायता या बीमा जैसे शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ या व्याख्यायें की जाती हैं। कतिपय देशों में वृद्धावस्था सहायता कार्यक्रम ऐसे हैं जिन्हें न तो सहायता कहा जा सकता है न तो बीमा। अनेक देशों में सर्वव्यापी या सार्वभौम ऐसे सामान्य कार्यक्रम हैं जिनका लाभ वृद्धों को बिना उनकी आय, सेवा अथवा साधन का विचार किये समान रूप से नकद धन के रूप में सुलभ होता है। ऐसी सहायता किसी देश में एक निश्चित अवधि तक रहने वाले सभी व्यक्तियों को आय के सामान्य मद से तब दी जाती है जब वे एक निश्चित अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। अनेक ऐसे देश जहाँ ये सार्वभौम सामान्य सहायता के कार्यक्रम हैं वहाँ साथ ही साथ द्विस्तरीय ऐसे भी कार्यक्रम हैं जिनका सम्बन्ध आमदनी से होता है। ऐसे कतिपय कार्यक्रमों में कुछ अंशदान कर्मचारी का भी होता है जबकि वे अपने

अंशदान की तुलना में काफी अधिक सहायता वृद्धावस्था में प्राप्त करते हैं। जहाँ रोजगार से सम्बन्धित पेंशन की व्यवस्था है वहाँ इसका सम्बन्ध सेवा की अवधि से होता है। प्रायः इन कार्यक्रमों के लिये धनसंचय पूर्णरूपेण अथवा बड़े पैमाने पर ऐसे विशेष अंशदान से होता है जो श्रमिक या कर्मचारी और सेवायोजक दोनों ही द्वारा कर्मचारी के आय के एक निश्चित प्रतिशत में अंश-दान से निर्मित होता है। यह प्रायः अनिवार्य होता है और इसका प्रतिशत कर्मचारी की श्रेणी से सम्बन्धित होता है। कभी-कभी यह स्वैच्छिक आधार पर भी स्वीकार्य होता है। कभी-कभी सरकार भी स्वैच्छिक भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिये कुछ क्षतिपूरक राशि का अंशदान करती है। बड़ी तादाद में विभिन्न देशों की सरकारें सेवा से सम्बन्धित बीमा कार्यक्रमों में आर्थिक अंशदान के जरिये भागीदार बनती हैं। सरकार अपने सामान्य आय के मद से बीमाकृत कर्मचारियों के समस्त वेतन के कुछ प्रतिशत का भुगतान ऐसे कार्यक्रमों के लिये करती है। इससे कोई बीमा कार्यक्रम पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से लागत की दृष्टि से सरकार द्वारा समर्थित हो सकता है। कभी-कभी सरकारें क्षतिपूरक राशि के रूप में बीमा निधि में अपना योगदान देती हैं। ऐसी व्यवस्था सरकार द्वारा सेवायोजक होने की अनिवार्यता के अतिरिक्त होती है। साधन आधारित कार्यक्रम के अन्तर्गत व्यक्ति और उसके परिवार की सभी मानक आवश्यकताओं के आँकलन के उपरान्त लाभांश व अर्हता को महत्व दिया जाता है। इसके अन्तर्गत लाभ सीमित होते हैं और मात्र जरूरत-मन्दों या निम्न आय के अभ्यर्थियों को सुलभ होते हैं। इसके लिये पात्र का चुनाव व्यक्ति की आय, साधन, आवश्यकता और लाभ की मात्रा और प्रकार का सर्वेक्षण करके किया जाता है। इसमें प्रत्येक मामले में प्रशासनिक निर्णय द्वारा कानून के दायरे में अलग-अलग निर्णय किये जाते हैं। विभिन्न देशों में साधन, आवश्यकता, आय-परीक्षण व सहायता की आवश्यकता और उसकी मात्रा के आँकलन भिन्न-भिन्न होते हैं। भिन्न देशों में इन्हें सामाजिक पेंशन या समतुलीय भुगतान आदि नामों से पुकारा जाता है। परम्परागत रूप से ऐसे कार्यक्रमों के लिये अर्थ की व्यवस्था प्राथमिक रूप से सामान्य सरकारी खजाने से की जाती है। कभी-कभी इन कार्यक्रमों को कुछ देशों में आय से सम्बन्धित लाभों से जुड़े अंशदान कार्यक्रमों के स्थान पर चलाया जाता है। इसके अतिरिक्त साधन या आय-परीक्षितकार्यक्रम बहुधा सामाजिक बीमा अभिकरणों द्वारा प्रशासित होते हैं और ऐसे व्यक्तियों पर लागू होते हैं जो सेवायोजन से सम्बन्धित कार्यक्रमों के तहत नहीं आ सकते हैं अथवा अन्य व्यक्तिगत या परिवारगत स्रोतों से जिनकी आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं या जिनकी विशेष

आवश्यकतायें होती हैं। कुछ देशों में ये कार्यक्रम राष्ट्रीय पैमाने पर चलाये जाते हैं किन्तु अधिकांशतः ये स्थानीय प्रशासन द्वारा प्रशासित व संचालित होते हैं। कुछ देशों में सामाजिक सहायता कार्यक्रम या तो सरकार के किसी विभाग के अन्तर्गत चलाये जाते हैं या सरकार का उन पर सामान्य निरीक्षण होता है। कुछ अन्य देशों में सामाजिक सहायता कार्यक्रम का संचालन ऐसे पृथक अभिकरणों द्वारा होता है जिनकी स्थापना कानून द्वारा होती है और जिन्हें भिन्न-भिन्न अंशों में स्वायत्तता प्राप्त होती है। इन पर सरकार का परोक्ष और नाम-मात्र का निरीक्षण होता है। ऐसे अभिकरण उन बोर्डों की निगरानी में काम करते हैं जिनमें कर्मचारी, सेवायोजक और सरकार तीनों के प्रतिनिधि रहते हैं। इन्हें विधायी नीतियों का विकास करने, समानान्तर कर वसूल करने, बजट बनाने और लाभ भुगतान के वितरण के अधिकार होते हैं। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न मात्रा और अंश में जनता ऐसे वृद्धावस्था सहायता कार्यक्रमों का लाभ ले पाती है। ऐसे कार्यक्रमों के अन्तर्गत् कहीं तो देश के सम्पूर्ण नागरिक आ जाते हैं और कहीं ये वेतन और वेतनभोगी कर्मचारियों तक ही सीमित होते हैं। भौगोलिक आधार पर ऐसे सहायता कार्यक्रमों का क्रमिक प्रसार लैटिन अमेरिका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में देखने को मिलता है। सहायता की सार्व-भौमिक प्रणाली में सिद्धान्ततः वृद्धावस्था सहायता के लिये सम्पूर्ण जनसंख्या को अर्ह माना जाता है। ऐसी प्रणाली में कतिपय न्यूनतम शर्तें हो सकती हैं जैसे अभ्यर्थी स्थायी अथवा दीर्घकालीन निवासी हो, जिसके अन्तर्गत एक खास अवधि तक निवास का उल्लेख हो। स्वीडेन में यह अवधि छः वर्ष की है। एक शर्त नागरिकता की हो सकती है जो कि कभी मात्र आवास अवधि से ही सम्बन्धित होती है। इसके अतिरिक्त यह भी अतिरिक्त शर्त हो सकती है कि सहायता के सम्पूर्ण लाभ का उपभोग करने के लिये वही व्यक्ति अर्ह होगा जो किसी स्थान विशेष में निश्चित अवधि तक निवास कर चुका होगा। कनाडा में यह चालीस प्रौढ़ वर्ष माना जाता है। दूसरे देश के निवासियों या नागरिकों के लिये यह सहायता-सुविधा बहुत से देशों में देय नहीं है। सेवा सम्बन्धित लाभों के मामले में इस सहायता-प्रणाली की व्याप्ति का दायरा सम्पूर्ण श्रमिक शक्ति के लिये प्रणाली के वय पर निर्भर है। बहुत से प्राचीन तथा नवीन आर्थिक रूप से सम्पन्न और विकसित देशों में इस प्रणाली की व्याप्ति का दायरा अत्यन्त व्यापक है। ऐतिहासिक रूप से परम्परा रही है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत् पहले तो सरकारी कर्मचारियों और सैनिकों को सुविधायें दी जायें और तदो-परान्त यह सहायता उद्योगों और उद्यमों के कर्मचारियों को सुलभ हो। अधिकांश प्रणालियों में सामान्य प्रणाली के रूप में सभी वेतनभोगी लोगों को यह सुविधा

मिलती है किन्तु फिर भी कुछ विशेष श्रेणी के कर्मचारी जैसे सरकारी सेवाओं के व्यक्ति, चाहे वे फौज में हों या नागरिक सेवा में, अध्यापक हों या सार्वजनिक प्रतिष्ठान में कर्मचारी हों, भिन्न प्रणालियों के अन्तर्गत इन्हें लाभ सुलभ होते हैं। खदान, रेलवे, बैंक और विपणन आदि से सम्बन्धित कर्मचारियों के लिये विशेष प्रणालियाँ भी होती हैं। इनमें सामान्य प्रणाली की तुलना में अधिक उदारता होती है। आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग प्रायः इन प्रणालियों के अन्तर्गत नहीं आ पाते। हाल के वर्षों में ऐसे विधान और उपाय किये गये हैं जिनसे इनको अलग निधि से सामान्य प्रणाली के रूप में सहायता दी जा सके। कहीं-कहीं जो किसी भी सेवा में नहीं हैं अथवा बेकार हैं उन्हें भी ये लाभ मिलते हैं और इसका प्रयोग इंग्लैण्ड में होता है। यहाँ बेकार व्यक्ति भी अपना अंशदान ऐसी निधि के लिये करते रहते हैं और फलतः वृद्धावस्था में पेंशन के हकदार होते हैं। कुछ प्रणालियों के लिये उन गृहणियों के लिये जो गर्भधारण अथवा पालन के लिये अस्थायी रूप से अथवा पारिवारिक जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिये काम छोड़ देती है, उनके लिये स्वैच्छिक आधार पर यह सुविधा सुलभ है। कभी-कभी स्वरोजगार में लगे हुए ऐसे व्यक्तियों को भी यह सुविधा मिलती है जो अनिवार्य प्रावधानों के अन्तर्गत नहीं आ पाते। कुछ देशों यथा स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका में ऐसी नयी प्रणालियाँ विकसित की गयी हैं जिनमें राष्ट्रीय स्तर पर एक कार्यक्रम के तहत औद्योगिक और कृषिकोषों की स्थापना की गयी है। अधिकांश विकासशील देशों में ऐसी योजनाओं का दायरा अनेक वर्षों में धीरे-धीरे व्यापक हुआ है। नये देशों में जनसंख्या का बड़ा भाग इससे अछूता रहा है और खास तौर से उन देशों में जहाँ कुनबेनुमा परिवार होते हैं, उनकी नकद आय नहीं होती या जो जन-जातीय आर्थिकी में विकासमान हैं। ऐसे देशों में सहायता के कार्यक्रम के अन्तर्गत वेतनभोगी कर्मचारी ही आते हैं और ऐसी सहायता उन्हें वृद्धावस्था, दुर्घटना या मृत्यु के कारण आय की क्षति होने की स्थिति में सुलभ होती है। साधन परीक्षित कार्यक्रम जिन्हें भिन्न क्षेत्रों में भिन्न नामों से पुकारा जाता है, इसी सामान्य दिशा में विकासमान है जिसमें एक निर्धारित न्यूनतम लाभ वृद्धावस्था में देय होता है।

ये कार्यक्रम, वेल्जियम, फ्रान्स, न्यूजीलैण्ड आदि में प्रचलित रहे हैं। आस्ट्रेलिया में सम्पूर्ण सहायता प्रणाली साधन-परीक्षण के ही सिद्धान्त पर आधारित हैं और इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण नागरिक आते हैं। संचित निधि की सुविधा अधिकांशतः सरकारी और निजी क्षेत्र के वेतनभोगी कर्मचारियों के लिये होती है। आमतौर पर वृद्धावस्था सहायता कार्यक्रम के लिये आय के तीन स्रोत

होते हैं—एक तो वह कर्मचारियों के वेतन के निश्चित प्रतिशत में अंशदान से आता है, दूसरे एक निश्चित प्रतिशत जो सेवायोजक के अंशदान से आता है और तीसरे प्रायः अनेक देशों में सरकारी अंशदान के रूप में प्राप्त होता है। संचित निधि और सार्वभौम प्रणाली से अलग अधिकांश सामाजिक बीमे के तहत जो पेंशन कार्यक्रम चलते हैं वे उपर्युक्त दो या तीन स्रोतों की आय से चलाये जाते हैं। इनमें से आधे से कुछ अधिक त्रिपक्षीय आर्थिक सहायता पर आधारित होते हैं और इनके कोष का निर्माण उपर्युक्त तीनों स्रोतों की आय से होता है। इस त्रिपक्षीय अंशदान में सेवायोजक और कर्मचारी के अंशदान की पद्धति सामान्य और व्यापक है। इनके अंशदान का सम्बन्ध प्रायः आय की राशि से होता है और जो राशि देय होती है उसका निर्धारण एक निश्चित अधिकतम राशि के अन्तर्गत प्रत्येक कर्मचारी के वेतन के एक निश्चित प्रतिशत के रूप में होता है। प्रायः यह प्रतिशत सेवायोजक और कर्मचारी दोनों के लिये समान होता है किन्तु अनेक देशों में सेवायोजक का अंशदान बड़ा होता है। पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में सेवायोजक कर के माध्यम से सरकार के सामान्य आय-मद में इसलिये अंशदान करते हैं कि उस राशि से सामाजिक बीमे को सुचारू किया जा सके। सरकारी अंशदान की राशि प्रायः सामान्य आय-मद से प्राप्त होती है या कभी-कभी विशेष वार्षिक कराधान या आबकारी कर से वसूल की जाती है। इसका उपयोग भिन्न-भिन्न रूपों में देखने को मिलता है। कभी तो यह सम्बन्धित प्रशासनिक खर्चों के भार-वहन के लिये होता है, कभी घाटे की पूर्ति के लिये तो कभी कार्यक्रम के सम्पूर्ण व्यय के रूप में होता है। कभी-कभी कर्मचारी और सेवायोजक के अंशदानों और कार्यक्रम पर होने वाले सम्पूर्ण व्यय के बीच के अन्तर को पूरा करने के लिये पूर्ण अथवा एकमुश्त राशि इमदाद के रूप में भी सरकारें देती हैं। बहुत से देश निम्नतम आय-वर्ग के लोगों के लिये अपनी यह इमदाद या तो बहुत कम रखते हैं या तो देते ही नहीं और इनकी व्यवस्था या तो आय के सामान्य मद से की जाती है या पूर्ण अंश का भुगतान सेवायोजक ही करता है। अंशदान की दर आय के स्रोतों के स्वरूप में समरूप अथवा प्रगतिशील प्रकृति की हो सकती है और उसकी प्रगतिशीलता आय की माप या आय-वर्ग की स्थिति के अनुरूप होती है। उन देशों में जहाँ सार्वभौम और आय सापेक्ष प्रणाली साथ-साथ है वहाँ लाभांश हेतु व्यय की दरें सरकार ही नहीं तय करती बल्कि भिन्न कार्यक्रमों के लिये भिन्न-भिन्न दरें हो सकती हैं। आधारभूत बीमा-पेंशन कार्यक्रमों के लिये अनेक देश समान रूप से एक निश्चित राशि में अंशदान की अनिवार्यता सुनिश्चित करते हैं। आय के अन्य स्रोत के रूप में सामान्य मद से भुगतान कतिपय सार्वभौम प्रणालियों में देखा जाता है।

कुछ सार्वभौम प्रणालियों में बीमाकृत व्यक्ति के आंशिक अंशदान से निधि या कोष बनता है। लाभार्थी का योगदान एक निश्चित प्रतिशत में राष्ट्रीय कर कार्य-क्रम के तहत आयकर के माध्यम से भी होता है। कुछ देशों में साधन परीक्षित पूरक लाभ हेतु आंशिक अथवा पूर्णरूपेण सामान्य आय-मद से धन संग्रह होता है। वृद्धावस्था के लाभ आमतौर पर एक निश्चित वय, सेवा अवधि अथवा अंशदान अवधि की पूर्णता पर प्राप्य होते हैं। अनेक देशों में इसके लिये पूर्ण अथवा स्थायी सेवा निवृत्ति की भी शर्त होती है। कुछ देशों में जहाँ लाभ सेवा से सम्बन्धित नहीं है, निवासियों के लिये नागरिकता अथवा निकास अवधि की शर्तें महत्त्वपूर्ण होती हैं। हाल के वर्षों में ऐसी प्रवृत्ति देखी जा रही है कि अंश-दान की अवधि, सेवा और वय से सम्बन्धित शर्तों में कुछ शिथिलता की जा रही है। कुछ देशों में पचास वर्ष पर ही सेवा-निवृत्ति होती है और कुछ देशों में सत्तर वर्ष पर। अधिकांश देशों में वृद्धावस्था के लाभ का भुगतान साठ से पैंसठ वर्ष के बीच प्रारम्भ हो जाता है। प्रायः सेवा निवृत्ति के उपरान्त मिलने वाले लाभ तीस से चालीस वर्ष की सेवा के उपरान्त पूर्णतः प्राप्त होते हैं। लगभग आधे देशों में महिलाओं और पुरुषों के लिये सेवा अवधि सम्बन्धी शर्तें समान हैं किन्तु प्रायः इतनी ही संख्या में ऐसे देश हैं जहाँ महिलाओं को कुछ कम सेवा अवधि में ही पुरुषों के समान लाभ प्राप्त हो जाते हैं और ये उन्हें जीवन पर्यन्त सुलभ होते हैं जो कि बहुधा पुरुषों की अपेक्षा अधिक लम्बी अवधि की इनकी आयु के कारण अधिक काल के होते हैं। ये अन्तर प्रायः पाँच वर्ष के होते हैं किन्तु अब प्रवृत्ति ऐसी है कि स्त्री-पुरुष की सेवा निवृत्ति आयु एक ही रखी जाए। कई देशों में ऐसे कार्यक्रम हैं जो अनिवार्य सेवा निवृत्ति के पूर्व ही ऐच्छिक रूप से सेता-निवृत्ति होने की सुविधा कर्मचारियों को देते हैं। कुछ देशों में वृद्धावस्था पेंशन की ऐसी भी व्यवस्था है जहाँ वृद्ध अर्ह अवधि को पूरी नहीं कर सकते। वृद्धावस्था पेंशन के लिये न्यूनतम अवधि की शर्त पाँच वर्ष से लेकर पैंतालीस वर्ष के बीच होने के कारण इसमें बड़ी विविधता है। बहुसंख्यक सामाजिक बीमा प्रणालियाँ सेवा निवृत्ति की शर्त लगाती हैं जबकि सार्वभौम प्रणाली में आमतौर पर पेंशन प्राप्त करने के लिये काम से सेवानिवृत्त होने की शर्त आमतौर पर नहीं होती। पश्चिमी यूरोप और रूस में बहुत से पेंशन भोगी ऐसे होते हैं जो काम भी करते रहते हैं और पूरा पेंशन भी पाते रहते हैं। ऐसी अधिकांश प्रणालियों में उन दशाओं में लाभार्थी को पेंशन के अतिरिक्त भी राशि दी जाती है जो स्त्री, छोटे बच्चों अथवा आश्रित जीवन-साथी का भरण-पोषण कर रहा होता है। कुछ प्रमुख देशों में वृद्धावस्था सहायता कार्यक्रमों की चर्चा आगे की जा रही है।

अमेरिका—जरूरतमन्द वृद्धों की पर्याप्त सहायता के लिये राज्यों को सक्षम बनाने की दृष्टि से संघीय कार्यक्रमों के अन्तर्गत् अमेरिका में सामाजिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत् अपेक्षित है कि वृद्धावस्था सहायता कार्यक्रम के लिये राज्य अपने अन्तर्गत् के समस्त राजनैतिक विभाजनों को समाहित करे, भले ही कार्यक्रम का प्रशासन स्थानीय शासन की इकाइयाँ करें। राज्यों का यह दायित्व है कि वे ऐसे कार्यक्रमों में आर्थिक सहभागिता करें और एक राज्य में एक अधिकरण के माध्यम से कार्यक्रम का प्रशासन हो अथवा स्थानीय शासकीय इकाई के प्रशासन का निरीक्षण उनके द्वारा होता रहे। इस अभिकरण के सम्मुख अपनी बात या फरियाद कहने का अवसर उस व्यक्ति को अवश्य मिलना चाहिये जिसे कि किसी कारण से सहायता देने से इन्कार कर दिया गया है अथवा जिसमें अनावश्यक विलम्ब हो रहा हो। राज्य को ऐसा प्राविधान करना चाहिये जिससे सहायता प्राप्तकर्ताओं का चयन और सहायता का सातत्य योग्यता आधारित प्रणाली के माध्यम से बरकरार रहे। अधिनियम में ऐसा भी प्रावधान है जिससे कार्यक्रम के प्रशासन के लिये आवश्यक सूचनाओं के अतिरिक्त लाभार्थी से सम्बन्धित अन्य बातों की जानकारी को गुप्त रखा जा सके। 1951 में एक संशोधन द्वारा ऐसी व्यवस्था की गयी कि राजनैतिक और व्यापारिक उद्देश्यों के अतिरिक्त लाभार्थियों की सूची की निरीक्षण सार्वजनिक रूप से किया जा सकता है। वृद्धावस्था सहायता हेतु अभ्यर्थियों के आय के अन्य स्रोतों पर विचार करते हुए ही राज्य अभिकरण मात्र जरूरतमन्दों को सहायता स्वीकार करता है। यदि योजना के अन्तर्गत् किसी निजी अथवा सार्वजनिक संस्था में कार्यरत् व्यक्ति को भुगतान का समाहरण होता है तो राज्य का यह दायित्व होता है कि वह ऐसी संस्थाओं के लिये मानकों को स्थापित और संरक्षित करे। इस संघीय अधिनियम के अन्तर्गत् ऐसी व्यवस्था है कि वृद्धावस्था सहायता के लिये किसी भी दशा में वय की सीमा पैंसठ वर्ष से अधिक न हो और निवास सम्बन्धी अवधिसीमा भी न्यूनतम पाँच वर्ष ही हो और यह अर्जी देने के उपरान्त से प्रारम्भ होनी चाहिये, साथ ही नागरिकता सम्बन्धी अर्हता के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका के किसी भी नागरिक को इस सुविधा से बाहर नहीं किया जा सकता। इस अधिनियम के अन्तर्गत् एक फार्मूले के तहत संघीय वित्तीय भागीदारी की राशि तो सीमित की गयी है किन्तु कार्यक्रम को लागू करने वाले राज्य पर यह दायित्व छोड़ दिया गया है कि वह कितनी सहायता दे। अर्हता सम्बन्धी शर्तों और भुगतान की राशि के सन्दर्भ में भिन्न राज्यों में व्यापक विभेद है। लगभग दो-तिहाई राज्यों में नागरिकता सम्बन्धी प्रावधान नहीं हैं जबकि शेष एक तिहाई में से अधिकांश यह चाहते हैं कि प्रार्थी

लम्बे समय से अमेरिका में रह रहा हो या देश का नागरिक हो। प्रायः सभी राज्यों में ऐसे कानून हैं जो किसी अर्ह अभ्यर्थी की सम्पत्ति सम्बन्धी सीमा को सुनिश्चित करते हैं। ये सीमायें भी भिन्न-भिन्न राज्यों में व्यापक तौर पर भिन्न-भिन्न हैं प्रायः सभी राज्यों में ऐसे कानून हैं जो उस व्यक्ति को सहायता के अयोग्य करार करते हैं जो सहायता सीमा में आने के लिये अपनी सम्पत्ति को बेचते हैं। परिजनों अथवा सम्बन्धियों की जिम्मेदारी से सम्बन्धित अर्हताओं के कानूनों में भी व्यापक तौर पर विभिन्न राज्यों में भिन्नता है। अधिकांश राज्यों में यदि सम्बन्धी, व्यक्ति की सहायता में सक्षम है। किन्तु सहायता नहीं करते तो राज्य ऐसे जरूरतमन्दों को भी सहायता का पात्र मानता है। सहायता प्राप्त तीन-चौथाई लाभार्थी राज्यों में वसूली सम्बन्धी भी नियम है। अधिकांश राज्यों में सम्पत्ति सम्बन्धी सीमायें मात्र वास्तविक सम्पत्ति पर लागू होती हैं और कुछ राज्यों में एक न्यूनतम निर्धारित मूल्य की सम्पत्ति को इससे पृथक रखा जाता है। वृद्धावस्था सहायता भुगतान आंकलित औसत आवश्यकता के आधार पर देय होता है। सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था और आवश्यकताओं को सुनिश्चित करते समय राज्यों से अपेक्षा होती है कि वे सम्पूर्ण राज्य में लागू किया जा सकने लायक एक न्यूनतम मानक स्थापित करें। 1967 तक 36 राज्यों में मासिक आय की अधिकतम सीमा को प्रशासनिक और वैधानिक रूप से सुनिश्चित कर दिया गया था। बिना विशेष आवश्यकताओं के प्रति व्यक्ति भुगतान की अधिकतम सीमा तीस डालर से सौ डालर तक रही है और अधिकांश राज्य ऊँची राशि का भुगतान करते रहे हैं और यह राशि पचास से पचहत्तर डालर के बीच प्रतिमास होती रही है। इन राज्यों में प्रारम्भिक राशि से कुछ कम राशि जीवन साथी को भी देने की सुविधा है। अनेक राज्यों ने चिकित्सकीय देख-रेख की दृष्टि से लाभार्थियों को अतिरिक्त सहायता देने के भी प्रावधान कर रखे हैं। चिकित्सकीय सुविधा सम्बन्धी भुगतान की मात्रा और प्रणाली के सन्दर्भ में विभिन्न राज्यों में व्यापक भेद है। 1956 के अधिनियम सम्बन्धी संशोधन द्वारा संघीय शासन चिकित्सकीय देखभाल का आधा व्यय भार वहन करता है और यह छः डालर प्रति व्यक्ति प्रतिमाह होता है।

इंग्लैण्ड—इंग्लैण्ड में 1908 में पहली बार बिना अंशदान के वृद्धावस्था पेंशन योजना लागू की गयी। व्यापक व्यवस्था के लिये तदोपरान्त अनेक अधिनियम पारित किये गये। 1946 के राष्ट्रीय सहायता अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रणाली स्थापित की गयी जिसका प्रशासन राष्ट्रीय सहायता बोर्ड के अधीन था तथा संसद द्वारा स्वीकृत धन से इसका वित्त-पोषण

होता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम हो सकने के लिये साधन विहीन या कम साधन सम्पन्न जरूरतमन्द सम्पूर्ण ग्रेट ब्रिटेनवासियों को सहायता पहुँचाना इस बोर्ड का दायित्व रहा है। राष्ट्रीय सहायता बोर्ड द्वारा ही यह सुनिश्चित किया जाता रहा है कि किस जरूरतमन्द व्यक्ति को सहायता की आवश्यकता है और सहायता की प्रकृति और राशि कितनी हो। ऐसी सहायता के लिये पात्र की अर्हता सम्बन्धी एक शर्त रही है—व्यक्ति की आवश्यकता और इस आवश्यकता का प्रमाण मिल जाने पर राष्ट्रीय सहायता बोर्ड का यह स्वतः कर्तव्य हो जाता है कि वह जरूरतमन्द को सहायता दे। जो व्यक्ति राष्ट्रीय बीमालाभों के अन्तर्गत सहायता प्राप्त करते हैं उन्हें भी आवश्यकतानुसार पूरक सहायता के रूप में वृद्धावस्था पेंशन-लाभ दिया जाता है। इनमें वे व्यक्ति आते हैं जिनके समस्त उपलब्ध आय के स्रोत और लाभ उनकी आवश्यकताओं को पूरा कर सकने के लिये अपर्याप्त होते हैं। लम्बे समय तक यह राशि 6.5 पौण्ड प्रति सप्ताह प्रति व्यक्ति रही है जो कि एक जरूरतमन्द वृद्ध दम्पत्ति के लिये 10.6 पौण्ड प्रति सप्ताह तक देय होती रही है।

कनाडा—कनाडा में सार्वभौम पेंशन सम्बन्धी वर्तमान कानून 1951 से लागू है। इसके अन्तर्गत 65 वर्ष और उसके ऊपर के प्रत्येक व्यक्ति को 100 डालर प्रतिमाह पेंशन दी जाती है। पेंशन प्राप्त करने वाले के लिये यह भी शर्त है कि या तो वह कनाडा में विगत दस वर्षों से रह रहा हो या 18 वर्ष तक जीवन के प्रारम्भ में कनाडा में रहने के बाद विदेश गया हो और पिछले एक वर्ष से कनाडा में रह रहा हो या कनाडा में 40 प्रौढ़ वर्षों तक रहा हो। यह पेंशन उसे भी प्राप्त होती है जो 18 वर्ष की आयु पूर्ण करने के उपरान्त देश के बाहर 20 वर्षों तक रह चुका होता है। वृद्धावस्था सहायता प्राप्त करने वाले कतिपय जरूरतमन्दों को अतिरिक्त आय परीक्षित अनुपूरक राशि के रूप में एक व्यक्ति होने पर 70.14 डालर प्रतिमाह तथा दम्पति होने पर 124.60 डालर प्रतिमाह दिया जाता है। सार्वभौम पेंशन और आय परीक्षित अनुपूरक राशि का वित्तपोषण एक ऐसे कोष के द्वारा होता है जिसका निर्माण 3 प्रतिशत बिक्री कर, 3 प्रतिशत निगमों के सम्पूर्ण आय पर कर और 4 प्रतिशत, 6000 डालर प्रतिवर्ष आय के ऊपर कर से प्राप्त होने वाली राशियों से होता है। इस कार्यक्रम का प्रशासन राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं कल्याण विभाग द्वारा होता है जो प्रत्येक राज्यों की राजधानियों में अपने क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से क्रियाशील होता है।

नार्वे—यहाँ सार्वभौम वृद्धावस्था पेंशन देश के समस्त निवासियों को 67

वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर दिया जाता है, मात्र उनको छोड़ कर जो नार्वे के जहाजों पर काम करते हैं। निर्धारित आयु पूरी हो जाने पर समस्त व्यक्ति पेंशन के हकदार हो जाते हैं किन्तु पेंशन की राशि की सीमा का निर्धारण उनकी आय के आधार पर किया जाता है, जैसे पूर्व की आय से वर्तमान आय और पेंशन की कुल राशि 80 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये। आधारभूत राशि और पेंशन की मात्रा आय के स्तर और सामान्य मूल्य में परिवर्तनों के साथ स्वतः समंजित होती जाती है। सार्वभौम वृद्धावस्था पेंशन की राशि आधारभूत राशि की उस दशा में 100 प्रतिशत तक हो सकती है जब लाभार्थी अकेला हो और यह 150 प्रतिशत तक की जा सकती है यदि वृद्ध दम्पति होंगे। पेंशन की अनुपूरक राशि पेंशन के 50 प्रतिशत तक हो सकती है किन्तु यह उन्हें प्राप्त होती है जिन्हें वृद्धावस्था पेंशन नहीं प्राप्त हो रही हो अथवा यह प्रत्येक 18 वर्ष से कम निर्भर बच्चे के लिये आधारभूत राशि के 25 प्रतिशत तक हो सकती है और उस व्यक्ति के लिये यह आधारभूत राशि के 14 प्रतिशत तक हो सकती है जो आय सम्बन्धित पेंशन के लिये अर्ह न हो। यह योजना समाज कल्याण मन्त्रालय के सामान्य निरीक्षण के अन्तर्गत संचालित होती है और राष्ट्रीय बीमा संस्थान राष्ट्रीय स्तर पर इसके प्रशासन के लिये और स्थानीय अधिकारियों के निर्देशन-निरीक्षण के लिये जिम्मेदार होता है। स्थानीय बीमा कार्यालय और अधिकारी स्थानीय स्तर पर इस कार्यक्रम का प्रशासन और संचालन करते हैं और प्रत्येक नगरपालिका क्षेत्र में एक ऐसा कार्यालय होता है।

स्वीडेन—स्वीडेन में वृद्धावस्था सहायता योजना की प्रकृति और चरित्र स्थूल रूप से नार्वे की भाँति ही है। इस योजना के अन्तर्गत सभी निवासी नागरिक तो अर्ह हैं ही, सम्बन्धित वे व्यक्ति भी अर्ह हैं जिन्हें परस्पर विशेष समझौतों के तहत नागरिक माना जाता है। यद्यपि इस योजना के लिये 67 वर्ष की आयु निर्धारित है किन्तु इसमें एक खास दर से छूट देकर इसे 63 वर्ष किया जा सकता है। यहाँ पर सेवा निवृत्ति, आय से अंशदान परीक्षण आदि का कोई प्रश्न नहीं होता। कहीं-कहीं विशेष समझौतों के तहत इसके अपवाद भी देखे जाते हैं। चालू आधारभूत राशि के 90 प्रतिशत तक एक व्यक्ति की पेंशन की राशि दी जा सकती है और यह दम्पति के मामलों में 140 प्रतिशत तक हो सकती है। इसके अतिरिक्त यहाँ अनुपूरक राशि का भी प्रावधान है। जिन्हें आय आधारित पेंशन की अर्हता नहीं प्राप्त है वे भी इससे आधारभूत राशि के 15 प्रतिशत तक का लाभ पा सकते हैं और जिन्हें 16 वर्ष तक के बच्चे हैं

वे आधारभूत राशि के 25 प्रतिशत तक प्रत्येक बच्चे के लिये प्राप्त कर सकते हैं। मूल्यों में परिवर्तन के साथ पेंशन की राशि स्वतः समंजित होती रहती है। यह योजना राष्ट्रीय सामाजिक बीमा बोर्ड के सामान्य निरीक्षण में संचालित और प्रशासित है किन्तु क्षेत्रीय सामाजिक बीमा निकाय इसका प्रशासन और संचालन करके इसे सुविधाजनक बनाते हैं।

डेनमार्क—यहाँ भी वृद्धों के लिये सार्वभौम पेंशन योजना का प्रावधान है। वे समस्त नागरिक जो देश में चालीस वर्ष तक रह चुके हैं और वे व्यक्ति जो विशेष पारस्परिक समझौतों के अन्तर्गत अर्ह हैं वृद्धावस्था पेंशन पाने के हकदार हैं। सरकार ऐसी राष्ट्रीय पेंशन योजना पर व्यय की समस्त राशि का भार वहन करती है। यह पेंशन उन समस्त व्यक्तियों को देय है जो पुरुष होने की स्थिति में 67 वर्ष के हो चुके हों और स्त्री की स्थिति में 62 वर्ष की आयु पूरी कर चुके हों। कुछ विशेष स्थितियों में यह गिरते स्वास्थ्य के कारण 60 वर्ष की अवस्था में भी दिया जा सकता है। इसके लिये सेवा निवृत्ति की शर्त अनावश्यक है और यह उस व्यक्ति को भी दिया जा सकता हैं जो देश के बाहर रहा हो और 67 वर्ष का हो चुका हो बशर्ते कि वह 67 वर्ष की आयु होने के पूर्व 10 वर्षों तक स्वदेश (डेनमार्क) में रहा हो। एक व्यक्ति की स्थिति में पेंशन की राशि लगभग 55 अमेरिकी सेंट के बराबर और दम्पति की स्थिति में 83 अमेरिकी सेंट प्रतिमाह होती है। पेंशन अनुपूरक योजना भी आय आधारित या साधन आधारित सिद्धान्तों पर देय है। सभी राशियाँ प्रत्येक छः माह में मूल्य सूचकांक में परिवर्तन के साथ 3 प्रतिशत समंजित कर दी जाती हैं। डेनमार्क सरकार का सामाजिक मामलों का मंत्रालय इस कार्यक्रम के सामान्य निरीक्षण के लिये जिम्मेदार है और राष्ट्रीय स्तर पर इसका प्रशासन करता है। स्थानीय नागरिक सरकारें स्थानीय स्तर पर इस योजना का प्रशासन और संचालन करती है।

रूस—जून 1956 में रूस के सर्वोच्च सोवियत ने राज्य पेंशन सम्बन्धित नियम स्वीकार किया। इस नियम के अन्तर्गत नागरिकों को वृद्धावस्था में भौतिक सुरक्षा की गारन्टी दी गयी। इस देश में पेंशन पूर्णतः राज्य और सार्वजनिक कोष के खर्च से दिया जाता है। यहाँ पुरुषों को 60 वर्ष की उम्र में और महिलाओं को 55 वर्ष की आयु में वृद्धावस्था पेंशन सुविधा मिलने लगती है यदि उन्होंने क्रमशः 25 वर्ष और 20 वर्ष तक कार्य किया है। कम अवधि तक सेवा में रहने पर समानुपातिक रूप से पेंशन की राशि कम हो जाती है किन्तु यह सम्पूर्ण पेंशन के एक चौथाई से कम नहीं होती। भूमिगत, गर्म

स्थानों और स्वास्थ्य के लिये हानिकारक परिस्थितियों के दुष्कर कार्यों में लगे व्यक्तियों के लिये इस पेंशन योजना में कुछ रियायतें दी जाती हैं और यह पुरुष की स्थिति में 50 से 55 वर्ष और स्त्री की स्थिति में 45 से 50 वर्ष की आयु में ही सुलभ हो सकती हैं बशर्ते कि उन्होंने क्रमशः 20 से 25 वर्ष और 15 से 20 वर्ष तक कार्य किया हो। इस विषय में वृद्धिमान वृद्धावस्था पेंशन की व्यवस्था है जो कि मापनी पर न्यूनतम 30 रूबल तथा अधिकतम 120 रूबल प्रतिमाह रही है। ऐसे श्रमिक अथवा कर्मचारी जिन्होंने लगातार एक ही उद्यम या संस्थान में 15 वर्षों से अधिक कार्य किया है, उन्हें 10 प्रतिशत अधिक पेंशन राशि दी जाती है। नये कानून के तहत ऐसे व्यक्तियों को जिन पर कोई एक अक्षम आश्रित है, आश्रित के लिये 10 प्रतिशत अधिक पेंशन राशि दी जाती है और दो अथवा दो से अधिक ऐसे आश्रितों के लिये 15 प्रतिशत अतिरिक्त राशि दी जाती है। पेंशन प्राप्त करने वाले व्यक्ति की कार्य की क्षमता को नजरन्दाज करते हुए इस कार्यक्रम के तहत उसे जीवन पर्यन्त वृद्धावस्था पेंशन दी जाती है।

मारीशस—इस देश में वृद्धावस्था सहायता से सम्बन्धित प्रथम और वर्तमान कानून सन् 1951 में पारित और प्रभावशील हुआ। देश के समस्त जरूरतमन्द वृद्ध निवासी इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। सरकार पेंशन पर होने वाले सम्पूर्ण व्यय का भार वहन करती है। वे समस्त व्यक्ति जिन्होंने देश में 10 वर्ष तक निवास किया है अथवा 10 वर्ष तक वहाँ की किसी सेवा में रहे हैं, 60 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर वृद्धावस्था पेंशन के हकदार हो जाते हैं। मारीशस सरकार के सामाजिक सुरक्षा मंत्रालय का यह दायित्व है कि वह सम्पूर्ण योजना का प्रशासन करे।

दक्षिण अफ्रीका--यहाँ वृद्धावस्था सहायता 1967-68 के सम्बन्धित वर्तमान कानूनों के अन्तर्गत दी जाती है। पुरुष की स्थिति में 65 वर्ष और स्त्री की स्थिति में 60 वर्ष की आयु के देश के नागरिक वृद्धावस्था सहायता के योग्य हैं। यदि यहाँ कोई अप्रवासी विगत 20 वर्षों में से 15 वर्षों तक रह चुका है तो उसे भी साधन परीक्षण की शर्त के साथ पेंशन के योग्य माना जा सकता है। इस देश में भिन्न प्रजातियों के लिये भिन्न प्रावधान हैं। श्वेत लोगों के लिये यहाँ अश्वेत लोगों से दुगुनी राशि पेंशन में दी जाती है और अश्वेतों में भी एशिया के अश्वेतों को अफ्रीका के अश्वेतों का लगभग एक तिहाई ही पेंशन के रूप में प्राप्त हो सकता है। यह राशि साधन और परिस्थिति के अनुरूप निर्धा-रित की जाती है। एक वृद्ध दम्पति के लिये यह राशि एक वृद्ध व्यक्ति की मिलने वाली राशि से दुगुनी होती है। एक सीमा से साधनों की

अधिकता की स्थिति में पेंशन की राशि को घटाया भी जा सकता है। विभिन्न प्रजातियों के लिये पेंशन सम्बन्धी प्रशासन का काम विभिन्न प्रजाति आधारित विभाग करते हैं। सामाजिक कल्याण और पेंशन विभाग श्वेत लोगों के लिये कार्यक्रम का प्रशासन करता है। अश्वेत मामलों का विभाग अश्वेत नागरिकों के लिये पेंशन की व्यवस्था को देखता है, भारतीय मामलों का विभाग एशियाई लोगों के लिये योजना का कार्यान्वयन करता है तथा बांटू प्रशासन या विकास विभाग अफ्रीकी प्रजाति के लोगों के लिए कार्यक्रम का प्रशासन करता है। स्थानीय स्तर पर स्थानीय प्रशासनिक न्यायाधीश और विभागों के जिला शाखा कार्यालय इस कार्यक्रम का प्रशासन और संचालन करते हैं। वृद्धावस्था पेंशन कार्यक्रम पर होने वाले सम्पूर्ण व्यय का भार-वहन सरकार करती है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न देशों में वृद्धावस्था सहायता और पेंशन से सम्बन्धित आयु और अन्य अर्हताओं में प्रायः बहुत कम अन्तर है और इनकी राशि भी करीब-करीब एक सी ही है। नागरिकता और निवास की अवधि सम्बन्धी पाबन्दियाँ भी लगभग एक सी ही हैं। अनेक देशों में जहाँ सार्वजनिक सहायता कार्यक्रम है, विशेष स्थितियों में जरूरतमन्द वृद्धों को अनुपूरक सहायता का भी प्रावधान है।

भारत—भारतीय संविधान की धारा 41 में उल्लिखित राज्य नीति निर्देशक सिद्धान्तों के तहत देश की विभिन्न राज्य सरकारों तथा संघीय क्षेत्रों ने वृद्ध व्यक्तियों की सहायता की दृष्टि से अपने-अपने राज्यों में वृद्धावस्था पेंशन योजनायें शुरू की हैं और इनका संचालन हो रहा है। ये योजनायें सार्वभौमिक और सर्वव्यापी आधारों पर हैं। ये प्रायः ऐसे वृद्धों के लिये हैं जिनकी आर्थिक आय अत्यन्त न्यून है और जो प्रायः अपने परिवार के सदस्यों द्वारा वित्तीय पोषण नहीं प्राप्त कर रहे हैं। इन योजनाओं का आधार भी कतिपय देशों की भाँति साधन-परीक्षण ही है। इन योजनाओं के दायरे में वे व्यक्ति नहीं आते जिन्हें अपने सेवाकाल में अंशदान अथवा अन्य तरीकों से निर्मित या प्राविधित कोषों से सेवानिवृत्ति पेंशन या संचित निधि आदि की सुविधायें प्राप्त हैं अथवा जिनकी आर्थिक स्थिति नियमों द्वारा निर्धारित न्यूनतम आय से बेहतर है। वृद्धावस्था पेंशन योजना का श्रीगणेश भारतवर्ष में सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में 1957 में हुआ और यहाँ इस योजना के तहत प्रथम भुगतान जनवरी 1958 में किया गया। यह योजना अपने देश में अपने ढंग की एक निराली और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में अग्रणी थी। उत्तर प्रदेश की वृद्धावस्था पेंशन योजना के बाद प्रायः इसी के समान योजनायें केरल, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास या तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, पंजाब, राजस्थान, मैसूर हरियाणा,

जम्मू और कश्मीर तथा अन्य केन्द्रशासित क्षेत्रों में प्रारम्भ की गयीं। उत्तर प्रदेश की योजना में प्रारम्भ में 70 वर्ष या इससे अधिक उम्र के प्रत्येक निराश्रित, विगत एक वर्ष से उत्तर प्रदेश में निवास करने वाले व्यक्ति को पेंशन का हकदार माना गया था किन्तु अब यह वय क्रमशः 65 वर्ष फिर 60 वर्ष हो गयी है। निराश्रित या अनाथ उस व्यक्ति को माना गया जिसे कोई 20 वर्ष या इससे अधिक आयु का निकट सम्बन्धी न हो या ऐसे सम्बन्धित व्यक्ति 65 वर्ष की आयु पूरी कर चुके हों और उनकी कोई आय न हो अथवा जो जीविकोपार्जन में पूर्णतः अक्षम हों जैसे अन्धे, कुष्ठ रोगी, पागल पूर्णतः रुग्ण और शारीरिक रूप से अक्षम। सात वर्षों या इससे अधिक समय से निरन्तर लापता सम्बन्धी भी लाभार्थी के लिये असहायक माने गये हैं। यदि पति-पत्नी दोनों निर्धारित आयु पूरी कर लेते हैं तो दोनों को पेंशन मिल सकती है। लाभार्थी के पागल या अस्वस्थ मस्तिष्क का होने की स्थिति में जिलाधिकारी पेंशन प्राप्त करने के लिये यथासम्भव अभिभावक की नियुक्ति करता है। सौतेले लड़के को लड़का नहीं माना जाता है। अधिकांश भिखारी और ऐसे व्यक्ति जो किसी विशेष गृह में रखे जाते हैं और वहाँ से उनका जीवन-निर्वाह होता है उन्हें यह सुविधा नहीं दी जाती है किन्तु ऐसे भिखारी जो यदा-कदा भिक्षा प्राप्त करते हैं और ऐसे गृहों या सद्नों में नहीं रहते हैं उन्हें अन्य शर्तों को पूरा करने पर पेंशन दी जाती है। वृद्धावस्था पेंशन के लिये प्रार्थना पत्र ग्राम पंचायत, तहसील अथवा नगरपालिकाओं से प्राप्त किया जाता है और अपने तहसील के तहसीलदार के पास जमा किया जाता है। तहसीलदार ऐसी सभी अर्जियों की सूची बनाता है और इनका रख-रखाव करता है। वह आयु, स्वास्थ्य, आय, निवास, नागरिकता और अन्य शर्तों की समुचित जाँच करके और इन जाँचों में लेखपाल तथा सम्बन्धित चिकित्साधिकारी से सहायता लेकर अपनी संस्तुति जिलाधिकारी के समक्ष प्रस्तुत करता है। ऐसी समस्त संस्तुतियों की सूची और सम्बन्धित कागजातों का रख-रखाव जिलाधिकारी करते हैं और उसकी समुचित जाँच आदि करके प्रदेश के श्रमायुक्त को अपनी संस्तुति पेश करते हैं। प्रदेश के श्रम आयुक्त पेंशन स्वीकार करने के अधिकारी हैं और उनके आदेश की प्रति जिलाधिकारी, तहसीलदार और प्रार्थी को प्रेषित की जाती है। जिलाधिकारी और तहसीलदार निरन्तर ऐसी सूचनायें एकत्रित करते रहते हैं जिनसे यह ज्ञात हो सके कि लाभार्थी व्यक्ति जीवित है अथवा नहीं। इस कार्य में लेखपाल और जनपद स्वास्थ्य अधिकारी की सहायता ली जाती है। वृद्धावस्था पेंशन की राशि का भुगतान लाभार्थी को धनादेश के जरिये बिना किसी धनादेश शुल्क के किया जाता है। उत्तम चरित्र सामान्य और अनिवार्य शर्त है तथा किसी व्यक्ति की

पेंशन उसके किसी अपराध में दण्डित होने की स्थिति में स्थगित या बन्द की जा सकती है। पेंशन स्वीकृति के आदेश को वापस लेने का सर्वाधिकार श्रमायुक्त को होता है। यह पेंशन दो प्रकार की होती है, एक तो जीवन पर्यन्त पेंशन और दूसरे सीमित अवधि की पेंशन। सीमित अवधि की पेंशन तब समाप्त हो जाती है जब लाभार्थी का कोई सगा-सम्बन्धी 20 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता है। वृद्धावस्था पेंशन के लिये राशि और लेखा आदि के लिये श्रमायुक्त कार्यालय में अलग से समुचित व्यवस्था की जाती है। राज्य में वृद्धावस्था पेंशन की समस्त कार्यवाहियों का मूल्यांकन और इससे सम्बन्धित उपयोगी सुझाव देने के लिये एक परामर्शदात्री समिति होती है जिसकी अध्यक्षता राज्य के मुख्य मन्त्री करते हैं।

1 नवम्बर 1960 से वृद्धावस्था पेंशन योजना केरल राज्य में चल रही है। इसके अन्तर्गत 65 वर्ष की आयु पूरी कर चुके वे सभी निराश्रित व्यक्ति अर्ह हैं जो राज्य में एक वर्ष से निवास कर रहे हैं और जिनकी आय 25 रुपये प्रति माह से कम है और जिनका कोई 20 वर्ष की आयु पूरी कर चुकने वाला सगा-सम्बन्धी नहीं है। ऐसे पुरुष लाभार्थी की यदि कोई पत्नी है तो उसकी उम्र भी कम से कम 55 वर्ष होनी चाहिये। योजना के अन्तर्गत सम्बन्धी से तात्पर्य, पुत्र, पौत्र, स्त्री-पुरुष अथवा विशेष स्थिति में बताया गया अन्य जीवित सम्बन्धी से है। इस राज्य में प्रारम्भ में पेंशन की राशि मात्र 25 रुपये थी। वृत्तिक भिक्षुक, पागल अथवा किसी सम्बन्धित गृह में निःशुल्क रहने वाले व्यक्ति इस योजना से लाभ के हकदार नहीं हैं। राज्य का राजस्व बोर्ड पेंशन स्वीकार और भुगतान करने का अधिकारी है और धनादेश के माध्यम से जिलाधिकारी इसकी व्यवस्था करते हैं। यदि किसी अभ्यर्थी की अर्जी जिलाधिकारी अस्वीकृत कर देते हैं तो वह राजस्व बोर्ड के समक्ष अपील कर सकता है। 1971 में इस राज्य में 17419 लाभार्थी थे। आन्ध्र प्रदेश में वृद्धावस्था पेंशन योजना 1 नवम्बर 1961 से प्रारम्भ की गयी। तीन वर्ष तक राज्य में लगातार रहने वाला प्रत्येक 65 वर्ष की आयु पूरी कर चुका निराश्रित व्यक्ति इसके लिये योग्य माना जाता है बशर्ते कि केरल राज्य के समान ही आय और परिवारजनों की शर्तें वह पूरी कर रहा हो। 65 वर्ष से ऊपर की आयु के दम्पति में से प्रत्येक इसके लिये हकदार हैं। पेंशन की राशि हैदराबाद और सिकन्दराबाद शहरों में 25 रुपये प्रतिमाह प्रति व्यक्ति तथा अन्य शहरों या गाँव में 20 रुपये प्रति व्यक्ति थी किन्तु यह तब समाप्त हो जाती थी जब कोई आश्रित बच्चा 20 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता था। जहाँ भी गरीबों के लिये, भिक्षुकों के लिये या अनाथों के लिये संचालित

गृहों में रहने वाले व्यक्ति इस योजना से लाभ नहीं प्राप्त कर सकते हैं । यहाँ राज्य के वित्त विभाग के सचिव, सरकार के मुख्य सचिव से विचार करके पेंशन स्वीकृति का कार्य करते रहे हैं किन्तु अब जिलाधिकारी इसके कार्यान्वियन अधिकारी हैं । अभ्यर्थी को जिलाधिकारी के निर्णय के विरुद्ध वित्त विभाग में अपील का अधिकार प्राप्त है । 1971-72 में इस योजना पर एक करोड़ पन्द्रह लाख से अधिक रुपये व्यय किये गये थे । उस वर्ष तक पेंशन योजना के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश में वृद्ध और अक्षम व्यक्ति गृह थे जहाँ क्रमशः पचास और दो सौ संवासी क्षमता थी प्रत्येक सम्वासी पर तीस रुपये प्रतिमाह व्यय करके निःशुल्क भोजन-वस्त्र और आवास आदि की सुविधा दी जाती थी । 1970-71 में इन गृहों पर दो लाख से अधिक रुपये खर्च किये गये थे । मद्रास या तमिलनाडु राज्य में 1 अप्रैल 1972 से वृद्धावस्था पेंशन योजना लागू की गयी । 65 वर्ष व उससे अधिक आयु के निराश्रित व्यक्ति अन्धता, पागलपन, पक्षाघात, कुष्ट और अंगहीनता से ग्रस्त 60 वर्ष या उससे अधिक के (निराश्रित व्यक्तियों के लिये एक वर्ष तक राज्य के नागरिक होने की स्थिति में) इसके लिये अर्ह रहे हैं । आय और सम्बन्धियों की पाबन्दियाँ केरल राज्य की भाँति यहाँ भी हैं । पति-पत्नी दोनों के निराश्रित होने की स्थिति में दोनों ही लाभ के हकदार हैं । इस राज्य में यदि कोई निराश्रित वृद्ध व्यक्ति किसी दान संचालित संस्था अथवा गरीबों के गृह में रहता है और पेंशन की अन्य शर्तें पूरी करता है तो उसे भी पेंशन का भुगतान संस्था के माध्यम से किया जाता है । यहाँ भी प्रारम्भ में 20 रुपये प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह ही पेंशन थी और वह भी किसी आश्रित बच्चे की आयु 20 वर्ष की होने के बाद बन्द कर दी जाती थी । इसके अन्तर्गत वृत्तिक भिक्षुक या अन्य भिक्षुक लाभ नहीं प्राप्त कर सकते हैं । सामान्य रूप से क्षेत्रीय राजस्व अधिकारी और नीलगिरि व मद्रास जिलों के लिये क्रमशः कोषागार अधिकारी और जिलाधिकारी के वैयक्तिक सहायक इस योजना का कार्यान्वियन करते हैं । जिलाधिकारी के समक्ष पूर्व के अधिकारियों के निर्णय के विरूद्ध अपील की जा सकती है । यहाँ भी तहसीलदार की भूमिका प्रायः अन्य राज्यों जैसी ही होती है । वर्ष 1970-71 में यहाँ लगभग 42 हजार वृद्धावस्था पेंशन प्राप्तकर्ता थे और इन्हें कुल 95 लाख रुपये का भुगतान किया गया था । पश्चिम बंगाल में यह योजना 1 जनवरी 1964 से प्रारम्भ हुई । यहाँ भी सामान्यतः 65 वर्ष की आयु पूरी कर लेने वाले प्रत्येक निराश्रित व्यक्ति को यह लाभ मिल सकता है और शारीरिक तथा मानसिक रूप से अक्षमता या बाधिता की स्थिति में आयु की अधिकतम सीमा 60 वर्ष ही होती है ।

यहाँ निवास की अवधि की शर्त अन्य राज्यों से भिन्न है और अन्य राज्यों की तुलना में यह काफी भी है। इस राज्य में कम-से-कम दस वर्ष के निवास की शर्त है। 20 रुपये प्रतिमाह तक की आय का ऐसा व्यक्ति जिसका कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है, इस लाभ के लिए अभ्यर्थी हो सकता है। सगे-सम्बन्धियों की शर्त उस दशा में शिथिल कर दी जाती है या हटा ली जाती है जब पुत्र अथवा अविवाहित पुत्री वृद्ध का पालन-पोषण नहीं करते। प्रारम्भ में यहाँ भी पेंशन की राशि 20 रुपये प्रतिमाह थी। यहाँ भी सभी प्रकार के भिक्षुक इस लाभ से वंचित रखे गये हैं। सरकार के गृह अथवा समाज कल्याण विभाग के संयुक्त सचिव यहाँ पेंशन स्वीकार करने के अधिकारी हैं। इस राज्य में सगे-सम्बन्धियों की सूची अन्य राज्यों से काफी लम्बी है और इसमें संयुक्त परिवार के उत्तर-दायित्वों को ध्यान में रखा गया है। इसके अन्तर्गत पेंशन प्राप्त करने वाले किसी व्यक्ति के किसी पारिवारिक व्यक्ति या सम्बन्धी को पेंशन की राशि का उपभोग करना निषिद्ध है। प्रारम्भ में यदि चार रुपये तक प्रति व्यक्ति प्रति-माह की आय परिवार को थी तो उसके कारण व्यक्ति पेंशन से वंचित नहीं होता था। कलकत्ता को छोड़कर शेष जिलों में जिलाधिकारी आवेदन का अग्रसारण करता है। कलकत्ता में पुलिस आयुक्त इसके लिए उत्तरदायी है। इस राज्य में प्रार्थी को अपील का कोई अधिकार नहीं है किन्तु यदि किसी निर्धारित कारण से पेंशन का भुगतान रोक दिया जाता है तो उसकी सुनवाई की जा सकती है। 1970-71 में यहाँ दस हजार से अधिक वृद्धावस्था पेंशन प्राप्तकर्ता थे और उक्त वर्ष में इस मद पर 18 लाख 52 हजार रुपये व्यय किये गये थे। पंजाब में यह योजना 1 जनवरी 1964 से लागू हुई। यहाँ भी आयु, निवासी, आय आदि सम्बन्धी नियम प्रायः पूर्व राज्यों की भाँति ही हैं। शारीरिक-मानसिक अक्षमता की स्थिति में आयु सम्बन्धी दस वर्ष की छूट दी जाती है। प्रारम्भ में यहाँ मात्र प्रतिव्यक्ति पन्द्रह रुपये पेंशन दी जाती थी। सम्बन्धियों की सूची उत्तर प्रदेश और केरल के ही समान हैं। इस राज्य में समाज कल्याण का निदेशक इस कार्यक्रम का सर्वोच्च और अन्तिम अधिकारी है। वर्ष 1972-73 में यहाँ चौदह हजार से अधिक वृद्धावस्था पेंशन प्राप्त-कर्ता थे और इन पर उन्तालिस लाख रुपये व्यय किये गये थे। पेंशन के अति-रिक्त इस राज्य में आवासीय संस्थागत सेवा भी उपलब्ध हैं और यहाँ कम से कम 65 वर्ष की आयु के पुरुष और 60 वर्ष की आयु की स्त्रियाँ, जिन्हें जीवन-निर्वाह का कोई साधन उपलब्ध नहीं है, निःशुल्क रह सकते हैं। यहाँ इन्हें भोजन, वस्त्र, दवा आदि सुलभ होता है। ऐसी एक संस्था होशियारपुर में है।

संवासियों को कुछ रकम जेब खर्च के लिए भी प्रतिमाह दी जाती है तथा धार्मिक उत्सवों आदि का भी आयोजन किया जाता है। राजस्थान में वृद्धावस्था पेंशन योजना 1 अक्टूबर 1964 से लागू हुई। कम से कम तीन वर्ष से राज्य में रह रहे 65 वर्ष की आयु पूरी कर चुकने वाले सभी निराश्रित व्यक्ति इसकी सीमा के अन्तर्गत आते हैं। प्रारम्भ में यहाँ भी मात्र 20 रुपये प्रतिमाह पेंशन दी जाती थी और दो व्यक्ति की स्थिति में यह मात्र 25 रुपये ही होती थी। कोई सक्षम न्यायालय पेंशन प्राप्तकर्ता के लिए उस स्थिति में अभिभावक नियुक्त करता रहा है जबकि पेंशनप्राप्तकर्ता विक्षिप्त हो। देवस्थान कोष से भत्ता प्राप्त करने वाले व्यक्ति इस लाभ से वंचित रखे गये हैं। वर्ष 1970-71 में 24 लाख से कुछ अधिक रुपये इस मद पर व्यय किये गये।

मैसूर (अब कर्नाटक) में यह योजना 1 जनवरी 1965 से प्रारम्भ की गयी। यहाँ प्रारम्भ में प्रति व्यक्ति प्रतिमाह मात्र 15 रुपये पेंशन दी जाती थी अन्य शर्तें मोटे तौर पर अन्य राज्यों की ही भाँति थीं। वर्ष 1970-71 में यहाँ लगभग 12 लाख रुपये इस मद पर व्यय किये गये थे। हरियाणा राज्य में यह योजना 1 जनवरी 1964 से लागू हुई। इसका स्वरूप दिल्ली, चण्डीगढ़ और पंजाब में लागू ऐसी योजनाओं के ही समान रहा है। वर्ष 1967-68 में आर्थिक कारणों से यह योजना बन्द कर दी गयी थी किन्तु यहाँ यह पुनः शुरू की गयी। वृद्ध और अशक्त, कम से कम 60 वर्ष की आयु प्राप्त असहाय महिलाओं के निःशुल्क आवास, भोजन, वस्त्र, दवा आदि की व्यवस्था हेतु 1963 में रेवाड़ी में एक गृह खोला गया। यहाँ एक समय में 40 से 60 सवासिनियाँ एक साथ रह सकती हैं। जम्मू और कश्मीर में भी इन्हीं राज्यों के समान वृद्धावस्था पेंशन योजना है। हिमांचल प्रदेश में 65 वर्ष का पुरुष और 60 वर्ष की स्त्री इसके लिए अर्ह है। यहाँ प्रारम्भ में मात्र 15 रुपये प्रति-व्यक्ति प्रतिमाह पेंशन दी जाती थी। यह एक छोटा सा राज्य है और यहाँ वर्ष 1970-71 में 295 निराश्रित वृद्धों को वृद्धावस्था पेंशन प्राप्त हुआ था और इस पर सरकार का कुल व्यय लगभग 55 हजार रुपये हुआ था। केन्द्र शासित क्षेत्र चण्डीगढ़ में केन्द्रीय सरकार ने वृद्धावस्था पेंशन योजना लागू की है किन्तु यहाँ शर्त यह रखी गयो है कि इसका पूरा व्यय-भार-वहन चण्डीगढ़ प्रशासन अपनी आय के स्रोतों से करेगा। भारत सरकार के कल्याण मन्त्रालय की स्वीकृति से 27-3-68 की राजाज्ञा से दिल्ली के उपराज्यपाल ने यहाँ भी वृद्धावस्था पेंशन योजना की स्वीकृति दी। यहाँ अर्जी निदेशक या उपनिदेशक, समाज कल्याण के यहाँ दी जाती है और किसी भी स्थिति में दी गयी सूचना के गलत प्रमाणित होने पर पेंशन बन्द की जा सकती है। प्रारम्भ में यहाँ 25 रुपये प्रति व्यक्ति

प्रतिमाह का भुगतान इस मद में किया जाता था। वृद्धों के लिए यहाँ भी विशेष गृह है। महापौर की संस्तुति पर ही इस राज्य में पेंशन दी जाती है। अण्डमान और नीकोबार द्वीपों में भी समानान्तर योजनायें हैं। संघीय स्तर पर 1964 में वृद्धावस्था पेंशन की एक अस्थायी योजना निर्मित की गयी थी जिसके अन्तर्गत मात्र 10 प्रतिशत अर्ह असहाय वृद्ध व्यक्तियों को नगद भुगतान की व्यवस्था थी किन्तु धन की कमी के कारण और समाज कल्याण क्षेत्र के अन्य बड़े तादाद के जरूरतमन्दों को देखते हुए इस योजना के लिए धन की व्यवस्था नहीं की जा सकी। फलतः इस योजना को 1966 में रद्द कर दिया गया। इस प्रकार की योजना का विचार संसद में 1971 में भी हुआ किन्तु इसकी व्यावहारिक कठिनाइयों को देखते हुए इसे लागू नहीं किया जा सका। अनेक राज्यों में भिक्षुक गृहों में भी कतिपय अक्षम और अनाथ वृद्धों को एक सीमा तक वृद्धावस्था सहायता प्राप्त हो जाती है। ऐसी संस्थाएँ उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, गुजरात, राजस्थान और अन्य राज्यों में भी हैं। केन्द्रीय सरकार और विभिन्न राज्य सरकारों की राजनीतिक पेंशन योजनाओं के तहत भी वृद्धावस्था में स्वतन्त्रता सेनानियों को सहायता प्राप्त होती है। वृद्धावस्था पेंशन सहायता में भारतवर्ष में संघीय शासन की कोई प्रत्यक्ष हिस्सेदारी नहीं है। इस देश के सभी वृद्धावस्था सहायता कार्यक्रम शासनादेश के आधार पर कार्यान्वित किये जाते हैं और इनके लिए वैधानिक प्रावधान नहीं हैं। प्रायः वित्त-पोषण का कार्य वार्षिक व्यय के अन्तर्गत् नियोजित किया जाता है और भुगतान प्रायः शासन के सामान्य राजस्व से होता है। केरल और पश्चिम बंगाल को छोड़कर वृद्धावस्था सहायता कार्यक्रम का संचालन आमतौर पर सभी राज्यों में राजस्व कर्मचारियों द्वारा प्रशासित होता है। महंगाई की वृद्धि के साथ-साथ सभी राज्यों ने पेंशन की राशि में धीरे-धीरे वृद्धि की है और अब प्रायः यह राशि सौ रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिमाह सभी राज्यों में है। सरकारी प्रयासों के अतिरिक्त भारत समेत सारी दुनियाँ में जरूरतमन्द वृद्धों की सहायता के कार्य में अनेक स्वैच्छिक संस्थायें भी अपना योगदान करती हैं। ये संस्थायें वृद्धों के लिये आवास गृहों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, भोजन-वस्त्र आदि के साथ ही अनेक चिकित्सकीय गतिविधियाँ संगठित और संचालित करती रहती हैं। भारत में विगत कुछ वर्षों से इस क्षेत्र में 'हेल्प एज्ड' नामक संस्था के क्रियाकलाप पर्याप्त व्यापक और प्रशंसनीय रहे हैं।

यदि आर्थिक दृष्टि से देखें तो हम मोटे तौर पर वृद्धों की दो श्रेणियाँ बना सकते हैं—एक के अन्तर्गत् गरीब, असहाय या निराश्रित और जरूरतमन्द वृद्धों को रखा जा सकता है और दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत् उन वृद्धों को रखा जा सकता

है जो साधन सम्पन्न हैं और जिनकी कोई भौतिक आवश्यकता नहीं है। व्यापक रूप से वृद्ध कल्याण सम्बन्धी अधिकांश प्रयास वृद्धों की भौतिक स्थिति को संबल प्रदान करने के लिये किये जाते हैं और कदाचित् सारी दुनियाँ में आर्थिक विपन्नता की व्यापकता पर ध्यान देने से व्यक्ति के लिये भौतिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति को प्राथमिकता देना समीचीन भी जान पड़ता है। जीवनशैली में द्रुतगति से हो रहे परिवर्तन और प्रोन्नति तथा नवीन चिकित्सकीय उपलब्धियों के कारण पूर्व की अपेक्षा अब व्यक्ति का जीवन अधिक लम्बा हो गया है और उसे एक लम्बे समय तक अपने जीवन को एक वृद्ध के रूप में व्यतीत करना अनिवार्य सा बन गया है। ऐसी स्थिति में विपन्न और सम्पन्न दोनों श्रेणियों के वृद्धों के लिये उनकी मानसिक सन्तुष्टि और सम्पन्नता पर भी ध्यान देना आवश्यक होता जा रहा है। अब व्यक्ति बहुत लम्बे समय तक मात्र भजन कीर्तन या ईशोपासना के आधार पर अपना जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। अब वृद्धों को व्यापक पैमाने पर कार्यों से संयोजित किया जाना चाहिये जो उनकी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक क्षमताओं के अनुरूप हों और समाज के इस बड़े वग (वृद्ध वर्ग) के जीवन को उपादेय बनाते हों तथा समाज भी उनसे लाभान्वित हो सके। व्यक्ति जब तक अपने जीवन को सामाजिक रूप से सार्थक नहीं समझता उसमें अनेक कुण्ठायें और मनोविकार घर करते जाते हैं और ऐसी स्थिति में उसे मात्र भौतिक सुविधा मुहैया कराके राष्ट्र या समाज वृद्धों के प्रति अपने कर्तव्य व दायित्व से तुष्ट नहीं हो सकता। इन भौतिक और मानसिक द्विपक्षीय सन्तुलित परिस्थितियों के निर्माण व संरक्षा में प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका सर्वथा अपेक्षित है और वृद्ध कल्याण सम्बन्धी समस्त कार्यक्रमों में इनकी सहभागिता को सुनिश्चित किया जाना चाहिये। ये प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता वृत्तिक समाज कार्य की वैयक्तिक सेवा कार्य, सामूहिक सेवा कार्य और सामुदायिक संगठन के साथ ही समाज कल्याण प्रशासन और शोध की विधियों व सहायक प्रविधियों के उपयोग से वृद्ध कल्याण कार्यक्रमों को अधिक फलप्रद बना सकते हैं।

●

अध्याय—13

श्रम कल्याण

श्रम कल्याण का इतिहास, अवधारणा, महत्त्व एवं विषय क्षेत्र

श्रम कल्याण का इतिहास

श्रम कल्याण का इतिहास उतना ही पुराना है जितना औद्योगिक क्रान्ति के बाद स्थापित किये गये उद्योगों में उत्पन्न श्रमिकों की नवीन एवं विशिष्ट समस्याओं के प्रति लोकोपकारी व्यक्तियों एवं संगठनों द्वारा दिया गया ध्यान। भारत में पहला औद्योगिक संस्थान 1854 में स्थापित किया गया। इसके बाद के 20 वर्षों में कपड़ा उद्योग, जूट उद्योग, रेलवे तथा कोयला खानों में तेजी से विस्तार हुआ और श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई। आरम्भिक स्थिति में श्रमिकों की कार्य की परिस्थितियाँ एवं दशायें सोचनीय थीं। मेजर मूर ने 1872 में "ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ बॉम्बे टेक्सटाइल डिपार्टमेन्ट्स" शीर्षक प्रतिवेदन में इन परिस्थितियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जिसके परिणामस्वरूप संगठित श्रमशक्ति के विकास में सहायता मिली। ब्रह्म समाज के सुधारक पी० सी० मजूमदार ने 1872 में बम्बई में औद्योगिक श्रमिकों के लिये 8 रात्रि पाठशालायें प्रारम्भ कीं। 1878 में कलकत्ता में ब्रह्म समाज द्वारा 'वर्किंग मैन्स मिशन' की स्थापना की गयी जिसने श्रमिकों तथा दलित वर्गों के लिए 9 विद्यालयों की स्थापना की। ससीपदा बनर्जी ने इसी साल जूट मिल श्रमिकों में शिक्षा तथा समाज कल्याण को प्रोत्साहित करने हेतु बारा नगर इन्स्टीट्यूट की स्थापना की।

1872 में ए० ए० बंगाली तथा उनके साथियों ने बम्बई की मिलों में काम करने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा हेतु विधान बनाये जाने की माँग को पूरा कराने के लिये आन्दोलन छेड़ा। 1874 में नेशनल इन्डिपेन्डेन्स ऐसोसियेशन ऑफ ब्रिस्टल की संस्थापिका कु० कारपेन्टर कारखाना श्रमिकों की स्थितियों का अध्ययन करने के लिये भारत आयीं और अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। परिणामतः, भारत सरकार ने 1875 में कारखाना आयोग गठित किया जिसकी संस्तुतियों के आधार पर 1881 का कारखाना अधिनियम बनाया गया। यह अधिनियम अन्तर्निहित अनेक गम्भीर कमियों के कारण श्रमिकों एवं मालिकों दोनों को ही स्वीकार्य नहीं था।

1890 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगोष्ठी की पहली बैठक बर्लिन में हुई और इसने महिला एवं बाल श्रमिकों के सेवायोजन को नियमित किये जाने की संस्तुति की। इसके परिणामस्वरूप भारत सरकार ने कारखाना अधिनियम में 1891 में संशोधन करते हुए महिलाओं एवं बच्चों को संरक्षण प्रदान करने हेतु प्रावधान किये। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने 1905 में बर्लिन में कार्य के घण्टों एवं परिस्थितियों के सम्बन्ध में संस्तुतियाँ कीं जिनके परिणामस्वरूप भारत सरकार ने 1911 में कारखाना अधिनियम में संशोधन करते हुए कार्य के घण्टों एवं परिस्थितियों को नियमित करने हेतु प्रावधान किये।

1919 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना हुई जिसके द्वारा समय-समय पर अभिमत पारित किये जाते रहे तथा संस्तुतियाँ की जाती रहीं जिनके परिणामस्वरूप श्रमिकों की कार्य की शर्तों एवं परिस्थितियों में सुधार हुए। उदाहरण के लिये महिलाओं के रात में काम करने को निषिद्ध घोषित किया गया। 1931 में श्रम के शाही आयोग ने अपना विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें महिलाओं और बच्चों के लिये सापेक्षतः कम अवधि के और सुविधा-जनक कार्य के घण्टों, स्वास्थ्य, बीमा, मातृत्व-हितलाभों, क्रेशों, न्यूनतम मजदूरी, स्वास्थ्य सेवाओं, श्रम कल्याण अधिकारियों इत्यादि के सम्बन्ध में संस्तुतियाँ की गयीं। 1934 में कारखाना अधिनियम को संशोधित करते हुए जलपानगृहों, क्रेशों, विश्रामगृहों तथा एम्बुलेन्स गृहों की स्थापना से संबंधित प्रावधान किये गये।

1926 में सर दोराबजी टाटा स्कूल आफ सोशल वर्क की स्थापना की गयी जिसके द्वारा श्रम कल्याण के कार्यक्रमों को प्रभावपूर्ण रूप से आयोजित करने हेतु प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं को तैयार करने का प्रशिक्षण दिया जाना प्रारम्भ किया गया।

1937 में बम्बई में, 1939 में बंगाल में तथा 1940 में उत्तर प्रदेश के प्रमुख औद्योगिक शहरों में श्रम कल्याण कार्यक्रम व्यापक स्तर पर प्रारम्भ किये गये।

1942 में केन्द्र सरकार ने श्रम विभाग में एक श्रम कल्याण सलाहकार तथा कुछ श्रम कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति की। 1946 में लेबर इन्वेस्टिगेशन कमेटी ने अपने प्रतिवेदन में श्रमिकों के कल्याण में एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में व्यापक संस्तुतियाँ दीं। 1946 में सर्वप्रथम माइकामाइन्स लेबरवेलफेयरऐक्ट पारित किया गया। इसके बाद1947 में कोलमाइन्सलेबरवेलफेयरऐक्ट पारित किया गया। इन अधिनियमों में श्रमिकों

के लिये उनका अधिकार मानकर कल्याण-कोषों की स्थापना करते हुए कल्याण कार्यक्रमों को आयोजित किये जाने का प्रावधान किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात 1948 कारखाना अधिनियम बनाया गया जिसमें स्वास्थ्य एवं कल्याण के सम्बन्ध में श्रम कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति सहित व्यापक प्रावधान किये गये। 1951 में वेलफेयर आफिसर्स (रिक्रूटमेन्ट ऐण्ड कन्डिशन्स ऑफ सर्विस) रूल्स शीर्षक आदर्श नियम बनाये गये जिन्हें सर्वप्रथम 1957 में संशोधित किया गया। 1948 के पश्चात् श्रम कल्याण को राज्य द्वारा पूर्ण स्वीकृति प्रदान कर दी गई।

अवधारणा

श्रम कल्याण शब्द इतना व्यापक है कि इसका विश्लेषण एवं विवेचन विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। ऑर्थर जेम्स टॉड ने ठीक ही लिखा है : "कल्याण कार्य के सम्प्रेरकों एवं योग्यताओं के विषय में अत्यधिक भिन्नता वाले विचारों की एक शृंखला पायी जाती हैं।"[1] इस विविधता को उचित ठहराते हुए शाही आयोग ने यह विचार व्यक्त किया था। "श्रम कल्याण एक ऐसा शब्द है जिसे आवश्यक रूप से लचीला होना चाहिये। विभिन्न सामाजिक प्रथाओं, औद्योगीकरण की सीमा तथा श्रमिकों के शैक्षिक विकास के साथ-साथ एक देश से दूसरे देश में इसकी विवेचना भिन्न होनी चाहिये।"[2] राष्ट्रीय श्रम आयोग ने भी यह विचार व्यक्त किया है : "कल्याण शब्द की अवधारणा आवश्यक रूप से गत्यात्मक है, एक देश से दूसरे देश में, एक समय से दूसरे समय पर और यहाँ तक कि एक ही देश में इसके मूल्यों की व्यवस्था, सामाजिक संस्था, औद्योगीकरण की सीमा तथा सामाजिक एवं आर्थिक विकास के सामान्य स्तर के अनुसार इसका विवेचन भिन्न होना चाहिये; यहाँ तक कि एक ही देश में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इसकी विषय वस्तु भिन्न हो सकती है"।[3]

शब्द-विन्यास की दृष्टि से 'कल्याण' शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के 'वेल्फेयरन' शब्द से हुई है जिसका अर्थ अच्छा कार्य करना है।

'कल्याण' शब्द जीवन की एक ऐसी स्थिति का बोध कराता है जिसमें एक समाज विशेष के सदस्यों को एक समय विशेष पर इस समाज विशेष में उप-

1. ऑर्थर जेम्स टॉड, इण्डस्ट्री ऐण्ड सोसाइटी–ए सोशियोलॉजिकल ऐप्रोच टु इन्डस्ट्रियलिज्म, पृ० 532-33।
2. रिपोर्ट आफ दि० रायल कमीशन ऑन लेबर इन इण्डिया, पृ० 281।
3. रिपोर्ट आफ दि नैशनल कमिशन ऑन लेबर इन इण्डिया, पृ० 111।

लब्ध संसाधनों के अनुसार एक इच्छित जीवन स्तर उपलब्ध हो और वे सुख एवं शान्ति का अनुभव कर सकें। 'कल्याण' शब्द की अवधारणा का विवेचन एक विशिष्ट परिवेश के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिये। इस परिवेश पर इसकी समग्रता में ध्यान दिया जाना चाहिये और इसके विविध पहलुओं, यथा भौतिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर समुचित विचार किया जाना चाहिये। मूर्ति ने भी लिखा है ''कल्याण शब्द एक व्यक्ति अथवा समूह के उसके सम्पूर्ण जीवित तथा निर्जीव पर्यावरण के साथ इच्छित सम्बन्ध रखने वाली जीवन की स्थिति की परिभाषा करता है, पर्यावरण के साथ यह सामंजस्य न केवल जीवित रहने के लिये बल्कि व्यक्ति की अभिवृद्धि एवं विकास के लिये भी अनिवार्य है। वास्तव में इस सामंजस्य के बिना जीवन असम्भव होगा''।[1]

कल्याण की अवधारणा एक सम्पूर्ण अवधारणा है जिसके अन्तर्गत् व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं संवेगात्मक कल्याण समाहित होता है। व्यक्ति जब शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ, मानसिक दृष्टि से सतर्क, नैतिक दृष्टि से दृढ़ एवं संवेगात्मक दृष्टि से स्थिर तथा स्थितिप्रज्ञ होता है तभी उसे कल्याण की स्थिति में विद्यमान हुआ कहा जा सकता है। व्यक्ति के कल्याण के ये सभी पहलू एक दूसरे पर निर्भर हैं।

कल्याण की अवधारणा एक सामाजिक अवधारणा है क्योंकि व्यक्ति के कल्याण की किसी भी योजना में समाज को भी ध्यान में रखना ही पड़ता है। व्यक्ति स्वयं एक सामाजिक प्राणी है। वह विभिन्न समूहों तथा परिवार, पड़ोस, क्लबों इत्यादि का सदस्य होता है और इसीलिए व्यक्ति के कल्याण की कोई भी योजना उन विभिन्न सामाजिक इकाइयों पर कोई ध्यान न देते हुए नहीं बनाई जा सकती जिनका कि वह सदस्य होता है और जिनमें उसके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण भाग व्यतीत होता है। व्यक्ति के कल्याण की चर्चा करते समय उसके परिवार, उसके पड़ोस, उन विभिन्न समितियों जिनका वह सदस्य है, उसके जातिगत समूह तथा उसके समुदाय के कल्याण को ध्यान में रखना ही पड़ेगा।

कल्याण की अवधारणा एक सापेक्ष अवधारणा है जो समय एवं स्थान के सन्दर्भ में विभिन्न स्वरूपों में घटित होती है। उत्पादन की आरम्भिक अवस्था

---

1. एम० वी० मूर्ति, प्रिन्सिपुल्स ऑफ लेबर वेलफेयर, गुप्ता ब्रदर्स (बुक्स), विशाखापट्टनम्, 1968, पृ० 3।

जब व्यक्ति अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कार्य करता था, उस समय कल्याण का स्वरूप इस अर्थ में भिन्न था कि वह केवल एक पारिवारिक मामला था। मजदूरी सेवायोजन के प्रारम्भ होने के साथ-साथ आर्थिक शोषण के मामलों के सामने आने पर सामाजिक हस्तक्षेप की आवश्यकता का अनुभव हुआ। औद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने पर श्रमिकों के शोषण में वृद्धि होने के कारण राज्य को सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करना पड़ा और उद्योगों में कार्य की परिस्थितियों एवं दशाओं को नियंत्रित करने के प्रयास किये गये। वर्तमान समय में औद्योगिक संस्थानों के बाहर श्रमिकों के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करते हुए उसे विभिन्न सामाजिक कुरीतियों एवं बुराइयों से मुक्त कराते हुए सुखमय एवं शान्तिपूर्ण बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। स्थान की सापेक्षता के सन्दर्भ में विभिन्न देशों में कल्याण सम्बन्धी आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न हैं। न केवल विकसित और विकासशील देशों के श्रमिकों की कल्याण सम्बन्धी आवश्यकतायें भिन्न हैं बल्कि विभिन्न विकासशील देशों के श्रमिकों की और यहाँ तक कि किसी एक विशेष विकासशील देश के विभिन्न क्षेत्रों के श्रमिकों की कल्याण सम्बन्धी आवश्यकतायें भी भिन्न-भिन्न हैं। इस भिन्नता के बावजूद यह सुनिश्चित है कि कल्याण के कुछ न्यूनतम मानदण्ड होते हैं और इनके अन्तर्गत् भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य एवं शिक्षा की बुनियादी आवश्यकतायें सम्मिलित हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के समुचित विकास एवं उसकी प्रभावपूर्ण सामाजिक क्रिया में धनात्मक योगदान देती हैं।

कल्याण शब्द को श्रम के सन्दर्भ में देखने पर यह ज्ञात होता है कि अपने विधायी आशय में यह श्रमिकों तथा उनके परिवार के सदस्यों को जीवन की ऐसी स्थिति का आश्वासन प्रदान करता है जिसमें वे सुख एवं शान्ति का अनुभव करते हैं तथा यह बड़े पैमाने पर उत्पादन की औद्योगिक व्यवस्था के हानिकारक प्रभावों को समाप्त करता है। श्रम कल्याण की विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक परिभापायें की गयी हैं। इन परिभाषाओं को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

1. श्रम कल्याण की कुछ परिभाषायें ऐच्छिक प्रयासों पर बल देती हैं इनमें टेक्स्टाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी, एच० एस० पार्सन इत्यादि द्वारा दी गयी परिभाषायें सम्मिलित की जा सकती हैं। टेक्स्टाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी 1940[1] के अनुसार श्रम कल्याण, "भुगतान की जाने वाली मजदूरी के अतिरिक्त

---

1. रिपोर्ट ऑफ दि बॉम्बे टेक्स्टाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी, अंक 11, 1940, पृ० 264-265।

कर्मचारियों के आराम एवं बौद्धिक तथा सामाजिक विकास के लिये कोई भी ऐसी चीज जो न तो उद्योग के लिये आवश्यक है, न ही अपेक्षित होती है। एच० एस० पार्सन "इस शब्द का प्रयोग वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत् कानून, उद्योग की प्रथाओं एवं बाजार की परिस्थितियों की अपेक्षाओं के अतिरिक्त कर्मचारियों की कार्य एवं कभी-कभी आवास एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के निर्माण हेतु मालिक द्वारा किये गये ऐच्छिक प्रयासों का वर्णन करने के लिये किया जाता है।"[1]

2. कुछ परिभाषाओं के अन्तर्गत् श्रम कल्याण को मालिकों द्वारा किये जाने वाले प्रयासों के रूप में चित्रित किया गया है। हैरिंग के अनुसार, "कल्याण कार्य सदैव मालिक का कार्य है।"[2] अमेरिका के नेशनल श्रमिक फेडरेशन की परिभाषा के अन्तर्गत श्रम कल्याण कार्य को "सेवायोजकों द्वारा अपने कर्मचारियों के रहने एवं कार्य करने की दशाओं में सुधार के लिये किये गये व्यक्तिगत प्रयास"[3] के रूप में चित्रित किया गया है। एन० एम० जोशी के अनुसार, श्रम कल्याण के अन्तर्गत् 'वे सभी प्रयास सम्मिलित हैं जो मालिकों द्वारा कारखाना अधिनियम द्वारा निर्धारित कार्य की परिस्थितियों के न्यूनतम मानदण्ड के अतिरिक्त तथा दुर्घटना, वृद्धावस्था, बेकारी एवं बीमारी के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करने वाले सामाजिक विधान के प्रावधान के अतिरिक्त कर्मचारियों के लाभ के लिये किये जाते हैं।'[4] इण्टरनैशनल कॉन्फरेन्स ऑफ सोशल वर्क के म्यूनिख में 1956 में हुए सत्र में इण्डियन कान्फरेन्स ऑफ सोशल वर्क द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रपत्र में समाज कल्याण की परिभाषा 'श्रमिकों के नैतिक, भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तरों को बढ़ाने तथा एक अधिक अच्छे जीवन के साथ सामंजस्य करने के उद्देश्य से औद्योगिक संस्थानों द्वारा श्रमिकों एवं उनके परिवारों को प्रदान की गयी सेवाओं'[5] के रूप में की गयी है।

---

1. एच० एस० पार्सन, इन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज, अंक 15, 1935, पृ० 395।
2. एच० एल० हैरिंग, वेलफेयर वर्क इन हिल-विलेजेज, पृ० 9–10।
3. पी० आर० एन० सिन्हा, लेबर वेलफेयर-स्कोप ऐण्ड ऐप्रोचेज, सोविनियर, लेबर ऐण्ड सोशल वेलफेयर एल्मुनाई एसोसियेशन, पटना यूनिवर्सिटी, 1955 पृ० 11।
4. एन० एम० जोशी, ट्रेड यूनियन मूवमेन्ट इन इंडिया, बाम्बे, 1927, पृ० 26।
5. इण्डियन कॉन्फरेन्स ऑफ सोशल वर्क द्वारा 'इण्डस्ट्रियलाइजेशन ऐण्ड

3. कुछ परिभाषाओं में सरकार द्वारा किये गये प्रयासों को भी श्रम कल्याण की परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। लेबर इन्वेस्टिगेशन कमिटी के अनुसार, "कानून द्वारा निर्धारित अथवा संवेदनात्मक लाभों जिनके लिये श्रमिकों द्वारा सौदेबाजी की गयी हो, के अतिरिक्त सरकार, मालिक अथवा अन्य ऐच्छिक संस्थाओं द्वारा श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक तथा आर्थिक भलाई के लिये की गयी प्रत्येक क्रिया"[1] श्रम कल्याण है।

श्रम कल्याण की परिभाषा सरकार, मालिकों, श्रमिक-संघों तथा अन्य ऐच्छिक संगठनों द्वारा वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में अथवा ऐच्छिक रूप से औद्योगिक संस्थान के अन्दर अथवा बाहर श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों में सुख एवं शान्ति को प्रोत्साहित करने के लिये आयोजित सभी सेवाओं एवं सुविधाओं के रूप में की जा सकती है। श्रम कल्याण सामाजिक सुरक्षा से इस अर्थ में भिन्न है कि सामाजिक सुरक्षासेवायें कुछ विशेष प्रकार की आवश्यकताओं जो श्रमिकों की आय की निरन्तरता को क्षति पहुँचाती हैं, के विरुद्ध उन्हें संरक्षण प्रदान करती हैं जबकि श्रम कल्याण सेवायें श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों को कारखाने के अन्दर तथा बाहर एक न्यूनतम इच्छित जीवन स्तर का आश्वासन प्रदान करने के लिये आयोजित की जाती हैं। व्यापक रूप में सामाजिक सुरक्षा सेवायें श्रम कल्याण के अन्तर्गत आती हैं।

श्रम कल्याण का महत्व

भारत एक कल्याणकारी राज्य है। प्रत्येक कल्याणकारी राज्य का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने सभी नागरिकों को उपलब्ध संसाधनों के अनुसार एक न्यूनतम इच्छित जीवन स्तर का आश्वासन प्रदान करे और उन्हें सुख एवं शान्ति का अनुभव कराये। कल्याणकारी राज्य का स्वप्न तभी साकार हो सकता है जबकि इसके श्रमिकों, जो वस्तुओं एवं सेवाओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव बनाते हैं, को सुख एवं शान्ति का अनुभव हो। श्रम कल्याण सेवाओं एवं सुविधाओं का आयोजन निम्नलिखित कारण से महत्वपूर्ण है :—

1. आज भी काफी बड़ी संख्या में श्रमिक असंगठित उद्योगों में काम कर रहे हैं जहाँ उनका नाना प्रकार से शोषण हो रहा है;

2. आज भी हमारे श्रमिक अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, बुराइयों एवं समस्याओं के शिकार हैं;

सोशल वर्क, शीर्षक से इण्टरनैशनल कान्फरेन्स ऑफ सोशल वर्क के म्यूनिख में आयोजित सत्र में प्रस्तुत प्रपत्र।

1. रिपोर्ट ऑफ दि लेबर इन्वेस्टिगेशन कमिटी, 1947, पृ० 40।

3. संगठित उद्योगों में भी अन्तश्रमिक संघ प्रतिस्पर्धा, श्रमिक संघ के अन्दर पायी जाने वाली गुटबाजी, बाहरी नेतृत्व के प्रभुत्व तथा श्रमिक संधों के सुदृढ़ राजनीतिक सम्बन्धों के कारण श्रमिक संघ श्रमिकों के हितों का समुचित रूप से संरक्षण एवं संवर्द्धन कर पाने में असमर्थ हैं;

4. संगठित उद्योगों में भी श्रमिकों की अनेक प्रकार की आवश्यकतायें अपूर्ण हैं और उनके सामने अनेक प्रकार की समस्यायें गम्भीर रूप में विद्यमान हैं और वे स्वयं न तो इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने में समर्थ हैं और न ही इन समस्याओं का समाधान कर पाने के लिये सक्षम हैं।

श्रम कल्याण सेवाओं के आयोजन के निम्नलिखित प्रभाव होंगे :—

1. श्रमिकों का शोषण समाप्त होगा और वे एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में इच्छित कार्य की शर्तों के अधीन उपयुक्त कार्य की परिस्थितियों में कार्य कर सकेंगे।

2. श्रमिकों में पायी जाने वाली कुरीतियाँ, बुराइयाँ एवं दुर्व्यसन समाप्त होंगे।

3. श्रमिकों की अनेकों अपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव होगी तथा समस्याओं का समाधान हो सकेगा।

4. अनुपस्थिति एवं समावर्त की दरों में कमी होगी तथा स्थायी श्रम-शक्ति का निर्माण होगा।

5. श्रमिकों की कुशलता में अभिवृद्धि होगी। बॉम्बे टेक्स्टाइल लेबर इन्क्वायरी कमिटी का यह विचार उचित ही है कि 'कुशलता के उच्च स्तर की आशा केवल उन्हीं व्यक्तियों से की जा सकती है जो शारीरिक दृष्टि से उपयुक्त हों तथा मानसिक कुण्ठाओं से रहित हों अर्थात् केवल उन्हीं व्यक्तियों से जिन्हें उचित प्रशिक्षण, आवास, भोजन एवं वस्त्र प्राप्त हों।"[1] कुशलता में वृद्धि का प्राकृतिक परिणाम उत्पादकता में वृद्धि होगी जिसके फलस्वरूप सभी नागरिकों को एक न्यूनतम इच्छित जीवन स्तर का आश्वासन प्रदान करने के लिये अपेक्षित वस्तुएँ एवं सेवाएँ उपलब्ध करायी जा सकेंगी और कल्याणकारी राज्य का स्वप्न साकार हो सकेगा।

6. श्रम कल्याण सेवाओं के परिणामस्वरूप श्रमिकों का उद्योग के प्रति लगाव बढ़ेगा। वे हम-भावना से प्रेरित होकर अधिक से अधिक उत्पादन करेंगे तथा बर्बादी को रोकने के लिये यथासम्भव सभी प्रयास करेंगे जिससे औद्योगिक उत्पादन बढ़ेगा।

---

1. रिपोर्ट ऑफ दि बॉम्बे टेक्स्टाइल इन्क्वायरी कमिटी, 1940, पृ० 264।

7. मालिकों एवं श्रमिकों की भावनायें, अनुभूतियाँ एवं संवेग अनुकूल रूप से प्रभावित होंगे जिसके परिणामस्वरूप उनमें स्वस्थ एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का विकास होगा जिसके फलस्वरूप औद्योगिक शान्ति में वृद्धि होगी।

8. श्रमिकों तथा उन पर आश्रित परिवार के सदस्यों के स्वस्थ होने, उनमें सामाजिक कुरीतियों, बुराइयों एवं दुर्व्यसनों के कम होने, उनमें उपयुक्त मूल्यों एवं मनोवृत्तियों का विकास होने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की प्रगति होगी और समाज के अन्तर्गत आधुनिकता का समुचित प्रसार सम्भव होगा।

9. श्रम कल्याण सेवाओं के आयोजन में श्रमिकों को सम्मिलित करते हुए उनके व्यक्तित्व में प्रबन्ध सम्बन्धी तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास करने के अवसर उपलब्ध होंगे।

उद्देश्य

श्रम कल्याण का स्वरूप व उद्देश्य प्रमुख रूप से मानवीय एवं आंशिक रूप से उपयोगितावादी (आर्थिक) एवं प्रजातांत्रिक (नागरिक) है। मानवीय दृष्टिकोण से श्रम कल्याण का उद्देश्य श्रमिकों के वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिये उन्हें आवश्यक सेवायें एवं सुविधायें प्रदान करना है जिन्हें वे स्वयं आयोजित कर पाने में असमर्थ हैं। उपयोगितावादी दृष्टिकोण के अनुसार श्रमकल्याणकार्यक्रमों का उद्देश्य श्रमिक की कार्य-कुशलता में वृद्धि करना है, अनुपस्थिति को घटाना, श्रमिकों एवं मालिकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करना, संस्थान के प्रति लगाव तथा कार्य के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना और अन्तिम रूप से उत्पादकता में वृद्धि करना है। प्रजातांत्रिक दृष्टि से श्रम कल्याण सेवाओं एवं सुविधाओं के प्रति चेतना उत्पन्न करना, उनमें कार्यक्रमों को आयोजित करने की क्षमता उत्पन्न करना, निर्णय लेने की योग्यता विकसित करना, नेतृत्व प्रदान करने के अवसर उपलब्ध कराना, अधिकारों को सौंपने की इच्छा उत्पन्न करना, दूसरों की भावनाओं, इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये कार्य करने की क्षमता का विकास करना, दूसरों के लिये त्याग एवं बलिदान करने की योग्यता विकसित करना तथा प्रजातन्त्र को जीवन की शैली के रूप में अपनाने के लिये पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराना है।

विषय क्षेत्र

लेबर इन्वेस्टिगेशन कमिटी[1] के मत में श्रम कल्याण के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत् आवास, चिकित्सा एवं शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं, भोज्य पदार्थों

---

1. रिपोर्ट ऑफ दि लेबर इन्वेस्टिगेशन कमिटी, पृ० 345।

(कैन्टीन सहित) आराम एवं मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं, सहकारी समितियों, दिन में शिशुओं का पालन-पोषण करने वाले गृहों एवं क्रेशों की सुविधाओं, साफ एवं स्वच्छ स्थानों के प्रावधानों, सवेतन अवकाश, सेवायोजकों द्वारा अकेले अथवा श्रमिकों के साथ संयुक्त रूप से चलाये गये ऐच्छिक सामाजिक बीमा सम्बन्धी उपायों, अस्वस्थता एवं मातृत्व लाभ सम्बन्धी योजनाओं, प्रॉविडेन्ट फण्ड, ग्रैच्युटी तथा पेंशन इत्यादि कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन[1] ने अपने 1947 के प्रस्ताव में 'ऐसी सेवाओं, सुविधाओं एवं सुख-सुविधाओं जैसे कि उपयुक्त कैन्टीन, आराम एवं मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं, कार्यस्थल से तथा इस तक आने-जाने तथा अपने घरों से दूर सेवायोजित श्रमिकों के लिये आवास की व्यवस्थाओं एवं अन्य ऐसी सेवाओं, ऐसी सुख-सुविधाओं जो उन परिस्थितियों में सुधार लाने में योगदान देती हैं जिनमें श्रमिकों को सेवायोजित किया जाता है"[1] को श्रम कल्याण के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।

श्रीलंका में 1950 में आयोजित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के एशियाई क्षेत्रीय सम्मेलन ने श्रम कल्याण के अन्तर्गत व्यावसायिक स्वास्थ्य सेवाओं, मातृत्व एवं शिशु-रक्षा सेवाओं, जलपान गृहों तथा अन्य भोजन सम्बन्धी व्यवस्थाओं, चिकित्सकीय सेवाओं तथा आवास एवं निवास सम्बन्धी व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन[2] की 1956 की श्रमिकों के कल्याण से सम्बंधित अनुशंसा संख्या 102 के अन्तर्गत (क) संस्थान के अन्तर्गत अथवा इसके समीप भोजन एवं खाने की सुविधाओं, (आ) संस्थान द्वारा प्रदत्त आराम एवं मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं (अवकाश सम्बन्धी सुविधाओं को छोड़कर) तथा (इ) कार्य स्थल से तथा इस तक परिवहन सम्बन्धो सुविधाओं जहाँ सामान्य सार्वजनिक परिवहन अनुपयुक्त अथवा अप्रयोग्य है, का उल्लेख किया गया है।

1959 में भारत सरकार द्वारा श्रम कल्याण के अध्ययन के लिये गठित किये गये अध्ययन दल ने इन क्रियाओं को तीन भागों विभाजित किया था :—

1. संस्थान के अन्तर्गत किया आने वाला कार्य, उदाहरणार्थ, चिकित्सा सहायता, शिशु गृह, जलपान गृह, पीने का पानी इत्यादि।

---

1. आई० एल० ओ० रिजोल्यूशन, 1947–रिपोर्ट ऑफ दि नेशनल कमीशन आन लेबर, 1969, पृ० 112।

2. तथैव, पृ० 112।

2. संस्थान के बाहर किया जाने वाला कल्याण कार्य, उदाहरणार्थ, आन्तरिक एवं वाह्य मनोरंजन, आवास, प्रौढ़शिक्षा, द्रष्टव्य निर्देश आदि तथा

3. सामाजिक सुरक्षा।

1963 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा गठित कल्याण सुविधाओं से सम्बन्धित विशेषज्ञ समिति ने कल्याण सुविधाओं को दो भागों में विभाजित किया है :

1. संस्थान की चहारदीवारी के अन्तर्गत् कल्याण सम्बन्धी सुविधायें (1) शौचालय एवं मूत्रालय, (2) स्नान एवं वस्त्र धोने की सुविधा, (3) क्रेशों, (4) विश्रामालय एवं कैन्टीन, (5) पेयजल की व्यवस्थायें, (6) थकान की रोकथाम करने वाली व्यवस्थायें, (7) व्यावसायिक सुरक्षा सहित स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधायें, (8) व्यवसाय की देख-भाल के लिये संयन्त्र के अन्तर्गत् प्रशासकीय व्यवस्था, (9) वर्दी तथा संरक्षण प्रदान करने वाले वस्त्र (10) पाली भत्ता, (शिफ्ट अलाउन्स) तथा

2. संस्थान के बाहर कल्याण सुविधायें : (1) मातृत्व हित लाभ (2) ग्रेच्युटी, पेंशन, भविष्य निधि तथा पुनर्वासिन सहित सामाजिक बीमा सम्बन्धी उपाय (3) हितकारी कोष (4) शारीरिक उपयुक्तता तथा कुशलता, परिवार नियोजन तथा बाल कल्याण सहित चिकित्सकीय सुविधायें (5) प्रौढ़ शिक्षा सहित शैक्षिक सुविधायें (6) आवास सम्बन्धी सुविधायें (7) खेल-कूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम, पुस्तकालय एवं वाचनालय सहित मनोरंजन सम्बन्धी सुविधायें (8) अवकाश गृह तथा छुट्टियों में यात्रा की सुविधायें (9) श्रमिकों के सहकारी संघ जिनके अन्तर्गत् सहकारी उपभोक्ता संघ, उचित मूल्य की दूकानें तथा सहकारी बचत एवं ऋण सम्बन्धी समितियाँ भी आती हैं (10) श्रमिकों के आश्रितों के लिये व्यावसायिक प्रशिक्षण (11) महिलाओं, युवकों एवं बच्चों के कल्याण के लिये अन्य कार्यक्रम तथा (12) घर से कार्य के स्थल तक आने तथा वहाँ से घर तक पहुँचने के लिये परिवहन की सुविधायें।

एम० वी० मूर्ति के अनुसार 'श्रम कल्याण कार्य के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत् न केवल कारखाने के अन्तर्गत् श्रमिकों का कार्य सम्बन्धी जीवन सम्मिलित है बल्कि इसका विस्तार इसके परे उसके अपने परिवार तथा समुदाय के साथ अपने जीवन तक फैला हुआ है। वास्तव में कारखानों के अन्तर्गत् कल्याण कार्य कल्याण कार्यक्रम का एक अंश मात्र है क्योंकि समुदाय में श्रमिक क्या करता है, वह कारखाने से कितनी दूर रहता है, उसके कौन से मित्र हैं वह कौन से मनोरंजन करता है तथा उसका पारिवारिक जीवन कहाँ और किस प्रकार संगठित

होता है, घर की सुविधायें अथवा असुविधायें, आदि उसके कार्य को प्रभावित करती हैं "प्रभावपूर्ण होने के लिये कल्याण कार्य के अन्तर्गत् श्रमिक के कार्य सम्बन्धी जोवन, पारिवारिक जीवन एवं सामुदायिक जोवन को एक सुसम्बन्धित, समन्वित एवं उद्देश्यपूर्ण प्रतिमान के साथ सम्मिलित किया जाना चाहिए।'[1]

मूर्ति[2] ने भी श्रम कल्याण कार्य को कार्य स्थल के अन्दर तथा कार्य स्थल के बाहर की दो श्रेणियों में विभाजित किया है। पहली श्रेणी में कार्य सम्बन्धी पर्यावरण की परिस्थितियों, सुविधाओं, श्रमिकों की स्वास्थ्य सेवाओं, महिला एवं बाल कल्याण श्रमिकों के मनोरंजन सेवा योजन सम्बन्धी अनुवर्ती प्रयास, आर्थिक सेवाओं, श्रम प्रबन्ध सम्मेलन, श्रमिकों की विवाचन सम्बन्धी परिषद, शोध ब्यूरो तथा श्रमिक शिक्षा को सम्मिलित किया गया है। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत् आवास, रोशनी, पार्कों, मनोरंजन, खेल के मैदानों, स्कूल, बाजारों, उपभोक्ता तथा साख-सहकारी संगठनों, बैंक, परिवहन, संचार, स्वास्थ्य एवं चिकित्सकीय सेवाओं, मनोरंजन, सुरक्षा, सामुदायिक नेतृत्व के विकास को सम्मिलित किया गया है।

के० एन० वैद[3] ने श्रम कल्याण शब्द के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत मालिकों, सरकार एवं श्रमिक संघों के सभी कारखानों के अन्दर तथा बाहर के एवं वैधानिक तथा गैर वैधानिक कल्याण सम्बन्धी उपायों को सम्मिलित किया है।

श्रम कल्याण सम्बन्धी सभी कार्यक्रमों को वैधानिक, ऐच्छिक एवं सहकारी नामक तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। वैधानिक कार्यक्रमों का आयोजन कानून के अधीन बाध्य होकर सरकार या तो स्वयं करती है या मालिकों अथवा श्रमिक संघों से करवाती है। ऐच्छिक कार्यक्रम वे हैं जो मालिकों, श्रमिक संघों अथवा अन्य स्वैच्छिक संघटनों द्वारा स्वेच्छापूर्वक आयोजित किये जाते हैं। सहकारी कार्यक्रमों का आयोजन श्रमिकों द्वारा स्वयं अपने वर्ग के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर सहयोग के आधार पर किया जाता है। श्रम कल्याण कार्यक्रमों का आयोजन कार्यस्थल पर अथवा इसके बाहर किया जा सकता है। कार्यस्थल पर आयोजित कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों के अन्तर्गत

1. एम० वी० मूर्ति, प्रिंसिपुल्स ऑफ लेबरवेलफेयर, पृ० 12-13।
2. तदैव, पृ० 13-15।
3. के० एन० वैद, लेबर वेलफेयर इने इण्डिया, श्रीराम सेण्टर फॉर इन्ड-स्ट्रियल रिलेशन्स, नई दिल्ली, 1970, पृ० 17।

शौचालयों, मूत्रालयों, स्नानगृहों, वस्त्र धोने के कक्षों, गर्मियों में शीतल जल की सुविधा सहित पेय जल, स्वास्थ्य की समय-समय पर जाँच, प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था, आरामगृहों, छूटयुक्त भोजन की सुविधा सहित जलपान गृहों, क्रेशों इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है। कार्य-स्थल के बाहर श्रमिकों की शिक्षा, चिकित्सकीय देख-रेख एवं उपचार, मनोरंजन एवं खेलकूद सम्बन्धी सुविधाओं, आवास सम्बन्धी सुविधाओं को उपलब्ध कराने, सड़क, बिजली, पानी, सफाई, सार्वजनिक शौचालयों एवं मूत्रालयों, कूड़ादानों इत्यादि की व्यवस्था, समुचित मनोरंजन एवं खेलकूद की व्यवस्था, साख एवं उपभोक्ता सहकारी समितियों, सामाजिक बुराइयों, कुरीतियों एवं व्यसनों से मुक्त कराने, आधुनिक मूल्यों एवं मनोवृत्तियों को विकसित करने तथा प्रजातन्त्र को उनके जीवन का एक अंग बनाने के लिये वैयक्तिक, सामूहिक एवं सामुदायिक स्तर पर आयोजित किये जाने वाले परामर्श, शिक्षा इत्यादि जैसे अनेक प्रकार के कार्यक्रमों तथा परिवार के सदस्यों के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, खेलकूद, इत्यादि से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जा सकता है।

श्रम कल्याण के अभिगम

श्रम कल्याण को समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों देखा गया है। ये दृष्टिकोण विद्वान से विशेष के व्यक्तिगत विचार पर आधारित रहे हैं। इन विभिन्न दृष्टिकोणों को अभिगम के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। श्रम कल्याण के प्रमुख अभिगम निम्नलिखित हैं :—

1—राज्य सतर्कता अभिगम 2—धार्मिक अभिगम 3—लोकोपकारी अभिगम 4—न्यासवादी अभिगम 5—तुष्टीकरण अभिगम 6—जनसम्पर्क अभिगम, 7—प्रकार्यात्मक अभिगम तथा 8—समेकित अभिगम।

1—राज्य सतर्कता अभिगम :

इस अभिगम के अनुसार अधिकतर लोग बुरे कार्य करने की प्रवृत्ति रखते हैं। व्यक्ति स्वभावतः स्वार्थी है और अपने स्वार्थों की सिद्धि दूसरे के स्वार्थों का हनन करते हुए करने का प्रयास करता है और अवसर मिलते ही वह शोषण करने से बाज नहीं आता। मालिक श्रमिकों का अनेक प्रकार से शोषण करने का प्रयास करते हैं। कोई भी राज्य जो अपने नागरिकों की भलाई चाहता है इस प्रकार खुल्लमखुल्ला शोषण किये जाने की अनुमति नहीं दे सकता और बाध्य होकर ऐसे कानून बनाता है जिनसे कार्य की परिस्थितियाँ एवं शर्तें नियमित हो सकें और शोषण समाप्त हो सके। मालिक इन कानूनों एवं नियमों का

उल्लंघन करने का प्रयास करते हैं जिसके लिये राज्य को आवश्यक प्रकासकीय व्यवस्था करते हुए अनवरत् सतर्कता बरतनी पड़ती है और नियमों तथा कानूनों का उल्लंघन करने वाले मालिकों को दण्डित करना पड़ता है ।

2—धार्मिक अभिगम :

धर्म के अन्तर्गत लौकिक तथा पारलौकिक जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रकार के विश्वास एवं मान्यतायें पायी जाती हैं । सभी धर्म सामान्यतः इस बात की शिक्षा देते हैं कि लोग दीन-दुखियों की सहायता करें, किसी को आवश्यक कष्ट न दें और सभी व्यक्तियों को अपने ही जैसा मानव मानकर वैसा ही मानवतापूर्ण व्यवहार करें जिसकी अपेक्षा वे दूसरों से करते हैं । इसी धार्मिक भावना से प्रेरित होते हुए अनेक मालिक अपने श्रमिकों को अनेक प्रकार की सुविधायें प्रदान करते हैं ।

3—लोकोपकारी अभिगम

इस अभिगम के अनुसार व्यक्ति सामान्यतः व्यक्ति से प्यार करता है। वह यह नहीं चाहता कि कोई भी मानव पीड़ा एवं यातना का शिकार हो तथा उसे अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई का अनुभव करना पड़े । व्यक्ति पीड़ित मानवता की तो बात ही क्या, पीड़ित पशुओं को भी देखकर दयार्द्र हो उठता है और इसी दृष्टि से मालिक श्रमिकों के लिये विविध प्रकार के श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं ।

4—न्यासवादी अभिगम

इस अभिगम के अनुसार मालिक औद्योगिक सम्पत्ति एवं लाभों के न्यासी हैं। यह सम्पत्ति पूर्णरूपेण उनकी अपनी नहीं है । उन्हें इसका प्रयोग अपने श्रमिकों तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिये करना चाहिए । मालिकों एवं श्रमिकों के बीच सम्बन्ध संयुक्त परिवारों में पिता एवं पुत्र, बड़े एवं छोटे भाई के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों जैसा होना चाहिए जिनमें अधिक प्रबुद्ध तथा परिपक्व सापेक्षतः अबोध एवं अपरिपक्व की आवश्यकताओं एवं अभिरुचियों को ध्यान में रखते हुए धन का व्यय करते हैं । महात्मा गान्धी ने इस अभिगम को प्रतिपादित किया था । इस अभिगम के अनुसार जो लोग आर्थिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं सामाजिक दृष्टि से अधिक ऊँचे हैं उनका यह नैतिक दायित्व है कि वे अपने से निम्नतर लोगों की भलाई के लिये यथासम्भव सभी प्रयास करें । इस अभिगम के अन्तर्गत शक्ति को न्यास होना चाहिये तथा न्यास में शक्ति होनी चाहिये ।

5—तुष्टीकरण अभिगम

इस अभिगम के अनुसार अपने अधिकारों के प्रति अधिकाधिक चेतना से युक्त श्रमिकों को सन्तुष्ट करने के लिये मालिक विभिन्न प्रकार की सेवायें एवं सुविधायें प्रदान करते हैं ताकि श्रमिक वर्ग उनके विरुद्ध क्रान्ति न कर दें और इस प्रकार वे श्रम कल्याण कार्यक्रमों के माध्यम से स्वयं अपने हितों का संरक्षण करते हैं।

6—जनसम्पर्क अभिगम

इस अभिगम के अनुसार मालिकों द्वारा आयोजित कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम श्रमिकों एवं मालिकों के बीच तथा मालिकों एवं जनता के बीच अच्छे सम्बन्धों का निर्माण करते हैं और अच्छे जनसम्पर्क के परिणामस्वरूप उद्योग और अधिक समृद्धिशाली बनता है। श्रमिक जनता के अभिन्न एवं प्राथमिक अंग हैं और उनके हितों के सम्वर्द्धन के लिये प्रावधानित सेवायें एवं सुविधायें अच्छे जन-सम्पर्क की स्थापना में सहायक सिद्ध होती हैं। इसीलिए कई मालिक अपनी कल्याण सम्बन्धी सेवाओं के विज्ञापन प्रकाशित करते हैं और आगन्तुकों को उनसे भली-भाँति अवगत कराते हैं।

7—प्रकार्यात्मक अभिगम

इस अभिगम के अनुसार श्रम कल्याण के निश्चित रूप से ऐसे परिणाम होते हैं जो उद्योग के अन्तर्गत श्रमिकों की सामंजस्य, अनुकूलन एवं एकीकरण को प्रोत्साहित करते हैं। श्रम कल्याण कार्यक्रमों के आयोजित किये जाने के परिणामस्वरूप न केवल श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पादकता बढ़ती है बल्कि श्रमिकों एवं प्रबन्धों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का विकास होता है तथा कार्य एवं उद्योग के प्रति लगाव की भावना भी उत्पन्न होती है।

8—समेकित अभिगम

यह अभिगम आधुनिकतम है तथा वह इस बात को प्रतिपादित करता है कि श्रम कल्याण के कार्यक्रमों के आयोजन को अनेक प्रकार के कारकों से बल प्राप्त होता है तथा ये श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम श्रमिकों तथा उद्योग और समाज के लिये अनेक प्रकार से लाभकारी सिद्ध होते हैं। इस अभिगम के अनुसार श्रम कल्याण औद्योगिक संगठन की संगठनात्मक आवश्यकताओं, श्रमिकों की वैयक्तिक एवं पारिवारिक आवश्यकताओं तथा समुदाय की विविध प्रकार की सामुदायिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में सहायक होता है।

श्रम कल्याण के आधारभूत विचार

के० एन० वैद[1] ने श्रम कल्याण के आधारभूत विचारों को सिद्धान्तों की संज्ञा प्रदान करते हुये निम्नलिचित सिद्धान्तों का उल्लेख किया हैं :—

(1) उद्योग के सामाजिक दायित्व का सिद्धान्त (2) प्रजातान्त्रिक मूल्यों का सिद्धान्त (3) मजदूरी की उपयुक्तता का सिद्धान्त (4) कुशलता का सिद्धान्त (5) पुनर्वैयक्तीकरण का सिद्धान्त (6) सहदायित्व का सिद्धान्त तथा (7) कल्याण की सम्पूर्णता का सिद्धान्त।

उद्योग के सामाजिक दायित्व के सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता यह है कि उद्योग को ऐसी नीतियों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों का अनुसरण करना चाहिये जो समाज के मूल्यों के अनुकूल हों। उस समाज में जो अपने सभी सदस्यों को एक न्यूनतम इच्छित जीवन स्तर प्रदान करना चाहता है उद्योग का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह समाज के नागरिकों के रूप में अपने श्रमिकों, जिनके श्रम के बिना इसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, यथासम्भव अधिक से अधिक सहायता का प्रयास करे।

प्रजातांत्रिक मूल्यों के सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता यह है कि श्रमिक परिपक्व एवं विवेकपूर्ण होते हैं, वे यह जानते हैं कि उनके लिये अच्छा एवं बुरा क्या है तथा उनमें यह क्षमता होती है कि वे निर्णय ले सकें; इसलिये श्रम कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन में श्रमिकों को प्रत्येक स्तर पर सम्मिलित होने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान किये जाने चाहिये।

मजदूरी की उपयुक्तता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि श्रम कल्याण कार्यक्रम मजदूरी के विकल्प नहीं बन सकते। श्रम कल्याण सेवायें चाहे कितनी अच्छी क्यों न हों, श्रमिकों को उपयुक्त मजदूरी मिलनी चाहिये।

कुशलता का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन के परिणामस्वरूप श्रमिकों की कुशलता बढ़ती है जिससे उत्पादकता में वृद्धि होती है विशेष रूप से विकासशील देशों में श्रम कल्याण कार्यक्रमों के अन्तर्गत् श्रमिकों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण, आवास एवं उपयुक्त भोजन प्रदान करने का प्रयास किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

पुनर्वैयक्तीकरण का सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन के परिणामस्व रूप मानवीय व्यक्तित्व और अधिक सुदृढ़

1. के० एन० वैद, लेबर वेलफेयर इन इण्डिया, पृ० 21–26।

होता है। बड़े पैमाने पर वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने वाली वर्तमान व्यवस्था में श्रमिक काफी बड़ी संख्या में लोगों के बीच कार्य करता हुआ अनेक प्रकार के दुष्प्रभावों का शिकार होता है और अपने व्यक्तित्व के अनेक संवेदनशील पहलुओं को खो बैठता है। श्रम कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन के परिणामस्वरूप श्रमिक को अपने व्यक्तित्व के इन संवेदनशील पहलुओं की पुनर्प्राप्ति में सहायता मिलती है।

सहदायित्व का सिद्धान्त इस बात को स्वीकार करता है कि श्रम कल्याण का दायित्व अकेले मालिकों पर न होकर श्रमिकों व मालिकों दोनों पर है। सहदायित्व के परिणामस्वरूप न केवल अतिरिक्त संसाधन जुड़ते हैं बल्कि कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों के प्रति श्रमिकों एवं उनके श्रम संघों का लगाव उत्पन्न होता है। वे सरलतापूर्वक स्वीकार्य होते हैं और उनके प्रति निराधार सन्देह नहीं उत्पन्न होते।

कल्याण की सम्पूर्णता का सिद्धान्त इस बात को प्रतिपादित करता है कि औद्योगिक संगठन के प्रत्येक स्तर पर श्रम कल्याण की आवश्यकताओं को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध में सक्रिय प्रयास किये जाने चाहिये। विभिन्न स्तरों के कर्मचारी चाहे वे उत्पादन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हों अथवा सलाहकारी क्षमता में कार्य कर रहे हों, को कल्याण के लिये अनुकूल मनोवृत्ति रखनी चाहिये और इसके लिये यथासम्भव प्रयास करने चाहिये।

श्रम कल्याण के सिद्धान्त

सिद्धान्त शब्द का प्रयोग यहाँ पर उन सामान्यीकरणों को सम्बोधित करने के लिए किया जा रहा है जो श्रम कल्याण के क्षेत्र से सम्बन्धित व्यक्तियों के अनुभवों पर आधारित हैं और श्रम कल्याण नीतियों के निर्धारण, योजनाओं के निर्माण, कार्यक्रमों के आयोजन तथा सेवाओं के प्रावधान को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। ये कुछ सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

1. श्रम कल्याण की आवश्यकता की स्वीकृति

कोई भी श्रम कल्याण सम्बन्धी योजना अथवा कार्यक्रम तब तक प्रभावपूर्ण रूप से नहीं बनाया जा सकता जब तक कि समाज के नीति निर्धारक श्रम कल्याण की आवश्यकता को स्वीकार करते हुये इसके सम्बन्ध में उपयुक्त नीति बनाते हुए अपने इरादे की स्पष्ट घोषणा न करें और इसे कार्यान्वित कराने की दृष्टि से राज्य का समुचित संरक्षण प्रदान करने हेतु उपयुक्त इसे वैधानिक स्वरूप प्रदान न करें। नीति निर्धारकों द्वारा 'श्रमेव जयते' को स्वीकार करते

हुये श्रम को व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिये आवश्यक मानते हुये श्रम कल्याण को सामाजिक नीति का एक अभिन्न अंग स्वीकार करना चाहिये और श्रमिकों की कल्याण सम्बन्धी योजनाओं एवं कार्यक्रमों को राज्य का संरक्षण प्रदान करने हेतु आवश्यक श्रम सम्बन्धी विधान बनने चाहिये।

(2) श्रमिक, उनके परिवार, उद्योग तथा समाज की अन्योन्याश्रयिता

श्रम कल्याण के महत्त्व को सही अर्थ में तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि इस बात पर सहमति व्यक्त की जाय कि श्रमिक, उनसे परिवार, उद्योग तथा समाज एक दूसरे पर निर्भर हैं और वे एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं। जिस प्रकार समाज के विघटित होने का प्रतिकूल प्रभाव उद्योग पर, उद्योग के ठीक से न चलने का प्रतिकूल प्रभाव श्रमिक पर और श्रमिक के विघटित होने का प्रतिकूल प्रभाव परिवार पर पड़ता है उसी प्रकार श्रमिक के व्यक्तित्व सम्बन्धी संगठन के उचित न होने तथा उसके द्वारा अपने दायित्वों का निर्वाह न किये जाने पर उद्योग, उनके परिवार और समाज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। धनात्मक रूप में एक सुसंगठित समाज उद्योग को, उद्योग श्रमिकों को तथा श्रमिक परिवार को उपयुक्त रूप से चलाने में सहायक सिद्ध होता है तथा एक अच्छे व्यक्तित्व सम्बन्धी संगठन वाला श्रमिक अपने उद्योग, परिवार तथा समाज को अच्छी प्रकार चलाने में अपना योगदान देता है।

(3) अनुभूत आवश्यकताओं का सिद्धान्त

कोई भी श्रम कल्याण कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह श्रमिकों की उन अनुभूत आवश्यकताओं पर आधारित न हो जिनके लिये वास्तव में वह आयोजित किया जाता है। श्रमिकों की वास्तविक आवश्यकताओं को जानने के लिये उनसे सम्पर्क स्थापित करते हुये, विचार-विमर्श और पर्यवेक्षण का आश्रय लेते हुये उनकी अनुभूत आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। श्रमिकों की अनुभूत आवश्यकताओं के अन्तर्गत् उनके परिवार के सदस्यों, विशेष रूप से आश्रित सदस्यों की अनुभूत आवश्यकतायें भी सम्मिलित हैं।

(4) अनुभूत आवश्यकताओं में प्राथमिकता का सिद्धान्त

श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों की अनुभूत आवश्यकतायें अनेक प्रकार की होती हैं। इनमें से कुछ अल्पकालीन तथा कुछ दीर्घकालीन होती हैं, इनमें से कुछ आर्थिक, कुछ मनोवैज्ञानिक, कुछ सामाजिक होती हैं; इनमें से कुछ स्वयं श्रमिकों के मत में अन्य की तुलना में अधिक अनिवार्य होती हैं। चूंकि इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति एक साथ सम्भव नहीं है इसलिये इन

आवश्यकताओं में प्राथमिकता स्थापित की जानी चाहिये और उन आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास पहले किया जाना चाहिये जिन्हें स्वयं श्रमिक तथा उनके परिवार के सदस्य सापेक्षतः अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं।

(5) श्रमिकों के लचीले प्रकार्यात्मक संगठन के विकास का सिद्धान्त

जीवन के किसी भी क्षेत्र में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कोई-न-कोई योजना एवं कार्यक्रम बनाना ही पड़ता है। अनवरत् रूप से योजनाबद्ध ढंग से कार्यक्रम बनाये जाते रहें और उन्हें सुचारू रूप से आयोजित किया जाता रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि श्रमिकों के संगठन का निर्माण किया जाय जिसमें विभिन्न प्रकार के श्रमिकों की अभिरुचियों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग रखे जायें। इन प्रतिनिधियों का चयन यथासम्भव मतैक्य के आधार पर किया जाना चाहिये किन्तु जहाँ मतैक्य सम्भव न हो वहाँ चयन बहुसंख्यक मत के आधार पर किया जाना चाहिये। इस संगठन के अन्तर्गत् श्रमिकों, उद्योग से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित सरकारी विभागों तथा लोकोपकारी एवं स्वयंसेवी संगठनों के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिये।

(6) श्रमिकों के सक्रिय सम्मिलन का सिद्धान्त

श्रमिकों के हितों का संरक्षण एवं सम्वर्द्धन करने के लिये आयोजित किये जाने वाले श्रम कल्याण कार्यक्रमों के साथ श्रमिकों में अपनत्व एवं लगाव की भावना तब तक विकसित नहीं की जा सकती जब तक कि उन्हें इन कार्यक्रमों के आयोजनों में सक्रिय रूप से सम्मिलित न किया जाय। 'श्रमिकों के लिये' कार्य करने के बजाय 'श्रमिकों के साथ' कार्य करना अधिक उपयुक्त है और इसलिये यह आवश्यक है कि श्रम कल्याण के नीति निर्धारण से लेकर कार्यक्रमों के आयोजन और मूल्यांकन तक के प्रत्येक स्तर पर श्रमिकों को निर्णय लेने एवं उनके द्वारा उपयुक्त समझे गये तरीकों का प्रयोग करते हुये कार्य करने के अवसर सुनिश्चित किये जाने चाहिये।

(7) प्रभावपूर्ण कार्यक्रम के निर्माण का सिद्धान्त

प्राथमिकता के आधार पर निश्चित की गयी अनुभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आयोजित किये जाने वाले श्रम कल्याण कार्यक्रमों की रूपरेखा इस प्रकार तैयार की जानी चाहिये कि वे सभी प्रकार के श्रमिकों की व्यक्त एवं सन्निहित, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन अभिरुचियों की सन्तुष्टि में सहायक सिद्ध हो सकें। कुछ कार्यक्रम ऐसे होने चाहिये जिनके परिणाम प्रत्यक्ष रूप से इनके आयोजन के साथ ही साथ दिखाई देने लगें तथा कुछ कार्यक्रम ऐसे होने

चाहिये जिनके परिणाम दीर्घकालीन योजना का अनुसरण करते हुये सापेक्षतः अधिक लम्बे समय के उपरान्त परिलक्षित हो सकें।

(8) सामुदायिक संसाधनों के अधिकतम सदुपयोग का सिद्धान्त

श्रम कल्याण कार्यक्रमों के लिये संसाधन आवश्यक होते हैं। सामान्यतः ये संसाधन मालिकों द्वारा प्रदान किये जाते हैं क्योंकि यह माना जाता है कि श्रमिक द्वारा किये गये काम से होने वाले लाभों का सबसे बड़ा हिस्सा मालिक ही लेता है। ऐसी उत्पादन की व्यवस्था में जिसमें श्रमिकों की सहभागिता को प्रत्येक स्तर पर सुनिश्चित किये जाने का प्रावधान हो तथा जिसमें उद्योग को होने वाले लाभों में श्रमिकों की उत्पादकता पर आधारित लाभांश प्राप्त करने का कानूनी प्रावधान हो, केवल यह स्वीकार करना कि श्रम कल्याण के लिये अपेक्षित साधन जुटाना मालिकों का दायित्व है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। श्रमिकों को भी विशेष रूप से अपने संगठनों के माध्यम से श्रम कल्याण कार्यक्रमों के लिये संसाधन जुटाना चाहिये। न केवल इतना बल्कि समाज को भी इस दिशा में आगे आना चाहिये क्योंकि श्रमिकों द्वारा किये गये श्रम से उद्योग के माध्यम से किये गये उत्पादन से समाज प्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित होता है। इसीलिये यह आवश्यक है कि श्रमकल्याण के लिये आवश्यक संसाधन जुटाने का दायित्व मालिक, श्रमिक और समाज तीनों द्वारा संयुक्त रूप से निभाया जाय। समुदाय में अनेक लोकोपकारी व्यक्ति एवं संगठन पाये जाते हैं जो इस कार्य में सहायता कर सकते हैं। इन व्यक्तियों एवं संगठनों की सहायता लेते हुये समुदाय में उपलब्ध संसाधनों का अधिक से अधिक सदुपयोग किया जाना चाहिये।

(9) मार्गदर्शन हेतु समुचित विशेषज्ञ सहायता उपलब्धि का सिद्धान्त

श्रमिकों से इस बात की अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे प्राथमिकता के आधार पर निश्चित की गयी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित कार्यक्रमों के निर्णय के सभी पहलुओं की जानकारी रखते हों। इसी प्रकार श्रम कल्याण के लिये संगठन में सम्मिलित मालिकों, उद्योग से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित सरकार के विभिन्न विभागों के प्रतिनिधियों तथा लोकोपकारी एवं स्वयंसेवी संगठनों के प्रतिनिधियों से भी इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वे आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बनाये जाने वाले कार्यक्रमों के सभी पहलुओं के बारे जानकारी रखते हों। चूंकि कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्यक्रमों के निर्माण में कुछ ऐसे पहलू होते हैं जिनमें तकनीकी ज्ञान एवं निपुणताओं की आवश्यकता होती है इसलिये समय-समय पर विभिन्न विशेषज्ञों को आमं-

त्रित करके उनसे आवश्यक परामर्श लेते हुए कार्यक्रमों का निर्माण किया जाना चाहिये; किन्तु कार्यक्रम-निर्माण से लेकर इसके कार्यान्वयन तक के प्रत्येक स्तर पर एक प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता की सेवायें ली जानी चाहिये क्योंकि श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम मानव संसाधनों के विकास से सम्बन्धित हैं तथा इनका आयोजन सौहार्दपूर्ण तथा अर्थपूर्ण मानवीय सम्बन्धों का आश्रय लेते हुए किया जाता है। सामाजिक कार्यकर्ता की उपस्थिति इस बात को सुनिश्चित करेगी कि कार्यक्रम सोद्देश्यपूर्ण बनेंगे तथा इनके कार्यान्वयन के दौरान उत्पन्न होने वाली अन्तर्क्रिया को आवश्यक मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा।

(10) सतत् मूल्यांकन एवं संशोधन का सिद्धान्त

श्रम कल्याण कार्यक्रमों का अनवरत् मूल्यांकन होते रहना चाहिये ताकि इनकी प्रगति, इनके कार्यान्वयन के दौरान आने वाली विभिन्न प्रकार की कठि-नाइयों तथा अपेक्षित संशोधनों की जानकारी प्राप्त हो सके और इनके आधार पर श्रम कल्याण से सम्बन्धित प्रत्येक स्तर के सभी पहलुओं में आवश्यक संशोधन किये जा सकें।

भारत में श्रम कल्याण सम्बन्धी नीति

भारत में श्रम कल्याण सम्बन्धी नीति का प्रारम्भ श्रम के शाही आयोग द्वारा 1931 में था दिये गये प्रतिवेदन से होता है जिसके अन्तर्गत् इस देश के औद्योगिक जीवन में पायी जाने वाली अनेक प्रकार की विसंगतियों का उल्लेख किया गया तथा श्रमिकों के कल्याण के लिए उद्योग के अन्तर्गत् अनेक प्रकार के कल्याण सम्बन्धी प्रावधान किये जाने, श्रमिकों को आवास प्रदान किये जाने तथा श्रम को संघीय तथा श्रम कल्याण के अधिक प्रभावपूर्ण आयोजन हेतु प्रान्तीय दोनों स्तरों का विषय बनाये जाने की संस्तुति की गयी।

भारत सरकार 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत् प्रान्तों को श्रम के विषय में निर्णय लेने का अधिकार प्रदान किया। 1937 में 9 प्रान्तों में बनी लोकप्रिय सरकारों ने औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण के क्षेत्र में सुधार करने के लिए उल्लेखनीय प्रयास किये। राष्ट्रीय योजना समिति ने श्रमिकों के आवास एवं कार्य की शर्तों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की संस्तुतियाँ कीं। लेबर इन्वे-स्टिगेशन कमिटी ने 1946 में श्रम कल्याण के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण संस्तुतियाँ कीं। स्वतन्त्रता के उपरान्त 1948 में पारित किये गये औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव में इस बात की स्पष्ट घोषणा की गयी कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए सौहार्दपूर्ण औद्योगिक सम्बन्ध आवश्यक हैं।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत् मौलिक अधिकारों के अध्याय में निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं :—

अनुच्छेद 19 (5) के अनुसार सभी नागरिकों को समितियों अथवा संघों को बनाने का अधिकार है। अनुच्छेद 23 के अनुसार मानव प्राणियों में रोजगार तथा बेगार और बर्बस श्रम के अन्य ऐसे ही स्वरूपों को निषिद्ध घोषित किया गया है। अनुच्छेद 24 के अन्तर्गत् इस बात का प्रावधान किया गया है कि 14 वर्ष की आयु से कम किसी बच्चे को किसी कारखाने अथवा खान में कार्य करने के लिए सेवायोजित नहीं किया जायेगा अथवा किसी खतरनाक सेवा में नहीं लगाया जायेगा।

संविधान के राज्य नीति निदेशक सिद्धान्तों, शीर्षक भाग iv में निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं :—

अनुच्छेद 39 (क) के अनुसार सभी नागरिकों, पुरुषों एवं स्त्रियों को समान रूप से, आजीविका के उपयुक्त साधनों का अधिकार है। अनुच्छेद 39 (ख) के अनुसार समुदाय के भौतिक संसाधनों के स्वामित्व एवं नियन्त्रण को इस प्रकार वितरित किया जायेगा कि इससे सामान्य हितों की सर्वोत्तम ढंग से पूर्ति हो सके। अनुच्छेद 39 (ग) में आर्थिक व्यवस्था के संचालन से सामान्य हितों के विरुद्ध सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों का संकेन्द्रण न होने की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 39 (घ) के अनुसार पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों के लिये समान कार्य के लिए समान वेतन होना चाहिये। अनुच्छेद (ङ) के अनुसार श्रमिकों, पुरुषों एवं स्त्रियों के स्वास्थ्य एवं शक्ति तथा बच्चों की नाजुक आयु का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता द्वारा नागरिक अपनी आयु अथवा शक्ति के लिए अनुपयुक्त व्यवसायों को अपनाने के लिये बाध्य न हों। अनुच्छेद 41 के अनुसार राज्य अपनी आर्थिक क्षमता एवं विकास की सीमाओं के अधीन कार्य के अधिकार को प्रदान करने हेतु प्रभावपूर्ण प्रावधान करेगा तथा बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी एवं असमर्थता तथा अनुपयुक्त आवश्यकता के अन्य मामलों में राज्य सहायता की व्यवस्था करेगा। अनुच्छेद 42 के अनुसार राज्य कार्य की न्यायोचित एवं मानवीय परिस्थितियों तथा मातृत्व सहायता को प्रदान करने हेतु प्रावधान करेगा। अनुच्छेद 43 के अनुसार राज्य उपयुक्त विधान अथवा आर्थिक संगठन अथवा किसी अन्य प्रकार के सभी श्रमिकों, कृषि सम्बन्धी, औद्योगिक अथवा अन्य के लिए कार्य, जीवन निर्वाह मजदूरी, उत्तम जीवन स्तर का आश्वासन प्रदान करने वाली कार्य की शर्तों तथा रिक्त समय एवं सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसरों से पूर्ण आनन्द लेने की व्यवस्था करेगा। अनुच्छेद 43 (क) के अनुसार राज्य उपयुक्त विधान अथवा अन्य किसी प्रकार से किसी उद्योग

में रत इकाइयों, संस्थानों अथवा अन्य संगठनों के प्रबन्ध में श्रमिकों की सहभागिता प्राप्ति हेतु उपाय करेगा।

पहली पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट रूप से कहा गया :—श्रम समस्याओं के प्रति हमारा अभिगम उन विचारों पर आधारित है जो एक ओर श्रमिक वर्ग के कल्याण की आवश्यकताओं से सम्बन्धित हैं तथा दूसरी ओर इनके आर्थिक स्थायित्व तथा देश की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान से······भोजन, वस्त्र एवं आवास के सम्बन्ध में श्रमिकों की बुनियादी आवश्यकताओं के लिये समुचित प्रावधान किया जाता है ताकि उन्हें स्वस्थ एवं कुशलता की स्थिति में बने रहने में सहायता प्रदान की जा सके। इन बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त, उन्हें अधिक अच्छी स्वास्थ्य सेवाओं, सामाजिक सुरक्षा के अधिक व्यापक प्रावधान, अधिक अच्छे शैक्षिक अवसरों तथा अधिक व्यापक मनोरंजनात्मक एवं सांस्कृतिक सुविधाओं के रूप में सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति में उनका उपयुक्त हिस्सा प्राप्त होना चाहिये। वास्तव में, समुदाय के सदस्य के रूप में श्रमिकों को किसी अन्य वर्ग को उपलब्ध समाज सेवाओं एवं सुविधाओं से पूर्ण लाभ मिलना ही चाहिये। तथापि, उनकी विशिष्ट कठिनाइयों का समाधान करने तथा उनकी विशिष्ट बाधाओं को दूर करने के लिये उपयुक्त उपाय अवश्य किये जाने चाहिये।·········कार्य की शर्तें ऐसी होनी चाहिये कि श्रमिकों के स्वास्थ्य की रक्षा हो सके और कार्य स्थल पर उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त सुविधाओं का प्रावधान होना चाहिये।[1]

दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह कहा गया है :—'स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ श्रमिकों के ऐसे अधिकारों जिनकी लम्बे समय से उपेक्षा की गयी को स्वीकार करते हुए कुछ आश्वासन दिये गये थे। पहली योजना में इन आश्वासनों को मूर्तरूप प्रदान करने तथा अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षाओं के अनुकूल श्रम को उचित बर्ताव देने के लिये प्रयास किया गया था···यद्यपि स्वीकार्य रूप से विशिष्टतः वर्तमान मजदूरी एवं उचित मजदूरी के बीच दूरी को तय करने तथा औद्योगिक आवास के मसलों में बहुत कुछ किया जाता है, प्रगति धीरे-धीरे हो सकती है···पहली पंचवर्षीय योजना में श्रमनीति के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है उसमें से बहुत कुछ भविष्य के लिये आधार के रूप में भी उपयुक्त है। तथापि, समाज के समाजवादी प्रतिमान, जिसकी संस्थिति में दूसरी पंचवर्षीय योजना बनायी गयी है, की पृष्ठभूमि में श्रमनीति में उप-

1. योजना आयोग, भारत सरकार, प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृ० 570।

युक्त परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। एक समाजवादी समाज की रचना न केवल मुद्रा सम्बन्धी प्रलोभनों मात्र पर आधारित होती है बल्कि समाज के प्रति सेवा तथा इन सेवाओं को स्वीकार करने की इच्छा के विचारों पर भी आधारित है। इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि श्रमिक को भी इस बात का अनुभव कराया जाय कि वह अपने ढंग से एक प्रगतिशील राज्य के निर्माण में सहायता कर रहा है।[1]

दूसरी पंचवर्षीय योजना में कोयला तथा अभ्रक खान श्रम कल्याण कोषों की उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए मैंगनीज उद्योग के लिये भी इसी प्रकार के कोष के स्थापित किये जाने का सुझाव दिया गया। इस योजना में कल्याण कोषों के एकीकृत प्रशासन पर बल दिया गया। ऐसे कल्याण कोषों की स्थापना के साथ-साथ श्रमिकों के कल्याण को प्रोत्साहित करने का उत्तरदायित्व मालिकों पर डाला गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है :— 'कल्याण सुविधाओं का प्रावधान विशिष्टतः मालिक का उत्तरदायित्व है और यथासम्भव इन क्रियाओं का आयोजन ऐसी स्थानीय समितियों की सहायता से किया जाना चाहिये जिनमें श्रमिकों के प्रतिनिधि भी हों।[2]

छोटे संस्थानों में भी कार्यरत श्रमिकों के लिये कल्याण सम्बन्धी प्रावधान किये जाने की बात दूसरी पंचवर्षीय योजना में की गयी और यह कहा गया कि 'हमें अधिक छोटे संस्थानों में सुविधायें संयुक्त रूप से प्रदान की जा सकती हैं।'[3] उचित संख्या में कल्याण केन्द्रों की स्थापना को भी श्रमिकों का ध्यान बँटाने और उनके परिवार के सदस्यों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये आवश्यक बताया गया। निर्माण उद्योग तथा परिवहन सेवाओं में कार्य करने वाले श्रमिकों की कार्य की परिस्थितियों को नियमित करने के लिये विधान बनाये जाने की संस्तुति की गयी। कृषि श्रमिकों के लिये भी कल्याण योजनाओं के चलाये जाने की बात कही गयी और कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम इन्हें और अधिक सेवायोजन प्रदान करने तथा न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण करने को प्राथमिकता प्रदान की गयी। योजना में महिला श्रमिकों को खतरनाक कार्यों से संरक्षण प्रदान करने, मातृत्व हित लाभों का प्रावधान करने तथा बच्चों के लिये क्रेशों की स्थापना करने की बात कही गयी।

---

1. योजना आयोग, दूसरी पंचवर्षीय योजना, भारत सरकार, पृ० 571-572।
2. के० एन० वैद, लेबर वेल्फेयर इन इण्डिया, पृ० 29।
3. तदैव।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में वैधानिक कल्याण सम्बन्धी प्रावधानों को और अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करने पर बल दिया गया और व्यावसायिक बीमारियों से संरक्षण प्रदान करने हेतु निरोधात्मक उपायों के अपनाये जाने की आवश्यकता को स्पष्ट किया गया। कल्याण कोषों के सन्दर्भ में कोयला एवं अभ्रक खान श्रम कल्याण कोषों की भाँति मैंगनीज तथा लौह खनिज खानों में भी इस प्रकार के श्रम कल्याण कोषों की स्थापना की बात कही गयी। सहकारी साख समितियों और सहकारी उपभोक्ता भण्डारों के औद्योगिक संस्थानों में स्थापित किये जाने पर बल दिया गया और इनके संचालन में श्रमिक संघों और स्वैच्छिक संगठनों को सम्मिलित किये जाने की बात कही गयी। छूट युक्त औद्योगिक आवास योजना के और अधिक प्रभावपूर्ण रूप से लागू किये जाने तथा श्रमिकों के लिये मनोरंजन एवं खेलकूद की सुविधाओं के जुटाये जाने का भी उल्लेख किया गया।

कृषि तथा असंगठित उद्योगों में कार्यरत् श्रमिकों के लिये अधिक अच्छी कार्य एवं आवास की दशाओं के प्रावधान किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना में मजदूरी प्रोत्साहकों और उत्पादकता के सम्बन्ध में विशिष्ट प्रावधान किये गये। मजदूरी के तीन तत्वों-न्यूनतम मजदूरी, जीवन निर्वाह से सम्बन्धित मजदूरी तथा उत्पादकता से सम्बन्धित मजदूरी का उल्लेख किया गया। कर्मचारी राज्य बीमा क्षेत्र को बढ़ाने की बात कही गयी। कोयला खान प्राविडेन्ट फण्ड तथा बोनस स्कीम अधिनियम तथा कर्मचारी प्राविडेन्ट फण्ड अधिनियम के अधीन पायी जाने वाली अंशदान दरों के समान अन्य उद्योगों में जिनम सापेक्षतः निम्न दरें पायी जाती हैं, दरों के बढ़ाने की बात कही गयी। कार्य की परिस्थितियों में सुधार करने के लिये दण्ड सम्बन्धी प्रावधानों को और कठोर बनाने तथा श्रम निरीक्षणालयों को अधिक सुदृढ़ बनाने की बात कही गयी। आवास की शर्तों के सन्दर्भ में छूट युक्त औद्योगिक आवास योजना, गोदी श्रम आवास योजना तथा बागान श्रम आवास योजना के लिए वित्तीय प्रावधान करने के साथ-साथ कोयला खान श्रम कल्याण कोष के अधीन आवास प्रदान करने हेतु एक पंचवर्षीय आवास कार्यक्रम भी बनाया गया।

मैंगनीज, चूना, डोलोमाइट, चूना पत्थर तथा अन्य खानों में कार्यरत् श्रमिकों के लिये कोयला खान श्रम कल्याण कोष की भाँति पृथक वैधानिक कल्याण कोषों की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। कल्याण कोषों के अधीन चल रहे कल्याण केन्द्रों की भाँति विधियों को और अधिक विकसित करने तथा कल्याण केन्द्रों के

प्रबन्ध में श्रमिकों की सहभागिता सुनिश्चित करने की बात् कही गयी। श्रमिकों को सांस्कृतिक एवं मनोरंजनात्मक अवसर प्रदान करने पर बल दिया गया। सहकारी भण्डारों तथा उचित मूल्य की दूकानों को छोटे संस्थानों और श्रमिकों के संकेन्द्रण वाले क्षेत्रों में स्थापित किये जाने की बात कही गयी। सहकारी साख समितियों के विकास पर अधिक बल देने का भी उल्लेख किया गया।

चौथी पंचवर्षीय योजना में श्रमिक शिक्षा हेतु नये क्षेत्रीय केन्द्रों को स्थापित करने तथा और अधिक बड़ी संख्या में श्रमिकों, श्रमिक शिक्षकों और शिक्षा अधिकारियों को प्रशिक्षित करने का प्रावधान किया गया। श्रमिक शिक्षा में श्रमिक संघों, राज्य सरकारों, स्थानीय निकायों, विश्वविद्यालयों एवं महा-विद्यालयों को और अधिक सम्मिलित करने का उल्लेख किया गया। श्रमिक शिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत अधिक उत्तरदायी तथा योग्यतापूर्ण श्रमिकों को दक्षता के उच्च स्तर प्रदान करने हेतु योजनायें चलायी जाने की बात कही गयी। श्रमिक शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से उद्योगों में कार्यरत् श्रमिकों में निरक्षरता दूर करने हेतु योजनायें चलाने का भी प्रावधान किया गया।

प्रशिक्षण हेतु औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थानों में अधिक लोगों को प्रवेश की व्यवस्था की गयी। शिशुक्षुता कार्यक्रमों को और अधिक व्यापक बनाने का प्रावधान किया गया। केन्द्रीय प्रशिक्षण संस्थानों की क्षमता में वृद्धि करने की भी बात कही गयी। बिखरे हुए प्रशिक्षण केन्द्रों को ग्रामीण प्रशिक्षण संस्थानों के रूप में पुर्नगठित किये जाने का उल्लेख किया गया ताकि ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण प्रदान किया जा सके। इलेक्ट्रानिक्स उपकरण एवं डाई बनाने जैसे कठिन उद्योगों तथा निम्नस्तरीय अधीक्षकों के लिये अधिक उच्च स्तर के प्रशि-क्षण का उल्लेख किया गया। सामाजिक सेवायोजन मानदण्डों की स्थापना हेतु सेवायोजन अध्यायों का एक सघन कार्यक्रम चलाये जाने की बात कही गयी।

कृषि श्रमिकों के सन्दर्भ में सेवायोजन के अवसरों को बढ़ाने तथा अर्द्ध-बेकारी को दूर कर, हरिजनों, भूमिहीन कृषि श्रमिकों तथा छोटे किसानों के लिये घर बनाने के लिये जमीन देने के कार्यक्रम को प्राथमिकता के आधार पर लागू करने, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को और अधिक प्रभावपूर्ण रूप से कार्यान्वित करने तथा भूमिहीन श्रमिकों को साख सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया; निर्माण एवं भवन सम्बन्धी कार्य में लगे हुए श्रमिकों के लिये विधान बनाने की बात कही गयी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में शिल्पकारों के प्रशिक्षण हेतु सेन्ट्रल स्टाफ ट्रेनिंग ऐण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, फोरमैन ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट तथा अनुदेशकों के लिये सेन्ट्रल

ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट को और अधिक प्रभावपूर्ण रूप से चलाने, ऐडवान्स्ड ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट को सुदृढ़ बनाने, शिशुक्षुता प्रशिक्षण कार्यक्रम का विस्तार करने तथा महिलाओं से सम्बन्धित व्यवसायों में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करने; सेवा-योजन सेवा से सम्बन्धित संगठनों को शक्तिशाली बनाने, कर्मचारी राज्य बीमा योजना को और अधिक व्यापक बनाने तथा श्रम कल्याण केन्द्रों को गठित करने का प्रावधान किया गया।

छठीं पंचवर्षीय योजना में विभिन्न श्रम विधानों के अधीन किये गये प्राव-धानों को प्रभावपूर्ण रूप से लागू करने, कर्मचारी राज्य बीमा योजना तथा कर्मचारी प्राविडेन्ट फण्ड एवं पारिवारिक पेंशन योजना का विस्तार करने पर बल दिया गया। राज्य सरकारों द्वारा कृषि श्रमिकों, शिल्पकारों, दस्तकारों, हथकरघा बुनकरों, मछली पकड़ने वालों, चमंकारों तथा ग्रामीण एवं नगरीय अंचलों में अन्य असंगठित श्रमिकों के लाभ हेतु राज्य सरकारों द्वारा विशिष्ट कार्यक्रमों के चलाये जाने की आवश्यकता का भी उल्लेख किया गया। श्रमिक शिक्षा कार्यक्रम में विस्तार किये जाने एवं गुणात्मक सुधार लाये जाने की बात कही गयी। महिला श्रमिकों के लिये विशिष्ट शैक्षिक कार्यक्रम बनाने का भी उल्लेख किया गया। संगठित क्षेत्र में कर्मचारी राज्य बीमा, कर्मचारी प्रावि-डेन्ट फण्ड तथा पारिवारिक पेंशन योजना में सुधार करने, प्रबन्ध में सहभागिता के माध्यम से श्रमिकों एवं मालिकों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करने पर बल दिया गया।

ग्रामीण क्षेत्र में विशेष रूप से कृषि, मछली पकड़ने, बुनाई का काम करने तथा चर्म-शोधन का काम करने में लगे हुए श्रमिकों एवं दस्तकारों के काम के लिये कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों के राज्य सरकारों द्वारा आवश्यक रूप से चलाये जाने का भी उल्लेख किया गया। श्रम कल्याण एवं सुरक्षा के बीच पर्याप्त संतुलन न होने के कारण सामान्य क्षेत्रों में प्रदान की जाने वाली ऐसी सेवाओं के एकीकरण की भी बात कही गयी।

इस योजना में कृषि में मजदूरी के संशोधन, बंधुआ मजदूरों, बाल श्रमिकों, महिला श्रमिकों, एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर कार्य करने वाले श्रमिकों, फार्मों पर कार्य करने वाले श्रमिकों, प्रव्रजनशील गड़ेरियों तथा दुग्धशालाओं के पशुओं के मालिकों के सम्बन्ध में भी विशिष्ट प्रावधान किये गये।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में नये अवसरों के सृजन के साथ-साथ बीमार उद्योगों के श्रमिकों का पुनर्वास करने, प्रशिक्षण में गुणात्मक सुधार लाने, असंगठित क्षेत्र में श्रमिकों की स्थिति को सुधारने पर बल दिया गया। असं-

गठित क्षेत्र के श्रमिकों के सन्दर्भ में सेवायोजन के अवसरों को बढ़ाने, उनमें निपुणताओं को विकसित करने तथा उनमें उनके संरक्षण हेतु वर्तमान कानूनों एवं कार्यक्रमों की चेतना जागृत करने का प्रावधान किया गया। बंधुआ मजदूरों के लिये संरक्षणात्मक उपायों के अपनाये जाने, उनकी पहचान किये जाने तथा उनका पुनर्वास किये जाने का उल्लेख किया गया। बाल श्रमिकों के सन्दर्भ में अधिक उन्नत कानून के कार्यान्वियन की व्यवस्था किये जाने की बात कही गयी। महिला श्रमिकों के सन्दर्भ में उन्हें समुचित व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान किये जाने, विपणन बाजारों की स्थापना किये जाने, श्रमिक संघों तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ाने तथा महिलाओं से सम्बन्धित कानूनों को और अधिक व्यापक बनाने पर बल दिया गया।

सारांश में, पहली पंचवर्षीय योजना में श्रम कल्याण पर व्यय हेतु 6.92 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना में 29.17 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी। इसमें कोयला तथा अभ्रक खान कल्याण कोषों की भाँति मैंगनीज खान कल्याण कोष के निर्माण का सुझाव दिया गया। तीसरी योजना में कल्याण का विशिष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं किया गया तथा कुशलता को बनाये रखने हेतु संस्थानों से कल्याण को सुनिश्चित करने पर बल दिया गया। चौथी पंचवर्षीय योजना में कर्मचारी राज्य बीमा योजना, श्रमिक शिक्षा, सुरक्षा तथा अन्य विविध प्रकार के कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम चलाये गये और श्रम तथा श्रम कल्याण के लिये 45 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में प्राविधिक प्रशिक्षण, महिला श्रमिकों के कल्याण इत्यादि पर विशेष बल दिया गया और श्रम कल्याण हेतु 50.4 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई। छठीं पंचवर्षीय योजना में शिल्पकार प्रशिक्षण, शिशुक्षुता प्रशिक्षण, सेवा योजन सेवाओं, बंधुआ मजदूरों के पुनर्वासन इत्यादि के आयोजन हेतु 161.9 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना में 333.72 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया और बड़े पैमाने पर श्रमिकों के कल्याण के लिये कार्यक्रम चलाने की व्यवस्था की गयी।

श्रम कल्याण सम्बन्धी विधान

समय-समय पर केन्द्र एवं विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा श्रम कल्याण से सम्बन्धित कानून बनाये जाते रहे हैं। यहाँ पर केवल केन्द्रीय कानूनों का उल्लेख किया जा रहा है। इनमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं :—

1–अभ्रक खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम, 1946;

2–कोयला खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम, 1947;

3--चूना पत्थर एवं डोलोमाइट खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम, 1972;

4--बीड़ी श्रमिक कल्याण अधिभार अधिनियम, 1976;

5--बीड़ी श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम, 1976;

6--लौह खनिज खान, मैंगनीज खनिज खान तथा क्रोम खनिज खान श्रम कल्याण अधिभार अधिनियम, 1976;

7--लौह खनिज, मैंगनीज खनिज एवं क्रोम खनिज श्रम कल्याण कोष अधिनियम, 1976;

8--सिनेमा श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम, 1981।

1--अभ्रक खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम 1946

इस अधिनियम की धारा--2 के अन्तर्गत् इस बात का प्रावधान किया गया है कि निर्यात किये जाने वाले अभ्रक पर केन्द्र सरकार सरकारी गजट में अधिसूचना द्वारा निश्चित की गयी तिथि से निर्यात कर लगा सकती है जो उसके विक्रय मूल्य के 6.25 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। अभ्रक खान श्रम कल्याण कोष में जमा धनराशि का धारा--3 के अन्तर्गत किये गये प्रावधानों के अनुसार निम्नलिखित मदों पर व्यय किया जायेगा :--

(क) अभ्रक खान श्रमिकों के सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सफाई में सुधार; बीमारी की रोकथाम तथा चिकित्सकीय सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार; जल आपूर्ति एवं धोने की सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार; शैक्षिक सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार; आवास एवं पोषण, सामाजिक परिस्थितियों में सुधार एवं मनोरंजनात्मक सुविधाओं के प्रावधान सहित जीवन के स्तर में सुधार तथा कार्यस्थल तक तथा कार्यस्थल में घर तक यातायात के प्रावधान हेतु उपाय।

(ख) राज्य सरकार, स्थानीय प्राधिकरण अथवा अभ्रक खान के मालिक, एजेन्ट अथवा प्रबन्धक को केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित किसी ऐसी अनुमोदित योजना हेतु जिस पर कोष की धनराशि का व्यय किया जा सकता है, को वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु उपाय;

(ग) सलाहकार समिति-सदस्यों के भत्तों तथा अधिकारियों के वेतन एवं भत्तों सहित कोष के प्रशासन की लागत हेतु उपाय; तथा

(घ) केन्द्र सरकार द्वारा निश्चित किसी अन्य व्यय की पूर्ति हेतु उपाय।

2--कोयला खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम 1947 :

इस अधिनियम की धारा--3 के अन्तर्गत् उन क्षेत्रों से जिन पर यह अधिनियम लागू है, भेजे जाने वाले सभी कोयले तथा कोक पर केन्द्र सरकार द्वारा उत्पादन कर लगाया जायेगा जो प्रति टन 25 पैसे से कम तथा 75 पैसे से

अधिक नहीं होगा। धारा–4 के अनुसार लगाये गये कर से प्राप्त हुई धनराशि को रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, कलकत्ता में कोयला खान श्रम आवास एवं सामान्य कल्याण कोष में जमा किया जायेगा। इसे दो अलग खातों में विभाजित किया जायेगा। एक खाते का नाम 'कोष का आवास खाता' तथा दूसरे का नाम 'कोष का सामान्य कल्याण खाता' दिया जायेगा। धारा–5 के अनुसार कोष का व्यय निम्नलिखित मदों पर किया जायेगा :

1–कोष के प्रशासन एवं कर्मचारियों के वेतन एवं भत्तों के लिये;

2–ऐसे खदानों को जो सन्तोषजनक स्तर की चिकित्सा सेवायें प्रदान कर रहे हैं;

3–कोयला खान उद्योग में लगे हुए श्रमिकों के कल्याण को प्रोत्साहित करने हेतु।

कोष के सामान्य कल्याण खाते में जमा धनराशि का व्यय निम्नलिखित मदों हेतु किया जा सकता है :

(क) कोयला खान उद्योग में लगे हुए श्रमिकों के सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सफाई में सुधार, बीमारी की रोकथाम, चिकित्सकीय सुविधाओं के प्रावधान तथा वर्तमान चिकित्सकीय सुविधाओं में सुधार; जल आपूर्ति तथा धोने की सुविधाओं के प्रावधान तथा वर्तमान आपूर्ति एवं सुविधाओं में सुधार; शैक्षिक सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार; पोषण, सामाजिक परिस्थितियों में सुधार; तथा मनोरंजनात्मक सुविधाओं के प्रावधान सहित जीवन के स्तरों में सुधार तथा कार्यस्थल तक तथा वापसी के यातायात के प्रावधान हेतु;

(ख) राज्य सरकार, स्थानीय निकाय अथवा कोयला खान के मालिक, अभिकरण अथवा प्रबन्धक को केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित किसी ऐसी योजना जिस पर कोष के सामान्य कल्याण खाते से धनराशि का व्यय किया जा सकता है, को चलाने के लिये सहायता प्रदान करने हेतु;

(ग) सलाहकारी समिति के सदस्यों के भत्तों तथा प्रशासन की लागत हेतु;

(घ) केन्द्र सरकार द्वारा निर्देशित किसी अन्य व्यय हेतु।

3—चूना पत्थर तथा डोलोमाइट खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम, 1972

इस अधिनियम की धारा 5 के अधीन केन्द्र सरकार सरकारी गजट में जारी की गयी अधिसूचना की तिथि से किसी खान से निकाले जाने वाले ऐसे चूना-पत्थर तथा डोलोमाइड पर एक अधिभार लगा सकती है जिसे किसी कारखाने के मालिक को बेचा जाय अथवा जिसका प्रयोग खान के मालिक

द्वारा सीमेण्ट, लोहा अथवा इस्पात का निर्माण करने हेतु किया जाय। यह उत्पादन शुल्क एक रुपये प्रति मीट्रिक टन से अधिक नहीं होगा। धारा 4 के अनुसार चूना, पत्थर अथवा डोलोमाइट पर लगाया गया उत्पादन शुल्क कारखाने के मालिक द्वारा, चूना-पत्थर अथवा डोलोमाइट के विक्रेता द्वारा तथा केन्द्र सरकार को सीमेण्ट, लोहा अथवा इस्पात बनाने हेतु इसका प्रयोग करने वाले खान के मालिक द्वारा निर्धारित की गयी अवधि में किया जायेगा। धारा–5 के अनुसार इस अधिनियम के अधीन लगाये गये उत्पाद–शुल्क में से इसे एकत्रित करने की धनराशि को घटाकर इसके समान धनराशि (इस धनराशि के निवेश से होने वाली आय अथवा केन्द्र सरकार द्वारा इस अधिनियम हेतु प्राप्त किसी अन्य धनराशि सहित) कोष में जमा की जायेगी जिसे चूना-पत्थर एवं डोलोमाइट श्रम कल्याण कोष कहा जायेगा। इस कोष का व्यय उन मदों पर किया जायेगा जिन्हें केन्द्र सरकार चूना-पत्थर अथा डोलोमाइट खानों के श्रमिकों के कल्याण हेतु उचित समझती है। विशेष रूप से इस कोष से व्यय निम्नलिखित मदों पर किया जा सकता है :—

(क) चूना-पत्थर अथवा डोलोमाइट खानों के श्रमिकों के लाभ, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सफाई में सुधार, बीमारी की रोकथाम एवं चिकित्सकीय सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार, जल आपूर्ति एवं धोने की सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार, शैक्षिक सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार तथा आवास एवं पोषण, मनोरंजनात्मक सुविधाओं के प्रावधान जैसी सामाजिक परिस्थितियों में सुधार सहित जीवन के स्तर में सुधार हेतु;

(ख) राज्य सरकार, स्थानीय प्राधिकरण अथवा चूना-पत्थर या डोलोमाइट खान के मालिक को केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित चूना-पत्थर अथवा डोलोमाइट खानों में सेवायोजित व्यक्तियों के कल्याण से सम्बन्धित योजना को चलाने के लिये ऋण अथवा छूट प्रदान करने हेतु :—

(ग) चूना-पत्थर अथवा डोलोमाइट खानों के ऐसे मालिकों को जो इन खानों में सेवायोजित व्यक्तियों के लाभ हेतु केन्द्रीय सरकार के सन्तोष की निर्धारित मानदण्डों वाली कल्याण सुविधाओं का प्रावधान करते हैं, वार्षिक सहायता प्रदान करने हेतु;

(घ) सलाहकारी समिति एवं केन्द्रीय सलाहकारी समिति के सदस्यों के भत्तों तथा नियुक्ति किये गये व्यक्तियों के वेतन एवं भत्तों की पूर्ति हेतु तथा

(ङ) केन्द्र सरकार द्वारा निर्देशित किसी अन्य व्यय हेतु।

4. बीड़ी श्रमिक कल्याण अधिभार अधिनियम, 1976

इस अधिनियम की धारा 3 के अनुसार केन्द्र सरकार द्वारा सरकारी गजट में की गई अधिसूचना में निर्धारित तिथि से बीड़ी के उत्पादन से संबंधित किसी उद्देश्य के लिये गोदाम से किसी व्यक्ति को प्रदान की गई तम्बाकू पर एक रुपये प्रति० कि० ग्रा० तक का अधिभार बीड़ी श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम 1976 के लिये लगाया तथा एकत्र किया जायेगा।

5. बीड़ी श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम, 1976

इस अधिनियम की धारा—3 के अनुसार एक बीड़ी श्रमिक कल्याण कोष की स्थापना की जायेगी जिसमें बीड़ी श्रमिक कल्याण अधिभार अधिनियम, 1976 की धारा 4 से संग्रहीत धनराशि तथा इसके निवेश से होने वाली किसी आय अथवा इस अधिनियम हेतु केन्द्र सरकार को प्राप्त किसी अन्य धनराशि को जमा किया जायेगा। धारा 4 के अनुसार इस कोष का व्यय उन मदों पर किया जायेगा जिन्हें केन्द्र सरकार बीड़ी संस्थानों में लगे हुए व्यक्तियों के कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक अथवा उपयुक्त समझती है। विशिष्ट रूप से इस धनराशि का उपयोग निम्नलिखित हेतु किया जायेगा—

(क) बीड़ी संस्थानों में लगे हुए व्यक्तियों के लाभ हेतु जन स्वास्थ्य एवं सफाई में सुधार, बीमारी की रोकथाम तथा चिकित्सकीय सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार, जल आपूर्ति एवं धोने की सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार, शैक्षिक सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार, जीवन स्तर, पोषण एवं सामाजिक परिस्थितियों में सुधार सहित आवास एवं मनोरंजनात्मक सुविधाओं का प्रावधान एवं सुधार, निर्धारित प्रकार की अन्य कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं का प्रावधान एवं सुधार की लागत हेतु;

(ख) राज्य सरकार, स्थानीय प्राधिकरण अथवा मालिक को बीड़ी संस्थानों में लगे हुये व्यक्तियों के कल्याण से सम्बन्धित तथा केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित किसी योजना के सहायतार्थ ऋण अथवा छूट प्रदान करने हेतु;

(ग) राज्य सरकार अथवा स्थानीय प्राधिकरण अथवा मालिक जो केन्द्र सरकार के निर्धारित मानदण्डों वाली सुविधायें बीड़ी संस्थानों में लगे हुए व्यक्तियों के लाभ हेतु प्रदान करते हैं, को वार्षिक रूप से सहायता प्रदान करने हेतु;

(घ) सलाहकारी समितियों तथा केन्द्रीय सलाहकारी समिति के सदस्यों के भत्तों तथा नियुक्त किये गये व्यक्तियों के वेतनों एवं भत्तों को प्रदान करने हेतु तथा

(ङ) केन्द्र सरकार द्वारा निर्देशित किसी अन्य व्यय हेतु ।

6. लौह खनिजखान, मैंगनीजखनिजखान तथा क्रोम खनिज खान श्रम कल्याण अधिभार अधिनियम, 1976

इस अधिनियम की धारा 3 के अनुसार केन्द्र सरकार द्वारा सरकारी गजट में जारी की गयी अधिसूचना निर्धारित की गयी तिथि से लौह खनिज खान, मैंगनीज खनिज खान तथा क्रोम खनिज खान श्रम कल्याण कोष, 1976 हेतु एक अधिभार लगाया एवं एकत्रित किया जायेगा । यह अधिभार किसी खान में उत्पादित सभी लौह खनिज पर इसके निर्यात किये जाने की स्थिति में सीमा शुल्क अथवा जहाँ यह लौह खनिज किसी धातु निर्माण कारखाने के मालिक को बेचा अथवा प्रदान किया जाता है अथवा किसी ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है जो इसे किसी धातु निर्माण कारखाने को बेचता है अथवा जिसका खान के मालिक द्वारा किसी धातु निर्माण कारखाने में उपयोग किया जाता है, वहाँ पर उत्पाद शुल्क लगाते हुए एकत्रित किया जायेगा । इस अधिभार की दर केन्द्र सरकार द्वारा समय-समय पर सरकारी गजट में अधिसूचना द्वारा निर्धारित की जायेगी जो लौह खनिज के प्रति मीट्रिक टन के लिये एक रुपये से अधिक नहीं होगी । इसके अतिरिक्त सभी मैंगनीज खनिज को किसी धातु निर्माण कारखाने के मालिक को अथवा किसी ऐसे व्यक्ति को जो इसे किसी धातु निर्माण कारखाने को बेच देता है अथवा दिया जाता है अथवा खान के मालिक द्वारा किसी लौह खनिज कारखाने में प्रयोग में लाया जाता है, वहाँ उत्पाद शुल्क से एकत्रित किया जायेगा । इस अधिभार की दर केन्द्र सरकार द्वारा समय-समय पर सरकारी गजट में अधिसूचना जारी करते हुए निर्धारित की जायेगी जो मैंगनीज खनिज के प्रति मीट्रिक टन के लिये 6 रुपये से अधिक नहीं होगी । धारा 4 के अनुसार सीमा शुल्क उस व्यक्ति द्वारा केन्द्र सरकार को प्रदान किया जायेगा जिसे लौह खनिज अथवा मैंगनीज खनिज का निर्यात किया जाता है । उत्पाद शुल्क धातु निर्माण कारखाने के मालिक को उस व्यक्ति द्वारा प्रदान किया जायेगा जिसके द्वारा इसे बेचा अथवा प्रदान किया जाता है तथा यदि लौह खनिज अथवा मैंगनीज खनिज के मालिक द्वारा इसका प्रयोग किसी धातु निर्माण कारखाने में स्वयं किया जाता है तो इसका भुगतान ऐसी खान के मालिक द्वारा केन्द्र सरकार को दिया जायेगा । अधिभार का यह भुगतान निर्धारित की गयी अवधि में किया जायेगा । धातु निर्माण के कारखाने के मालिक को अधिभार का भुगतान किये जाने की स्थिति में उसका यह दायित्व होगा कि वह इसे एकत्रित कर निर्धारित अवधि के दौरान केन्द्र सरकार को इसका भुगतान कर दे । केन्द्र सरकार को प्राप्त हुआ अधिभार भारत के संचित

कोष में जमा किया जायेगा। यदि केन्द्र सरकार यह समझती है कि इस अधिभार की धनराशि को एकत्रित करने में पर्याप्त व्यय होता है तो यह धातु निर्माता कारखाने अथवा इनके किसी समूह को इस अधिभार से मुक्त भी कर सकती है।

7. लौह खनिज, मैंगनीज खनिज एवं क्रोम खनिज श्रम कल्याण कोष अधिनियम 1976

इस अधिनियम की धारा 3 के अधीन लौह खनिज खान एवं मैंगनीज खनिज खान श्रम कल्याण कोष की स्थापना की जायेगी जिसमें केन्द्र सरकार द्वारा लौह खनिज एवं मैंगनीज खनिज पर लौह खनिज खान, मैंगनीज खनिज खान एवं क्रोम खनिज श्रम कल्याण अधिभार अधिनियम के अधीन लगाये गये सीमा शुल्क एवं उत्पाद शुल्क से एकत्रित करने पर लगी धनराशि को निकाल कर शेष धनराशि तथा इसके अतिरिक्त इस धनराशि के निवेश से होने वाली कोई भी आय तथा केन्द्र सरकार को इस अधिनियम हेतु प्राप्त हुई अन्य धनराशि जमा की जायेगी। धारा 4 के अनुसार इस कोष का उपयोग लौह खनिज खानों तथा मैंगनीज खनिज खानों में सेवायोजित व्यक्तियों के कल्याण हेतु केन्द्र सरकार द्वारा आवश्यक अथवा उचित समझी गयी योजनाओं पर व्यय हेतु किया जायेगा। विशिष्ट रूप से इस कोष से निम्नलिखित मदों पर व्यय किया जायेगा :

(क) लौह खनिज खानों अथवा मैंगनीज खनिज खानों में सेवायोजित व्यक्तियों के जन-स्वास्थ्य एवं सफाई के प्रावधान एवं सुधार, बीमारी की रोक-थाम तथा चिकित्सकीय सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार, जल आपूर्ति एवं धुलाई की सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार, शैक्षिक सुविधाओं के प्रावधान व सुधार, जीवन स्तर, पोषण एवं सामाजिक परिस्थितियों में सुधार सहित आवास एवं मनोरंजनात्मक सुविधाओं के प्रावधान एवं सुधार तथा घर से कार्य स्थल तक तथा वहाँ से घर वापसी तक यातायात के प्रावधान पर होने वाले व्यय की पूर्ति हेतु;

(ख) किसी राज्य सरकार, स्थानीय प्राधिकरण अथवा लौह खनिज खान अथवा मैंगनीज खनिज खान के मालिक द्वारा इन खानों में सेवायोजित व्यक्तियों के कल्याण से सम्बन्धित किसी उद्देश्य हेतु केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित किसी योजना की सहायतार्थ ऋण अथवा छूट प्रदान करने हेतु;

(ग) लौह खनिज खानों अथवा मैंगनीज खानों के ऐसे मालिकों जो इन खानों में सेवायोजित व्यक्तियों के लाभ हेतु केन्द्र सरकार के सन्तोष के निर्धारित मानदण्डों वाले कल्याण सम्बन्धी सेवायें प्रदान करते हैं, को वार्षिक अनुदान प्रदान करने हेतु;

(घ) सलाहकार समिति तथा केन्द्रीय सलाहकार समिति के सदस्यों के भत्तों तथा सेवायोजित किये गये व्यक्तियों के वेतनों एवं भत्तों की पूर्ति हेतु तथा

(ङ) केन्द्र सरकार द्वारा निर्देशित किसी अन्य व्यय की पूर्ति हेतु ।

8. सिनेमा श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम 1981

इस अधिनियम की धारा 3 के अन्तर्गत् सिनेमा श्रमिक कल्याण कोष की स्थापना की व्यवस्था की गयी है जिसके अन्तर्गत् निम्नलिखित धनराशियों को जमा किया जायेगा :—

(क) सिनेमा श्रमिक कल्याण अधिभार अधिनियम 1981 की धारा 5 के अधीन लगाये गये उत्पाद शुल्क से इसकी वसूली की धनराशि को घटाने के पश्चात् बची हुई धनराशि से केन्द्र सरकार द्वारा प्रावधानित धनराशि;

(ख) केन्द्र सरकार द्वारा इस कोष में दिया गया कोई भी अनुदान;

(ग) इस अधिनियम हेतु दी गयी दोनों से प्राप्त कोई भी धनराशि तथा

(घ) इस कोष में पायी जाने वाली धनराशि के निवेश से होने वाली कोई आय ।

धारा 4 के अनुसार इस कोष का उपयोग सिनेमा श्रमिकों के कल्याण को प्रोत्साहित करने हेतु केन्द्र सरकार द्वारा आवश्यक एवं उपयुक्त समझे गये उपायों के सम्बन्ध में किये गये किसी व्यय की पूर्ति हेतु किया जा सकता है। विशिष्ट रूप से इसका व्यय निम्नलिखित मदों पर किया जायेगा :—

(क) सिनेमा श्रमिकों के लाभ हेतु केन्द्र सरकार द्वारा निर्धारित कल्याण कार्यक्रमों की लागत का वहन करने हेतु;

(ख) अकिंचन सिनेमा श्रमिकों को अनुदान अथवा ऋण के रूप में सहायता प्रदान करने हेतु;

(ग) केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित सिनेमा श्रमिकों के कल्याण हेतु किसी योजना की सहायतार्थ धनराशि की स्वीकृति हेतु;

(घ) सलाहकार समितियों तथा केन्द्रीय सलाहकार समिति के सदस्यों के भत्तों तथा नियुक्त किये गये कर्मचारियों के वेतनों एवं भत्तों के भुगतान हेतु तथा

(ङ) केन्द्र सरकार द्वारा निर्देशित किसी अन्य व्यय हेतु।

श्रमिकों के कल्याण को प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित करने वाले इन अधिनियमों के अतिरिक्त निम्नलिखित अधिनियमों के अन्तर्गत् भी श्रमिकों के कल्याण हेतु प्रावधान किये गये हैं :—

(1) कारखाना अधिनियम 1948;

(2) बागान श्रम अधिनियम 1951;

(3 खान अधिनियम 1952;

(4) शिशुक्षुता अधिनियम 1961;

(5) मोटर परिवहन श्रमिक अधिनियम 1961;

(6) बीड़ी एवं सिगार श्रमिक (सेवायोजन की शर्तें) अधिनियम 1966;

(7) अनुबन्धित श्रम (विनियमन एवं उन्मूलन) अधिनियम 1970;

(8) अन्तर्राज्यीय प्रव्रजनशील श्रमिक (सेवायोजन विनियमन एवं सेवा की शर्तें) अधिनियम 1979।

यह उल्लेखनीय है कि वर्णित विधानों के उन्हीं प्रावधानों का विस्तृत वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है जो कल्याण, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा मनोरंजन से सम्बन्धित हैं तथा उन प्रावधानों का वर्णन नहीं किया जा रहा है जो सेवा की शर्तों, यथा मजदूरी, भत्तों, बोनस, कार्य के घण्टों इत्यादि तथा सामाजिक सुरक्षा, यथा प्राविडेन्ट फण्ड, पेंशन, ग्रेच्युटी, मातृत्व हित लाभ, चिकित्सीय लाभ, आश्रित हित लाभ, व्यावसायिक बीमारी तथा कार्य दुर्घटना पर क्षतिपूर्ति हेतु, दण्ड संस्कार लाभ इत्यादि तथा सुरक्षा यथा मशीनों का ढँका जाना, गड्ढों का ढँका जाना इत्यादि से सम्बन्धित हैं।

1. कारखाना अधिनियम 1948

इस अधिनियम के अध्याय–3 में स्वास्थ्य तथा अध्याय–5 में कल्याण सम्बन्धी प्रावधान किये गये हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रावधानों में धारा 11 के अन्तर्गत् सफाई, धारा 12 के अन्तर्गत् अवशिष्टों बहिस्रावों का निस्तारण, धारा 15 के अन्तर्गत् वातायन एवं तापक्रम, धारा 13 के अन्तर्गत् कृत्रिम आर्द्रता धारा 16 के अन्तर्गत् भीड़-भाड़, धारा 17 के अन्तर्गत् प्रकाश, धारा 18 के अन्तर्गत् पेयजल, धारा 19 के अन्तर्गत् शौचालयों एवं पेशाबघरों तथा धारा 20 के अन्तर्गत् थूकदानों से सम्बन्धित प्रावधान किये गये हैं। कल्याण सम्बन्धी प्रावधानों में धारा 42 के अन्तर्गत् धोने की सुविधाओं, धारा 43 के अन्तर्गत् कपड़ों के भण्डारण एवं सुखाने हेतु सुविधाओं, धारा 44 के अन्तर्गत् बैठने के लिये सुविधाओं, धारा 45 के अन्तर्गत् प्राथमिक चिकित्सा उपकरणों, धारा 46 के अन्तर्गत जलपानगृहों, धारा

47 के अन्तर्गत् छायायुक्त स्थानों आरामगृहों तथा भोजन के स्थानों, धारा-48 के अन्तर्गत् क्रेशों तथा धारा 49 एवं 50 के अन्तर्गत् कल्याण अधिकारियों की व्यवस्था की गयी है।

2. बागान श्रम अधिनियम 1951

इस अधिनियम के अध्याय 4 के अन्तर्गत् कल्याण सम्बन्धी प्रावधान किये गये हैं जिनमें धारा 11 के अन्तर्गत् जलपानगृहों, धारा 12 के अन्तर्गत् क्रेशों, धारा 13 के अन्तर्गत् मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं, धारा-14 के अन्तर्गत् शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं, धारा 15 तथा 16 के अन्तर्गत् आवास सम्बन्धी सुविधाओं, धारा 17 के अन्तर्गत् छात्रों, कम्बलों, बरसातियों जैसी अन्य सुविधाओं तथा धारा 18 के अन्तर्गत् कल्याण अधिकारियों का प्रावधान किया गया है।

3. खान अधिनियम 1952

इस अधिनियम के अध्याय 4 में स्वास्थ्य एवं सुरक्षा तथा अध्याय 8 के अन्तर्गत् कल्याण से सम्बन्धित प्रावधानों के अधीन धारा 19 के अन्तर्गत् पेयजल, धारा 20 के अन्तर्गत् सफाई तथा धारा 21 के अन्तर्गत् चिकित्सकीय उपकरणों की व्यवस्था की गयी है। धारा 58 की उपधारा Q के अन्तर्गत् यह प्रावधान किया गया है कि केन्द्र सरकारी गजट में अधिसूचना जारी करते हुए ऐसी प्रत्येक खान में जिसमें 500 अथवा इससे अधिक व्यक्ति सामान्यतः सेवायोजित किये जाते हैं, निर्धारित संख्या में कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति तथा उनकी अर्हताओं, सेवा की शर्तों एवं कर्तव्यों से सम्बन्धित नियम बना सकती है।

4. शिशुक्षुता अधिनियम 1961

इस अधिनियम की धारा 14 में शिशुक्षुओं के स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं कल्याण सम्बन्धी प्रावधान किये गये हैं।

5. मोटर परिवहन श्रमिक अधिनियम 1961

इस अधिनियम के अध्याय 4 में कल्याण एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रावधान किये गये हैं। धारा 8 के अन्तर्गत् जलपान गृहों, धारा 9 के अन्तर्गत् आराम-गृहों, धारा 10 के अन्तर्गत वर्दी धारा 11 के अन्तर्गत् चिकित्सकीय सुविधाओं तथा धारा 12 के अन्तर्गत् प्राथमिक चिकित्सा सहायता की व्यवस्था की गयी।

6. बीड़ी एवं सिगार श्रमिक (सेवायोजन की शर्तें) अधिनियम 1966

इस अधिनियम की धारा 8 के अन्तर्गत् सफाई, धारा 9 के अन्तर्गत् वातायन

धारा 10 के अन्तर्गत् भीड़भाड़, धारा 11 के अन्तर्गत् पेयजल, धारा 12 के अन्तर्गत् शौचालयों एवं मूत्रालयों, धारा 13 के अन्तर्गत् धोने की सुविधाओं, धारा 14 के अन्तर्गत् क्रेशों, धारा 15 के अन्तर्गत् प्राथमिक चिकित्सा तथा धारा 16 के अन्तर्गत् जलपानगृहों की व्यवस्था की गयी है।

7. अनुबन्धित श्रम (विनियमन एवं उन्मूलन) अधिनियम 1970

इस अधिनियम की धारा की धारा 16 में जलपानगृहों, धारा 17 के अन्तर्गत् विश्रामगृहों, धारा 18 के अन्तर्गत् स्वस्थ पेयजल, शौचालयों एवं मूत्रालयों तथा धोने की सुविधाओं सहित अन्य सुविधाओं तथा धारा 19 के अन्तर्गत् प्राथमिक चिकित्सा सुविधाओं का उल्लेख किया गया है।

8. अन्तर्राज्यीय प्रव्रजनशील श्रमिक (सेवायोजन विनियमन एवं सेवा की शर्तें) अधिनियम 1979

इस नियम के अध्याय 5 में कल्याण एवं अन्य सुविधाओं का उल्लेख किया गया है। धारा 16 के अन्तर्गत कार्य की उचित शर्तों, आवास सम्बन्धी स्थान, निःशुल्क चिकित्सकीय सुविधाओं इत्यादि का प्रावधान किया गया है।

भारतवर्ष में श्रम कल्याण कार्य

भारतीय श्रमिकों के कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिये आयोजित किये गये कल्याण कार्य का वर्णन यहाँ पर तीन श्रेणियों के अन्तर्गत् किया जा रहा है :

1. सरकार द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण कार्य;
2. मालिकों द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण कार्य तथा
3. श्रमिक संगठनों तथा अन्य समाज कल्याण संगठनों द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण कार्य।

1. सरकार द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण कार्य

(i) केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण कार्य

भारतवर्ष में सर्वप्रथम कल्याण योजनाओं पर विचार-विमर्श करने हेतु 1922 में अखिल भारतीय श्रम कल्याण सम्मेलन का आयोजन बम्बई में किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के शिखर सम्मेलनों के परिणाम-स्वरूप भारत में श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों की जाँच की गयी थी तथा इसके लिये केन्द्र एवं राज्य सरकारों से आवश्यक सूचना प्रदान करने का निवेदन किया गया था। इस सम्मेलन की संस्तुतियों पर उस समय की सरकार ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उस समय श्रमिकों के कल्याण के लिये केन्द्र

सरकार ने श्रमहित सलाहकार की नियुक्ति की थी और उसकी सहायता हेतु अनेक श्रम कल्याण अधिकारियों को भी नियुक्त किया था। दूसरे विश्व युद्ध के पहले भारत सरकार द्वारा श्रम कल्याण की दिशा में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया गया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान ही सरकार की श्रम कल्याण सम्बन्धी परम्परागत् नीति में परिवर्तन हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही भारत सरकार द्वारा श्रम कल्याण के क्षेत्र में सघन प्रयास किये गये। अनेक प्रकार के अधिनियम बनाये गये जिनका उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है। इन अधिनियमों के माध्यम से श्रम कल्याण कोषों की स्थापना की गयी तथा कारखानों में कार्य की परिस्थितियों में ऐसे आवश्यक सुधार किये गये जिनसे श्रमिकों के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव कम हुये और वे सन्तोषजनक कार्य की परिस्थितियों में कार्य कर पाने में समर्थ हुए। श्रम कल्याण अधिनियमों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी विधान भी पारित किये गये। यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता के पूर्व केवल कार्मिक क्षतिमूर्ति अधिनियम ही एक ऐसा विधान उपलब्ध था जिसके अधीन सेवायोजित को चोट लगने पर क्षतिपूर्ति प्रदान किये जाने की व्यवस्था थी; किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में कई महत्त्वपूर्ण विधान पारित किये गये जिनमें कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम 1948; कर्मचारी प्रॉविडेन्ट फण्ड एवं विविध प्रावधान अधिनियम 1952; मातृत्व हित लाभ अधिनियम 1961; ग्रेच्युटी भुगतान अधिनियम 1972 उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान समय में केन्द्र सरकार निम्नलिखित श्रम कल्याण कोषों के माध्यम से महत्वपूर्ण श्रम कल्याण कार्य चला रही है : (1) अभ्रक खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम 1946; (2) चूना-पत्थर तथा डोलोमाइट खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम 1972; (3) लौह् खनिज, मैंगनीज खनिज तथा क्रोम खनिज खान श्रम कल्याण कोष अधिनियम 1976; (4) बीड़ी श्रमिक श्रम कल्याण कोष अधिनियम, 1976; (5) सिनेमा श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम तथा 1981। इन कल्याण कोषों के माध्यम से चलाये जा रहे विभिन्न कार्यक्रम चिकित्सकीय सुविधाओं, आवास सम्बन्धी सुविधाओं, मनोरंजनात्मक सुविधाओं तथा परिवार कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं से सम्बन्धित हैं। अधिकतर कार्यक्रमों का प्रशासन श्रम मंत्रालय के अधीन कल्याण संगठन द्वारा दिया जा रहा है किन्तु इसके साथ ही साथ राज्य सरकारों, स्थानीय निकायों तथा मालिकों को केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित योजनाओं हेतु ऋण तथा छट भी प्रदान की

जा रही है। विभिन्न श्रम कल्याण सम्बन्धी योजनाओं को चलाने के लिये सम्पूर्ण देश को 9 क्षेत्रों—इलाहाबाद, बंगलोर, भीलवाड़ा, भुवनेश्वर, कलकत्ता, हैदराबाद, जबलपुर, करमा तथा नागपुर में बाँटा गया है और हर क्षेत्र को कल्याण आयुक्त के अधीन रखा गया है। इन कोषों से सम्बन्धित नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्धारण हेतु त्रिदलीय केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी समितियाँ बनायी गयी हैं जिनकी नियमित रूप से बैठकें होती रहती हैं। वर्तमान समय में विभिन्न कल्याण कोषों के अधीन लिये जा रहे अधिभार की दरें निम्नवत् हैं—

अभ्रक—निर्यात पर विक्रय मूल्य का 3.5 प्रतिशत;

लौह खनिज—निर्यात एवं आन्तरिक उपभोग पर 50 पैसे प्रति मीट्रिक टन;

मैंगनीज खनिज—निर्यात एवं आन्तरिक उपभोग पर 1 रुपये प्रति मीट्रिक टन;

क्रोम खनिज—निर्यात एवं आन्तरिक उपभोग पर 3 रुपये प्रति मीट्रिक टन

चूना-पत्थर तथा डोलोमाइट—आन्तरिक उपभोग पर 50 पैसे प्रति मीट्रिक टन;

बीड़ी—30 पैसे प्रति हजार बनाई गई बीड़ियाँ तथा

सिनेमा—केन्द्रीय फिल्म प्रमाणीकरण बोर्ड को प्रमाणीकरण हेतु भेजी गयी प्रत्येक फीचर फिल्म के लिये 1 हजार रुपये

इन कोषों के अधीन आयोजित की जाने वाली चिकित्सकीय सुविधायें, आवास सम्बन्धी सुविधायें, शैक्षिक सुविधायें, प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधायें, पेयजल सम्बन्धी सुविधायें, मनोरंजन सम्बन्धी सुविधायें तथा परिवार कल्याण सम्बन्धी सुविधायें निम्नलिखित हैं :—

चिकित्सकीय सुविधायें

चिकित्सकीय सुविधायें प्रदान करने हेतु देश के विभिन्न भागों में एलोपैथिक एवं आयुर्वेदिक चिकित्सालय तथा डिस्पेन्सरियाँ स्थापित की गयी हैं। अभ्रक खान कल्याण कोष के अधीन 180 शय्यायुक्त 5 चिकित्सालयों; लौह खनिज खान, मैंगनीज खनिज खान तथा क्रोम खनिज खान श्रम कल्याण कोष के अधीन 235 शय्यायुक्त 5 चिकित्सालयों तथा बीड़ी श्रम कल्याण कोष के अधीन 485 शय्यायुक्त 16 चिकित्सालयों की स्थापना की गयी है। अभ्रक खान श्रम कल्याण कोष के अधीन 6 एलोपैथिक डिस्पेन्सरियाँ, 12 आयुर्वेदिक डिस्पेन्स-रियाँ, 2 मातृशिशु कल्याण केन्द्र तथा 3 छोटे सामुदायिक चिकित्सा केन्द्र; लौह खनिज, मैंगनीज खनिज तथा क्रोम खनिज श्रम कल्याण कोष के अधीन 15 एलोपैथिक डिस्पेन्सरियां 1 मातृ-शिशु कल्याण केन्द्र तथा 6 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र; चूना-पत्थर तथा डोलोमाइट खान श्रम कल्याण कोष के अधीन

23 एलोपैथिक डिस्पेन्सरियां, 13 आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरियां तथा 1 मातृ-शिशु कल्याण केन्द्र तथा बीड़ी श्रमिक कल्याण कोष के अधीन 147 एलोपैथिक डिस्पेन्सरियां तथा 7 आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरियां चलायी जा रही हैं।[1] इसके अतिरिक्त क्षय रोग तथा सामान्य अस्पतालों में शय्यायें आरक्षित की गयी हैं; क्षय रोग के शिकार खान एवं बीड़ी श्रमिकों के आवासीय उपचार की भी व्यवस्था है; कैंसर के शिकार खान एवं बीड़ी श्रमिकों के उपचार पर होने वाले व्यय की वापसी की जाती है; मानसिक बीमारियों से ग्रस्त खान एवं बीड़ी श्रमिकों को उपचार की सुविधा प्रदान की जाती है; खान प्रबन्धकों को एम्बुलेन्स यान प्रदान किया जाता है; चश्मा खरीदने के लिये खान एवं बीड़ी श्रमिकों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है; कुष्ठ रोग के शिकार खान एवं बीड़ी श्रमिकों को सहायता प्रदान की जाती है; महिला बीड़ी श्रमिकों के लिये मातृत्व हित लाभ की योजना है; बीड़ी श्रमिकों के लिये सहकारी समितियों के माध्यम से सामूहिक बीमा योजना चलायी जा रही है; बन्ध्याकरण कराने वाले बीड़ी श्रमिकों को अतिरिक्त मौद्रिक क्षतिपूर्ति के भुगतान की एक योजना चलायी गयी है; खान के प्रबन्धकों को अपनी डिस्पेन्सरियां तथा चिकित्सालय चलाने के लिये अनुदान प्रदान किया जाता है; खान में कार्य करने वाले श्रमिकों को कृत्रिम अंग प्रदान किये जाते हैं तथा सांघातिक तथा गम्भीर दुर्घटना के शिकार होने वाले खान श्रमिकों को क्षतिपूरक लाभ प्रदान किये जाते हैं।

आवास सम्बन्धी सुविधायें

लौह खनिज, मैंगनीज खनिज, क्रोम खनिज, चूना-पत्थर, डोलोमाइट तथा अभ्रक खान श्रमिकों और बीड़ी श्रमिकों को आवास सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने हेतु निम्नलिखित योजनायें लागू की जा रही हैं :

1--टाइप I आवास योजना—इसके अन्तर्गत खान के प्रबन्धकों को प्रति आवास 10,000 रुपये अथवा निर्माण की वास्तविक लागत के 75 प्रतिशत तक की छूट, इनमें से जो भी कम हो, प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य क्षेत्रों में रु० 1,000 प्रति आवास की दर पर तथा ब्लैक काटन अथवा फूलने वाली मिट्टी वाले क्षेत्रों में रु० 1,500 प्रति आवास अथवा विकास की वास्तविक लागत, इनमें से जो भी कम हो, विकास व्यय के रूप में खान के प्रबन्धकों को प्रदान किया जाता है।

2--टाइप II आवास योजना---इसके अधीन अभ्रक खानों को छोड़कर खान प्रबन्धकों को रु० 20,000 प्रति आवास अथवा निर्माण लागत के 75 प्रतिशत, इनमें से जो भी कम हो, की छूट प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त

1. भारत सरकार श्रम मंत्रालय, वार्षिक प्रतिवेदन 1989-90, भाग-1, पृ० 19-20।

सामान्य क्षेत्रों में रु० 1,500 प्रति आवास तथा ब्लैक काटन एवं फूलने वाली मिट्टी वाले क्षेत्रों में रु० 2250 प्रति आवास अथवा विकास की वास्तविक लागत, इनमें से जो भी कम हो, का भी भुगतान विकास-व्यय के रूप में किया जाता है ।

3–अपना निजी मकान बनाओ योजना—इसके अन्तर्गत चूना-पत्थर डोलोमाइट, लौह, मैंगनीज, क्रोम तथा अभ्रक खानों के श्रमिकों को 1,000 रुपये की छूट तथा 4,000 रुपये का ब्याज रहित ऋण प्रदान किया जाता है। बीड़ी श्रमिकों को 6,000 रुपये का ब्याज रहित ऋण दिया जाता है किन्तु छूट की धनराशि 1,000 रुपये ही है ।

4–बीड़ी उद्योग में लगे हुए आर्थिक दृष्टि से निर्बल वर्गों की आवास योजना—इसके अधीन राज्य सरकारों द्वारा बीड़ी श्रमिकों को आबंटित किये जाने हेतु भूमि प्रदान की जाती है तथा घर बनाये जाते हैं। राज्य सरकारों को 5,000 रुपये प्रति आवास अथवा निर्माण की वास्तविक लागत का 50 प्रतिशत, इनमें से जो भी कम हो, की दर पर छूट प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त विकास सम्बन्धी व्यय भी सामान्य क्षेत्रों में 800 रुपये प्रति आवास तथा ब्लैक काटन अथवा फूलने वाली मिट्टी वाले क्षेत्रों में 1,000 रुपये प्रति आवास की दर पर प्रदान किया जाता है ।

5–बीड़ी श्रमिकों की सहकारी समितियों को कार्यशालाओं तथा गोदामों के निर्माण हेतु छूट व वित्तीय सहायता के अनुदान की स्वीकृति की योजना—इसके अधीन बीड़ी श्रमिकों की कम से कम 100 सदस्यों वाली सहकारी समितियों को कार्यशाला अथवा गोदाम अथवा दोनों के निर्माण की लागत के 75 प्रतिशत तक अथवा 75,000 रुपये, इनमें से जो भी कम हो, प्रदान की जाती है; बशर्ते कि जमीन सहकारी समिति की हो ।

6–बीड़ी तथा खान श्रमिकों की सामूहिक आवास योजना—इस योजना का उद्देश्य श्रमिकों को कम से कम 50 सदस्यों वाली सहकारी सामूहिक आवास समितियों जो अपने सदस्यों के लिये अपने साधन जुटाते हुए तथा कल्याण कोषों एवं अन्य स्रोतों से वित्तीय सहायता प्रदान करते हुए अपने सदस्यों के लिये मकान बना सके, को निर्माण करने हेतु प्रोत्साहित करना है। इस योजना के अधीन खान में कार्य करने वाले श्रमिकों को 4,000 रुपये तथा बीड़ी श्रमिकों को 6,000 रुपये प्रति मकान की दर पर ऋण तथा इसके अतिरिक्त खान तथा बीड़ी दोनों उद्योगों में कार्यरत् श्रमिकों को 1,000 रुपये प्रति मकान की दर पर छूट भी देय है ।

शैक्षिक सुविधायें

1958 से श्रमिक शिक्षा के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा श्रमिकों की शिक्षा के कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। श्रमिक शिक्षा कार्यक्रम का उद्देश्य श्रमिकों में चेतना जागृत करना है ताकि वे सामाजिक एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग ले सकें और उन्हें अपनी समस्याओं, पर्यावरण, अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों की उपयुक्त जानकारी हो सके और सामान्य श्रमिकों में नेतृत्व का विकास सम्भव हो सके जिससे कि प्रभावपूर्ण सामूहिक सौदेबाजी सम्भव हो सके।

श्रमिक शिक्षा की योजना राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा स्थानीय इकाई के तीन स्तरों पर कार्य कर रही हैं। इसके अधीन संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों के श्रमिकों, ग्रामीण श्रमिकों तथा समाज के निर्बल वर्ग के श्रमिकों के लिये शैक्षिक कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। श्रमिक शिक्षा के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा एक उच्च स्तरीय प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना भी बम्बई में की गयी है जिसका नाम इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ वर्कर्स एजुकेशन है जो राष्ट्रीय स्तर के प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम चला रहा है। सम्पूर्ण देश में 43 क्षेत्रीय तथा 19 उप क्षेत्रीय केन्द्र हैं जो क्षेत्रीय तथा इकाई/उद्यम/ग्राम के स्तरों पर श्रमिक शिक्षा कार्यक्रमों को आयोजित कर रहे हैं। क्षेत्रीय स्तर पर श्रमिक शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम, नेतृत्व विकास पाठ्यक्रम, श्रमिक शिक्षकों के पुनर्बोधनात्मक पाठ्यक्रम तथा संयुक्त शिक्षा कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। इकाई स्तर पर त्रिमासीय अंशकालीन कक्षायें तथा त्रिसाप्ताहिक पूर्णकालिक कक्षायें चलायी जा रही हैं। इसके अतिरिक्त उन उद्योगों में जहाँ इकाई स्तर की कक्षायें सम्भव नहीं हैं, एक सप्ताह के, आवश्यकता पर आधारित, विशिष्ट कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। छोटे पैमाने के उद्योगों तथा असंगठित क्षेत्र यथा हथकरघा, शक्ति चालित करघा, खादी तथा ग्रामोद्योग, छोटे पैमाने के उद्योगों, औद्योगिक जागीरों, हस्तशिल्पों, रेशम उद्योग, रेशा उद्योग, बीड़ी उद्योग, शीशा उद्योग, पीतल उद्योग, स्लेट बनाने के उद्योग इत्यादि में कार्यरत् श्रमिकों के लिये 5 दिवसीय शिविर आयोजित किये जा रहे हैं। निर्बल वर्ग के श्रमिकों यथा, सिर पर बोझा ढोने वाले श्रमिकों, आकस्मिक श्रमिकों, निर्माण श्रमिकों, सफाई श्रमिकों, बाधित श्रमिकों, महिला श्रमिकों, बल श्रमिकों, रिक्शा चालकों, घरेलू नौकरों इत्यादि के लिये भी 5 दिवसीय शिविर चलाये जा रहे हैं। ग्रामीण श्रमिक शिक्षा के अधीन क्षेत्रीय, मण्डलीय स्तरों पर द्विमासिक ग्रामीण शिक्षक पाठ्यक्रम तथा द्विदिवसीय ग्राम स्तरीय चेतना शिविर आयोजित किये जा रहे हैं।

श्रम मन्त्रालय द्वारा चलाये गये इन श्रमिक शिक्षा कार्यक्रमों के अतिरिक्त शिक्षा मंत्रालय द्वारा भी प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम तथा श्रमिक विद्यापीठों की योजनाओं के माध्यम से श्रमिकों की शिक्षा के कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं।

श्रमिकों को शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न कल्याण कोषों के अधीन निम्न-लिखित योजनायें चलायी जा रही हैं :—

(1) खान, बीड़ी एवं सिनेमा से सम्बन्धित श्रमिकों को मान्यता प्राप्त संस्थाओं में कक्षा 5 से ऊपर पढ़ रहे पुत्रों एवं पुत्रियों को छात्रवृत्ति प्रदान की जा रही है। इसकी धनराशि 15 रुपये से लेकर 125 रुपये प्रतिमाह है। चिकित्सा, इंजीनियरिंग इत्यादि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का अध्ययन करने वालों को 200 रुपये प्रतिमाह की दर से छात्रवृत्ति प्रदान की धाती है।

(2) अभ्रक खानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के कक्षा 4 तक के तथा बीड़ी श्रमिकों के कक्षा 1 एवं 2 के बच्चों को विद्यालय की एक वर्दी के लिये 50 रुपये प्रति बच्चा प्रति वर्ष की दर पर वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

(3) खान में कार्य करने वाले श्रमिकों के कक्षा 1 से 4 तक के बच्चों की पाठ्य पुस्तकों, स्लेटों तथा नोट बुकों को खरीदने के लिए 10 रुपये से लेकर 25 रुपये प्रति वर्ष तक की वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

(4) खानों के प्रबन्धकों को स्कूल बस खरीदने हेतु 50 प्रतिशत तक की वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है जिसकी अधिकतम धनराशि एक सामान्य बस के लिये रुपये 1·25 लाख तथा मिनी बस के लिये रुपये 60 हजार है।

(5) खान के प्रबन्धकों को पुस्तकालयों को चलाने के लिये 20,000 रुपये प्रति वर्ष की दर पर वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

(6) लौह खनिज, मैंगनीज खनिज तथा क्रोम खनिज खानों में केन्द्रीय पुस्तकालय एवं वाचनालय कक्ष की स्थापना की योजना के अधीन खानों के मालिकों द्वारा मामूली किराये पर स्थल उपलब्ध कराया जाता है। इसके लिये कर्मचारियों एवं फर्नीचर की व्यवस्था श्रम कल्याण संगठन द्वारा की जाती है। 5,000 रुपये की प्रारम्भिक धनराशि तथा 2,000 रुपये की प्रतिवर्ष की आवर्ती धनराशि पुस्तकों को खरीदने के लिये तथा 100 रुपये प्रतिमास की आवर्ती धनराशि पत्रिकाओं, मैगजीनों तथा अखबारों को खरीदने के लिये प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त 1000 रुपये प्रतिवर्ष किताबों पर जिल्द लगवाने के लिये तथा विविध प्रकार के व्ययों का वहन करने के लिये प्रदान की जाती है।

(7) लौह खनिज खानों के क्षेत्रों में मान्यता प्राप्त स्कूलों को उनमें कार्य में लाये जा रहे फर्नीचर तथा उपकरण खरीदने की लागत के 50 प्रतिशत तक का अनुदान दिया जाता है।

(8) मध्याह्न भोजन की योजना के अधीन अभ्रक एवं लौह खनिज खानों के क्षेत्रों में मान्यता प्राप्त विद्यालयों में प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों को 75 पैसे प्रति बच्चे की दर पर नाश्ता दिया जाता है।

प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधायें

कार्यरत् औद्योगिक श्रमिकों तथा तकनीशियनों की निपुणताओं को विकसित तथा आधुनिक बनाने हेतु उच्च स्तरीय अल्पकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाने हेतु यूनाइटेड नेशन्स डेवलपमेन्ट प्रोग्राम, (अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन) की सहायता से मद्रास में एक एडवांस्ड ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गयी है। इस प्रकार की प्रशिक्षण की मांग बढ़ने पर यूनाइटेड नेशन्स डेवलपमेन्ट प्रोग्राम (अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन) की सहायता से एक उच्च व्यावसायिक प्रशिक्षण योजना अक्टूबर, 1977 में प्रारम्भ की गयी जिसके अन्तर्गत् ऐडवान्स्ड ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट, मद्रास तथा सेवायोजन एवं प्रशिक्षण के सामान्य निदेशालय के अधीन पांचों अन्य ऐडवान्स्ड ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूटस तथा 15 राज्य सरकारों के अधीन कार्य कर रहे 16 चयनित औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थानों को सम्मिलित किया गया है। इस योजना के अधीन चलाये गये प्रशिक्षण कार्यक्रमों को मोड्यूल्स के आधार पर बनाया गया है ताकि एक शृंखला में एक अथवा एक से अधिक मोड्यूलों का चयन करते हुए श्रमिक अपनी निपुणता के क्षेत्र में विशेषीकरण प्राप्त कर सकें। 2 से 12 सप्ताह की अवधि वाले पूर्णकालिक प्रशिक्षण कार्यक्रम नियमित रूप से उच्चस्तरीय निपुणताओं के विभिन्न क्षेत्रों में चलाये जा रहे हैं। दिसम्बर 1989 तक ऐडवान्स्ड वोकेशनल ट्रेनिंग स्कीम के अधीन 80,500 औद्योगिक श्रमिकों को प्रशिक्षण प्रदान किया जा चुका है। ऐडवान्स्ड वोकेशनल ट्रेनिंग स्कीम प्रोजेक्ट के प्रारम्भ होने के पूर्व ऐडवान्स्ड ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट, मद्रास द्वारा 1971 से 1977 के बीच 9625 श्रमिकों को प्रशिक्षित किया जा चुका था।[1]

अधीक्षकों/फोरमैनों के प्रशिक्षण का कार्य भी बंगलोर तथा जमशेदपुर स्थित 2 फोरमैन ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट द्वारा चलाया जा रहा है जिसका उद्देश्य निपुणता तथा योग्यता को विकसित करना है।

1. 25 गवर्नमेन्ट, आफ इण्डिया, मिनिस्ट्री आफ लेबर (इम्प्लायमेन्ट ऐण्ड ट्रेनिंग) ऐनुवल रिपोर्ट 1989-90 वाल्यूम-2, पृ० 26।

पेय जल सम्बन्धी सुविधायें

अभ्रक लौह खनिज, मैंगनीज खनिज, क्रोम खनिज, चूना-पत्थर तथा डोलोमाइट की खानों में जल आपूर्ति हेतु वित्तीय सहायता की योजना लागू है जिसके अन्तर्गत अनुमानित लागत के 50 प्रतिशत तक की वित्तीय सहायता देय है। छोटी खानों के मालिकों तथा सभी अभ्रक खानों के मालिकों को अनुमानित लागत के 50 प्रतिशत तक की वित्तीय सहायता देय है।

खान वाले क्षेत्रों में कुँआ खोदने की योजना भी लागू है।

मनोरंजन सम्बन्धी सुविधायें

विभिन्न कल्याण कोषों के अधीन निम्नलिखित मनोरंजन सम्बन्धी सुविधायें प्रदान की गयी हैं :—

(1) खान श्रमिकों के लिये सैर तथा अध्ययन-भ्रमण की योजना चलायी जा रही है जिसके अधीन खान प्रबन्धकों को समान अनुदान प्रदान किया जाता है जिसकी अधिकतम धनराशि एक सैर तथा अध्ययन-भ्रमण के लिये 10,000 रुपये होती है। यह भ्रमण भारत में आने-जाने को मिलाकर 3,000 कि०मी० तक किसी भी स्थान का हो सकता है।

(2) दृश्य श्रव्य प्रोजेक्टरों तथा सचल सिनेमा एकल की योजना भी चल रही है। खान प्रबन्धकों द्वारा किराये पर फिल्में लेने के लिये रु० 20,000 प्रतिवर्ष तक की प्रत्यापूर्ति भी की जाती है।

(3) खानों के प्रबन्धकों तथा बीड़ी सहकारी समितियों को टेलीविजन सेट प्रदान करने की भी योजना है जिसके अधीन रंगीन टेलीविजन सेट के लिये 10,000 रुपये तथा श्वेत-श्याम टेलीविजन के लिये 4,000 रुपये की प्रत्यापूर्ति की जाती है।

(4) खान तथा बीड़ी श्रमिकों के लिये खेलकूदों तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन की भी योजना है।

(5) खान श्रमिकों को कार्य स्थल तक लाने तथा यहाँ से वापस ले जाने हेतु परिवहन के लिये बस खरीदने हेतु सामान्य बस के लिये 1.25 लाख रुपये तथा मिनी बस के लिये 60,000 रुपये की सहायता प्रदान करने की योजना है।

श्रम कल्याण संगठन द्वारा चलाये गये बहुउद्देश्यीय संस्थानों, विकसित बहुउद्देश्यीय संस्थानों तथा कल्याण केन्द्रों पर मनोरंजनात्मक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक सुविधायें प्रदान की जाती हैं जिनके अन्तर्गत् खेलकूद भी आयोजित किये जाते हैं।

परिवार कल्याण सम्बन्धी सुविधायें

श्रम कल्याण की कल्याण शाखा में एक जनसंख्या प्रकोष्ठ स्थापित किया गया है जिसे संगठित क्षेत्र में परिवार कल्याण कार्यक्रम, यूनाइटेड नेशन्स फण्ड फॉर पॉपुलेशन ऐक्टिविटीज (अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन) द्वारा सहायता प्रदान की गयी तथा इसे जनसंख्या शिक्षा तथा परिवार कल्याण की परियोजनाओं के माध्यम से लागू किया जा रहा है ।

(2) राज्य सरकारों द्वारा किये गये श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम

1–उत्तर प्रदेश में श्रम कल्याण

1937 में ही राज्य शासन के अन्तर्गत् अलग से श्रम विभाग की स्थापना तथा कानपुर में 4 कल्याण केन्द्रों की स्थापना करते हुए उत्तर प्रदेश सरकार ने श्रम कल्याण की दिशा में अग्रगामी कार्य किया । श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक उत्थान हेतु कल्याणकारी सुविधायें प्रदान करने के उद्देश्य से प्रदेश सरकार द्वारा विभिन्न औद्योगिक एवं अन्य स्थानों में वर्ष 1991 के अन्त तक 93 श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गयी है ।

श्रम हितकारी केन्द्र 3 श्रेणियों में विभक्त हैं :—

'क' श्रेणी के श्रम कल्याण केन्द्रों में एलोपैथिक चिकित्सालय, मातृ एवं शिशु कल्याण विभाग, सिलाई कक्षायें, कमरे एवं मैदान के खेल जिनमें अखाड़े, पुस्तकालय एवं वाचनालय मनोविनोदात्मक, सांस्कृतिक सुविधायें जैसे– रेडियो, टी० वी०, रंगारंग कार्यक्रम एवं नाटक आदि आयोजित करने की सुविधाएँ हैं ।

'ख' श्रेणी के श्रम हितकारी केन्द्रों में होम्योपैथिक, आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सालय के साथ ही मातृ एवं शिशु कल्याण विभाग तथा कमरे एवं मैदान के खेल, पुस्तकालय एवं वाचनालय, मनोरंजन आदि के अन्य कार्यक्रम जैसे रेडियो आदि की व्यवस्था होती है । ये केन्द्र श्रमिकों के क्लब जैसे होते हैं ।

'ग' श्रम हितकारी केन्द्रों में कमरे एवं मैदान के खेल, पुस्तकालय एवं वाचनालय, मनोरंजन आदि के अन्य सामान जैसे रेडियो आदि की व्यवस्था होती है ।

1989 के अन्त तक प्रदेश में कार्यरत 93 श्रम हितकारी केन्द्रों का श्रेणी-वार तथा क्षेत्रवार विवरण निम्नवत है—

तालिका संख्या–1

क्रम संख्या	क्षेत्र का नाम	श्रेणीवार श्रम हितकारी केन्द्रों की संख्या 'क' श्रेणी	'ख' श्रेणी	'ग' श्रेणी
1	2	3	4	5
1.	आगरा क्षेत्र	1	10	–
2.	इलाहाबाद क्षेत्र	2	3	–
3.	बरेली क्षेत्र	–	2	–
4.	फैजाबाद क्षेत्र	1	2	–
5.	गोरखपुर क्षेत्र	4	5	–
6.	गाजियाबाद क्षेत्र	–	4	–
7.	गढ़वाल क्षेत्र	1	3	–
8.	झाँसी क्षेत्र	1	1	–
9.	कानपुर क्षेत्र	11	11	–
10.	कुमाऊँ क्षेत्र (हल्द्वानी)	3	1	–
11.	लखनऊ क्षेत्र	2	5	–
12.	मेरठ क्षेत्र	3	3	1
13.	मुरादाबाद क्षेत्र	2	2	–
14.	पिपरी-मिर्जापुर क्षेत्र	1	2	–
15.	वाराणसी क्षेत्र	3	3	–
	योग	35	57	1

श्रमिकों तथा उनके परिवार के सदस्यों को निःशुल्क चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने हेतु 90 केन्द्रों पर औषधालयों की व्यवस्था है जिनमें 33 एलोपैथिक, 23 होम्योपैथिक, 33 आयुर्वेदिक तथा एक यूनानी चिकित्सालय कार्यरत् हैं। देहरादून में एक चल एलोपैथिक चिकित्सालय भी कार्यरत् है।

श्रम हितकारी केन्द्रों में श्रमिकों की पत्नियों तथा बालिकाओं को सिलाई का निःशुल्क प्रशिक्षण दिये जाने की व्यवस्था है। प्रशिक्षण के बाद प्रशिक्षणार्थी की परीक्षा ली जाती है। प्रशिक्षार्थी केन्द्र में सिलाई, कढ़ाई, बुनाई तथा वस्त्रादि बनाने का अपना निजी कार्य भी किया जाता है तथा कुछ सामान

केन्द्रों के लिये बनाया जाता है। प्रशिक्षण के दौरान परीक्षार्थियों को मशीन, कपड़ा, ऊन आदि उपलब्ध कराये जाते हैं तथा उनके द्वारा तैयार वस्त्रों का उन्हें पारिश्रमिक दिया जाता है।

निरक्षर श्रमिकों को साक्षर बनाने के उद्देश्य से श्रम हितकारी केन्द्रों पर प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम भी संचालित किया जाता है। प्रौढ़ शिक्षा की कक्षायें वर्ष 1981 से प्रारम्भ की गयी हैं। प्रौढ़ शिक्षा के फलस्वरूप श्रमिक वेतन एवं व्यय आदि का विवरण रखने में सक्षम हो रहे हैं।

श्रमिकों को मनोरंजन, परिभ्रमण तथा स्वास्थ्य लाभ कराने के अभिप्राय से मंसूरी में एक अवकाश गृह चलाया जा रहा है। दूसरा अवकाश गृह हरिद्वार में खोले जाने की योजना है।

कानपुर की तीन घनी बस्तियाँ जाजमऊ, जूही कला और बाबू पुरवा (वि०) में सामुदायिक केन्द्र चलाये जा रहे हैं। इन सामुदायिक केन्द्रों में श्रमिक परिवारों के लिये सांस्कृतिक उत्सव, रंगारंग कार्यक्रम सम्पन्न कराये जाते हैं।

मातृ-शिशु कल्याण तथा प्रसव सम्बन्धी सुविधाओं हेतु प्रत्येक केन्द्र में मिड-वाइफ का प्रबन्ध है। इससे गर्भवती महिलाओं तथा नवजात शिशुओं की देख-भाल होती है तथा गर्भवती स्त्रियों को स्वास्थ्य सम्बन्धी परामर्श देने की सुविधा है। कानपुर के बेनाझावर केन्द्र में एक महिला एलोपैथिक चिकित्सा अधिकारी (परिवार कल्याण) भी नियुक्त है।

कानपुर के 6 श्रम कल्याण केन्द्रों में परिवार कल्याण सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध हैं। इस कार्य हेतु प्रत्येक केन्द्र में परिवार कल्याण सामाजिक कार्यकर्ता तथा हेल्थ विजिटर नियुक्त हैं। ये कार्यकर्ता श्रमिक बस्तियों में जाकर महिलाओं को परिवार कल्याण सम्बन्धी जानकारी देते हैं और गर्भवती महिलाओं को आवश्यकता पड़ने पर परामर्श देने के अलावा विटामिन एवं रक्त वर्द्धक दवा की गोलियाँ भी निःशुल्क वितरित करते हैं।

विभिन्न श्रम कल्याण कार्यों का 3 वर्षों का तुलनात्मक विवरण नीचे दिया जा रहा है जो केन्द्रों की उपयोगिता पर एवं उनकी लोकप्रियता का परिचायक है। उत्तर प्रदेश श्रम कल्याण परिषद द्वारा जब धनराशि उपलब्ध करायी जा सकेगी तब उनसे व्यापक श्रम कल्याण के कार्यक्रम आयोजित होंगे :—

तालिका संख्या-2

परिवार कल्याण एवं मातृ-शिशु कल्याण सम्बन्धी उपलब्धियाँ
(वर्ष 1987, 1988 एवं 1989 का तुलनात्मक विवरण)

क्रम संख्या	विवरण	वर्ष 1987	1988	1989
1.	महिला/पुरुष नसबन्दी	2,140	3,303	2,252
2.	कॉपर टी/लूप	233	157	157
3.	एम० टी० पी०	145	85	56
4.	निरोध विवरण			
	(क) नये केस	1,247	767	943
	(ख) पुराने केस	2,816	2,527	2,965
5.	निरोध वितरण संख्या	40,630	32,940	39,080
6.	ओरल पिल्स			
	(क) नये	—	—	341
	(ख) पुराने			735
7.	इम्यूनाइजेशन वैक्सिनेशन			
	(क) डी० पी० टी०	1, 412	1, 460	1, 958
	(ख) डी० टी०	930	670	1, 178
	(ग) टी० टी०	1, 069	866	894
	(घ) पोलियो	392	1, 310	1, 857
	(ङ) बी० सी० जी०	295	432	579
	(च) मिजिल्स	71	390	258
	(छ) टाइफॉयड	—	290	294
8.	रक्त न्यूनता का उपचार			
	(क) माताएँ	2, 503	2, 050	2, 260
	(ख) बच्चे	2, 818	1, 961	2, 284
9.	बच्चों में अन्धेपन का बचाव एवं उपचार	2, 294	1, 060	263

उ० प्र० श्रम कल्याण निधि अधिनियम 1965 एवं नियमावली 19972 के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश सरकार ने उ० प्र० श्रम कल्याण निधि की स्थापना की

है जिसके आय के स्रोतों में से एक स्रोत प्रतिष्ठानों के श्रमिकों के अदत्त संचय धन एवं अर्थदण्ड भी हैं। वर्ष 1972 से यह अधिनियम प्रभावी है परन्तु अभी तक श्रमिकों का अदत्त संचय धन एवं अर्थदण्ड का ही संकलन उत्तर प्रदेश श्रम कल्याण निधि में हुआ है। इस धन को अधिनियम में दी गयी प्रक्रिया पूर्ण करने के पश्चात् श्रमिक कल्याण पर व्यय किये जाने का प्रावधान है।

दिनांक 31 दिसम्बर, 1989 तक रु० 29.80 लाख की धनराशि उपलब्ध रही है जिसमें कर्मचारियों से प्राप्त अदत्त संचय धन, अर्थ दण्ड एवं उस पर अर्जित व्याज सम्मिलित रहे हैं। कर्मचारियों के अदत्त संचय धन पर अर्जित व्याज से उत्तर प्रदेश श्रम कल्याण परिषद निम्न योजनायें चला रहा है :—

1. कानपुर की शास्त्री नगर श्रमिक बस्ती की श्रम कल्याण केन्द्र में उपलब्ध रिक्त भूमि पर एक 'श्रमिक कल्याण भवन' का निर्माण कराया जा रहा है जिसके लिये वित्तीय वर्ष 1989-90 में रु० 3 लाख तथा आगामी वित्तीय वर्ष 1990-91 हेतु रु० 1,80,000 हजार का प्रावधान किया गया।

2. उत्तर प्रदेश में कार्यरत श्रमिकों के पुत्रपुत्रियों के उच्च व प्राविधिक शिक्षा संस्थानों में प्रवेश पाने पर आर्थिक सहायता देने की योजना कार्यान्वित की गयी है जिसके लिये वित्तीय वर्ष 1989-90 में रु० 35,000 तथा अगले वित्तं वर्ष 1990-91 में रु० 75,000 का प्रावधान किया गया।

3. उत्तर प्रदेश श्रम कल्याण परिषद के श्रमिकों को पर्यटन सुविधा देने के विचार से हरिद्वार में हाली डे होम बनवाने का विचार है। हरिद्वार में इसके निर्माण के लिये भूमि की उपलब्धता की जानकारी की जा रही है, भूमि क्रय हेतु वित्तीय वर्ष 1990-91 में रु० 3,00,000 का प्रावधान किया गया।

श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना अभी तक प्रदेश के औद्योगिक स्थानों में ही हो पायी है; फलस्वरूप अभी तक इन केन्द्रों से कुछ औद्योगिक श्रमिक एवं उनके परिवार लाभान्वित हो रहे हैं। अब लघु एवं कुटीर उद्योगों में लगे असंगठित उद्योगों के श्रमिकों को भी कुछ ही इन केन्द्रों के माध्यम से सामाजिक, चिकि-त्सकीय एवं सांस्कृतिक सुविधाएँ प्रदान करने की योजना आठवीं पंचवर्षीय योजना में किये जाने का प्रस्ताव है।

श्रमिकों तथा उनके परिवार के सदस्यों को यक्ष्मा रोग के उपचार के लिये प्रदेश की औद्योगिक महानगरी कानपुर में दो यक्ष्मा रुग्णालय स्थापित हैं। इनमें बाहरी अन्य रोगियों के अतिरिक्त क्षय रोग से ग्रसित रोगियों को भर्ती करके

चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था है जिसके लिये रामपुरवा में स्थित रुग्णालय में 48 तथा बाबूपुरवा में 20 अन्तरंग शैय्याओं की व्यवस्था है। अन्तरंग सेवाओं में भर्ती किये गये रोगियों को भोजन के साथ पौष्टिक आहार भी दिया जाता है।[1]

2. कर्नाटक में श्रम कल्याण

कर्नाटक सरकार ने सरकार को श्रम विधान के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करने के लिये श्रम कल्याण बोर्ड की स्थापना की है। राज्य के विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों में श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गयी है जो श्रमिकों के लिये शैक्षिक एवं मनोरंजनात्मक कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं।

3. तमिलनाडु में श्रम कल्याण

मद्रास सरकार ने भी श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना की है और नीलगिरि के चाय बागानों में श्रम कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति की गयी है तथा औद्योगिक प्रशिक्षक केन्द्रों की स्थापना की गयी है।

4. पश्चिमी बंगाल में श्रम कल्याण

पश्चिमी बंगाल सरकार द्वारा 1940 में 10 कल्याण केन्द्रों का संचालन किया गया। इस राज्य में 5 आदर्श श्रम कल्याण केन्द्र भी हैं। इन कल्याण केन्द्रों द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के आराम, मनोरंजन तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है श्रमिकों के बच्चों के लिये भी शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। और चिकित्सा सहायता तथा बच्चों के खेल-कूद का भी प्रावधान किया गया है।

5. पंजाब में श्रम कल्याण

पंजाब सरकार ने विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में श्रम कल्याण केन्द्रों को स्थापना की है जो शैक्षिक तथा मनोरंजनात्मक सुविधाओं को प्रदान करते हैं। प्रौढ़ शिक्षा कक्षाओं, स्त्रियों के लिये सिफाई कक्षाओं, पुस्तकाल्यों तथा आन्तरिक एवं वाह्य खेलों का प्रावधान इन केन्द्रों में किया गया है।

6. बिहार में श्रम कल्याण

विहार सरकार ने भी श्रम-कल्याण केन्द्रों की स्थापना की है जिनमें औद्योगिक श्रमिकों के लिये शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं मनोरंजनात्मक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है।

---

1. श्रम विभाग, उत्तर प्रदेश, वार्षिक समीक्षा, 1989, श्रमायुक्त, उत्तर प्रदेश पृ० 48-50।

7. महाराष्ट्र में श्रम कल्याण

महाराष्ट्र सरकार (भूतपूर्व बम्बई सरकार) द्वारा श्रम कल्याण कार्यक्रमों को आयोजित करने का उत्तरदायित्व श्रम कल्याण निदेशालय को सौंपा गया था। निदेशालय द्वारा चलाये गये श्रम कल्याण केन्द्रों का वर्गीकरण चार श्रेणियों 'अ', 'ब', 'स' व 'द' में इनके केन्द्रों की क्रियाओं के आधार पर किया गया है। इन केन्द्रों द्वारा चलचित्र, प्रदर्शनी, नाटक जैसे कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। खेलकूद, व्यायामशालाओं, बाल क्रीड़ा केन्द्रों का आयोजन करते हुए शारीरिक शिक्षा प्रदान की जाती है और स्वास्थ्य सुधार की दिशा में कार्य किये जाते हैं। दुर्घटना निरोध, प्राथमिक चिकित्सा, सफाई इत्यादि के विषय में प्रशिक्षण प्रदान करते हुए शारीरिक शिक्षा का आयोजन किया जाता है। शारीरिक शिक्षा में स्वास्थ्य सम्बन्धी साहित्य के विकास का भी प्रावधान किया जाता है। वाचनालय, पुस्तकालय, प्रौढ़ शिक्षा की सुविधाओं, श्रम विधानों तथा श्रम आन्दोलन का ज्ञान कराने तथा व्यावसायिक और प्राविधिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है।

जुलाई 1953 में सरकार ने सभी श्रम कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन का उत्तरदायित्व बम्बई श्रम कल्याण बोर्ड को सौंप दिया। इस बोर्ड की स्थापना श्रम कल्याण अधिनियम 1953 के अधीन की गयी थी। इस कानून के अन्तर्गत श्रम कल्याण कोष का निर्माण करने की व्यवस्था की गयी है। इस कोष में कर्मचारियों के ऊपर किये गये जुर्मानों तथा ऐच्छिक रूप से दिये गये दान से प्राप्त धनराशि को एकत्रित किया जाता है, श्रमिकों तथा उन पर आश्रितों के कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक कार्यों पर यह धन व्यय किया जाता है। प्रमुख रूप से सामुदायिक एवं सामाजिक शिक्षा केन्द्रों के संचालन, सामुदायिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि, अवकाश गृहों की स्थापना, मनोरंजनात्मक सुविधाओं के प्रावधान, स्त्रियों तथा बेरोजगार व्यक्तियों के लिये गृह उद्योगों की स्थापना, श्रम कल्याण कार्यक्रमों के प्रशासन तथा राज्य सरकार द्वारा उपयुक्त समझी जाने वाली अन्य योजनाओं पर इस धन को व्यय किया जाता है।

8. मध्यप्रदेश में श्रम कल्याण

मध्य प्रदेश सरकार ने सितम्बर 1948 में एक श्रम जाँच समिति नियुक्त की जिसके अनुसंधानों के आधार पर विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों में श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गयी। ये केन्द्र औद्योगिक श्रमिकों की कल्याण सम्बन्धी बहुमुखी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की दिशा में कार्य करते हैं।

9–राजस्थान में श्रम कल्याण

1950 में राजस्थान सरकार ने राज्य के अन्तर्गत श्रम कल्याण कार्यक्रमों का गठन करने हेतु श्रम कल्याण बोर्ड का गठन किया था। इस बोर्ड द्वारा श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गयी है जो आन्तरिक तथा वाह्य खेल्कूद, छोटे-छोटे पुस्तकालयों तथा वाचनालयों का प्रावधान करते हैं।

विभिन्न राज्यों के अन्तर्गत कार्य करने वाले श्रम कल्याण केन्द्रों की संख्या तथा उनके द्वारा आयोजित की गयी विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का विवरण निम्न तालिका में दिया जा रहा है :—

तालिका संख्या–3

राज्य सरकारों, संघीय क्षेत्रों द्वारा सचालित कल्याण केन्द्र

राज्य का नाम	कल्याण केन्द्रों की संख्या	आयोजित किये गये कार्यक्रम
1—आंध्र प्रदेश	11	प्रौढ़ शिक्षा कक्षायें, मनोरंजनात्मक सुविधायें, सांस्कृतिक गतिविधियाँ, महिला श्रमिकों के लिये शिल्प केन्द्र, स्कूल जाने वाले बच्चों की आरम्भिक शिक्षा।
2—बिहार	25	मनोरंजनात्मक तथा सांस्कृतिक गतिविधियां, शिल्प सम्बन्धी प्रशिक्षण, खेल-कूद।
3—गुजरात	38	मनोरंजनात्मक एवं शैक्षिक सुविधाएं।
4—जम्मू तथा कश्मीर	36	आन्तरिक तथा वाह्य खेलकूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम जैसी मनोरंजन सम्बन्धी सेवायें, चिकित्सा सम्बन्धी तथा शैक्षिक सुविधायें, पुस्तकालय तथा वाचनालय।
5—मध्य प्रदेश	33	आन्तरिक तथा वाह्य खेलकूद, प्रौढ़ शिक्षा, पुस्तकालय एवं वाचनालय, सांस्कृतिक कार्यक्रम, मनोरंजन।
6—महाराष्ट्र	72	वाचनालय, पुस्तकालय, खेल्कूद, व्यायामशाला, आन्तरिक तथा वाह्य क्रीड़ा, हथकरघा उद्योग का प्रशिक्षण, शिशु शिक्षा।

7—कर्नाटक	16	वाचनालय, खेलकूद, व्यायामशाला, पुस्तकालय, आन्तरिक तथा वाह्य क्रीड़ा, संगीत सम्बन्धी उपकरण, सिलाई सम्बन्धी प्रशिक्षण ।
8—उड़ीसा	19 बहुउद्देश्यीय केन्द्र तथा 5 वाचनालय युक्त मनोरंजन केन्द्र	शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा मनोरंजनात्मक सुविधायें, श्रमिकों के बच्चों को प्राथमिक कक्षायें तथा स्त्री श्रमिकों के लिए सिलाई कक्षाएं ।
9—पंजाब	21	मनोरंजनात्मक तथा शैक्षिक सुविधायें, आन्तरिक तथा वाह्य खेलकूद, पुस्तकालय तथा वाचनालय, स्त्री श्रमिकों के लिये सिलाई-बुनाई कक्षाएं ।
10–राजस्थान	29	चिकित्सा सम्बन्धी सहायता, मातृत्व एवं शिशु कल्याण सुविधायें, प्रौढ़ शिक्षा, आखाड़े, हथकरघा उद्योग का प्रशिक्षण, उदाहरणार्थ–सिलाई, फीता बनाना आदि, वाचनालय, पुस्तकालय सम्बन्धी सुविधायें ।
11–उत्तर प्रदेश	71 श्रम कल्याण केन्द्र तथा 2 बाल मनोरंजन केन्द्र	आन्तरिक तथा वाह्य खेलकूद, शिशु क्रीड़ा, चलचित्र प्रदर्शन, वाचनालय, रेडियो एवं संगीत आदि मनोरंजनात्मक सुविधायें, श्रमिकों के बच्चों के लिये प्राथमिक कक्षायें, प्रौढ़ शिक्षा कक्षायें, विभिन्न शिल्प सम्बन्धी प्रशिक्षण तथा सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, चमड़े का सामान और खिलौना बनाना तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन करना ।
12–पश्चिमी बंगाल	40 श्रम कल्याण केन्द्र तथा 10 श्रम आदर्श केन्द्र	आन्तरिक तथा वाह्य खेलकूद, शिशु क्रीड़ा, चलचित्र प्रदर्शन, वाचनालय, रेडियो एवं संगीत आदि मनोरंजनात्मक सुविधायें, श्रमिकों के बच्चों के लिये

		प्राथमिक कक्षायें, प्रौढ़ शिक्षा कक्षायें, विभिन्न शिल्प सम्बन्धी प्रशिक्षण यथा सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, चमड़े का सामान और खिलौना बनाना तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन करना।
13–दिल्ली	10	संगीत कक्षायें, प्रौढ़ साक्षरता कक्षायें, मनोरंजनात्मक सुविधाएं।
14–त्रिपुरा	5	शैक्षिक एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण के साथ मनोरंजनात्मक सुविधाएं।
15–पाण्डिचेरी	2 श्रम कल्याण, 2 बाल कल्याण तथा 2 शिल्प केन्द्र	आन्तरिक खेलकूद, पुस्तकालय, रेडियो तथा विभिन्न हस्तशिल्पों में प्रशिक्षण।[1]

स्थानीय निकायों द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम

बड़े-बड़े नगरों की नगरपालिकाओं तथा महानगर के नगर निगमों में भी श्रमिकों के कल्याण हेतु अनेक प्रकार के कार्यक्रमों का आयोजन किया है। बम्बई नगर निगम ने अलग से श्रम कल्याण विभाग की स्थापना की है तथा कलकत्ता नगर निगम ने श्रमिकों के कल्याण के लिये शिक्षा, जलपानगृह, शिशु सदन, इत्यादि की व्यवस्था की है। विभिन्न स्थानीय निकायों द्वारा आयोजित किये गये कार्यक्रमों के अन्तर्गत सहकारी साख समितियों, क्रेशों, खेलकूद, शैक्षिक एवं मनोरंजनात्मक सुविधाओं, जलपानगृहों इत्यादि की व्यवस्था की गयी है।

मालिकों द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम

मालिकों द्वारा प्रदत्त कल्याण सेवायें संस्थान के स्थान, आकार एवं वित्तीय स्थिति, उत्पादन की प्रक्रिया, श्रमिक वर्ग की रचना, प्रबन्धकों के दर्शन इत्यादि अनेक कारकों के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर भिन्न-भिन्न हैं। छोटे तथा मध्यम श्रेणी के संस्थानों द्वारा आयोजित कल्याण क्रियाओं के विषय में समुचित जानकारी उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक बड़े उद्योगों के मालिकों का प्रश्न है उनमें से अधिकतर प्रबुद्ध मालिकों ने श्रम कल्याण के महत्त्व को स्वीकार कर लिया है। विभिन्न विधानों के अन्तर्गत प्रावधानित कल्याण सम्बन्धी व्यवस्था

1. रिपोर्ट ऑफ दि नेशनल कमशिन ऑन लेबर इन इण्डिया, पृ० 143–44।

करने के अतिरिक्त वे ऐच्छिक रूप से भी अनेक प्रकार के कल्याण कार्यक्रम चला रहे हैं।

सूती कपड़ा उद्योग के मालिकों ने जिनमें डेल्ही क्लॉथ ऐण्ड जनरल मिल्स, शिवाजी राव कॉटन मिल्स, बिड़ला काटन मिल्स, इम्प्रेस मिल्स इत्यादि उल्लेखनीय हैं, अपनी मिलों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये चिकित्सालयों, क्रेशों, जलपानगृहों, सस्ते गल्ले की दूकानों; श्रमिकों के बच्चों को छात्रवृत्ति सहित शिक्षा की सुविधाओं इत्यादि की व्यवस्था की है।

जूट उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों के कल्याण का उत्तरदायित्व इण्डियन जूट मिल ऐसोसियेशन ने स्वयं सम्भाल रखा है। यह अपने सदस्य औद्योगिक संस्थानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना करता है जिनमें प्राथमिक पाठशालाओं, आन्तरिक एवं वाह्य खेलों तथा मनोरंजन की अन्य सुविधाओं की व्यवस्था की जाती है। इस समिति ने सेरामपुर, टीटागढ़, हजारीबाग, भद्रेश्वर, कनकीनाड़ा आदि प्रमुख जूट केन्द्रों पर श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना की है। प्रत्येक जूट मिलों में एक-एक चिकित्सालय स्थापित किया गया है तथा कुछ मिलों में प्रसूताओं के लिये प्रसूति गृहों, जलपानगृहों तथा क्रेशों आदि की व्यवस्था की गयी है। टीटागढ़ में 1940 में प्रारम्भ की गयी महिला कल्याण समिति ने विभिन्न जूट मिलों में मनोरंजन सम्बन्धी सुविधायें प्रदान की हैं।

बड़े पैमाने के इंजीनियरिंग संस्थानों में चिकित्सालयों, श्रमिकों की बस्तियों, श्रमिकों तथा उनके बच्चों के लिये शिक्षा, प्रशिक्षण, खेलकूद, मनोरंजन, जलपानगृहों को व्यवस्था की गयी है। टाटा आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी, जमशेदपुर द्वारा एक शहर सा बसा दिया गया है जिसमें श्रमिकों के मकान, अस्पताल, दर्जनों प्राथमिक पाठशालायें, पार्क, खेलकूद के मैदान इत्यादि हैं। इस कम्पनी ने जनजातीय एवं अनुसूचित जन जाति व अनुसूचित जाति कल्याण हेतु विशिष्ट सहायता देने के लिये अलग से कोष स्थापित कर रखे हैं। इस कम्पनी में एक नगरीय सामुदायिक विकास का विभाग है जो कई नगरीय केन्द्र चला रहा है।

सभी कागज की मिलों में निःशुल्क चिकित्सा का प्रबन्ध है। कुछ संस्थानों में श्रमिकों एवं उनके बच्चों को शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया है। सीमेण्ट उद्योग में निःशुल्क चिकित्सकीय एवं शैक्षिक सुविधाओं का प्रावधान किया गया है। शक्कर उद्योग में चिकित्सकीय तथा शैक्षिक सुविधाओं के अतिरिक्त श्रमिकों के क्लब भी स्थापित किये गये हैं जिनके द्वारा श्रमिकों की मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। कुछ प्रबुद्ध मालिकों

द्वारा जलपानगृहों, सहकारी समितियों तथा गल्ले की दूकानों की स्थापना भी की गयी है।

कोयला, अभ्रक, लोह खनिज, मैंगनीज खनिज, क्रोम खजिज, चूना-पत्थर तथा डोलोमाइट खानों में स्थापित किये गये श्रम कल्याण कोषों के अधीन देय सहायता का सदुपयोग करते हुए वे भी अनेक प्रकार के कल्याण कार्यक्रमों का आयोजन कर रहे हैं। इन खानों के मालिक अपनी व्यक्तिगत क्षमता में भी श्रमिकों तथा उनके बच्चों के लिए शिक्षा, मनोरंजन, खेलकूद इत्यादि की व्यवस्था करते हैं। मैसूर की कोलार गोल्ड फील्ड में बड़े पैमाने पर श्रमिकों के कल्याण की योजना चलायी जा रही है जिसके अधीन निःशुल्क स्वास्थ्य सेवाओं, मातृत्व गृहों, शैक्षिक एवं मनोरंजन सम्बन्धी सुविधा तथा सस्ते गल्ले की व्यवस्था की गयी है।

बागानों के मालिक भी अपने श्रमिकों के कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम चला रहे हैं। पश्चिमी बंगाल, आसम तथा दक्षिण भारत के चाय बागानों के मालिक क्रेशों, बच्चों के लिये भोज्य पदार्थों के वितरण, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, खेलकूद, इत्यादि के कार्यक्रम आयोजित कर रहे हैं।

रेल विभाग द्वारा चिकित्सालयों, विश्राम तथा आवास गृहों, मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्रों, मनोरंजन तथा खेलकूद, शैक्षिक सुविधाओं, कर्मचारी लाभ कोषों, सहकारी उपभोक्ता भण्डारों, सहकारी साख समितियों, सस्ते गल्ले की दूकानों इत्यादि की व्यवस्था की गयी है। डाक तथा तार विभाग द्वारा चिकित्सा पर होने वाले व्यय की प्रतिपूर्ति की जाती है तथा रात्रि पाठशालाओं, मनोरंजन क्लबों, जलपानगृहों, सहकारी साख समितियों इत्यादि की भी व्यवस्था की गयी है।

जहाजरानी श्रमिक (सुरक्षा एवं कल्याण) योजना, 1961 के अधीन पेयजल, शौचालयों, मूत्रालयों, आरामगृहों तथा जलपानगृहों की व्यवस्था की गयी है। बन्दरगाह न्यास कर्मचारी कोषों की सहायता से बन्दरगाह न्यास आवास, शिक्षा तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं का आयोजन करते हैं। जहाजरानी श्रम बोर्डों द्वारा श्रमिकों के कल्याण हेतु श्रम कल्याण कोष की स्थापना की गयी है जिसके माध्यम से अनेक प्रकार के श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं।

श्रमिक संघों का तथा अन्य समाज कल्याण संगठनों द्वारा अयोजित किये गये श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम

1. श्रमिक संघों द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम

यद्यपि श्रमिक संघ उपयुक्त साधनों के अभाव, आपसी वैमनस्य, घनिष्ट राजनैतिक सम्बन्धों, उचित नेतृत्व के अभाव इत्यादि के कारण श्रम कल्याण कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सके हैं किन्तु फिर भी कुछ श्रमिक संघों ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। इनमें टेक्स्टाइल लेबर असोसियेशन कानपुर, मजदूर सभा, ऑल इण्डिया रेलवे मेन्स फेडरेशन, फेडरेशन ऑफ इण्डियन रेलवे मेन, मिल मजदूर संघ, इन्दौर का उल्लेख किया जा सकता है। कपड़ा श्रम जाँच समिति अपनी आय का लगभग 60 प्रतिशत से लेकर 70 प्रतिशत तक श्रम कल्याण कार्यों पर खर्च करती है। इसके द्वारा अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों का संचालन किया जाता है। इन केन्द्रों द्वारा चिकित्सा, शिक्षा, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं, विचार-विमर्श, सामूहिक वार्ताओं, गोष्ठियों, अध्ययन दलों, सामाजिक शिक्षा कार्यक्रमों, सामाजिक एवं एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। कानपुर मजदूर सभा ने भी श्रमिकों के कल्याण के लिये चिकित्सा, पुस्तकालय, वाचनालय एवं मनोरंजन की व्यवस्था की है। ऑल इण्डिया रेलवे मेन्स फेडरेशन तथा फेडरेशन ऑफ इण्डियन रेलवे मेन ने भी श्रमिकों एवं उनके पारिवारिक सदस्यों के लिए चिकित्सा, सहकारी साख समितियों, मनोरंजन को सुविधाओं इत्यादि की व्यवस्था की है। मिल मजदूर संघ, इन्दौर ने भी श्रमिकों के बच्चों के लिये बाल मन्दिर एवं स्त्री श्रमिकों के लिए महिला मन्दिर की स्थापना की है।

2. समाज सेवी संस्थानों द्वारा आयोजित किये गये श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम

इस प्रकार की समाज सेवी संस्थाओं में प्रमुख रूप से बम्बई प्रेसीडेन्सी महिला समिति, बम्बई समाज सेवी लोग, मातृ एवं शिशु कल्याण समिति, यंग-मेन्स क्रिश्चियन असोसियेशन आदि संस्थाओं का उल्लेख किया जा सकता है। ये संस्थायें श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों के लिये रात्रि पाठशालाओं, चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं, सिलाई एवं कढ़ाई प्रशिक्षण केन्द्रों, मनोरंजन-सुविधाओं, पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की व्यवस्था करती हैं।

श्रम कल्याण अधिकारी

श्रमिकों के लिये उपयुक्त कार्य की शर्तों को सुनिश्चित, श्रमिकों की अनु-

भूत आवश्यकताओं की पूर्ति, श्रमिकों की समस्याओं के निराकरण, श्रमिकों में पायी जाने वाली रूढ़ियों, बुराइयों एवं कुरीतियों से उन्हें मुक्त कराने, श्रमिकों की परम्परागत मनोवृत्तियों, विचारों एवं मूल्यों को आधुनिक बनाने, श्रमिकों के समुचित पोषण, वस्त्र, आवास, शिक्षा, प्रशिक्षण, चिकित्सकीय सुविधाओं इत्यादि की व्यवस्था करते हुये उनके व्यक्तित्व का विकास करने, श्रमिकों पर आश्रित सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने, उनकी समस्याओं का समाधान करने, उन्हें विकास के समुचित अवसर उपलब्ध कराने तथा उनके लिये एक इच्छित जीवन स्तर का आश्वासन प्रदान करने का कार्य निश्चित रूप से ऐसे कार्य हैं जो ऐसे व्यक्ति द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता है जो इससे सम्बन्धित आवश्यक ज्ञान, प्राविधिक निपुणताओं तथा प्रजातांत्रिक एवं मानवतावादी दर्शन से युक्त हो और जिसे इन कार्यों को पूर्णकालिक रूप से वैतनिक आधार पर करने के लिए उत्तरदायित्व प्रदान किया जाय।

औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक स्थिति में पाये जाने वाले कारखानों, खानों इत्यादि में कार्य की शर्तें अमानवीय थीं, कार्य की परिस्थितियाँ चिंतनीय थीं, आवास के स्तर निम्न थे और कुल मिलाकर श्रमिकों के जीवन का स्तर दयनीय था। उनके द्वारा किया जाने वाला काम रचनात्मक एवं स्वस्थ अनुभव प्रदान करने वाला कार्य न होकर उनके व्यक्तित्व पर हानिकारक प्रभाव डालने वाला श्रम था और इसीलिए इन कार्यकर्ताओं को श्रमिक मानते हुए एक न्यूनतम इच्छित स्तर का आश्वासन प्रदान करने हेतु श्रम कल्याण कार्यों के आयोजन की आवश्यकता का अनुभव किया गया और इस कार्य को प्रभावपूर्ण रूप से सम्पादित करने हेतु एक दक्ष एवं प्रशिक्षित कार्यकर्ता की अलग से नियुक्ति की गयी जिसे श्रम कल्याण अधिकारी के नाम से सम्बोधित किया गया और जिसे श्रम कल्याण के अतिरिक्त औद्योगिक सम्बन्धों तथा कर्मचारियों के प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन का उत्तरदायित्व भी प्रदान किया गया।

श्रम कल्याण अधिकारी की भूमिका एवं स्थिति प्रारम्भ से ही अनिश्चितता के घेरे में रही है और इसके सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किये जाते रहे हैं। श्रम कल्याण अधिकारी की वर्तमान समय में नियुक्ति की व्यवस्था कारखाना अधिनियम की धारा 49, खान अधिनियम की धारा 58 (Q) तथा बागान अधिनियम की धारा 18 के अन्तर्गत वैधानिक रूप से की गयी है। इन प्रावधानों के अधीन 500 या इससे अधिक श्रमिकों को सेवायोजित करने वाले कारखानों तथा खानों में एवं 300 अथवा इससे अधिक श्रमिकों को सेवायोजित करने वाले बागानों में श्रम कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति की

जानी चाहिए। केन्द्र सरकार द्वारा 1951 में बनाये गये तथा 1957 में संशोधित किये गये वेलफेयर ऑफिसर्स (रिक्रूटमेन्ट ऐण्ड कंडिशन्स आफ सर्विस) रूल्स जिन्हें मॉडल रूल्स कहा जाता है, के अधीन यह प्रावधान किया गया कि हर ऐसे कारखाने के मालिक को जिसमें 500 अथवा इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, कम-से-कम एक कल्याण अधिकारी की नियुक्ति करनी होगी; जहाँ श्रमिकों की संख्या 2000 से अधिक है वहाँ 2000 से ऊपर पाये जाने वाले प्रत्येक 500 श्रमिकों के लिए एक कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की जायेगी। जहाँ एक से अधिक कल्याण अधिकारी हैं, उनमें से एक को मुख्य कल्याण अधिकारी तथा अन्य को सहायक कल्याण अधिकारी के नाम से सम्बोधित किया जायेगा। 1955 में बनाये गये तथा 1973 एवं 1990 में संशोधित किये गये उ० प्र० फैक्ट्रीज वेलफेयर ऑफिसर्स रूल्स के अन्तर्गत इस बात का प्रावधान किया गया है कि ऐसे प्रत्येक कारखाने के मालिक को जिसमें सामान्यतः 500 अथवा इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, निम्नलिखित ग्रेड के कल्याण अधिकारी की नियुक्ति करनी पड़ेगी :—

कल्याण अधिकारी ग्रेड—I.	(2500 अथवा इससे अधिक/3000-100/ 3500-125-4750 श्रमिकों को सामान्यतः प्रतिदिन सेवायोजित करने वाले कारखानों में)
कल्याण अधिकारी ग्रेड—II.	(1200 श्रमिकों अथवा 2200-75-2800/ द० रो० 100-4000/ इससे अधिक किन्तु 2499 से कम श्रमिकों को सामान्यतः प्रतिदिन सेवायोजित करने वाले कारखानों में)
कल्याण अधिकारी ग्रेड—III.	(500 अथवा इससे अधिक 2000-60-2300/ द० रो० 75-3200/- किन्तु 999 से कम श्रमिकों को सामान्यतः प्रतिदिन सेवायोजित करने वाले कारखानों में)

मॉडल नियमों के अनुसार श्रम कल्याण अधिकारी के स्थान का विज्ञापन दो अखबारों में दिया जाना चाहिये और कारखाने के मालिक द्वारा नियुक्ति चयन समिति द्वारा आवेदकों में से नियुक्ति की जानी चाहिये। मालिक द्वारा नियुक्ति की सूचना राज्य सरकार अथवा उसके द्वारा घोषित प्राधिकरण को भेजी जानी चाहिये। इस सूचना में नियुक्त किये गये अधिकारी की योग्यताओं इत्यादि तथा उसकी सेवा की शर्तों को जानकारी भेजी जानी चाहिये। उत्तर प्रदेश फैक्ट्रीज वेलफेयर ऑफिसर्स रूल्स के अधीन जब किसी कारखाने में कल्याण अधिकारी का स्थान रिक्त होता है तो इसकी सूचना मालिक द्वारा स्थान के

रिक्त होने के 7 दिन के अन्दर मुख्य कारखाना निरीक्षक तथा निरीक्षक को प्रदान की जायेगी। नियुक्ति हेतु उपयुक्त अभ्यर्थी पाने के लिए मालिक को रिक्त स्थान का विज्ञापन कम से कम दो प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों में देना होगा। कल्याण अधिकारी की नियुक्ति हो जाने पर इसकी सूचना श्रम आयुक्त, मुख्य कारखाना निरीक्षक तथा क्षेत्र के कारखाना निरीक्षक को प्रदान की जायेगी जिसमें नियुक्त किये गये अधिकारी की अर्हताओं तथा ग्रेड सहित पूर्ण विवरण होगा।

उत्तर प्रदेश फैक्ट्रीज वेलफेयर आफिसर्स रूल्स, 1990 के अधीन कल्याण अधिकारी की स्थिति कारखाने के ज्येष्ठ कार्यपालक की होगी और महँगाई भत्ता, बोनस, प्रॉविडेन्ट फण्ड, अवकाश, आवास, चिकित्सा एवं अन्य सुविधायें उन्हीं नियमों से नियंत्रित होंगी जो कारखाने के ज्येष्ठ कार्यपालकों पर लागू होती हैं।

मॉडल रूल्स के अधीन किसी भी व्यक्ति को जब तक कल्याण अधिकारी के रूप में नहीं नियुक्त किया जायेगा तब तक कि उसके पास (क) राज्य सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय की डिग्री न हो; (ख) राज्य सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त किसी संस्थान की समाज विज्ञानों में उपाधि अथवा प्रमाण-पत्र प्राप्त न हो; (ग) उस कारखाने जिसमें उसकी नियुक्ति होती है, बहुसंख्यक श्रमिकों द्वारा बोली जाने वाली भाषा का उसे समुचित ज्ञान न हो। उत्तर प्रदेश फैक्ट्रीज वेलफेयर आफिसर्स रूल्स, 1990 के अधीन किसी भी व्यक्ति को कल्याण अधिकारी तब तक नियुक्त नहीं किया जायेगा जब तक कि (क) वह भारत का नागरिक या सिक्किम की प्रजा न हो; (ख) श्रेणी 1 तथा 2 में नियुक्ति हेतु वह नियुक्ति की तारीख को कम से कम 21 वर्ष की आयु का न हो तथा श्रेणी 3 में नियुक्ति के मामले में वह नियुक्ति की तारीख को कम से कम 21 वर्ष का किन्तु 30 वर्ष से अधिक का न हो; तथापि अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों, सैन्य बल के आहत सदस्यों तथा स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों के आश्रितों तथा कुटुम्ब के सदस्यों को आयु की उच्चतम सीमा में 5 वर्ष की छुट प्रदान की जायेगी; (ग) उसे देवनागरी लिपि में हिन्दी का उचित ज्ञान न हो; (घ) वह विधि द्वारा स्थापित किसी विश्वविद्यालय की कोई डिग्री न रखता हो; (ङ) विधि द्वारा स्थापित किसी विश्वविद्यालय से समाज विज्ञान अथवा श्रम कल्याण अथवा औद्योगिक सम्बन्ध एवं कार्मिक प्रबन्ध में कोई डिग्री न रखता हो, अथवा निम्नलिखित में से किसी विश्वविद्यालय या संस्था से समाज विज्ञान या श्रम कल्याण या औद्योगिक सम्बन्ध एवं कार्मिक प्रबन्ध में डिप्लोमा प्राप्त न हो :—

1. काशी विद्यापीठ, वाराणसी को समाज कार्य या औद्योगिक सम्बन्ध और कार्मिक प्रबन्ध में स्नातकोत्तर उपाधि।

2. टाटा इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साईंसेज, बम्बई की सामाजिक सेवा प्रशासन में उपाधि।

3. इन्स्टीट्यूट ऑफ लेबर वेलफेयर बम्बई का दीर्घकालीन पाठ्यक्रम में डिप्लोमा।

4. इन्स्टीट्यूट ऑफ वेलफेयर बम्बई का दो वर्ष का डिप्लोमा।

5. लेबर रिलेशन्स इन्स्टीट्यूट, जमशेदपुर का इन्डस्ट्रियल रिलेशन्स ऐण्ड वेलफेयर में डिप्लोमा।

6. स्कूल ऑफ सोशल वर्क, मद्रास का सामाजिक सेवा प्रशासन में डिप्लोमा।

7. लालबहादुर शास्त्री इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेन्ट ऐण्ड डेवलपमेन्ट, लखनऊ का कार्मिक प्रबन्ध में डिप्लोमा।

8. इन्स्टीट्यूट ऑफ इंजिनियरिंग ऐण्ड टेक्नोलाजी का स्नातकोत्तर डिप्लोमा।

9. राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित एतदर्थ अन्य प्रतिष्ठित संस्थान का डिप्लोमा या उपाधि।

वर्णित नियुक्ति एवं स्थिति सम्बन्धी प्रावधानों से स्पष्ट है :—

1. 500 अथवा इससे अधिक श्रमिकों को प्रतिदिन सामान्यतय: सेवायोजित करने वाले कारखाने में श्रम कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। इन अधिकारियों की संख्या श्रमिकों की संख्या पर निर्भर करती है। बड़ी संख्या में श्रमिकों को सेवायोजित करने वाले कारखानों में एक से अधिक श्रेणी तथा पदनाम वाले कल्याण अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। निम्नस्तरीय कल्याण अधिकारियों की श्रेणी में दक्षता रोक का भी प्रावधान है।

2. कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति मालिक द्वारा कम से कम दो समाचार-पत्रों में विज्ञापन प्रकाशित करने के पश्चात् की जाती है।

3. कल्याण अधिकारी का पद रिक्त होने तथा इसके भरे जाने की स्थिति में नियुक्त किये गये अभ्यर्थी की अर्हताओं इत्यादि से सम्बन्धित सूचना सरकार द्वारा निर्दिष्ट किये गये अधिकारियों को भेजी जाती है।

4. नियुक्ति हेतु अभ्यर्थी को भारत सरकार अथवा सिक्किम का निवासी होना चाहिये।

5. अभ्यर्थी की आयु कम से कम 21 वर्ष तथा अधिक से अधिक 30 वर्ष की होनी चाहिये। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों, सैन्य बल के आहत व्यक्तियों तथा स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों के आश्रितों एवं परिवार के सदस्यों को अधिकतम आयु की सीमा में छूट प्रदान किये जाने का प्रावधान है।

6. अभ्यर्थी के पास किसी मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय अथवा संस्था का समाज विज्ञान अथवा श्रम कल्याण अथवा औद्योगिक सम्बन्ध एवं कार्मिक प्रबन्ध में डिग्री अथवा डिप्लोमा होना चाहिये।

7. कल्याण अधिकारी को बहुसंख्यक श्रमिकों द्वारा बोली जाने वाली भाषा का समुचित ज्ञान होना चाहिए।

8. कल्याण अधिकारी की स्थिति एक ज्येष्ठ कार्यपालक जैसी होती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कल्याण अधिकारी की अर्हताओं में समाज कार्य का विशिष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं है जबकि ऐतिहासिक तथ्य यह है कि सर्वप्रथम इस देश में सर दोराब जी टाटा ग्रेजुएट स्कूल ऑफ सोशल वर्क ने ही श्रम कल्याण हेतु अपेक्षित कार्यकर्ताओं को समुचित प्रशिक्षण प्रदान करते हुए तैयार करने का चुनौती पूर्ण उत्तरदायित्व ग्रहण किया था। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि अर्हताओं में आवश्यक संशोधन करते हुए इस बात का प्रावधान किया जाय कि अभ्यर्थी के पास किसी मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय अथवा संस्था से समाज कार्य, समाज कल्याण अथवा औद्योगिक सम्बन्ध एवं कार्मिक प्रबन्ध में डिग्री अथवा डिप्लोमा अवश्य होना चाहिये तथा संस्थाओं को निर्दिष्ट करने वाली अनुसूची को समाप्त किया जाना चाहिए क्योंकि इस प्रकार की अनुसूची में विश्वविद्यालयों संस्थानों के नाम राजनीतिक दबाव तथा प्रशासन से सम्बद्ध अधिकारियों के पूर्वाग्रहों के कारण जोड़े अथवा निकाले जाते हैं।

श्रम कल्याण अधिकारी की स्थिति नियमतः कारखाने के ज्येष्ठ कार्यपालक जैसी अवश्य है किन्तु वास्तव में उसकी स्थिति मालिकों की प्रबुद्धता, मालिकों के साथ कल्याण अधिकारी के सम्बन्ध, मालिकों के लिये कल्याण अधिकारी की उपयोगिता तथा कल्याण अधिकारी की व्यक्तिगत योग्यता एवं क्षमता पर निर्भर करती है। ये बड़े दुर्भाग्य की बात है कि संगठित क्षेत्रों में भी कल्याण से सम्बन्धित अनेकों कानूनी प्रावधानों का मालिकों द्वारा खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन किया जाता है और कल्याण अधिकारी एक मूकदर्शक सा बैठा रहता है।

कल्याण अधिकारी के आधुनिकतम वेतनमान भी उत्पादन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं और यहाँ तक कि वे कार्मिक प्रबन्धक औद्योगिक सम्बन्धों से सम्बद्ध ज्येष्ठ कार्यपालकों की तुलना में कहीं पर्याप्त निम्न हैं। न केवल इतना

ही, वरन् उत्पादन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित तथा कार्मिक प्रबन्ध एवं औद्योगिक सम्बन्धों से सम्बद्ध ज्येष्ठ कार्यपालकों को अन्य नाना प्रकार की सुविधायें तथा सीमान्त लाभ भी प्रदान किये जाते हैं। कल्याण अधिकारियों को पदोन्नति के कोई अवसर उपलब्ध नहीं हैं जिसके लिये वे सदैव मालिकों की कृपा के आकांक्षी रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कल्याण अधिकारियों को भी एक समयबद्ध वेतनमान प्रदान किया जाय ताकि उन्हें पदोन्नति के समुचित अवसर अधिकार के रूप में स्वतः प्राप्त होते रहें।

मॉडल रूल्स के अन्तर्गत कल्याण अधिकारियों के निम्नलिखित कर्तव्य बताये गये हैं :—

1. कारखाने के प्रबन्धकों एवं श्रमिकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने हेतु सम्पर्क स्थापित करना तथा विचार-विमर्श करना;

2. कारखाना प्रबन्धकों को श्रमिकों की वैयक्तिक एवं सामूहिक शिकायतों की जानकारी कराना ताकि उनका शीघ्रता के साथ समाधान हो सके तथा प्रबन्धकों एवं श्रमिकों के बीच सम्पर्क अधिकारी के रूप में कार्य करना;

3. कारखाने के मालिकों को श्रम नीतियों का प्रतिपादन करने हेतु श्रमिकों के विचारों का अध्ययन करना तथा उन्हें समझना तथा इन नीतियों का श्रमिकों के समक्ष उनकी समझी जाने वाली भाषा में विवेचन करना;

4. कारखाने के प्रबन्धकों तथा श्रमिकों के बीच विवाद उत्पन्न होने की स्थिति में अपने प्रभाव का प्रयोग करने हेतु औद्योगिक सम्बन्धों पर निगाह रखना तथा उन्हें समझाते हुए समाधान करने का प्रयास करना;

5. कारखाने के सम्बन्धित विभागों को कारखाना अधिनियम 1948 तथा इसके अधीन बनाये गये नियमों के प्रावधानों के लागू किये जाने से सम्बन्धित वैधानिक अथवा अन्य उत्तरदायित्वों के पूर्ण किये जाने में सलाह देना तथा कारखाना निरीक्षक एवं कर्मचारियों की चिकित्सकीय जाँच, स्वास्थ्य अभिलेख, खतरनाक कार्यों के अधीक्षण, बीमारों के घरों पर जाने और बीमारी के उपरान्त स्वास्थ्य लाभ, दुर्घटनाओं की रोकथाम तथा सुरक्षा समितियों के अधीक्षण क्रमबद्ध रूप से संयन्त्र के निरीक्षण, सुरक्षा सम्बन्धी शिक्षा, दुर्घटनाओं की जांच, मातृत्व सम्बन्धी लाभों एवं कर्मकार क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित चिकित्सकीय सेवाओं को स्थापित करना;

6. कारखाने के सम्बन्धित विभागों एवं श्रमिकों के बीच ऐसे सम्बन्धों को प्रोत्साहित करना जिनके परिणामस्वरूप कार्य की शर्तों में सुधार तथा उत्पादन

क्षमता में वृद्धि हो सके और श्रमिकों की कार्य के वातावरण के साथ सामंजस्य एवं अनुकूलन स्थापित करने में सहायता करना;

7. कार्य एवं संयुक्त उत्पादन समितियों, सहकारी समितियों एवं सर्वप्रथम सुरक्षा एवं कल्याण समितियों के गठन को प्रोत्साहित करना तथा उनके कार्य का अधीक्षण करना;

8. जलपानगृहों, आराम के लिये छायादार स्थानों, क्रेशों, शौचालयों, पेयजल, बीमारी एवं लाभकारी योजनाओं के भुगतानों, ऋण प्रदान किये जाने तथा श्रमिकों को वैधानिक परामर्श प्रदान किये जाने, पेंशन एवं सेवानिवृत्ति कोषों, ग्रेच्युटी भुगतानों के विषय में परामर्श प्रदान किये जाने जैसी सुख-सुविधाओं के प्रावधान को प्रोत्साहित करना;

9. सवेतन अवकाश की स्वीकृति के विनियमन में कारखाना प्रबन्धकों की सहायता करना तथा श्रमिकों को सवेतन अवकाशों तथा अन्य अवकाश सम्बन्धी अधिकारों से सम्बन्धित प्रावधानों को स्पष्ट करना तथा अधिकृत अनुपस्थिति को नियमित करने हेतु अवकाश की स्वीकृति के लिये प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किये जाने के मामले में श्रमिकों का मार्गदर्शन करना;

10. आवास सुविधाओं, भोज्य पदार्थों, सामाजिक एवं मनोरंजनात्मक सुविधाओं, सफाई, व्यक्तिगत कार्मिक समस्याओं तथा बच्चों की शिक्षा सम्बन्धी परामर्श जैसी कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं के प्रावधान में सलाह देना;

11. नवागन्तुकों के प्रशिक्षण, शिशुओं, बदली एवं पदोन्नति वाले श्रमिकों, अनुदेशकों एवं अधीक्षकों, नोटिस बोर्डों के अधीक्षण एवं नियन्त्रण तथा श्रमिकों की श्रमिक शिक्षा हेतु सूचना बुलेटिनों से सम्बन्धित प्रश्नों के सम्बन्ध में कारखाना प्रबंधकों को सलाह देना तथा तकनीकी संस्थाओं में उनके द्वारा जाकर प्रशिक्षण लिये जाने को प्रोत्साहित करना तथा

12. ऐसे सुझाव देना जो श्रमिकों के जीवन स्तर में वृद्धि करने में सहायक हों तथा सामान्य रूप से उनके कल्याण को प्रोत्साहित करें।

उत्तर प्रदेश फैक्ट्रीज वेलफेयर ऑफिसर्स रूल्स, 1973 के अनुसार श्रम कल्याण अधिकारी के निम्नलिखित कर्तव्य हैं :—

1. सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहित करना तथा श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच कड़ी का काम करना;

2. श्रमिकों की उनकी सेवा की शर्तों से सम्बन्धित नाराजगियों एवं शिकायतों का यथासम्भव अधिक से अधिक शीघ्रता के साथ निस्तारण करना;

38

3. श्रम कानूनों एवं आदेशों तथा वैधानिक उत्तरदायित्वों के उल्लंघन को कारखाने के प्रबन्धक अथवा मालिक के संज्ञान में लाना तथा कारखाने के प्रबन्धकों को सर्वाधिक अथवा अन्य प्रकार के उत्तरदायित्वों की पूर्ति में सहायता देना जो कारखाना अधिनियम 1948; मजदूरी भुगतान अधिनियम, 1936; बाल सेवा योजन अधिनियम, 1938 तथा कारखानों पर लागू अन्य श्रम कानूनों और उनके अधीन बनाये गये उप कानूनों के प्रावधानों के लागू किये जाने से सम्बन्धित हैं तथा मुख्य कारखाना निरीक्षक, श्रम आयुक्त एवं श्रमिकों की चिकित्सकीय जाँच, स्वास्थ्य अभिलेखों, खतरनाक कार्यों के अधीक्षण, बीमारों एवं बीमारी के उपरान्त स्वास्थ्य लाभ कर रहे श्रमिकों के पास जाने, दुर्घटना की रोकथाम, सुरक्षा सम्बन्धी अधीक्षण, क्रमबद्ध रूप से संयंत्र की जाँच, सुरक्षा सम्बन्धी शिक्षा, दुर्घटनाओं की जांच, मातृत्व हित लाभ, श्रमिक क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित चिकित्सकीय सेवा से सम्पर्क बनाये रखना;

4. औद्योगिक पंचायत का गठन किये जाने की स्थिति में इसके सचिव के रूप में कार्य करना;

5. श्रम कल्याण कार्य का आयोजन तथा इसका अधीक्षण करना;

6. श्रमिकों की परिस्थितियों तथा श्रम कल्याण की विशिष्ट जानकारी की अपेक्षा रखने वाले मामले में प्रबन्धकों को सलाह देना तथा श्रमिकों की कार्य की परिस्थितियों में सुधार करने हेतु उपयुक्त कदम उठाना;

7. सम्भावित अवैध हड़तालों की स्थिति में श्रमिकों पर अवैध तालाबन्दियों की घोषणा की स्थिति में प्रबन्धकों पर अपने प्रभाव से संयम स्थापित कराना।

8. श्रमिकों एवं प्रबन्धकों की अन्य अवैध गतिविधियों तथा तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों को रोकना;

9. घूसखोरी एवं भ्रष्टाचार का पता लगाना तथा रोकना और ऐसे मामलों को कारखाने के प्रबन्धकों की जानकारी में लाना;

10. कारखाने के अन्दर तथा बाहर श्रमिकों द्वारा प्रयोग में लाये गये मकानों, सड़कों, पुलों इत्यादि की स्थितियों के विषय में सम्बन्धित अधिकारियों को प्रत्यावेदन देना तथा

निम्नलिखित सहित सभी श्रम कानूनों तथा योजनाओं के प्रावधानों के कार्यान्वयन की देखभाल करना :

1. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम 1948
2. कर्मचारी प्रॉविडेन्ट फण्ड अधिनियम 1952

तथा इसके अधीन बनाई गई योजनायें

3. उ० प्र० औद्योगिक आवास अधिनियम 1955
4. राष्ट्रीय अल्प बचत योजना
5. केन्द्रीय श्रमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा संचालित श्रमिक शिक्षा योजना
6. औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947
7. उ० प्र० औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947
8. कारखाना अधिनियम 1948
9. मजदूरी भुगतान अधिनियम 1936
10. बाल सेवा योजना अधिनियम 1938
11. मातृत्व हित लाभ अधिनियम 1961
12, श्रमिक संघ अधिनियम 1936
13. औद्योगिक सेवायोजन (स्थायी अध्यादेश अधिनियम 1946
14. दूकान एवं वाणिज्य अधिष्ठान अधिनियम 1962
15. राष्ट्रीय एकीकरण योजना
16. श्रमिकों में परिवार नियोजन
17. श्रमिकों की उपभोक्ता सहकारी समितियाँ तथा सहकारी खास समितियाँ तथा
18. श्रमिकों में अस्पृश्यता का निवारण ।

मॉडल रूल्स तथा उत्तर प्रदेश लेबर वेलफेयर आफिसर्स रूल्स के अन्तर्गत प्राविधानित उत्तरदायित्वों का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि श्रम कल्याण अधिकारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अध्ययन तथा परामर्श का आश्रय लेते हुए श्रमिकों के कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों को आयोजित कराने के साथ-साथ उनके सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधानों सहित अन्य प्रकार के सांविधिक एवं संविदागत प्रावधानों को प्रभावपूर्ण रूप से लागू करायें तथा श्रमिकों की शिकायतों एवं नाराजगियों को शीघ्रातिशीघ्र दूर करते हुए तथा संस्थान स्तर पर द्विपक्षीय संगठनों के माध्यम से श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच सक्रिय सहयोग को बढ़ाते हुए उनमें सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों को विकसित करें । इस प्रकार कारखाने के अन्दर श्रमिकों के लिये तथा कारखाने के बाहर श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों के लिये बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उनके व्यक्तित्व को कार्य से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित दुष्प्रभावों तथा सामाजिक बुराइयों के कुप्रभावों से बचाने सहित विभिन्न प्रकार के कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन के साथ-साथ श्रमिकों की नाराजगियों एवं शिकायतों का शीघ्राति-शीघ्र निवारण, श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच पारस्परिक विचार-विमर्श के

माध्यम से सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना तथा श्रमिकों से सम्बन्धित विभिन्न अधिनियमों, नियमों एवं योजनाओं की श्रमिकों को जानकारी कराने के साथ-साथ उनके प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व कल्याण अधिकारियों पर डाला गया है और इस प्रकार उनसे अध्ययन करने, परामर्श देने, समझा-बुझा-कर प्रभावित करते हुए संयम विकसित करने, अधीक्षण एवं निरीक्षण करने, सतर्कता बरतने, संगठनों का गठन करने, सम्बन्धों को सुधारने उन्हें स्वस्थ एवं सौहार्दपूर्ण बनाने, मानव संसाधनों का विकास करने और उन्हें कार्य सम्बन्धी एवं सामाजिक दुष्प्रभावों से बचाने, सहकारिता की भावना एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों, मनोवृत्तियों एवं व्यवहारों का विकास करने तथा कानूनों, नियमों एवं योजनाओं को लागू करने के कार्य करने की अपेक्षा की गयी है। इन उत्तर-दायित्वों एवं कार्यों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :—

1. अध्ययन, निदान तथा मूल्यांकन सम्बन्धी उत्तरदायित्व एवं कार्य;

2. दुष्प्रभावों से मुक्त कराने तथा विकास हेतु आवश्यक सेवाओं का प्रावधान करने वाले मानव संसाधन विकास सम्बन्धी उत्तरदायित्व एवं कार्य;

3. संगठनों की स्थापना तथा सम्बन्धित दलों के सम्मिलन को सुनिश्चित कराते हुये प्रभावपूर्ण संचालन सम्बन्धी उत्तरदायित्व एवं कार्य एवं

4. सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के विकास सम्बन्धी उत्तरदायित्व एवं कार्य;

5. वैधानिक एवं संविदागत प्रावधानों एवं योजनाओं के कार्यान्वियन सम्बन्धी कार्य।

इन उत्तरदायित्वों एवं कार्यों को प्रभावपूर्ण रूप से सम्पादित करने के लिये यह आवश्यक है कि कल्याण अधिकारी स्वयं इन उत्तरदायित्वों एवं कर्तव्यों की प्रभावपूर्ण निष्पत्ति की दृष्टि से अपेक्षित ज्ञान, निपुणताओं एवं मूल्यों में दक्ष हों; उनकी सेवा की शर्तें एवं कार्य की दशायें उपयुक्त हों, उन्हें अपने दायित्वों एवं कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिये अपेक्षित संसाधन उपलब्ध हों; उन्हें स्वतन्त्र रूप से बिना किसी भय के कार्य करने के अवसर प्राप्त हों और उन्हें अपने इन उत्तरदायित्वों एवं कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिये मालिकों का सहयोग प्राप्त हो। ऐसा तभी सम्भव है जब कि समाज कार्य वृत्ति में प्रशिक्षित व्यक्तियों की ही नियुक्ति कल्याण अधिकारी के रूप में की जाय तथा उन्हें कल्याण कार्य-क्रमों के आयोजन हेतु अपेक्षित धनराशि उपलब्ध करायी जाय। इसके लिये विभिन्न उद्योगों में अधिभार लगाते हुए कल्याण कोषों की स्थापना किये जा

की आवश्यकता है; उनकी कार्य की शर्तों एवं परिस्थितियों को उपयुक्त बनाया जाय जिसके लिए संस्थान में उनकी स्थिति सामान्य प्रबन्धक के अधीन किसी भी अन्य विभाग के अध्यक्ष के समकक्ष बनाये जाने तथा समयबद्ध प्रोन्नति प्रदान किये जाने की आवश्यकता है तथा उन्हें स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष रूप से बिना किसी भय के कार्य करने के अवसर प्रदान किये जायें जिसके लिये उनके वेतन का (यदि आवश्यक हो तो कोषागार के माध्यम से) समय से भुगतान किये जाने एवं जनसेवक मानते हुए उनके विरुद्ध किसी भी अनुशासनिक कार्यवाही प्रारम्भ करने के पूर्व श्रम विभाग के सम्बन्धित सरकारी अधिकारियों की अनुमति लिये जाने के सम्बन्ध में समुचित वैधानिक प्रावधान किये जाने की आवश्यकता है। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश फैक्ट्रीज वेलफेयर ऑफिसर्स रूल्स के अधीन प्रबन्धकों को जो यह अधिकार है कि वे श्रमकल्याण अधिकारियों की भर्त्सना कर सकते हैं, इसे तुरन्त समाप्त किया जाना चाहिये।

श्रम कल्याण हेतु समाज कार्य प्रशिक्षण

अपनी प्रकृति में श्रम कल्याण, श्रमिकों की वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए, परामर्श देते हुए, संगठनों का निर्माण करते हुए, समझा-बुझाकर प्रभावित करते हुए, कानूनों को लागू करते हुए तथा सेवाओं को प्रदान करते हुए अन्तर्क्रिया एवं सम्बन्धों के माध्यम से सहायता प्रदान करने का कार्य है। समाज कार्य एक सहायता मूलक कार्य है जो वैज्ञानिक ज्ञान, प्राविधिक निपुणताओं तथा मानवतावादी एवं प्रजातांत्रिक दर्शन का प्रयोग करते हुये व्यक्तियों की एक व्यक्ति, समूह के सदस्य अथवा समुदाय के निवासी के रूप में उनकी मनोसामाजिक समस्याओं का अध्ययन एवं निदानात्मक मूल्यांकन करने के पश्चात् परामर्श, नकारात्मक तत्त्वों को हटाकर तथा सकारात्मक पहलुओं में वृद्धि कर पर्यावरण में परिवर्तन तथा आवश्यक सेवाओं के प्रावधान के माध्यम से सहायता प्रदान करता है ताकि वे समस्याओं से छुटकारा पा सकें, उनकी अनुभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, वे सामाजिक क्रिया में प्रभावपूर्ण भाग ले सकें, वे लोगों के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्धी स्थापित करते हुए आवश्यक अनुकूलन एवं समायोजन कर सकें, वे अपने जीवन में सुख एवं शान्ति का अनुभव कर सकें तथा वे स्वयं अपनी सहायता करने के योग्य बन सकें।

समाज कार्य की अपनी विशिष्ट शैलीगत पद्धतियाँ हैं जिन्हें वैयक्तिक समाज कार्य, सामूहिक समाज कार्य सामुदायिक संगठन, समाज कार्य प्रशासन, सामाजिक क्रिया एवं समाज कार्य शोध के नाम से जाना जाता है। ये सभी पद्धतियाँ श्रम कल्याण के विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित की जाने वाली

विविध प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित करने, कार्यक्रमों का आयोजन करने तथा सेवाओं को प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

वैयक्तिक समाज कार्य में व्यक्ति की मनोसामाजिक समस्याओं का अध्ययन एवं निदानात्मक मूल्यांकन करते हुये समस्या के समाधान हेतु अपेक्षित उपचार प्रदान किया जाता है। यह उपचार परामर्श, पर्यावरण में परिवर्तन तथा सेवार्थी के लिये आवश्यक सेवाओं के प्रावधान के माध्यम से किया जाता है। वैयक्तिक समाज कार्य की सहायता द्वारा सेवार्थियों के अहम् को सुदृढ़ किया जाता है, उनके मनोबल को ऊँचा किया जाता है, उनकी योग्यता एवं क्षमता में वृद्धि की जाती है, उनको कमियों से अवगत कराते हुए उनसे मुक्त किया जाता है, उन्हें समायोजन स्थापित करने के योग्य बनाया जाता है, उनमें लोगों के साथ सद्भावना एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता विकसित की जाती है, उन्हें सामाजिक क्रिया में अपने निर्धारित कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक स्थापित करते हुये प्रभावपूर्ण रूप से भाग लेने के लिये सम्प्रेरित किया जाता है तथा इसके लिये आवश्यक सामर्थ्य उत्पन्न किया जाता है; उन्हें अपने व्यक्तिगत हितों के साथ-साथ उन संगठनों के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आवश्यक त्याग एवं बलिदान करते हुये तथा सच्चाई एवं निष्ठा के साथ कार्य करते हुए अधिक से अधिक योगदान देने के लिए तैयार किया जाता है। हमारे श्रमिक आज भी अज्ञानता के शिकार हैं। वे अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों एवं बुराइयों से ग्रस्त हैं। उनकी सोच तथा मनोवृत्तियाँ एवं मूल्य दकियानूसी तथा रूढ़िवादी हैं। उनकी अनेक प्रकार की महत्त्वपूर्ण आवश्यकतायें अपूर्ण हैं। उनमें फिजूल खर्ची की आदत है। वे दुर्दिन के लिए बचत करने तथा अपने भावी जीवन तथा सन्तानों के जीवन को सुखमय बनाने की चिन्ता नहीं करते हैं। उनके परिवार बड़े हैं, उनमें लड़कियों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है। उनमें अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं है। उनमें अपने कर्तव्यों के प्रति भी अपेक्षित निष्ठा एवं लगन की कमी है। वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को संगठनात्मक एवं सामाजिक उद्देश्यों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। श्रमिकों में अनुपस्थिति एवं श्रमावर्त अधिक है। श्रमिक कार्य एवं संगठन के, साथ अपने को जोड़ नहीं पाता और परकीकरण की समस्या से ग्रस्त है। वे अनेकों लोगों के बीच रहते हुये भी अपने को अकेला महसूस करते हैं। वे नाना प्रकार की नवीन उत्पादन की प्रक्रियाओं के कारण उत्पन्न होने वाली विविध प्रकार की नवीन बीमारियों के शिकार हो रहे हैं। मशीनों पर कार्य करते हुये असुरक्षा अधिक बढ़ गयी है। वे अपने परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं की उचित रूप से पूर्ति नहीं कर पा रहे

हैं। उनकी तथा उनके परिवार के सदस्यों की आवास की परिस्थितियाँ तथा आसपास का वातावरण सन्तोषजनक नहीं है। उनके परिवारों में आज भी तनाव एवं संघर्ष कहीं अधिक है। उनके बच्चों में बाल आवारापन, भगोड़ापन, बाल अपराध, यौन विचलन कहीं अधिक है। वे आज भी ऋणग्रस्तता के शिकार हैं और एक सन्तोषजनक जीवनस्तर व्यतीत कर पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इन सभी समस्याओं से वैयक्तिक स्तर पर निपटने में वैयक्तिक समाज कार्य श्रमिकों की पर्याप्त सहायता कर सकता है।

सामूहिक समाज कार्य व्यक्तियों में समूह के सदस्य के रूप में प्रभावपूर्ण रूप से कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करता है। विशिष्ट रूप से समूह के सामान्य उद्देश्यों तथा उनकी प्राप्ति के साधनों को निर्धारित करने, समूह के अन्य सदस्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने, उनके साथ समायोजन करने, पारस्परिक भ्रान्तियों को दूर करने, एक दूसरे की भावनाओं का आदर करते हुए प्रजातांत्रिक रूप से व्यवहार करने, समूह में संगठन की स्थापना करने, नेतृत्व प्रदान करने तथा नेतृत्व का विकास करने, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों प्रकार के कार्यक्रमों का विकास करने, समूह के प्रति लगन की भावना उत्पन्न करने, सामूहिक रूप से मिलजुलकर निर्णय लेने, विभिन्न सदस्यों के मतों के बीच भिन्नता होने के बावजूद सभी के विचारों का आदर करते हुए मतैक्य का विकास करने, समन्वित रूप से कार्य करते हुए सामान्य सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति करने तथा प्रजातन्त्र को व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग बनाने के लिए सामूहिक समाज कार्य का प्रयोग किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप नियोजित, संगठित एवं समन्वित क्रियायें सम्भव हो पाती हैं। श्रमिकों के सन्दर्भ में सामूहिक समाज कार्य इसलिए उपयोगी है क्योंकि इसके माध्यम से असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों को संगठित किया जा सकता है, श्रमिक संघों को अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से चलाया जा सकता है, श्रमिकों में उत्तरदायी नेतृत्व का विकास किया जा सकता है, श्रमिकों के मनोरंजन हेतु प्रभावपूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये जा सकते हैं और इनके माध्यम से श्रमिकों द्वारा व्यर्थ में बातचीत कर गँवाये गये अथवा बुरी लतों में फँस कर बर्बाद किये गये रिक्त समय का सदुपयोग किया जा सकता है, उनमें सामंजस्य करने की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है, उन्हें सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करने के योग्य बनाया जा सकता है, द्विपक्षीय एवं त्रिपक्षीय समितियों एवं संगठनों में प्रभावपूर्ण तथा प्रजातांत्रिक रूप से भाग लेने में सक्षम बनाया जा सकता है, श्रमिकों में अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को ठीक से निभाने की योग्यता का विकास

किया जा सकता है, उन्हें अपने समूह में अनौपचारिक रूप से लिए गये निर्णयों के आधार पर स्वस्थ एवं अनुकूल मान्यताओं का विकास करते हुये उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से सक्षम बनाया जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप मालिकों की मनोवृत्ति को श्रमिकों के अनुकूल बदलने तथा श्रम कल्याण हेतु स्वेच्छापूर्वक अधिक धनराशि प्रदान करने तथा स्वयं श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम चलाने के लिए सम्प्रेरित करने में सहायता मिल सकती है।

सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत समुदाय के इतिहास की जानकारी प्राप्त करते हुये, इसकी विभिन्न महत्त्वपूर्ण घटनाओं को समझते हुये, समुदाय की अनुभूत आवश्यकताओं का अध्ययन करते हुये, इनमें प्राथमिकता स्थापित करते हुये, इनकी पूर्ति के लिए उपलब्ध विभिन्न प्रकार के आन्तरिक एवं वाह्य संसाधनों का पता लगाकर उन्हें गतिशील बनाते हुए, समुदाय के विभिन्न उपसमूहों एवं समूहों के प्रतिनिधियों का चयन कर एक संगठन की स्थापना करते हुए, इस संगठन की नियमित अन्तरालों पर तथा आपातकालीन बैठकें करते हुए, इन बैठकों में उपस्थित विभिन्न प्रतिनिधियों को अपने विचार व्यक्त करने के अवसर प्रदान करते हुये, वैचारिक भिन्नताओं के बावजूद समुदाय के हित में व्यक्त किये गये विचारों का चयन कर मतैक्य के आधार पर निर्णय लेते हुये, समुदाय के विकास के लिये आवश्यक कार्यक्रम तैयार करते हुये, इन कार्यक्रमों में अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों प्रकार के कार्यक्रम बनाते हुए, जन सहभागिता के आधार पर कार्यक्रमों का आयोजन करते हुये तथा कार्यक्रमों के निर्माण एवं कार्यान्वयन दोनों ही स्तरों पर उत्पन्न होने वाली अन्तर्क्रिया को निर्देशित करते हुये समुदाय की सामान्य अनुभूत आवश्यकताओं की प्राथमिकता के आधार पर पूर्ति की जाती है; सदस्यों के बीच सहयोगात्मक मनोवृत्तियों एवं व्यवहारों को विकसित किया जाता है तथा समुदाय के प्रति लगाव की भावना उत्पन्न की जाती है। आज भी हमारे श्रमिकों की, विशेष रूप से असंगठित क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों की, अनेक प्रकार की सामान्य सामुदायिक आवश्यकतायें अपूर्ण हैं, उनमें गुटबाजी एवं वैमनस्य है तथा उनमें समुदाय के प्रति लगाव की भावना का अभाव है। आज भी जहाँ श्रमिक रह रहे हैं वहाँ सामान्य सामुदायिक सुविधायें यथा, सड़कों, बिजली, पानी, नालियों, सफाई, शौचालयों, मूत्रालयों, कूड़ादानों, विद्यालयों, पार्कों, चिकित्सालयों, डिस्पेन्सरियों, मातृ-शिशु कल्याण केन्द्रों, परिवार कल्याण केन्द्रों. परामर्श केन्द्रों, बाल निर्देशन केन्द्रों, पुस्तकालयों, वाचनालयों क्लबों, मनोरंजन गृहों, सामुदायिक केन्द्रों इत्यादि की नितान्त कमी है। इनकी पूर्ति में सामुदायिक संगठन एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रतिपादित कर सकता है।

समाज कल्याण प्रशासन के अन्तर्गत नियोजन, संगठन, कार्मिक प्रबन्ध, समन्वय एवं प्रतिपुष्टि का आश्रय लेते हुए सामाजिक नीतियों को सेवाओं के रूप में परिणत किया जाता है। श्रमिकों तथा उनके परिवार के सदस्यों के जीवन की अनेक आवश्यकताओं तथा अवस्थाओं के सम्बन्ध में भारत में सरकार की स्पष्ट नीतियाँ पायी जाती हैं जिनके अधीन अनेक प्रकार की सेवायें आयोजित की जाती हैं। उदाहरणार्थ, भोजन सम्बन्धी आवश्यकता के सन्दर्भ में पोषाहार नीति, परिवार के सबन्ध से परिवार कल्याण नीति, पानी के सम्बन्ध में पेयजल नीति, स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्वास्थ्य नीति, शिक्षा के सम्बन्ध में शिक्षा नीति, आवास सम्बन्धी नीति इत्यादि; इसी प्रकार जीवन के विविध स्तरों के सन्दर्भ में राष्ट्रीय बाल नीति, राष्ट्रीय युवा नीति इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन नीतियों के अधीन कार्यक्रमों का निर्माण एवं आयोजन करते हुये अनेक प्रकार की सेवायें प्रदान की जाती हैं जो श्रमिक की अनुभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं, उनकी समस्याओं का समाधान कर सकती हैं, उनके समायोजन में वृद्धि करने में सहायक हो सकती हैं तथा आर्थिक एवं सामाजिक क्रिया में उनकी अधिक प्रभावपूर्ण सहभागिता को प्रोत्साहित कर सकती हैं। इस प्रकार समाज कल्याण प्रशासन श्रमिकों के जीवन के विविध क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सुधार ला सकता है और उनके कल्याण को प्रोत्साहित कर सकता है जो सामाजिक विकास का आधार है।

समाज कार्य शोध के अन्तर्गत सेवाओ की आवश्यकताओं का पता लगाते हुये, इन आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उपलब्ध सेवाओं का परिमापन करते हुये, समाज कार्य सेवाओं की प्रभावपूर्णता का मूल्यांकन करते हुए, समाज कार्य की विभिन्न पद्धतियों की विभिन्न परिस्थितियों में उपादेयता की जाँच करते हुये, इन सेवाओं से सेवार्थियों के लाभान्वित होने की सम्भावनाओं का पता लगाते हुए तथा सेवाओं के प्रावधान के मार्ग में आने वाले विभिन्न प्रकार के व्यवधानों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हुये समाज कार्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं, चाहे वे परामर्श के रूप में हों अथवा सेवाओं के प्रावधान के रूप में अथवा पर्यावरण में परिवर्तन के रूप में, प्रभावपूर्णता में वृद्धि की जा सकती है। श्रमिकों के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि उनकी विविध प्रकार की आवश्यकताओं, समस्याओं, क्षमताओं, सीमाओं, संसाधनों, मनोवृत्तियों, मूल्यों, रूढ़िवादी विचारों, पूर्वाग्रहों, संकीर्ण प्रवृत्तियों, सामाजिक बुराईयों एवं कुरीतियों, दुर्व्यसनों, विभेदपूर्ण व्यवहारों, आपसी तनावों, गुटबन्दी, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, विभिन्न कारकों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों

इत्यादि के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचना एकत्रित किये बिना प्रभावपूर्ण रूप से सेवायें प्रदान करना असम्भव है। इसीलिए समाज कार्य शोध का श्रम कल्याण के सन्दर्भ के एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत लोगों की सामान्य आवश्यकताओं एवं समस्याओं के प्रति जनता में अनुकूलन जनमत विकसित करते हुये, लोगों को संगठित करते हुये, जन समस्याओं के प्रति प्रशासन का ध्यान आकर्षित करते हुये लोगों को प्रदर्शन, धरना, जैसे शान्तिपूर्ण ढंगों का प्रयोग कर संगठित क्रिया में सम्मिलित कराकर आवश्यक दबाव डालते हुए, समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों के प्रति जन-प्रतिनिधियों का ध्यान आकर्षित कर इनके निराकरण हेतु आवश्यक वैधानिक प्रावधान करवाते हुये तथा वर्तमान समय में उपलब्ध कानूनों में आवश्यकतानुसार इच्छित परिवर्तन करवाते हुये सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में विकास किया जाता है। आज भी श्रमिकों, विशेष रूप से असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों और इनमें भी कमजोर वर्गों के श्रमिकों उदाहरणार्थ, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के श्रमिकों, बाल श्रमिकों, महिला श्रमिकों, बाधित श्रमिकों इत्यादि के सन्दर्भ में समुचित नीतियाँ निर्धारित करने, विधान बनाते हुए उन्हें संरक्षण प्रदान करने, उनके शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने की आवश्यकता है। श्रम कल्याण सम्बन्धी प्रावधान केवल बड़े-बड़े कारखानों, बागानों तथा खानों में कार्य करने वाले श्रमिकों पर ही लागू हैं। आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तीव्रगति से हो रहे परिवर्तनों के कारण उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकी का प्रयोग कर तथा बहुत छोटी संख्या में श्रमिकों को सेवायोजित कर उत्पादन करने वाले संस्थानों की संख्या में अनवरत वृद्धि हो रही है और इसके परिणामस्वरूप काफी बड़ी संख्या में श्रमिक श्रम कल्याण सम्बन्धी प्रावधानों से लाभान्वित नहीं हो पा रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आज असंगठित क्षेत्रों तथा छोटे उद्यमों में श्रम कल्याण सम्बन्धी प्रावधानों को उपयुक्त वैधानिक प्रावधान करते हुये लागू किया जाय और श्रमिकों के संकेन्द्रण वाले क्षेत्रों में समाज कार्यकर्ताओं को कार्यरत कराते हुए इन उद्यमों के अन्दर तथा बाहर कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक कदम उठाये जायें। यह हर्ष का विषय है कि केन्द्र सरकार असंगठित श्रमिकों की समस्याओं के प्रति जागरूक है और वह अवैतनिक ग्रामीण संगठनकर्ताओं की नियुक्ति ग्रामीण क्षेत्रों में कर रही है। सामाजिक क्रिया की पद्धति के माध्यम से श्रमिकों से सम्बन्धित विभिन्न वैधानिक प्रावधानों में पायी जाने वाली कमियों को दूर करने में भी सरलता होगी और इसके माध्यम से श्रमिकों में पायी जाने

वाली विभिन्न बुराइयों यथा, दहेज प्रथा, मादक द्रव्य व्यसन, मद्यपान, द्यूत-क्रीड़ा इत्यादि को दूर करने में सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त श्रम प्रशासन की व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं अकुशलता के विरुद्ध संगठित रूप से आवाज उठाने तथा सामान्य आवश्यकता की पूर्ति एवं समस्याओं के समाधान हेतु सम्बन्धित अधिकारियों के समक्ष अपनी माँगों को प्रभावपूर्ण रूप से प्रस्तुत करने और उन पर दबाव डालते हुये इनका समाधान करवाने में भी सहायता प्राप्त होगी।

भारत में श्रम कल्याण को प्रमुख प्रवृत्तियाँ

वर्तमान समय में भारतवर्ष में श्रम कल्याण के क्षेत्र में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं :—

1. कुछ लोग श्रम कल्याण की आवश्यकताओं को ही नकार रहे हैं जो उचित नहीं हैं क्योंकि श्रम कल्याण श्रमिकों एवं उनके परिवारों के मानवीय संसाधनों के विकास का आधार है।

2. श्रम कल्याण को आज सम्पूर्णता में देखा जा रहा है और श्रमिकों तथा उनके परिवारों की जीवन के विभिन्न स्तरों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास किया जा रहा है।

3. श्रम कल्याण के अन्तर्गत संगठित उद्योगों के सन्दर्भ में कारखाने के बाहर निकल कर श्रमिक बस्तियों में कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों के आयोजन पर बल दिया जा रहा है ताकि श्रमिकों को अपने परिवारों सहित एक इच्छित जीवन स्तर व्यतीत करने के अवसर प्राप्त हो सकें और सम्पूर्ण श्रमिक समुदाय का विकास हो सके।

4. श्रम कल्याण के विषय क्षेत्र को स्पष्ट शब्दों में पारिभाषित करते हुए इसके अन्तर्गत् श्रमिकों की कार्य की परिस्थितियों एवं सामाजिक सुरक्षा तथा श्रमिकों एवं उनके परिवार के सदस्यों के भोजन, पेयजल, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, परिवहन (कार्य-स्थल तक जाने तथा आने), आवास व सहकारिता आदि को सम्मिलित किया जा रहा है।

5. श्रम कल्याण के आयोजन हेतु वैधानिक कल्याण कोषों की स्थापना करते हुए वित्तीय संसाधनों की पृथक् व्यवस्था की जा रही है। इन कोषों के अन्तर्गत राज्य सरकारों, स्थानीय निकायों एवं मालिकों को अनुमोदित प्रकार के कल्याण कार्यक्रम चलाने के लिये वित्तीय सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की जा रही है।

6. असंगठित क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों को संगठित करते हुए, कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं से लाभान्वित कराते हुए अवैतनिक ग्रामीण संगठनकर्ताओं की नियुक्ति की जा रही है।

7. श्रम कल्याण अधिकारियों के वेतनमानों को सम्मानजनक बनाने के लिये उनमें वृद्धि की गयी हैं। आज ये वेतनमान इतने आकर्षक हैं कि श्रम कल्याण के क्षेत्र में सभी विद्या-विशेषज्ञ घुसपैठ करने की जोड़-तोड़ कर रहे हैं। आज कार्मिक प्रबन्ध, औद्योगिक सम्बन्ध इत्यादि में प्रशिक्षण प्राप्त किये हुये लोग अपने को श्रम कल्याण का भी विशेषज्ञ मानने लगे हैं। यह प्रवृत्ति श्रम कल्याण अधिकारियों के लिए निर्धारित की गयी शैक्षिक अर्हताओं से सुस्पष्ट है जिनके अन्तर्गत वृत्तिक समाज कार्य जो श्रम कल्याण हेतु प्रशिक्षित कर्मियों को तैयार करने के क्षेत्र में अग्रणी रहा है, का विशिष्ट रूप से उल्लेख तक नहीं है और इसी प्रकार समाज कार्य के अनेक अग्रगामी संस्थाओं को मान्यता प्राप्त संस्थाओं की सूची से राजनीतिक दबाव एवं प्रशासकीय पूर्वाग्रहों के कारण हटा दिया गया है।

8. श्रम कल्याण अधिकारियों के संगठन जो एक समय में पर्याप्त थे, लुप्त अथवा निष्प्रभावी हो गये हैं जिनके परिणामस्वरूप शासन पर संगठित रूप से दबाव नहीं डाला जा पा रहा है।

9. समाज कार्य का वृत्तिक प्रशिक्षण प्रदान करने वाली संस्थाओं का संगठन भी सक्रिय एवं सुनियोजित रूप से श्रम कल्याण के क्षेत्र को विकसित करने की दिशा में कोई प्रयास नहीं कर रहा है। एसोसियेशन ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क इन इण्डिया श्रम कल्याण के सम्बन्ध में खामोश है। समाज कार्य संस्थाओं के प्रशासक भी इस सन्दर्भ में कुछ नहीं कर रहे हैं।

भारत में श्रम कल्याण को प्रभावी बनाने हेतु सुझाव

ये सुझाव निम्नलिखित हैं :—

1. श्रम कल्याण को मानव संसाधनों के विकास का साधन मानते हुए इसके महत्त्व को स्वीकार किया जाय। आज भी श्रमिकों की, विशेष रूप से असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों की अनेक महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पा रही है और ये अनेक समस्याओं के कारण समुचित इच्छित जीवन स्तर व्यतीत कर पाने में असमर्थ हैं।

2. श्रम कल्याण सम्बन्धी प्रावधानों को असंगठित क्षेत्र तथा संगठित क्षेत्र के छोटे उद्यमों पर भी लागू किया जाय। असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों को कल्याण सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने हेतु आवश्यक कानून बनाये जाँय तथा ऐसे अस-

गठित क्षेत्रों में जहाँ श्रमिकों का संकेन्द्रण हो, वैतनिक श्रमिक संगठनकर्ताओं की नियुक्ति की जाय। विभिन्न उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों के लिए कल्याण कार्यों के आयोजन हेतु समुचित संसाधन उपलब्ध कराया जाना चाहिये।

3. प्रत्येक संस्थान में द्विपक्षीय कल्याण समितियों का गठन किया जाय जिनमें श्रमिकों एवं मालिकों, दोनों के प्रतिनिधि हों और संस्थान, स्थानीय श्रम कल्याण सम्बन्धी नीतियों के निर्माण से लेकर कार्यक्रमों के आयोजन तथा सेवाओं के प्रावधान तक के सभी श्रम कल्याण सम्बन्धी मसलों पर संयुक्त रूप से निर्णय लिए जायें।

4. मालिकों श्रम कल्याण की उपयोगिता में विश्वास उत्पन्न करने के लिए श्रम कल्याण कार्यक्रमों के माध्यम से श्रमिकों में उत्पाद तथा संस्थान के प्रति कर्तव्यपरायणता की भावना भी जागृत की जाय और इन कार्यक्रमों के आयोजन के दौरान श्रमिकों के विभिन्न अनौपचारिक समूहों का पैनी दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुये पता लगाकर उत्पादन स्थल पर भी श्रमिकों को इन्हीं अनौपचारिक समूहों में पुनर्गठित करते हुये उत्पादन कार्य में लगाया जाय ताकि उत्पादकता बढ़ सके।

5. कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन में श्रमिकों की सहभागिता को अधिक से अधिक प्रोत्साहित किया जाय।

6. श्रम कल्याण अधिकारी के पद पर नियुक्ति हेतु वृत्तिक समाज कार्य प्रशिक्षण को अनिवार्य बनाया जाय। एसोसियेशन ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क इन इण्डिया तथा समाज कार्य संस्थानों के विभागाध्यक्षों व शासन के बीचविचार से अर्हताओं में परिवर्तन करना चाहिये।

7. श्रम कल्याण अधिकारी के वर्तमान पद नाम को बदल कर कल्याण अधिकारी नाम प्रदान किया जाय क्योंकि अनेक संगठित उद्योगों में वैधानिक प्रावधानों, सशक्त एवं जागरूक श्रमिक संगठनों तथा लोकोपकारी एवं प्रबुद्ध मालिकों के पाये जाने के कारण सेवायोजित व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला कार्य आज 'श्रम' न रहकर 'कार्य' का स्वरूप ग्रहण कर चुका है।

8. कल्याण अधिकारियों को स्वतन्त्र एवं निर्भीक रूप से कार्य करने के अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। वर्तमान समय में श्रम कल्याण कार्यक्रमों के आयोजन हेतु अपेक्षित वित्तीय सहायता से लेकर अपनी पदोन्नति तथा सेवा की शर्तों में सुधार तक के सभी मसलों के लिये ये मालिकों पर पूर्णरूपेण निर्भर हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कल्याण अधिकारियों को समयबद्ध प्रोन्नति प्रदान की जाय, उनके वेतन का भुगतान कोषागार के माध्यम से किया जाय

तथा उनके विरुद्ध मालिक को किसी प्रकार की अनुशासनिक कार्यवाही शासन की पूर्व अनुमति के बिना करने का अधिकार न दिया जाय। कल्याण अधिकारियों को सभी प्रायोगिक उद्देश्यों की दृष्टि से जनसेवक घोषित किया जाय तथा

10. कल्याण अधिकारियों के अन्दर प्रावधानों को लागू करने, श्रमिकों की नाराजगियों एवं शिकायतों का शीघ्रातिशीघ्र निवारण करने, श्रमिकों एवं मालिकों के द्विपक्षीय श्रम कल्याण समितियों का गठन करने, श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने, उपर्युक्त कार्य की परिस्थितियों तथा कल्याण एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं की उपलब्धता को सुनिश्चित करने और कारखाने के बाहर श्रमिकों एवं उनके परिवारों की भोजन, पेय जल, श्रमिकों के आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन (कार्यस्थल तक जाने तथा आने), मनोरंजन, खेलकूद तथा सहकारिता, सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व सौंपा जाय।

●

ISBN : 978-93-82175-13-1

मूल्य : ₹ 210=00